सञ्जीवन-ग्रन्थमाला—रत्न ३

सम्पादक—प्रेमचन्द

कायाकल्प

लेखक

भूमि, सेवासदन, प्रेमाश्रम, ग़बन, कर्मभूमि तथा प्रतिज्ञा
प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-पचीसी, प्रेम-प्रमोद, प्रेम-प्रतिमा, प्रेम-द्वादशी,
नवनिधि, सप्तसरोज, प्रेमतीर्थ, पाँचफूल, प्रेरणा आदि के
रचयिता—

प्रेमचन्द

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी।

द्वितीयावृत्ति] १९९१ वि० [मूल्य २॥)

मुद्रक
श्री प्रवासीलाल वर्मा मालवीय
सरस्वती-प्रेस, काशी।

कायाकल्प

१

दोपहर का समय था; पर चारों तरफ़ अँधेरा था। आकाश में तारे छिटके हुए थे। ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था, मानों संसार से जीवन का लोप हो गया हो। हवा भी बंद हो गई थी। सूर्यग्रहण लगा हुआ था। त्रिवेणी के घाट पर यात्रियों की भीड़ थी, ऐसी भीड़, जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वे सभी हिंदू, जिनके दिल में श्रद्धा और धर्म का अनुराग था, भारत के हरएक प्रांत से इस महान् अवसर पर त्रिवेणी की पावन धारा में अपने पापों का विसर्जन करने के लिए आ पहुँचे थे, मानों उस अँधेरे में भक्ति और विश्वास ने अधर्म पर छापा मारने के लिए अपनी असंख्य सेना सजाई हो। लोग इतने उत्साह से त्रिवेणी के सकरे घाट की ओर गिरते-पड़ते, लपके चले जाते थे कि यदि जल की शीतल धारा की जगह अग्नि का जलता हुआ कुण्ड होता, तो भी लोग उसमें कूदते हुए ज़रा भी न झिझकते!

कितने आदमी कुचल गये, कितने डूब गये, कितने खो गये, कितने अपंग हो गये, इसका अनुमान करना कठिन है। धर्म का विकट

संग्राम था। एक तो सूर्यग्रहण, उस पर यह असाधारण और अद्भुत प्राकृतिक छटा! सारा दृश्य धार्मिक वृत्तियों को जगानेवाला था। दोपहर को तारों का प्रकाश माया के परदे को फाड़कर आत्मा को आलोकित करता हुआ मालूम होता था। वैज्ञानिकों की बात जाने दीजिए; पर जनता में न-जाने कितने दिनों से यह विश्वास फैला हुआ था कि तारागण दिन को कहीं किसी सागर में डूब जाते हैं। आज वही तारागण आँखों के सामने चमक रहे थे। फिर भक्ति क्यों न जाग उठे! सद्वृत्तियाँ क्यों न आँखें खोल दें!

घंटे-भर के बाद फिर प्रकाश होने लगा, तारागण फिर अदृश्य हो गये, सूर्य भगवान् की समाधि टूटने लगी।

यात्रीगण अपने-अपने पापों की गठरियाँ त्रिवेणी में डाल-डालकर जाने लगे। संध्या होते-होते घाट पर सन्नाटा छा गया। हाँ, कुछ घायल, कुछ अधमरे प्राणी जहाँ-तहाँ पड़े कराह रहे थे, और ऊँचे करार से कुछ दूर एक नाली में पड़ी तीन-चार साल की एक लड़की चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी।

सेवा-समितियों के युवक, जो अब तक भीड़ को सँभालने का विफल प्रयत्न कर रहे थे, अब डोलियाँ कंधों पर ले-लेकर घायलों और भूले-भटकों की खबर लेने आ पहुँचे। सेवा और दया का कितना अनुपम दृश्य था।

सहसा एक युवक के कानों में बालिका के रोने की आवाज़ पड़ी। अपने साथी से बोला—यशोदा, उधर कोई लड़का रो रहा है!

यशोदा—हाँ, मालूम तो होता है। इन मूर्खों को कोई कैसे समझाये कि यहाँ बच्चों को लाने का काम नहीं! चलो, देखें।

दोनों ने उधर जाकर देखा, तो एक बालिका नाली में पड़ी रो रही है। गोरा रंग था, भरा हुआ शरीर, बड़ी-बड़ी आँखें, गोरा मुखड़ा, सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई। किसी अच्छे घर की लड़की थी। रोते-रोते उसकी आँखें लाल हो गई थीं। इन दोनों युवकों को देखकर वह डरी और चिल्लाकर रो पड़ी। यशोदा ने उसे गोद में उठा लिया और प्यार करके बोले—बेटी, रो मत, हम तुझे तेरी अम्माँ के घर पहुँचा देंगे। तुझी को खोज रहे थे। तेरे बाप का क्या नाम है?

लड़की चुप तो हो गई; पर संशय की दृष्टि से देख-देख सिसक रही थी। इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सकी।

यशोदा ने फिर चुमकार कर पूछा—बेटी, तेरा घर कहाँ है?

लड़की ने कोई जवाब न दिया।

यशोदा—अब बताओ महमूद, क्या करें?

महमूद एक अमीर मुसलमान का लड़का था। यशोदानंदन से उसकी बड़ी दोस्ती थी। उनके साथ वह भी सेवा-समिति में दाख़िल हो गया था। बोला—क्या बताऊँ। कैंप में ले चलो, शायद कुछ पता चले।

यशोदा—अभागे ज़रा-ज़रा से बच्चों को लाते हैं और इतना भी नहीं करते कि उन्हें अपना नाम और पता तो याद करा दें।

महमूद—क्यों बिटिया, तुम्हारे बाबूजी का क्या नाम है?

लड़की ने धीरे से कहा—बाबूजी!

महमूद—तुम्हारा घर इसी शहर में है कि कहीं और?

लड़की—मैं तो बाबूदी के साथ लेल पर आई थी!

महमूद—तुम्हारे बाबू दी क्या करते हैं?

लड़की—कुछ नहीं करते।

यशोदा—इस वक्त अगर इसका बाप मिल जाय, तो सच कहता हूँ, बिना मारे न छोड़ूँ। बचा, गहने पहना कर लाये थे, जाने कोई तमाशा देखने आये हों!

महमूद—और मेरा जी चाहता है कि तुम्हें पीटूँ। मियाँ-बीबी यहाँ आये, तो बच्चे को किस पर छोड़ आते? घर में और कोई न हो तो?

यशोदा—तो फिर उन्हीं को यहाँ आने की क्या ज़रूरत थी?

महमूद—तुम atheist हो, तुम क्या जानो कि सच्चा मज़हबी जोश किसे कहते हैं?

यशोदा—ऐसे मज़हबी जोश को दूर ही से सलाम करता हूँ। इस वक्त दोनों मियाँ-बीबी बैठे हाय-हाय कर रहे होंगे।

महमूद—कौन जाने, वे भी यहीं कुचल-कुचला गये हों।

लड़की ने साहसकर कहा—तुम हमें घर पहुँचा दोगे? बाबूजी तुमको पैसा देंगे!

यशोदा—अच्छा बेटी, चलो तुम्हारे बाबूजी को खोजें।

दोनों मित्र बालिका को लिये हुए केम्प में आये; पर यहाँ कुछ पता न चला। तब दोनों उस तरफ़ गये जहाँ मैदान में बहुत से यात्री पड़े हुए थे। महमूद ने बालिका को कंधे पर बैठा लिया और यशोदानंदन चारों तरफ़ चिल्लाते फिरे—यह किसकी लड़की है? किसी की लड़की तो नहीं खो गई है? यह आवाज़ें सुनकर कितने ही यात्री 'हाँ-हाँ, कहाँ-कहाँ' करके दौड़े; पर लड़की को देखकर निराश लौट गये।

चिराग़-जले तक दोनों मित्र घूमते रहे। नीचे-ऊपर, क़िले के आस-पास, रेल के स्टेशन पर, अलोपी देवी के मंदिर की तरफ़, यात्री-ही-यात्री

पड़े हुए थे ; पर बालिका के माता-पिता का कहीं पता न चला। आखिर निराश होकर दोनों आदमी कैम्प लौट आये।

दूसरे दिन समिति के और कई सेवकों ने फिर पता लगाना शुरू किया। दिन-भर दौड़े, सारा प्रयाग छान मारा, सभी धर्मशालाओं की खाक छानी ; पर कहीं पता न चला।

तीसरे दिन समाचार-पत्रों में नोटिस दिया गया, और दो दिन वहाँ और रहकर समिति आगरे लौट गई। लड़की को भी अपने साथ लेती गई। उसे आशा थी कि समाचार-पत्रों से शायद सफलता हो। जब समाचार-पत्रों से कुछ पता न चला, तो विवश होकर कार्यकर्त्ताओं ने उसे वहीं के अनाथालय में रख दिया। महाशय यशोदानन्दन ही उस अनाथालय के मैनेजर थे।

२

बनारस में महात्मा कबीर के चौरे के निकट मुंशी वज्रधरसिंह का मकान है। आप हैं तो राजपूत, पर आप अपने को 'मुंशी' लिखते और कहते हैं। 'मुंशी' की उपाधि से आपको बहुत प्रेम है। 'ठाकुर' के साथ आपको गँवारपन का बोध होता है, इसलिए हम भी आपको मुंशीजी कहेंगे। आप कई साल से सरकारी पेंशन पाते हैं। बहुत छोटे पद से तरक्की करते-करते आपने अंत में तहसीलदारी का उच्च पद प्राप्त कर लिया था। यद्यपि आप उस महान् पद पर तीन मास से अधिक न रहे, और उतने दिन भी केवल एवज़ पर रहे; पर आप अपने को 'साबिक़ तहसीलदार' लिखते थे, और मुहल्लेवाले भी उन्हें खुश करने को 'तहसीलदार साहब' ही कहते थे। यह नाम सुनकर आप खुशी से अकड़ जाते थे; पर पेंशन केवल २५) मिलती थी; इसलिए तहसीलदार साहब को बाज़ार-हाट खुद ही करना पड़ता था। घर में चार प्राणियों का खर्च था। एक लड़की थी, एक लड़का और स्त्री। लड़के का नाम चक्रधर था। वह इतना ज़हीन था कि पिता के पेंशन के ज़माने में जब घर से किसी प्रकार की सहायता न मिल सकती थी, केवल अपने बुद्धि-बल से उसने एम्० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली थी। मुंशीजी ने पहले ही से सिफ़ारिश पहुँचानी शुरू की थी। दरबारदारी की कला में वह निपुण थे। हुक्काम को सलाम करने का उन्हें मरज़ था। हाकिमों के दिये हुए सैकड़ों प्रशंसापत्र उनकी अतुल संपत्ति थे। उन्हें वह बड़े गर्व से दूसरों

को दिखाया करते थे। कोई नया हाकिम आये, उससे ज़रूर रब्त-ज़ब्त पैदा कर लेते थे। हुक्काम ने चक्रधर का ख़याल करने के वादे भी किये थे; लेकिन जब परीक्षा का नतीजा निकला और मुंशीजी ने चक्रधर से कमिश्नर के यहाँ चलने को कहा, तो उन्होंने जाने से साफ़ इन्कार किया।

मुंशीजी ने त्योरी चढ़ाकर पूछा—क्यों? क्या घर-बैठे तुम्हें नौकरी मिल जायगी?

चक्रधर—मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।

वज्रधर—यह ख़ब्त तुम्हें कब से सवार हुआ? नौकरी के सिवा और करोगे क्या?

चक्रधर—मैं आज़ाद रहना चाहता हूँ।

वज्रधर—आज़ाद रहना था, तो एम्० ए० क्यों पास किया?

चक्रधर—इसी लिए कि आज़ादी का महत्त्व समझूँ।

उस दिन से पिता और पुत्र में आये-दिन बमचख मचती रहती थी। मुंशीजी बुढ़ापे में भी शौक़ीन आदमी थे। अच्छा खाने और अच्छा पहनने की इच्छा अभी तक बनी हुई थी। अब तक इसी ख़याल से दिल को समझाते थे कि लड़का नौकर हो जायगा, तो मौज करेंगे। अब लड़के का रंग देखकर बार-बार झुँझलाते और उसे कामचोर, घमंडी, मूर्ख कहकर अपना गुस्सा उतारते रहते थे। अभी तुम्हें कुछ नहीं सूझती, जब मैं मर जाऊँगा तब सूझेगी। तब सिर पर हाथ रखकर रोओगे। लाख बार कह दिया बेटा, यह ज़माना ख़ुशामद और सलामी का है। तुम विद्या के सागर बने बैठे रहो, कोई सेंत भी न पूछेगा। तुम बैठे आज़ादी का मज़ा उठा रहे हो और तुम्हारे पीछेवाले बाज़ी मारे जाते हैं। वह ज़माना लद गया, जब विद्वानों की क़द्र थी, अब तो विद्वान् टके सेर मिलते हैं, कोई

बात तक नहीं पूछता। जैसे और सभी चीज़ें बनाने के कारख़ाने खुल गये हैं, उसी तरह विद्वानों के भी कारख़ाने हैं, और उनकी संख्या हर साल बढ़ती जाती है।

चक्रधर पिता का अदब करते थे, उनका जवाब तो न देते; पर अपना जीवन सार्थक बनाने के लिए उन्होंने जो मार्ग तय कर लिया था, उससे न हटते थे। उन्हें यह हास्यास्पद मालूम होता था कि आदमी केवल पेट पालने के लिए आधी उम्र पढ़ने में लगा दे। अगर पेट पालना ही जीवन का आदर्श हो, तो पढ़ने की ज़रूरत ही क्या है। मज़दूर एक अक्षर भी नहीं जानता, फिर भी वह अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट बड़े मज़े से पाल लेता है। विद्या के साथ जीवन का आदर्श कुछ ऊँचा न हुआ, तो पढ़ना व्यर्थ है। विद्या को जीविका का साधन बनाते उन्हें लज्जा आती थी। वह भूखों मर जाते; लेकिन नौकरी के लिए आवेदनपत्र लेकर कहीं न जाते। विद्याभ्यास के दिनों में भी वह सेवाकार्य में अग्रसर रहा करते थे और अब तो इसके सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही न था। दीनों की सेवा और सहायता में जो आनन्द और आत्मगौरव था, वह दफ़्तर में बैठकर क़लम घिसने में कहाँ!

इस प्रकार दो साल गुज़र गये। मुंशी वज्रधर ने समझा था, जब यह भूत इसके सिर से उतर जायगा, शादी-ब्याह की फ़िक्र होगी, तो आप-ही-आप नौकरी की तलाश में दौड़ेगा। जवानी का नशा बहुत दिनों तक नहीं ठहरता; लेकिन जब दो साल गुज़र जाने पर भी भूत के उतरने का कोई लक्षण न दिखाई दिया, तो एक दिन उन्होंने चक्रधर को खूब फटकारा—दुनिया का दस्तूर है कि पहले अपने घर में दिया जलाकर तब मसजिद में जलाते हैं। तुम अपने घर को अँधेरा रखकर मसजिद को रोशन करना

चाहते हो। जो मनुष्य अपनों का पालन न कर सका, वह दूसरों की किस मुँह से मदद करेगा। मैं बुढ़ापे में खाने-कपड़े को तरसूँ और तुम दूसरों का कल्याण करते फिरो। मैंने तुम्हें पैदा किया, दूसरों ने नहीं ; मैंने तुम्हें पाला-पोसा, दूसरों ने नहीं ; मैं गोद में लेकर हकीम-वैद्यों के द्वार-द्वार दौड़ता फिरा, दूसरे नहीं। तुम पर सबसे ज्यादा हक़ मेरा है, दूसरों का नहीं।

चक्रधर अब पिता की इच्छा से मुँह न मोड़ सके। उन्हें अपने कॉलेज ही में कोई जगह मिल सकती थी। वहाँ सभी उनका आदर करते थे ; लेकिन यह उन्हें मंजूर न था। वह कोई ऐसा धंधा चाहते थे, जिससे थोड़ी देर रोज़ काम करके अपने पिता की मदद कर सकें। एक घंटे से अधिक समय न देना चाहते थे। संयोग से जगदीशपुर के दिवान ठाकुर हरिसेवकसिंह को अपनी लड़की को पढ़ाने के लिए एक सुयोग्य और सच्चरित्र अध्यापक की जरूरत पड़ी। उन्होंने कॉलेज के प्रधानाध्यापक को इस विषय में एक पत्र लिखा। वेतन ३०) मासिक तक रक्खा। कॉलेज का कोई अध्यापक इतने वेतन पर राज़ी न हुआ। आख़िर उन्होंने चक्रधर को उस काम पर लगा दिया। काम बड़ी जिम्मेदारी का था ; किंतु चक्रधर इतने सुशील, इतने गम्भीर, इतने संयमी थे कि उन पर सबका पूरा विश्वास था।

दूसरे दिन से चक्रधर ने लड़की को पढ़ाना शुरू कर दिया।

३

कई महीने बीत गये। चक्रधर महीने के अंत में रुपये लाते और माता के हाथ पर रख देते। अपने लिए उन्हें रुपये की कोई ज़रूरत न थी। दो मोटे कुरतों पर साल काट देते थे। हाँ, पुस्तकों से उन्हें रुचि थी; पर इसके लिए कॉलेज का पुस्तकालय खुला हुआ था। सेवाकार्य के लिए चंदों से रुपये आ जाते थे। मुन्शी वज्रधर का मुँह भी कुछ सीधा हो गया। डरे कि इससे ज्यादा दबाऊँ, तो शायद यह भी हाथ से जाय। समझ गये कि जब तक विवाह की बेड़ी पाँव में न पड़ेगी, यह महाशय काबू में न आयेंगे। वह बेड़ी बनवाने का विचार करने लगे।

मनोरमा की उम्र अभी १३ वर्ष से अधिक न थी; लेकिन चक्रधर को उसे पढ़ाते हुए बड़ी झेंप होती थी। वह यही प्रयत्न करते थे कि ठाकुर साहब की उपस्थिति ही में उसे पढ़ायें। यदि कभी ठाकुर साहब कहीं चले जाते, तो चक्रधर को महान् संकट का सामना करना पड़ता था।

एक दिन चक्रधर इसी संकट में जा फँसे। ठाकुर साहब कहीं गये हुए थे। चक्रधर कुरसी पर बैठे; पर मनोरमा की ओर न ताककर द्वार की ओर ताक रहे थे, मानों वहाँ बैठते डरते हों। मनोरमा बाल्मीकीय रामायण पढ़ रही थी। उसने दो-तीन बार चक्रधर की ओर ताका; पर उन्हें द्वार की ओर ताकते देखकर फिर किताब देखने लगी। उसके मन में सीता के वनवास पर एक शंका हुई थी और वह इसका समाधान करना

चाहती थी। चक्रधर ने द्वार की ओर ताकते हुए पूछा—चुप क्यों बैठी हो, आज का पाठ क्यों नहीं पढ़तीं?

मनोरमा—मैं आपसे एक बात पूछना चाहती हूँ। आज्ञा हो तो पूछूँ?

चक्रधर ने कातर भाव से कहा—क्या बात है?

मनोरमा—रामचंद्र ने सीताजी को घर से निकाला, तो वह चली क्यों गईं?

चक्रधर—और क्या करतीं?

मनोरमा—वह जाने से इंकार कर सकती थीं। एक तो राज्य पर उनका अधिकार भी रामचन्द्र ही के समान था, दूसरे वह निर्दोष थीं। अगर वह यह अन्याय न स्वीकार करतीं, तो क्या उन पर कोई आपत्ति हो सकती थी?

चक्रधर—हमारे यहाँ पुरुष की आज्ञा मानना स्त्रियों का परमधर्म माना गया है। यदि सीताजी पति की आज्ञा न मानतीं, तो वह भारतीय सती के आदर्श से गिर जातीं।

मनोरमा—यह तो मैं जानती हूँ कि स्त्री को पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए; लेकिन क्या सभी दशाओं में? जब राजा से साधारण प्रजा न्याय का दावा कर सकती है, तो क्या उसकी स्त्री नहीं कर सकती? जब रामचन्द्र ने सीता की परीक्षा ले ली थी और अन्तःकरण से उन्हें पवित्र समझते थे, तो केवल झूठी निन्दा से बचने के लिए उन्हें घर से निकाल देना कहाँ का न्याय था?

चक्रधर—राज-धर्म का आदर्श भी तो पालन करना था!

मनोरमा—तो क्या दोनों प्राणी जानते थे कि हम संसार के लिए आदर्श खड़ा कर रहे हैं? इससे तो यह सिद्ध होता है कि वे कोई अभि-

नय कर रहे थे। अगर आदर्श भी मान लें, तो यह ऐसा आदर्श है, जो सत्य की हत्या करके पाला गया है। यह आदर्श नहीं है, चरित्र की दुर्बलता है। मैं आप से पूछती हूँ, आप रामचन्द्र की जगह होते, तो क्या आप भी सीता को घर से निकाल देते ?

चक्रधर बड़े असमंजस में पड़े। उनके मन में स्वयं यही शंका और लगभग इसी उम्र में पैदा हुई थी; पर वह इसका समाधान न कर सके थे। अब साफ़-साफ़ जवाब देने की ज़रूरत पड़ी, तो बगलें झाँकने लगे।

मनोरमा ने उन्हें चुप देखकर फिर पूछा—क्या आप भी उन्हें घर से निकाल देते ?

चक्रधर—नहीं, मैं तो शायद न निकालता !

मनोरमा—आप निन्दा की ज़रा भी परवा न करते ?

चक्रधर—नहीं, मैं झूठी निंदा की परवा न करता।

मनोरमा की आँखें खुशी से चमक उठीं, प्रफुल्लित होकर बोली—यही बात मेरे मन में भी थी। मैंने दादाजी से, भाईजी से, पंडितजी से, लौंगी अम्माँ से, भाभी से यही शंका की; पर सब लोग यही कहते थे कि रामचन्द्र तो भगवान् हैं, उनके विषय में कोई शंका हो ही नहीं सकती। आपने आज मेरे मन की बात कही। मैं जानती थी कि आप यही जवाब देंगे। इसी लिए मैंने आपसे पूछा था। अब मैं उन लोगों को खूब आड़े हाथों लूँगी।

उस दिन से मनोरमा को चक्रधर से कुछ स्नेह हो गया। पढ़ने-लिखने से उसे विशेष रुचि हो गई। चक्रधर जो काम करने को दे जाते, उसे अवश्य पूरा करती। पहले की भाँति अब हीले-हवाले न करती। जब उनके आने का समय होता, तो वह पहले ही से आकर बैठ जाती और

उनका इंतजार करती। अब उसे उनसे अपने मनके भाव प्रकट करते हुए संकोच न होता। वह जानती थी कि कम-से-कम यहाँ उनका निरादर न होगा, उनकी हँसी न उड़ाई जायगी।

ठाकुर हरिसेवकसिंह की आदत थी कि पहले दो-चार महीनों तक तो नौकरों का वेतन ठीक समय पर दे देते, पर ज्यों-ज्यों नौकर पुराना होता जाता था, उन्हें उसके वेतन की याद भूलती जाती थी। उनके यहाँ कई नौकर ऐसे पड़े थे, जिन्होंने बरसों से वेतन नहीं पाया था। चक्रधर को भी इधर चार महीनों से कुछ न मिला था। न वह आप-ही-आप देते थे, न चक्रधर संकोचवश माँगते थे। उधर घर में रोज़ तकरार होती थी। मुन्शी वज्रधर बार-बार तक़ाज़े करते, झुँझलाते—माँगते क्यों नहीं? क्या मुँह में दही जमाया हुआ है, या काम नहीं करते! लिहाज़ भले आदमियों का किया जाता है। ऐसे लुच्चों का लिहाज़ नहीं किया जाता, जो मुफ्त में काम कराना चाहते हैं। आखिर एक दिन चक्रधर ने विवश हो ठाकुर साहब को एक पुरज़ा लिखकर अपना वेतन माँगा। ठाकुर साहब ने पुरज़ा लौटा दिया—व्यर्थ की लिखा-पढ़ी करने की उन्हें फुरसत न थी—और कहा—उनको जो कुछ कहना हो खुद आकर कहें। चक्रधर शरमाते हुए गये और बहुत कुछ शिष्टाचार के बाद रुपये माँगे। ठाकुर साहब हँसकर बोले—वाह बाबूजी वाह! आप भी अच्छे मौजी जीव हैं, चार महीनों से वेतन नहीं मिला और आपने एक बार भी न माँगा। अब तो आपके पूरे १२०) हो गये। मेरा हाथ इस वक्त तंग है। ज़रा दस-पाँच दिन ठहरिये। आपको महीने-महीने अपना वेतन ले लेना चाहिए था। सोचिए, मुझे एकमुश्त देने में कितनी असुविधा होगी! खैर, जाइए दस-पाँच दिन में मिल जायँगे।

चक्रधर कुछ न कह सके। लौटे, तो मुख पर घोर निराशा छाई हुई थी। आज दादाजी शायद जीता न छोड़ेंगे। इस ख़याल से उनका दिल काँपने लगा। मनोरमा ने उनका पुरज़ा अपने पिता के पास ले जाते हुए राह में पढ़ लिया था। उन्हें उदास देखकर पूछा—दादाजी ने आपसे क्या कहा?

चक्रधर उसके सामने रुपये-पैसे का ज़िक्र न करना चाहते थे। झेंपते हुए बोले—कुछ तो नहीं।

मनोरमा—आपको रुपये न दिये?

चक्रधर का मुँह लाल हो गया। बोले—मिल जायेंगे।

मनोरमा—आपको १२०) चाहिए न?

चक्रधर—इस वक्त कोई ऐसी ज़रूरत नहीं है।

मनोरमा—ज़रूरत न होती, तो आप माँगते ही न? दादाजी में यह बड़ा ऐब है कि किसी के रुपये देते हुए उन्हें मोह लगता है। देखिए मैं जाकर.........

चक्रधर ने रोककर कहा—नहीं-नहीं, कोई ज़रूरत नहीं।

मनोरमा ने न माना। तुरत घर में गई और एक क्षण में पूरे रुपये लाकर मेज़ पर रख दिये, मानों कहीं गिने-गिनाये रक्खे हुए थे।

चक्रधर—तुमने ठाकुर साहब को व्यर्थ कष्ट दिया।

मनोरमा—मैंने उन्हें कष्ट नहीं दिया। उनसे तो कहा भी नहीं। दादाजी किसी की ज़रूरत नहीं समझते। अगर अपने लिए अभी मोटर मँगवानी हो, तो तुरत मँगवा लेंगे, पहाड़ों पर जाना हो, तो तुरत चले जायेंगे; पर जिसके रुपये आते हैं उसको न देंगे।

वह तो पढ़ने बैठ गई; लेकिन चक्रधर के सामने यह समस्या आ पड़ी

कि रुपये लूँ, या न लूँ। उन्होंने निश्चय किया, न लेना चाहिए। पाठ हो चुकने पर वह उठ खड़े हुए और बिना रुपये लिये बाहर निकल आये। मनोरमा रुपये लिये हुए पीछे-पीछे बरामदे तक आई। बार-बार कहती रही—इसे आप लेते जाइए, जब दादाजी दें, तो मुझे लौटा दीजिएगा; पर चक्रधर ने एक न सुनी और जल्दी से बाहर निकल गये।

४

चक्रधर डरते हुए घर पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि द्वार पर चारपाई पड़ी हुई है, उस पर क़ालीन बिछी हुई है और एक अधेड़ उम्र के महाशय उस पर बैठे हुए हैं। उनके सामने ही एक कुरसी पर मुंशी वज्रधर बैठे फ़र्शी पी रहे थे और नाई खड़ा पंखा झल रहा था। चक्रधर के प्राण सूख गये। अनुमान से ताड़ गये कि यह महाशय वर की खोज में आये हैं। निश्चय करने के लिये घर में जाकर माता से पूछा, तो अनुमान सच्चा निकला। बोले—दादाजी ने इनसे क्या कहा?

निर्मला ने मुसकिराकर कहा—नानी क्यों मरी जाती है, क्या जन्म-भर क्वाँरे ही रहोगे? जाओ बाहर बैठो, तुम्हारी तो बड़ी देर से जोहाई हो रही है। आज क्यों इतनी देर लगाई?

चक्रधर—यह हैं कौन?

निर्मला—आगरे के कोई वकील हैं, मुंशी यशोदानन्दन!

चक्रधर—मैं तो घूमने जाता हूँ। जब यह यमदूत चला जायगा, तो आऊँगा।

निर्मला—वाह रे शरमीले! तेरा-सा लड़का तो देखा ही नहीं। आ, ज़रा सिर में तेल डाल दूँ, बाल न-जाने कैसे बिखरे हुए हैं। साफ़ कपड़े पहनकर ज़रा देर के लिए बाहर जा बैठ।

चक्रधर—घर में भोजन भी है कि ब्याह ही कर देने का जी चाहता है। मैं कहे देता हूँ, विवाह न करूँगा, चाहे इधर की दुनिया उधर हो

जाय ; किंतु स्नेहमयी माता कब सुननेवाली थी। उसने उन्हें ज़बरदस्ती पकड़कर सिर में तेल डाल दिया, संदूक़ से एक धुला हुआ कुरता निकाल लाई और यों पहनाने लगी, जैसे कोई बच्चे को पहनाये। चक्रधर ने गरदन फेर ली।

निर्मला—मुझसे शरारत करेगा, तो मार बैठूँगी। इधर ला सिर। क्या जन्म-भर छूटे साँड़ बने रहने का जी चाहता है? क्या मुझसे मरते दम तक चूल्हा-चक्की कराता रहेगा! कुछ दिन तो बहू का सुख उठा लेने दे!

चक्रधर—तुमसे कौन कहता है भोजन बनाने को! मैं कल से बना दिया करूँगा। मंगला को क्यों छोड़ रक्खा है?

निर्मला—अब मैं मारनेवाली ही हूँ। कभी नहीं मारा; पर आज पीट चलूँगी, नहीं जाकर चुपके से बाहर बैठ!

इतने में मुंशीजी ने पुकारा—नन्हे, क्या कर रहे हो, ज़रा यहाँ तो आओ। चक्रधर के रहे-सहे होश भी उड़ गये। बोले—जाता तो हूँ; लेकिन कहे देता हूँ, मैं यह जुआ गले में न डालूंगा! जीवन में मनुष्य का यही काम नहीं है कि विवाह कर ले, बच्चों का बाप बन जाय और कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर गृहस्थी में जुत जाय।

निर्मला—सारी दुनिया जो करती है, वही तुम्हें भी करना पड़ेगा, मनुष्य का जन्म और होता ही किस लिए है?

चक्रधर—हज़ारों काम हैं।

निर्मला—रुपये आज भी नहीं लाये क्या? कैसे आदमी हैं कि चार-चार महीने हो गये, रुपये देने का नाम ही नहीं लेते। जाकर अपने दादा को किसी बहाने से भेज दो। कहीं से जाकर रुपये लायें। कुछ दावत-आवत का सामान तो करना ही पड़ेगा, नहीं तो कहेंगे कि नाम बड़े और दर्शन थोड़े।

चक्रधर बाहर आये, तो मुंशी यशोदानन्दन ने खड़े होकर उन्हें छाती से लगा लिया और कुरसी पर बैठाते हुए बोले—अब की 'सरस्वती' में आपका लेख देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इस वैमनस्य को मिटाने के आपने जो उपाय बताये हैं, वे बहुत ही विचार-पूर्ण हैं।

इस स्नेह-मृदुल आलिंगन और सहृदयता-पूर्ण आलोचना ने चक्रधर को मोहित कर लिया! वह कुछ जवाब देना ही चाहते थे कि मुंशी वज्रधर बोल उठे—आज बहुत देर लगा दी। राजा साहब से कुछ बातचीत होने लगी क्या? (यशोदानंदन से) राजा साहब की इनके ऊपर बड़ी कृपा है। बिल्कुल लड़कों की तरह मानते हैं। इनकी बातें सुनने से उनका जी ही नहीं भरता (नाई से) देख, चिलम बदल दे और जाकर झिनकू से कह दे, सितार-बितार लेकर थोड़ी देर के लिए यहाँ आ जाय। उधर ही से गणेश के घर जाकर कहना, तहसीलदार साहब ने एक हाँड़ी अच्छा दही माँगा है। कह देना दही ख़राब हुआ, तो दाम न मिलेंगे।

यह हुक्म देकर मुंशीजी घर में चले गये। उधर की फ़िक्र लगी हुई थी; पर मेहमान को छोड़कर न जा सकते थे। आज उनका ठाट-बाट देखते ही बनता था। अपना अल्पकालीन तहसीलदारी के समय का आलपाके का चुग़ा निकाला था, उसी ज़माने की मंदील भी सिर पर रक्खी थी। आँखों में सुरमा भी था, बालों में तेल भी, मानों उन्हीं का ब्याह होने वाला है। चक्रधर शरमा रहे थे कि यह महाशय इनके वेष पर दिल में क्या कहते होंगे। राजा साहब की बात सुनकर तो वह गड़ से गये।

मुंशीजी चले गये, तो यशोदानंदन बोले—अब आपका क्या करने का इरादा है?

चक्रधर—अभी तो कुछ निश्चय नहीं किया है, हाँ, यह इरादा है कि कुछ दिनों आज़ाद रहकर सेवाकार्य करूँ।

यशोदा—इससे बढ़कर क्या हो सकता है। आप जितने उत्साह से समिति को चला रहे हैं, उसकी तारीफ़ नहीं की जा सकती। आप-जैसे उत्साही युवकों का ऊँचे आदर्शों के साथ सेवा-क्षेत्र में आना जाति के लिए सौभाग्य की बात है। आपके इन्हीं गुणों ने मुझे आपकी ओर खींचा है। यह तो आपको मालूम ही होगा कि मैं किस इरादे से आया हूँ। अगर मुझे धन या जायदाद की परवा होती, तो यहाँ न आता। मेरी दृष्टि में चरित्र का जो मूल्य है वह और किसी वस्तु का नहीं।

चक्रधर ने आँखें नीची करके कहा—लेकिन मैं तो अभी गृहस्थी के बंधन में नहीं पड़ना चाहता। मेरा विचार है कि गृहस्थी में फँसकर कोई तन-मन से सेवा-कार्य नहीं कर सकता।

यशोदा—ऐसी बात तो नहीं। इस वक्त भी जितने आदमी सेवा-कार्य कर रहे हैं, प्रायः सभी बाल-बच्चोंवाले आदमी हैं।

चक्रधर—इसी से तो सेवा-कार्य इतना शिथिल है!

यशोदा—मैं समझता हूँ कि यदि स्त्री और पुरुष के विचार और आदर्श एक-से हों, तो स्त्री पुरुष के कामों में बाधक होने के बदले सहायक हो सकती है। मेरी पुत्री का स्वभाव, विचार, सिद्धान्त सभी आपसे मिलते हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि आप दोनों एक साथ रहकर सुखी होंगे। उसे कपड़े का शौक़ नहीं, गहने का शौक़ नहीं, अपनी हैसियत को बढ़ाकर दिखाने की धुन नहीं। आपके साथ वह मोटे-से-मोटे वस्त्र और मोटे-से-मोटे भोजन में संतुष्ट रहेगी। अगर आप इसे अत्युक्ति न समझें, तो मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि ईश्वर ने आपको उसके लिए बनाया है

और उसको आपके लिए। सेवा-कार्य में वह हमेशा आपसे एक क़दम आगे रहेगी। अंगरेज़ी, हिंदी, उर्दू, संस्कृत पढ़ी हुई है, घर के कामों में इतनी कुशल है कि मैं नहीं समझता, उसके बिना मेरी गृहस्थी कैसे चलेगी? मेरी दो बहुएँ हैं, लड़की की माँ है। किंतु सब-की-सब फूहड़, किसी में यह तमीज़ नहीं। रही शक्ल-सूरत, वह आपको इस तसवीर से मालूम हो जायगी।

यह कहकर यशोदानंदन ने कहार से तसवीर मंगवाई और चक्रधर के सामने रखते हुए बोले—मैं तो इसमें कोई हरज नहीं समझता। लड़के को क्या ख़बर है कि मुझे बहू कैसी मिलेगी। स्त्री में कितने ही गुण हों; लेकिन यदि उसकी सूरत पुरुष को पसंद न आई, तो वह उसकी नज़रों से गिर जाती है और उनका दांपत्य-जीवन दुखमय हो जाता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर और कन्या में दो-चार बार मुलाक़ात भी हो जानी चाहिए। कन्या के लिए तो यह अनिवार्य है। पुरुष को स्त्री पसंद न आई, तो वह और शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न आया, तो उसकी तो सारी उम्र रोते ही गुजरेगी।

चक्रधर के पेट में चूहे दौड़ने लगे कि तसवीर क्योंकर ध्यान से देखूँ। वहाँ देखते शरम आती थी, मेहमान को अकेला छोड़कर घर में न जाते बनता था। कई मिनट तक तो सब्र किये बैठे रहे, फिर न रहा गया, पान की तश्तरी और तसवीर लिये हुए घर में चले आये। चाहते थे कि अपने कमरे में जाकर देखें कि निर्मला ने पूछा—क्या बातचीत हुई? कुछ दें-दिलायेंगे कि वही ५१) वालों में हैं?

चक्रधर ने उग्र होकर कहा—अगर तुम मेरे सामने देने-दिलाने का नाम लोगी, तो ज़हर खा लूँगा।

निर्मला—वाह रे ! तो क्या पचीस वरस तक यों ही पाला-पोसा है क्या ? मुँह धो रक्खें !

चक्रधर—तो बाज़ार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं लेतीं ? देखो कै टके मिलते हैं ?

निर्मला—तुम तो अभी से ससुर के पक्ष में मुझसे लड़ने लगे । ब्याह के नाम ही में कुछ जादू है क्या !

इतने में चक्रधर की छोटी बहन मंगला तश्तरी में पान रखकर उनको देने लगी, तो कागज में लपटी हुई तसवीर उसे नज़र आई । उसने तसवीर ले ली और लालटेन के सामने ले जाकर बोली—अम्माँ, यह बहू की तसवीर है, देखो कितनी सुन्दर है !

निर्मला ने जाकर तसवीर देखी, तो चकित रह गई । उसकी आँखें आनन्द से चमक उठीं । बोली—बेटा, तेरे भाग्य जाग गये । मुझे तो कुछ भी न मिले, तो भी इससे तेरा ब्याह कर दूँ । कितनी बड़ी-बड़ी आम की फाँक-सी आँखें हैं ; मैंने ऐसी सुन्दर लड़की नहीं देखी !

चक्रधर ने समीप जाकर उड़ती हुई नज़रों से तसवीर देखी और हँसकर बोले—लखावरी ईंट की-सी मोटी तो नाक है, उस पर कहती हो कितनी सुन्दर है !

निर्मला—चल, दिल में तो फूला न समाता होगा, ऊपर से बातें बनाता है !

चक्रधर—इसी मारे मैं यहाँ न लाता था । लाओ, लौटा दूँ ।

निर्मला—तुझे मेरी ही कसम है जो भाँजी मारे । मुझे तो इस लड़की ने मोह लिया ।

चक्रधर पान की तश्तरी और तसवीर लेकर चले ; पर बाहर न जाकर

अपने कमरे में गये और बड़ी उत्सुकता से चित्र पर आँखें जमा दीं। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानों चित्र ने लज्जा से आँखें नीची कर ली हैं, मानों वह उनसे कुछ कह रही हैं। उन्होंने तसवीर को उलट कर रख दिया और चाहा कि बाहर चला जाऊँ; लेकिन दिल न माना, फिर तसवीर उठा ली और देखने लगे। आँखों को तृप्ति ही न होती थी। उन्होंने अब तक जितनी सूरतें देखी थीं, उनसे मन में इसकी तुलना करने लगे। मनोरमा ही इससे मिलती थी। आँखें दोनों की एक-सी हैं, बाल नेत्रों के समान विहसित। वर्ण भी एक-सा है, नख-शिख बिलकुल मिलता-जुलता; किन्तु यह कितनी लज्जाशील है, वह कितनी चपल! यह किसी साधु की शान्ति-कुटीर की भाँति लताओं और फूलों से सज्जित, वह किसी गगनस्पर्शी शैल की भाँति विशाल। यह चित्त को मोहित करती है, वह पराभूत करती है। यह किसी पालतू पक्षी की भाँति पिंजरे में गानेवाली, वह किसी वन्य पक्षी की भाँति आकाश में उड़ने वाली। यह किसी कवि-कल्पना की भाँति मधुर और रसमयी, वह किसी दार्शनिक तत्त्व की भाँति दुर्बोध और जटिल!

चित्र हाथ में लिये हुए, चक्रधर भावी जीवन के मधुर स्वप्न देखने लगे। यह ध्यान ही न रहा कि मुंशी यशोदानन्दन बाहर अकेले बैठे हुए हैं। अपना व्रत भूल गये, सेवा-सिद्धान्त भूल गये, आदर्श भूल गये; भूत और भविष्य वर्तमान में लीन हो गये, केवल एक ही सत्य था, और वह इस चित्र की मधुर कल्पना थी!

सहसा तबले की थाप ने उनकी समाधि भंग की। बाहर संगीत-समाज जमा था। मुंशी वज्रधर को गाने-बजाने का शौक था, गला तो रसीला न था; पर ताल-स्वर के ज्ञाता थे। चक्रधर डरे कि दादा इस

समय कहीं गाने लगें, तो नाहक भद्द हो। जाकर उनके कान में कहा—आप न गाइएगा। संगीत से उन्हें रुचि थी; पर यह असह्य था कि मेरे पिता जी कत्थकों के साथ बैठकर एक प्रतिष्ठित मेहमान के सामने गायें।

जब साज़ मिल गया, तो झिनकू ने कहा—तहसीलदार साहब, पहले आप ही की हो जाय।

चक्रधर का दिल धड़कने लगा; लेकिन मुंशीजो ने उनकी ओर आश्वासन की दृष्टि से देखकर कहा—तुम लोग अपना गाना सुनाओ, मैं क्या गाऊँ!

झिनकू—वाह मालिक वाह! आपके सामने हम क्या गायेंगे। अच्छे-अच्छे उस्तादों की तो हिम्मत नहीं पड़ती!

वज्रधर अपनी प्रशंसा सुनकर फूल उठते थे। दो-चार बार तो 'नहीं-नहीं' की, फिर धुरपद की एक गत छेड़ ही तो दी। पंचम स्वर था, आवाज़ फटी हुई, साँस उखड़ जाती थी, बार-बार खाँसकर गला साफ करते थे, लोच का नाम न था, कभी-कभी बेसुरे भी हो जाते थे; पर साज़िन्दे वाह-वाह की धूम मचाये हुए थे। क्या कहना है, तहसीलदार साहब! ओ हो!

मुंशीजी को गाने की धुन सवार होती थी, तो जब तक गला न पड़ जाय, चुप न होते थे। गत समाप्त होते ही आपने 'सूर' का पद छेड़ दिया और 'देश' की धुन में गाने लगे।

झिनकू—यह पुराने गले की बहार है! ओ हो!

वज्रधर—नैन नीर छीजत नहिं कबहूँ निस-दिन बहत पनारे।

झिनकू—जरा बता दीजिएगा कैसे?

वज्रधर ने दोनों आंखों पर हाथ रखकर बताया।

चक्रधर से अब न सहा गया। नाहक अपनी हँसी करा रहे हैं। इस

बेसुरेपन पर मुंशी यशोदानंदन दिल में कितना हँस रहे होंगे। शरम के मारे वह वहाँ खड़े न रह सके। घर में चले गये; लेकिन यशोदानन्दन बड़े ध्यान से गाना सुन रहे थे। बीच-बीच में सिर भी हिला देते थे। जब गीत समाप्त हुआ, तो बोले—तहसीलदार साहब, आप इस फन के उस्ताद हैं!

वज्रधर—यह आपकी कृपा है, मैं गाना क्या जानूँ, इन्हीं लोगों की संगति में कुछ शुद-बुद आ गया।

झिनकू—ऐसा न कहिए मालिक, हम सब तो आप ही के सिखाये-पढ़ाये हैं।

यशोदा—मेरा तो जी चाहता है कि आपका शिष्य हो जाऊँ।

वज्रधर—क्या कहूँ, आपने स्वर्गीय पिताजी का गाना नहीं सुना। बड़ा कमाल था। कोई उस्ताद उनके सामने मुँह न खोल सकता था। लाखों की जायदाद इसी के पीछे लुटा दी। अब तो इसकी चरचा ही उठती जाती है।

यशोदा—अब की न कहिए। आजकल के युवकों में तो गाने की रुचि ही नहीं रही। न गा सकते हैं, न समझ सकते हैं। उन्हें गाते शरम आती है।

वज्रधर—रईसों में भी इसका शौक उठता जाता है।

यशोदा—पेट के धन्धे से किसी को छुट्टी ही नहीं मिलती, गाये-बजाये कौन?

झिनकू—(यशोदानन्दन से) हुजूर को भी गाने का शौक मालूम होता है!

यशोदा—अजी, जब था तब था! सितार-बितार की दो-चार गतें बजा लेता था। अब सब छोड़-छाड़ दिया।

झिनकू—कितना ही छोड़-छाड़ दिया है; लेकिन आजकल के नौसिखियों से अच्छे ही होंगे। अब की आप ही की हो।

यशोदानंदन ने भी दो-चार बार इनकार करने के बाद काफ़ी की धुन में एक ठुमरी छेड़ दी। उनका गला मँजा हुआ था, इस कला में निपुण थे, ऐसा मस्त होकर गाया कि सुनने वाले झूम-झूम गये। उनकी सुरीली तान साज में मिल जाती थी। वज्रधर ने तो वाह-वाह का तार बाँध दिया, कि झिनकू के भी छक्के छूट गये। मज़ा यह कि साथ-ही-साथ सितार भी बजाते थे। आसपास के लोग आकर जमा हो गये। समाँ बँध गया। चक्रधर ने यह आवाज़ सुनी, तो दिल में कहा—यह महाशय भी उसी टुकरी के लोगों में हैं, उसी रंग में रँगे हुए। अब झेंप जाती रही। बाहर आकर बैठ गये।

वज्रधर ने कहा—भाई साहब, आपने तो कमाल कर दिया। बहुत दिनों से ऐसा गाना न सुना था। कैसी रही झिनकू?

झिनकू—हुजूर कुछ न पूछिए, सिर धुन रहा हूँ। मेरी तो अब गाने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। आपने हम सबों का रंग फीका कर दिया। पुराने जमाने के रईसों की क्या बातें हैं।

यशोदा—कभी-कभी जी बहला लिया करता हूँ, वह भी लुक-छिप कर। लड़के सुनते हैं, तो कानों पर हाथ रख लेते हैं। मैं समझता हूँ, जिसमें यह रस नहीं, वह किसी सोहबत में बैठने लायक नहीं। क्यों बाबू चक्रधर, आपको तो शौक होगा?

वज्रधर—जी, छू नहीं गया। बस अपने लड़कों का हाल समझिए।

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—मैं गाने को बुरा नहीं समझता, हाँ, इतना जरूर चाहता हूँ कि शरीफ़ लोग शरीफ़ों ही में गायें-बजायें।

यशोदा—गुणियों की जात-पाँत नहीं देखी जाती। हमने तो बरसों एक अन्धे फ़क़ीर की गुलामी की, तब जाके सितार बजाना आया।

आधी रात के करीब गाना बंद हुआ। लोगों ने भोजन किया। जब मुंशी यशोदानन्दन बाहर आकर बैठे, तो वज्रधर ने पूछा—आपसे कुछ बातचीत हुई?

यशोदा—जी हाँ, हुई; लेकिन साफ़ नहीं खुले।

वज्रधर—विवाह के नाम से चिढ़ता है।

यशोदा—अब शायद राज़ी हो जायँ।

वज्रधर—अजी, सैकड़ों आदमी आ-आकर लौट गये। कई आदमी तो दस-दस हज़ार तक देने पर तैयार थे। एक साहब तो अपनी रियासत ही लिख देते थे; लेकिन इसने हामी न भरी।

दोनों आदमी सोये। प्रातःकाल यशोदानंदन ने चक्रधर से पूछा—क्यों बेटा, एक दिन के लिए मेरे साथ आगरे चलोगे?

चक्रधर—मुझे तो आप इस जंजाल में न फँसायें, तो बहुत अच्छा हो!

यशोदा—तुम्हें जंजाल में नहीं फँसाता बेटा, तुम्हें ऐसा सच्चा मंत्री, ऐसा सच्चा सहायक और ऐसा सच्चा मित्र दे रहा हूँ, जो तुम्हारे उद्देश्यों को पूरा करना अपने जीवन का मुख्य कर्तव्य समझेगी। मैं स्वार्थवश ऐसा नहीं कह रहा हूँ। मैं स्वयं आगरे की हिन्दू-सभा का मन्त्री हूँ और सेवा-कार्य का महत्व समझता हूँ। अगर मैं समझता कि यह संबंध आपके काम में बाधक होगा, तो कभी आग्रह न करता। मैं चाहता हूँ कि आप एक बार अहल्या से मिल लें। यों तो मैं मन से आपको अपना दामाद बना चुका; पर अहल्या की अनुमति ले लेनी आवश्यक समझता हूँ। आप भी शायद यह पसंद न करेंगे कि मैं इस विषय में स्वेच्छा से काम लूँ।

आप शरमायें नहीं,यों समझ लीजिए कि आप मेरे दामाद हो चुके; केवल मेरे साथ सैर करने चल रहे हैं। आपको देखकर आपकी सास, साले सभी खुश होंगे।

चक्रधर बड़े संकट में पड़े। सिद्धान्त-रूप से वह विवाह के विषय में स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता देने के पक्ष में थे ; पर इस समय आगरे जाते हुए उन्हें बड़ा संकोच हो रहा था। कहीं उसकी इच्छा न हुई तो ? कौन बड़ा सजीला जवान हूँ, बात-चीत करने में भी तो चतुर नहीं, और उसके सामने तो शायद मेरा मुँह ही न खुले। कहीं उसने मन फीका कर लिया, तो मेरे लिए डूब मरने की जगह होगी। फिर कपड़े-लत्ते भी नहीं हैं, बस यही दो कुरतों की पूँजी है। बहुत हैस-बैस के बाद बोले—मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं अपने को ऐसी···ऐसी सुयोग्य स्त्री के योग्य नहीं समझता।

यशोदा—इन हीलों से मैं आपका दामन छोड़ने वाला नहीं हूँ। मैं आपके मनोभावों को समझ रहा हूँ। आप संकोच के कारण ऐसा कह रहे हैं ; पर अहल्या उन चंचल लड़कियों में नहीं है, जिसके सामने जाते हुए आपको शरमाना पड़े। आप उसकी सरलता देखकर प्रसन्न होंगे।हाँ, मैं इतना कर सकता हूँ कि आपकी खातिर से पहले यह कहूँ कि आप परदेशी आदमी है, यहाँ सैर करने आये हैं। स्टेशन पर होटल पूछ रहे थे। मैंने समझा सीधे आदमी हैं, होटल में लुट जायँगे, साथ लेता आया। क्यों,कैसी रहेगी ?

चक्रधर ने अपनी प्रसन्नता को छिपाकर कहा—क्या यह नहीं हो सकता कि मैं और किसी समय आ जाऊँ ?

यशोदा—नहीं, मैं इस काम में विलंब नहीं करना चाहता। मैं तो उसी को लाकर दो-चार दिन के लिए यहाँ ठहरा सकता हूँ ; पर शायद आपके घर के लोग यह पसंद न करेंगे।

चक्रधर ने सोचा—अगर मैंने और ज्यादा टालमटोल की, तो कहीं यह महाशय सचमुच ही अहल्या को यहाँ न पहुँचा दें। तब तो सारा परदा ही खुल जायगा। घर की दशा देखकर अवश्य ही उसका दिल फिर जायगा। एक तो ज़रा-सा घर, कहीं बैठने की जगह नहीं, उसपर न कोई साज़, न सामान। विवाह हो जाने के बाद दूसरी बात हो जाती है। लड़की कितने ही बड़े घराने की हो, समझ लेती है, अब तो यही मेरा घर है, अच्छा हो या बुरा। दो-चार दिन अपनी तक़दीर को रोकर शान्त हो जाती है। बोले—जी नहीं, यह मुनासिब नहीं मालूम होता। मैं ही चला चलूँगा।

घर में विद्या का प्रचार होने से प्रायः सभी प्राणी कुछ-न-कुछ उदार हो जाते हैं। निर्मला तो खुशी से राजी हो गई, हाँ मुंशी वज्रधर को कुछ संकोच हुआ; लेकिन यह समझकर कि यह महाशय लड़के पर लट्टू हो रहे हैं कोई अच्छी रकम दे मरेंगे, उन्होंने भी कोई आपत्ति न की। अब केवल ठाकुर हरिसेवकसिंह को सूचना देनी थी। चक्रधर यों तीसरे पहर पढ़ाने जाया करते थे; पर आज ९ बजते-बजते जा पहुँचे।

ठाकुर साहब इस वक्त अपनी प्राणेश्वरी लौंगी से कुछ बातें कर रहे थे। मनोरमा की माता का देहान्त हो चुका था। लौंगी उस वक्त लौंडी थी। उसने इतनी कुशलता से घर सँभाला कि ठाकुर साहब उस पर रीझ गये और उसे गृहिणी के रिक्त स्थान पर अभिषिक्त कर दिया। नाम और गुण में इतना प्रत्यक्ष विरोध बहुत कम होगा। लोग कहते हैं, पहले वह इतनी दुबली थी कि फूंक दो तो उड़ जाय; पर गृहिणी का पद पाते ही उसकी प्रतिभा स्थूल रूप धारण करने लगी—क्षीण जलधारा बरसात की नदी की भाँति बढ़ने लगी—और इस समय तो वह स्थूल प्रतिभा की विशाल मूर्ति थी, अचल और अपार। बरसाती नदी का जल गड्ढों और गड़हियों में भर

गया था, बस जल-ही-जल दिखाई देता था। न आँखों का पता था, न नाक का, न मुँह का, सभी जगह स्थूलता व्याप्त हो रही थी; पर बाहर की स्थूलता ने अंदर की कोमलता को अक्षुण्ण रक्खा था। सरल सदय, हँसमुख, सहनशील स्त्री थी, जिसने सारे घर को वशीभूत कर लिया था। यह उसी की सज्जनता थी, जो नौकरों को वेतन न मिलने पर भी जाने न देती थी। मनोरमा पर तो वह प्राण देती थी, ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर उसे छू भी न गया था। वह उदार न हो; पर कृपण न थी। ठाकुर साहब कभी-कभी उसपर भी बिगड़ जाते थे, मारने दौड़ते थे, दो-एक बार मारा भी था; पर उसके माथे पर ज़रा भी बल न आता था। ठाकुर साहब का सिर भी दुखे, तो उसकी जान निकल जाती थी। वह उसकी स्नेहमयी सेवा ही थी, जिसने ऐसे हिंसक जीव को जकड़ रक्खा था।

इस वक्त दोनों प्राणियों में कोई बहस छिड़ी हुई थी। ठाकुर साहब झल्ला-झल्लाकर बोल रहे थे और लौंगी अपराधियों की भाँति सिर झुकाये खड़ी थी कि मनोरमा ने आकर कहा—बाबूजी आये हुए हैं और आपसे कुछ कहना चाहते हैं।

ठाकुर साहब की भौंहें तन गईं। बोले—कहना क्या चाहते होंगे, रुपये माँगने आये होंगे। अच्छा, जाकर कह दो—आते हैं, बैठिए।

लौंगी—इनके रुपये दे क्यों नहीं देते। बेचारे ग़रीब आदमी हैं, संकोच के मारे नहीं माँगते, कई महीने तो चढ़ गये?

ठाकुर—यह भी तुम्हारी ही मूर्खता थी, जिसकी बदौलत मुझे यह तावान देना पड़ता है। कहता था कि कोई ईसाइन रख लो, दो-चार रुपये में काम चल जायगा। तुमने कहा—नहीं, कोई लायक़ आदमी होना चाहिए। इनके लायक़ होने में शक नहीं; पर यह तो बुरा मालूम होता है कि जब देखो

रुपये के लिए सिर पर सवार ! अभी कल कह दिया कि घबराइए नहीं, दस-पाँच दिन में मिल जायेंगे। तब तक फिर भूत की तरह सवार हो गये।

लौंगी—कोई ऐसी ही ज़रूरत आ पड़ी होगी, तभी आये होंगे। १२०) हुए न ? मैं लाये देती हूँ।

ठाकुर—हाँ, सन्दूक खोलकर लाना, तो कोई कठिन काम नहीं। अखर तो उसे होती है, जिसे कुआँ खोदना पड़ता है।

लौंगी—वही कुआँ तो उन्होंने भी खोदा है। तुम्हें चार महीने तक कुछ न मिले, तो क्या हाल होगा, सोचो। मुझे तो बेचारे पर दया आती है।

यह कहकर लौंगी गई और रुपये लाकर ठाकुर साहब से बोली—लो, दे आओ। सुन लेना, शायद कुछ कहना भी चाहते हों।

ठाकुर—लाई भी तो रुपये, नोट न थे क्या ?

लौंगी—जैसे नोट वैसे रुपये, क्या इसमें भी कुछ भेद है ?

ठाकुर—अब तुमसे क्या कहूँ। अच्छा रख दो, जाता हूँ, पानी तो नहीं बरस रहा है कि भीग रहे होंगे।

ठाकुर साहब ने झुँझलाकर रुपये उठा लिये और बाहर चले ; लेकिन रास्ते ही में क्रोध शान्त हो गया। चक्रधर के पास पहुंचे, तो विनय के देवता बने हुए थे।

चक्रधर—आपको कष्ट देने

ठाकुर—नहीं-नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। मैंने आपसे दस-पाँच दिन में देने का वादा किया था। मेरे पास रुपये न थे; पर स्त्रियों को तो आप जानते हैं, कितनी चतुर होती हैं ! घर में रुपये निकल आये। यह लीजिए।

चक्रधर—मैं इस वक्त एक दूसरे ही काम से आया हूँ। मुझे

एक काम से आगरे जाना है। शायद दो-तीन दिन लगेंगे। इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

ठाकुर—हाँ हाँ, शौक से जाइए, मुझसे पूछने की ज़रूरत न थी।

ठाकुर साहब अंदर चले गये, तो मनोरमा ने पूछा—आप आगरे क्या करने जा रहे हैं?

चक्रधर—एक ज़रूरत से जाता हूँ।

मनोरमा—कोई बीमार है क्या?

चक्रधर—नहीं, बीमार कोई नहीं।

मनोरमा—फिर क्या काम है, बताते क्यों नहीं? जब तक न बतलाइएगा मैं जाने न दूँगी।

चक्रधर—लौटकर बता दूँगा।

मनोरमा—जी नहीं, मैं यह नहीं मानती, अभी बतलाइए।

चक्रधर—एक मित्र से मिलने जाता हूँ।

मनोरमा—आप मुस्किरा रहे हैं! मैं समझ गई, नौकरी की तलाश में जाते हैं।

चक्रधर—नहीं मनोरमा, यह बात नहीं है। मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।

मनोरमा—तो क्या आप हमेशा इसी तरह देहातों में घूमा करेंगे?

चक्रधर—विचार तो ऐसा ही है, फिर जैसी ईश्वर की इच्छा!

मनोरमा—आप रुपये कहाँ से लायेंगे? उन कामों के लिए भी तो रुपये की जरूरत होती होगी?

चक्रधर—भिक्षा माँगूँगा। पुण्यकार्य भिक्षा ही पर चलते हैं।

मनोरमा—तो आजकल भी आप भिक्षा माँगते होंगे?

चक्रधर—हाँ, माँगता क्यों नहीं। न माँगूँ तो काम कैसे चले।

मनोरमा—मुझसे तो आपने कभी नहीं माँगा।

चक्रधर—तुम्हारे ऊपर तो विश्वास है कि जब माँगूँगा, तब दे दोगी, इसी लिए कोई विशेष काम आ पड़ने पर माँगूँगा।

मनोरमा—और जो उस वक्त मेरे पास न हुए तो ?

चक्रधर—तो फिर कभी माँगूँगा !

मनोरमा—तो आप मुझसे अभी माँग लीजिए, अभी मेरे पास रुपये हैं, दे दूँगी। फिर आप न-जाने किस वक्त माँग बैठें।

यह कहकर मनोरमा अंदर गई और कलवाले १२० रुपये लाकर चक्रधर के सामने रख दिये।

चक्रधर—इस वक्त तो मुझे जरूरत नहीं। फिर कभी ले लूँगा।

मनोरमा—जी नहीं, लेते जाइए। मेरे पास खर्च हो जायँगे। एक दफे भी बाजार गई, तो यह सब गायब हो जायँगे। इसी डर के मारे मैं बाजार नहीं जाती।

चक्रधर—तुमने ठाकुर साहब से पूछ लिया है ?

मनोरमा—उनसे क्यों पूछूँ। गुड़िया लाती हूँ, तो उनसे नहीं पूछती; बाजे लाती हूँ, तो उनसे नहीं पूछती; तो फिर इसके लिए उनसे क्यों पूछूँ ?

चक्रधर—तो फिर यों मैं न लूँगा। यह स्थिति और ही है। यह ख़याल हो सकता है कि मैंने तुमसे रुपये ठग लिये। तुम्हीं सोचो, हो सकता है या नहीं।

मनोरमा—अच्छा, आप अमानत समझकर अपने पास रक्खे रहिए। इतने में सामने से मुश्की घोड़ों की फ़िटन जाती हुई दिखाई दी। घोड़ों के साजों पर गंगा-जमुनी काम किया हुआ था। चार सवार भाले उठाये पीछे दौड़ते चले आते थे।

चक्रधर—कोई रानी मालूम होती हैं।

मनोरमा—जगदीशपुर की महारानी हैं। जब उनके यहाँ जाती हूँ, मुझे एक गिनी देती हैं। ये आठों गिनियाँ उन्हीं की दी हुई हैं। न-जाने क्यों मुझे बहुत मानती हैं।

चक्रधर—इनकी कोठी दुर्गाकुण्ड की तरफ़ है न ? मैं एक दिन इनके यहाँ भिक्षा माँगने जाऊँगा।

मनोरमा—मैं जगदीशपुर की रानी होती, तो आपको बिना माँगे ही बहुत-सा धन दे देती।

चक्रधर ने मुस्किराकर कहा—तब भूल जातीं।

मनोरमा—जी नहीं, मैं कभी न भूलती।

चक्रधर—अच्छा, कभी याद दिलाऊँगा। इस वक्त यह रुपये अपने ही पास रहने दो।

मनोरमा—आपको इन्हें लेते संकोच क्यों होता है। रुपये मेरे हैं, महारानी ने मुझे दिये हैं। मैं इन्हें पानी में डाल सकती हूँ, किसी को मुझे रोकने का क्या अधिकार है। आप न लेंगे, तो मैं सच कहती हूँ, आज ही जाकर गंगा में फेंक आऊँगी।

चक्रधर ने धर्म-संकट में पड़कर कहा—तुम इतना आग्रह करती हो, तो मैं लिये लेता हूँ; लेकिन इसे अमानत समझूँगा।

मनोरमा प्रसन्न होकर बोली—हाँ, अमानत ही समझ लीजिए।

चक्रधर—तो मैं जाता हूँ। किताब देखती रहना।

मनोरमा—आप अगर मुझसे बिना बताये चले जायँगे, तो मैं कुछ न पढ़ूँगी।

चक्रधर—यह तो बड़ी टेढ़ी शर्त है। बतला ही दूँ। अच्छा हँसना मत। तुम ज़रा भी मुस्किराईं और मैं चला।

मनोरमा—मैं दोनों हाथों से मुँह बन्द किये लेती हूँ।

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—मेरे विवाह की कुछ बातचीत है। मेरी तो इच्छा नहीं है; पर एक महाशय ज़बरदस्ती खींचे लिये जाते हैं।

यह कहकर चक्रधर उठ खड़े हुए। मनोरमा भी उनके साथ-साथ आई। जब वह बरामदे से नीचे उतरे, तो उसने उन्हें प्रणाम किया और तुरत अपने कमरे में लौट आई। उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं और बार-बार रुलाई आती थी, मानों चक्रधर किसी दूर देश जा रहे हैं!

५

संध्या-समय जब रेलगाड़ी बनारस से चली, तो यशोदानंदन ने चक्रधर से पूछा—क्यों भैया, तुम्हारी राय में झूठ बोलना किसी दशा में क्षम्य है, या नहीं ?

चक्रधर ने विस्मित होकर कहा—मैं तो समझता हूँ, नहीं ।

यशोदा०—किसी दशा में भी नहीं ?

चक्रधर—मैं तो यही कहूँगा कि किसी दशा में भी नहीं, हालांकि कुछ लोग परोपकार के लिए असत्य को क्षम्य समझते हैं ।

यशोदा०—मैं भी उन्हीं लोगों में हूँ । मेरा ख़याल है कि पूरा वृत्तांत सुनकर शायद आप भी मुझसे सहमत हो जायँ । मैंने अहल्या के विषय में आप से झूठी बातें कही हैं । वह वास्तव में मेरी लड़की नहीं है । उसके माता-पिता का हमें कुछ भी पता नहीं ।

चक्रधर ने बड़ी-बड़ी आँखें करके कहा—तो फिर आपके यहाँ कैसे आई ?

यशोदा०—विचित्र कथा है । १५ वर्ष हुए एक बार सूर्यग्रहण लगा था । मैं उन दिनों कॉलेज में था । हमारी एक सेवा-समिति थी । हम लोग उसी स्नान के अवसर पर यात्रियों की सेवा करने प्रयाग आये थे । तुम तो उस वक्त बहुत छोटे-से रहे होगे । इतना बड़ा मेला फिर नहीं लगा । वहीं हमें यह लड़की एक नाली में खड़ी रोती मिली । न-जाने उसके माँ-बाप नदी में डूब गये या भीड़ में कुचल गये । बहुत खोज की ; पर उनका पता न लगा । विवश होकर उसे साथ लेते गये । ४-५ वर्ष तक तो उसे अनाथालय में रक्खा ; लेकिन जब कार्यकर्ताओं की फूट के कारण अनाथा-

लय बन्द हो गया, तो अपने घर में ही उसका पालन-पोषण करने लगा। जन्म से न हो; पर संस्कारों से वह हमारी लड़की है। उसके कुलीन होने में भी संदेह नहीं। उसका शील, स्वभाव और चातुर्य देखकर अच्छे-अच्छे घरों की स्त्रियाँ चकित रह जाती हैं। मैं इधर एक साल से उसके लिए योग्य वर की तलाश में था। ऐसा आदमी चाहता था, जो स्थिति को जानकर उसे सहर्ष स्वीकार करे और उसे पाकर अपने को धन्य समझे। पत्रों में आपके लेख देखकर और आपके सेवा-कार्य की प्रशंसा सुनकर मेरी धारणा हो गई कि आप ही उसके लिए सबसे योग्य हैं। यह निश्चय करके आपके यहाँ आया। मैंने आपसे सारा वृत्तान्त कह दिया। अब आपको अख्तियार है, उसे अपनाएँ या त्यागें, हाँ इतना कह सकता हूँ कि ऐसा रत्न आप फिर न पाएँगे। मैं यह जानता हूँ कि आपके पिताजी को यह बात असह्य होगी; पर यह भी जानता हूँ कि वीरात्माएँ सत्कार्य में विरोध की परवा नहीं करतीं, और अंत में उस पर विजय पाती हैं।

चक्रधर गहरे विचार में पड़ गये। एक तरफ़ अहल्या का अनुपम सौन्दर्य और उज्ज्वल चरित्र था, दूसरी ओर माता-पिता का विरोध और लोक-निन्दा का भय। मन में तर्क-संग्राम होने लगा। यशोदानंदन ने उन्हें असमंजस में पड़े देखकर कहा—आप चिंतित देख पड़ते हैं, और चिंता की बात भी है; लेकिन जब आप-जैसे सुशिक्षित और उदार पुरुष विरोध और भय के कारण कर्तव्य और न्याय से मुँह मोड़ें, तो फिर हमारा उद्धार हो चुका! मैं आपसे सच कहता हूँ, यदि मेरे दो पुत्रों में से एक भी क्वाँरा होता और अहल्या उसे वरना स्वीकार करती, तो मैं बड़े हर्ष से उसका उससे विवाह कर देता। आपके सामाजिक विचारों की स्वतंत्रता का परिचय पाकर ही मैंने आपके ऊपर इस बालिका के उद्धार का भार रक्खा है और यदि आपने भी अपने कर्तव्य को न समझा, तो मैं नहीं कह सकता, उस अबला की क्या दशा होगी।

चक्रधर रूप-लावण्य की ओर से तो आँखें बन्द कर सकते थे; लेकिन

उद्धार के भाव को दबाना उनके लिए असंभव था। वह स्वतंत्रता के उपासक थे और निर्भीकता स्वतंत्रता की पहली सीढ़ी है। उनके मन ने कहा— क्या यह काम ऐसा है कि समाज हँसे ? समाज को इसकी प्रशंसा करनी चाहिए। अगर ऐसे काम के लिए कोई मेरा तिरस्कार करे, तो मैं तृण बराबर भी उसकी परवा न करूँगा। चाहे वह मेरे माता-पिता ही हों। दृढ़ भाव से बोले—मेरी ओर से आप ज़रा भी शंका न करें। मैं इतना भीरु नहीं हूँ कि ऐसे कामों में समाज-निंदा से डरूँ। माता-पिता को प्रसन्न रखना मेरा धर्म है ; लेकिन कर्तव्य और न्याय की हत्या करके नहीं। कर्तव्य के सामने माता-पिता की इच्छा का कोई मूल्य नहीं है।

यशोदानंदन ने चक्रधर को गले लगाते हुए कहा—भैया, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी।

यह कहकर यशोदानन्दन ने अपना सितार उठा लिया और बजाने लगे। चक्रधर को कभी सितार की ध्वनि इतनी प्रिय, इतनी मधुर न लगी थी, और न चाँदनी कभी इतनी सुहृद और विहसित। दाएँ-बाएँ चाँदनी छिटकी हुई थी और उसकी मन्द छटा में अहल्या रेलगाड़ी के साथ, अगणित रूप धारण किये दौड़ती चली जाती थी। कभी वह उछलकर आकाश जा पहुँचती थी, कभी नदियों की चन्द्र-चंचल तरंगों में। यशोदनंदन को न कभी इतना उल्लास हुआ था, न चक्रधर को कभी इतना गर्व। दोनों आनन्द-कल्पना में डूबे हुए थे।

गाड़ी आगरे पहुँची, तो दिन निकल आया था। सुनहरा नगर हरे-हरे कुंजों के बीच में विश्राम कर रहा था, मानों बालक माता की गोद में सोया हो।

इस नगर को देखते ही चक्रधर को कितनी हो ऐतिहासिक घटनाएँ याद आ गईं। सारा नगर किसी उजड़े हुए घर की भाँति श्री-हीन हो रहा था।

मुंशी यशोदानंदन अभी कुलियों को पुकार ही रहे थे कि उनकी निगाह पुलिस के सिपाहियों पर पड़ी। चारों तरफ़ पहरा था। मुसाफिरों के बिस्तरे,

संदूक खोल-खोलकर देखे जाने लगे। एक थानेदार ने यशोदानन्दन का असबाब भी देखना शुरू किया।

यशोनन्दन ने आश्चर्य से पूछा—क्यों साहब, आज यह सख्ती क्यों है?

थानेदार—आप लोगों ने जो काँटे बोये हैं, उन्हीं का फल है। शहर में फ़िसाद हो गया है।

यशोदा०—अभी तीन दिन पहले तो यहाँ अमन का राज्य था, यह भूत कहाँ से उठ खड़ा हुआ?

इतने में समिति का एक सेवक दौड़ता हुआ आ पहुँचा। यशोदानन्दन ने आगे बढ़कर पूछा—क्यों राधामोहन, यह क्या मामला हो गया? अभी जिस दिन मैं गया हूँ, उस दिन तक तो दंगे का कोई लक्षण न था।

राधा—जिस दिन आप गये, उसी दिन पंजाब से मौलवी दीनमुहम्मद साहब का आगमन हुआ। खुले मैदान में मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ। उसमें मौलाना साहब ने न-जाने क्या ज़हर उगला कि तभी से मुसलमानों को कुरबानी की धुन सवार है। इधर हिन्दुओं को भी यह जिद है कि चाहे खून की नदी बह जाय; पर कुरबानी न होने पायेगी। दोनों तरफ़ से तैयारियाँ हो रही हैं। हम लोग तो समझाकर हार गये।

यशोदानन्दन ने पूछा—ख्वाजा महमूद कुछ न बोले?

राधा—वही तो उस जलसे के प्रधान थे।

यशोदानंदन आँखें फाड़कर बोले—ख्वाजा महमूद!

राधा—जी हाँ, ख्वाजा महमूद! आप उन्हें फ़रिश्ता समझें, असल में वह रँगे सियार हैं। हम लोग हमेशा से कहते आते हैं कि इनसे होशियार रहिए; लेकिन आपको न-जाने क्यों उन पर इतना विश्वास था?

यशोदानंदन ने आत्म-ग्लानि से पीड़ित होकर कहा—जिस आदमी को आज २५ बरसों से देखता आता हूँ, जिसके साथ कॉलेज में पढ़ा, जो इसी समिति का किसी ज़माने में मेम्बर था, उस पर क्योंकर विश्वास न करता। दुनिया कुछ कहे; पर मुझे ख्वाजा महमूद पर कभी शक न होगा।

राधा—आपको अख्तियार है उन्हें देवता समझें; मगर अभी-अभी आप देखेंगे कि वह कितनी मुस्तैदी से क़ुरबानी की तैयारियाँ कर रहे हैं। उन्होंने देहातों से लठैत बुलाये हैं, उन्हीं ने गौएँ मोल ली हैं और उन्हीं के द्वार पर क़ुरबानी होने जा रही है।

यशोदा०—ख्वाजा महमूद के द्वार पर क़ुरबानी होगी! उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी क़ुरबानी हो जायगी, या ख्वाजा महमूद की। ताँगेवाले को बुलाओ।

राधा—बहुत अच्छा हो कि आप इस समय यहीं ठहर जायँ।

यशोदा०—वाह-वाह! शहर में आग लगी हुई है और तुम कहते हो मैं यहीं रह जाऊँ। जो औरों पर बीतेगी, वही मुझ पर भी बीतेगी, इससे क्या भागना। तुम लोगों ने बड़ी भूल की कि मुझे पहले से सूचना न दी।

राधा—कल दोपहर तक तो हमें ख़ुद ही न मालूम था कि क्या गुल खिल रहा है। ख्वाजा साहब के पास गये, तो उन्होंने विश्वास दिलाया कि क़ुरबानी न होने पायेगी, आप लोग इत्मीनान रक्खें। हमसे तो यह कहा, उधर शाम ही को लठैत आ पहुँचे और मुसलमानों का डेपुटेशन सिटी मैजिस्ट्रेट के पास क़ुरबानी की सूचना देने पहुँच गया।

यशोदा०—महमूद भी डेपुटेशन में थे?

राधा—वही तो उसके कर्ता-धर्ता थे, भला वह क्यों न होते? हमारा तो विचार है कि वही इस फ़िसाद की जड़ हैं।

यशोदा०—अगर महमूद में सचमुच यह काया-पलट हो गई है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करनेवाली वस्तु संसार में नहीं। और कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो महमूद में द्वेष के भाव पैदा कर सके। चलो, पहले उन्हीं से बातें होंगी। मेरे द्वार पर तो इस वक्त बड़ा जमाव होगा।

राधा—जी हाँ, इधर आपके द्वार पर जमाव है, उधर ख्वाजा साहब के। बीच में थोड़ी-सी जगह ख़ाली है।

तीनों आदमी ताँगे पर बैठकर चले। सड़कों पर पुलिस के जवान चक्कर लगा रहे थे। मुसाफिरों की छड़ियाँ छीन ली जाती थीं। दो-चार आदमी भी साथ न खड़े होने पाते थे। सिपाही तुरत ललकारता था। दूकानें सब बन्द थीं, कुँजड़े भी साग बेचते न नज़र आते थे। हाँ, गलियों में लोग जमा हो होकर बातें कर रहे थे।

कुछ दूर तक तीनों आदमी मौन धारण किये बैठे रहे। चक्रधर शंकित होकर इधर-उधर ताक रहे थे, ज़रा भी घोड़ा रुक जाता, तो उनका दिल धड़कने लगता कि किसी ने ताँगा रोक तो नहीं लिया; लेकिन यशोदा-नंदन के मुख पर ग्लानि का गहरा चिह्न दिखाई दे रहा था। उनके मुहल्ले में आज तक कभी कुरबानी न हुई थी। हिन्दू और मुसलमान का भेद ही न मालूम होता था। उन्हें आश्चर्य होता था कि और शहरों में कैसे हिन्दू-मुसलमानों में झगड़े हो जाते हैं। और तीन ही दिन में यह नौबत आ गई!

सहसा उन्होंने उत्तेजित होकर कहा—राधामोहन, देखो, मैं तो यहीं उतरा जाता हूँ। ज़रा महमूद से मिलूँगा, तुम इन बाबू साहब को लेकर घर जाओ। आप मेरे एक मित्र के लड़के हैं, यहाँ सैर करने आये हैं। बैठक में आपकी चारपाई डलवा देना और देखो, अगर दैव-संयोग से मैं लौटकर न आ सकूँ — घबराने की बात नहीं, जब लोग खून-खच्चर करने पर तुले हुए हैं, तो सब कुछ संभव है, और मैं उन आदमियों में नहीं हूँ कि गौ की हत्या होते देखूँ और शांत खड़ा रहूँ—अगर मैं लौटकर न आ सकूँ, तो तुम घर में कहला देना कि अहल्या का पाणि-ग्रहण आप ही के साथ कर दिया जाय।

यह कहकर उन्होंने कोचवान से ताँगा रोकने को कहा।

चक्रधर—मैं भी आपके साथ ही रहना चाहता हूँ।

यशोदा०—नहीं भैया, तुम मेरे मेहमान हो, तुम्हें मेरे साथ रहने की ज़रूरत नहीं। तुम चलो, मैं भी अभी आता हूँ।

चक्रधर—क्या आप समझते हैं कि गौ-रक्षा आप ही का धर्म है, मेरा धर्म नहीं ?

यशोदा०—नहीं, यह बात नहीं बेटा, तुम मेरे मेहमान हो और तुम्हारी रक्षा करना मेरा धर्म है।

इस वक्त तक ताँगा धीरे-धीरे ख्वाजा महमूद के मकान के सामने आ पहुँचा। हज़ारों आदमियों का जमाव था। यद्यपि किसी के हाथ में लाठी या डंडे न थे; पर उनके मुख जिहाद के जोश तमतमाये हुए थे। यशोदा-नंदन को देखते ही कई आदमी उनकी तरफ़ लपके; लेकिन जब उन्होंने ज़ोर से कहा—मैं तुमसे लड़ने नहीं आया हूँ, कहाँ हैं ख्वाजा महमूद, मुमकिन हो तो ज़रा उन्हें बुला लो, तो लोग हट गये।

ज़रा देर में एक लंबा-सा आदमी, गाढ़े की अचकन पहने, आकर खड़ा हो गया; भरा हुआ बदन था, लंबी डाढ़ी, जिसके कुछ बाल खिचड़ी हो गये थे और गोरा रंग। मुख से शिष्टता झलक रही थी। यही ख्वाजा महमूद थे।

यशोदानंदन ने त्योरियाँ बदलकर कहा—क्यों ख्वाजा साहब, आपको याद है इस मुहल्ले में कभी कुरबानी हुई है ?

महमूद—जी नहीं, जहाँ तक मेरा ख़याल है, यहाँ कभी कुरबानी नहीं हुई।

यशोदा०—तो फिर आज आप यहाँ कुरबानी करने की नई रस्म क्यों निकाल रहे हैं ?

महमूद—इसलिए कि कुरबानी करना हमारा हक़ है। अब तक हम आपके जज़्बात का लिहाज़ करते थे, अपने माने हुए हक़ को भूल गये थे; लेकिन जब आप लोग अपने हक़ों के सामने हमारे जज़्बात की परवा नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हक़ों के सामने आपके जज़्बात की परवा करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक़ हासिल है; लेकिन कम-से-कम पाँच सौ बरसों से आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक़ को ज़िन्दा किया है। इसी

लिए न कि मुसलमानों की ताक़त और असर कम हो जाय। जब आप हमें ज़ेर करने के लिए नये-नये हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि अपने हथियारों को दुगुनी ताक़त से चलायें।

यशोदा०—इसके यह मानी हैं कि कल आप हमारे द्वारों पर, हमारे मंदिरों के सामने, क़ुरबानी करें और हम चुपचाप देखा करें! आप यहाँ हरगिज़ क़ुरबानी नहीं कर सकते और करेंगे, तो इसकी ज़िम्मेदारी आपके सिर होगी।

यह कहकर यशोदानन्दन फिर ताँगे पर जा बैठे। दस-पाँच आदमियों ने ताँगे को रोकना चाहा; पर कोचवान ने घोड़ा तेज़ कर दिया। दम-के-दम में ताँगा उड़ता हुआ यशोदानन्दन के द्वार पर पहुँच गया, जहाँ हज़ारों आदमी खड़े थे। इन्हें देखते ही चारों तरफ़ हलचल मच गई। लोगों ने चारों तरफ़ से आकर उन्हें घेर लिया। अभी तक फ़ौज का अफ़सर न था, फ़ौज दुविधे में पड़ी हुई थी, समझ में न आता था क्या करें। सेनापति के आते ही सिपाहियों में जान-सी पड़ गई, जैसे सूखे धान में पानी पड़ जाय।

यशोदानन्दन ताँगे से उतर पड़े और ललकारकर बोले—क्यों भाइयो, क्या विचार है, यहाँ क़ुरबानी होगी? आप जानते हैं इस मुहल्ले में आज तक कभी क़ुरबानी नहीं हुई। अगर आज हम यहाँ क़ुरबानी करने देंगे, तो कौन कह सकता है कि कल को हमारे मंदिरों के सामने गौ-हत्या न होगी!

कई आवाज़ें एक साथ आईं—हम मर मिटेंगे; पर यहाँ क़ुरबानी न होने देंगे।

यशोदा०—खूब सोच लो, क्या करने जा रहे हो। वह लोग सब तरह से लैस हैं। ऐसा न हो, तुम लाठियों के पहले ही वार में वहाँ भाग खड़े हो?

कई आवाज़ें एक साथ आईं—भाइयो, सुन लो, अगर कोई पीछे कदम हटायेगा, तो उसे गौ-हत्या का पाप लगेगा।

एक सिक्ख जवान—अजी देखणा, छक्के छुड़ा देंगे।

एक पंजाबी हिन्दू—एक-एक की गरदन तोड़ के रख दूँगा।

आदमियों को यों उत्तेजित करके यशोदानन्दन आगे बढ़े और जनता 'महावीर' और 'श्रीरामचन्द्र' की जय-ध्वनि से वायुमंडल को कम्पायमान करती हुई उनके पीछे चली। उधर मुसलमानों ने भी डंडे सँभाले। क़रीब था कि दोनों दलों में मुठभेड़ हो जाय कि एकाएक चक्रधर आगे बढ़कर यशोदानन्दन के सामने खड़े हो गये और विनीत; किंतु दृढ़ भाव से बोले—आप अगर उधर जाते हैं, तो मेरी छाती पर पाँव रखकर जाइए। मेरे देखते यह अनर्थ न होने पायेगा।

यशोदानन्दन ने चिढ़कर कहा—हट जाओ। अगर एक क्षण की भी देर हुई, तो फिर पछताने के सिवा और कुछ हाथ न आयेगा।

चक्रधर—आप लोग वहाँ जाकर करेंगे क्या?

यशोदा॰—हम इन ज़ालिमों से गौ को छीन लेंगे।

चक्रधर—अहिंसा का नियम गौओं ही के लिए नहीं, मनुष्यों के लिए भी तो है।

यशोदा॰—कैसी बातें करते हो जी! क्या यहाँ खड़े अपनी आँखों से गौ की हत्या होते देखें?

चक्रधर—अगर आप एक बार दिल थामकर देख लेंगे, तो यक़ीन है कि फिर आपको कभी यह दृश्य न देखना पड़े।

यशोदा॰—हम इतने उदार नहीं हैं।

चक्रधर—ऐसे अवसर पर भी?

यशोदा॰—हम महान्-से-महान् उद्देश्य के लिए भी यह मूल्य नहीं दे सकते। इन दामों स्वर्ग भी महँगा है।

चक्रधर—मित्रो, ज़रा विचार से काम लो।

कई आवाज़ें—विचार से काम लेना कायरों का काम है।

एक सिक्ख जवान—जब डंडे से काम लेने का मौका आये, तो विचार को बन्द करके रख देना चाहिए।

चक्रधर—तो फिर जाइए ; लेकिन उस गौ को बचाने के लिए आप को अपने एक भाई का ख़ून करना पड़ेगा।

सहसा एक पत्थर किसी तरफ़ से आकर चक्रधर के सिर में लगा। ख़ून की धार बह निकली ; लेकिन चक्रधर अपनी जगह से हिले नहीं। सिर थामकर बोले—अगर मेरे रक्त से आपकी क्रोधाग्नि शांत होती हो, तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। अगर मेरा ख़ून और कई जानों की रक्षा कर सके, तो इससे उत्तम और कौनसी मृत्यु होगी ?

फिर दूसरा पत्थर आया ; पर अब की चक्रधर को चोट न लगी। पत्थर कानों के पास से निकल गया।

यशोदानंदन गरजकर बोले—यह कौन पत्थर फेंक रहा है ? सामने क्यों नहीं आता ? क्या वह समझता है कि उसी ने गौ-रक्षा का ठीका ले लिया है। अगर बड़ा वीर है, तो क्यों नहीं चंद क़दम आगे जाकर अपनी वीरता दिखाता ! पीछे खड़ा पत्थर क्यों फेंकता है ?

एक अवाज़—धर्म-द्रोहियों को मारना अधर्म नहीं है !

यशोदा०—जिसे तुम धर्म का द्रोही समझते हो, वह तुम से कहीं सच्चा हिंदू है।

एक आवाज़—सच्चे हिन्दू वही तो होते हैं, जो मौक़े पर बग़लें झाँकने लगें और शहर छोड़कर दो-चार दिन के लिए खिसक जायें।

कई आदमी—यह कौन मंत्रीजी पर आक्षेप कर रहा है ? कोई उसकी ज़बान पकड़कर क्यों नहीं खींच लेता।

यशोदानंदन—आप लोग सुन रहे हैं, मुझ पर कैसे-कैसे दोष लगाये जा रहे हैं। मैं सच्चा हिंदू नहीं हूँ, मैं मौका पड़ने पर बग़लें झाँकता हूँ और जान बचाने के लिए शहर से भाग जाता हूँ। ऐसा आदमी आपका मंत्री बनने के योग्य नहीं है। आप उस आदमी को अपना मंत्री बनायें, जिसे आप सच्चा हिंदू समझते हों। मैं धर्म से पहले अपने आत्म-गौरव की रक्षा करना चाहता हूँ।

कई आदमी—महाशय, आपको ऐसे मुँहफट आदमियों की बातों का ख़याल न करना चाहिए।

यशोदा॰—यह मेरी २५ बरसों की सेवा का उपहार है! जिस सेवा का फल अपमान हो, उसे दूर ही से मेरा सलाम है।

यह कहते हुए मुंशी यशोदानंदन घर की तरफ़ चले। कई आदमियों ने उन्हें रोकना चाहा, कई आदमी उनके पैरों पड़ने लगे; लेकिन उन्होंने एक न मानी। वह तेजस्वी आदमी थे। अपनी संस्था पर स्वेच्छाचारी राजों की भाँति शासन करना चाहते थे। आलोचनाओं का सहन करने की उनमें सामर्थ्य ही न थी।

उनके जाते ही वहाँ आपस में 'तू-तू-मैं-मैं' होने लगी। एक दूसरे पर आक्षेप करने लगा। गालियों की नौबत आई, यहाँ तक कि दो-चार आदमियों में हाथा-पाई भी हो गई।

चक्रधर ने जब देखा कि इधर से अब कोई शंका नहीं है, तो वह लपककर मुसलमानों के सामने आ पहुँचे और उच्च स्वर से बोले—हज़रात, मैं कुछ अर्ज़ करने की इजाज़त चाहता हूँ।

एक आदमी—सुनो, सुनो, यही तो अभी हिन्दुओं के सामने खड़ा था।

दूसरा आदमी—दुश्मनों के क़दम उखड़ गये। सब भागे जा रहे हैं।

तीसरा आदमी—इसी ने शायद उन्हें समझा-बुझाकर हटा दिया है। देखो, क्या कहता है?

चक्रधर—अगर इस गाय की क़ुरबानी करना आप अपना मज़हबी फ़र्ज़ समझते हों, तो शौक़ से कीजिए। मैं आपके मज़हबी मामले में दख़ल नहीं दे रहा हूँ; लेकिन क्या यह लाज़मी है कि इसी जगह क़ुरबानी की जाय?

एक आदमी—हमारी ख़ुशी है, जहाँ चाहेंगे क़ुरबानी करेंगे, तुमसे मतलब!

चक्रधर—बेशक, मुझे बोलने का कोई हक़ नहीं है; लेकिन इसलाम

की जो इज़्ज़त मेरे दिल में है, वह मुझे बोलने के लिए मजबूर कर रही है। इसलाम ने कभी दूसरे मज़हबवालों की दिलाज़ारी नहीं की। उसने हमेशा दूसरों के जज़्बात का एहतराम किया है। बुग़दाद और रूम, स्पेन और मिस्र की तारीख़ें उस मज़हबी आज़ादी की शाहिद हैं, जो इसलाम ने उन्हें अता की थी। अगर आप हिन्दू जज़्बात का लिहाज़ करके किसी दूसरी जगह क़ुरबानी करें, तो यक़ीनन इसलाम के वक़ार में फ़र्क़ न आयेगा।

एक मौलवी ने ज़ोर देकर कहा—ऐसी मीठी-मीठी बातें हमने बहुत सुनी हैं। क़ुरबानी यहीं होगी। जब दूसरे हमारे ऊपर जब्र करते हैं, तो हम उनके जज़्बात का क्यों लिहाज़ करें।

ख्वाजा महमूद बड़े ग़ौर से चक्रधर की बातें सुन रहे थे। मौलवी साहब की उद्दंडता पर चिढ़कर बोले—क्या शरीयत का हुक्म है कि क़ुरबानी यहीं हो, किसी दूसरी जगह नहीं की जा सकती?

मौलवी साहब ने ख्वाजा महमूद की तरफ़ अविश्वास की दृष्टि से देखकर कहा—मज़हब के मामले में उलमा के सिवा और किसी को दख़ल देने का मजाज़ नहीं है।

ख्वाजा—बुरा न मानिएगा मौलवी साहब, अगर दस सिपाही आकर यहाँ खड़े हो जायें, तो बग़लें झाँकने लगिएगा!

मौलवी—किसकी मजाल है कि हमारे दीनी उमूर में मज़ाहमत करे?

ख्वाजा—आपको तो अपने हलवे-माँडे से काम है, ज़िम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयेगी, दूकानें तो हमारी लुटेंगी, आपके पास फटे बोरिये और फूटे बधने के सिवा और क्या रक्खा है। जब वह लोग मसलहत देख-कर किनारा कर गये, तो हमें भी अपनी ज़िद से बाज़ आ जाना चाहिए। क्या आप समझते हैं, वह लोग आपसे डरकर भागे। हमारे दुगुने आदमी थे। अगर चढ़ आते, तो सँभलना मुश्किल हो जाता।

मौलवी—जनाब, जिहाद करना कोई ख़ालाजी का घर नहीं, आप दुनिया के बन्दे हैं, दीन की हक़ीक़त क्या समझें।

ख्वाजा—बजा है, आपकी शहादत तो कहीं नहीं गई है। ज़िल्लत तो हमारी है।

मौलवी—भाइयो, आप लोग ख्वाजा साहब की ज्यादती देख रहे हैं। अब आप ही फैसला कीजिए कि दीन के मामलात में उलमा का फैसला वाजिब है या उमरा का।

एक मोटे-ताज़े डढ़ियल आदमी ने कहा—आप बिस्मिल्लाह कीजिए। उमरा को दीन से कोई सरोकार नहीं।

यह सुनते ही एक आदमी बड़ा-सा छुरा लेकर निकल पड़ा और कई आदमी गाय की सींगें पकड़ने लगे। गाय अब तक तो चुपचाप खड़ी थी। छुरा देखते ही वह छटपटाने लगी। चक्रधर यह दृश्य देखकर तिलमिला उठे। निराशा-क्रोध से काँपते हुए बोले—भाइयो, एक ग़रीब, बेकस जानवर को मारना बहादुरी नहीं। खुदा बेकसों के खून से नहीं खुश होता। अगर जवाँमर्दी दिखानी है, तो किसी शेर का शिकार करो, किसी चीते को मारो, किसी जंगली सुअर का पीछा करो। उस क़ुरबानी से मुमकिन है खुदा खुश हो। जब तक हिन्दू सामने खड़े थे, किसी की हिम्मत न पड़ी कि छुरा हाथ में लेता। जब वे चले गये, तो आप लोग शेर हो गये!

एक आदमी—तो क्यों चले गये? मैदान में खड़े क्यों न रहे। गौ-रक्षा का जोश दिखाते, दुम दबाकर भाग क्यों खड़े हुए?

चक्रधर—भाग नहीं खड़े हुए, और न लड़ने में वे आपसे कम हैं। उनकी समझ में यह बात आ गई कि जानवर की हिमायत में इंसान का खून बहाना इंसान को मुनासिब नहीं।

मौलवी—शुक्र है, उन्हें इतनी समझ तो आई!

चक्रधर—लेकिन आप तो अभी तक उनकी दिलाज़ारी पर कमर बाँधे हुए हैं। खैर, आपको अख्तियार है जो चाहें करें; मगर मैं यकीन के साथ कहता हूँ कि यह दिलाज़ारी एक दिन रंग लायेगी। यह न समझिए कि इस वक्त कोई हिन्दू मैदान में नहीं है। हर एक क़ुरबानी हिन्दुस्तान के

२१ करोड़ हिंदुओं के दिलों को ज़ख्मी कर देती है और इतनी बड़ी तादाद के दिलों को दुखाना बड़ी-से-बड़ी क़ौम के लिए भी एक दिन पछतावे का बाइस हो सकता है। अगर यह आपकी गिज़ा है, तो शौक़ से खाइए। लाखों गौएँ रोज़ क़त्ल होती हैं। हिन्दू सिर नहीं उठाते। फिर यह क्योंकर मुमकिन है कि वह आपके मज़हबी मामले में दख़ल दें। हिन्दुओं से ज़्यादा बेतअस्सुब क़ौम दुनिया में नहीं है; लेकिन जब आप उनको दिलाज़ारी और महज़ दिलाज़ारी के लिए क़ुरबानी करते हैं, तो उनको ज़रूर सदमा होता है और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप क़यास नहीं कर सकते। अगर आपको यक़ीन न आये तो देख लीजिए, कि इस गाय के साथ ही एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे देता है!

यह कहते हुए चक्रधर ने तेज़ी से लपक कर गाय की गरदन पकड़ ली और बोले—आज आपको इस गौ के साथ एक इन्सान की भी क़ुरबानी करनी पड़ेगी।

सभी आदमी चकित हो होकर चक्रधर की ओर ताकने लगे। मौलवी साहब ने क्रोध से उन्मत्त होकर कहा—क़लामे-पाक की क़सम, हट जाओ, वरना ग़ज़ब हो जायगा।

चक्रधर—हो जाने दीजिए! खुदा की यही मरज़ी है कि आज गाय के साथ मेरी क़ुरबानी भी हो।

ख्वाजा महमूद—क्यों भई, तुम्हारा घर कहाँ है?

चक्रधर—परदेशी मुसाफिर हूँ।

ख्वाजा—क़सम खुदा की, तुम जैसा दिलेर आदमी नहीं देखा। नाम के लिए तो गाय को माता कहनेवाले बहुत हैं; पर ऐसे बिरले ही देखे, जो गौ के पीछे जान लड़ा दें। तुम कलमा क्यों नहीं पढ़ लेते।

चक्रधर—मैं एक खुदा का क़ायल हूँ। वही सारे जहान का खालिक और मालिक है। फिर और किस पर ईमान लाऊँ?

४

ख्वाजा—वल्लाह, तब तो तुम सच्चे मुसलमान हो। हमारे हज़रत को अल्लाह-ताला का रसूल मानते हो?

चक्रधर—बेशक मानता हूँ, उनकी इज्ज़त करता हूँ और उनकी तौहीद का क़ायल हूँ।

ख्वाजा—हमारे साथ खाने-पीने से परहेज़ तो नहीं करते?

चक्रधर—ज़रूर करता हूँ, उसी तरह, जैसे किसी ब्राह्मण के साथ खाने से परहेज़ करता हूँ, अगर वह पाक़-साफ़ न हो।

ख्वाजा—काश, तुम-जैसे समझदार तुम्हारे और भाई भी होते! मगर यहाँ तो लोग हमें मलिच्छ कहते हैं। यहाँ तक कि हमें कुत्तों से भी नजिस समझते हैं। उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं; पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता। वल्लाह आपसे मिलकर दिल खुश हो गया। अब कुछ-कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों क़ौमों में इत्तफ़ाक़ हो जाय। अब आप जाइए। मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि कुरबानी न होगी।

चक्रधर—और साहबों से तो पूछिए!

कई आवाज़ें—होती तो ज़रूर; लेकिन अब न होगी। आप वाक़ई दिलेर आदमी हैं।

ख्वाजा—यहाँ आप कहाँ ठहरे हुए हैं? मैं आपसे मिलूँगा।

चक्रधर—आप क्यों तकलीफ़ उठायेंगे, मैं खुद हाज़िर हूँगा।

ख्वाजा महमूद ने चक्रधर को गले लगाकर रुख़सत किया। इधर उसी वक्त गाय की पगहिया खोल दी गई। वह जान लेकर भागी। और लोग भी इस 'नौजवान' की 'हिम्मत' और 'जवाँमर्दी' की तारीफ़ करते हुए चले।

चक्रधर को आते देखकर यशोदानंदन अपने कमरे से निकल आये और उन्हें छाती से लगाते हुए बोले—भैया, आज तुम्हारा धैर्य और साहस देखकर दंग रह गया। तुम्हें देखकर मुझे अपने ऊपर लज्जा आ रही

है। तुमने आज हमारी लाज रख ली। अगर यहाँ क़ुरबानी हो जाती, तो हम मुँह दिखाने लायक़ न रहते!

एक बूढ़ा—आज तुमने वह काम कर दिखाया, जो सैकड़ों आदमियों के रक्त-पात से भी न होता!

चक्रधर—मैंने कुछ भी नहीं किया। यह उन लोगों की शराफ़त थी कि मेरी अनुनय-विनय सुन ली।

यशोदा०—अरे भाई, रोने का भी तो एक ढंग होता है। अनुनय-विनय हमने भी सैकड़ों ही बार की; लेकिन हर दफ़े गुत्थी और उलझती ही गई। आइए, आपके घाव की मरहम-पट्टी तो हो जाय!

चक्रधर को कमरे में बिठाकर यशोदानंदन ने घर में जाकर अपनी स्त्री वागीश्वरी से कहा—आज मेरे एक दोस्त की दावत करनी होगी। भोजन खूब दिल लगाकर बनाना। अहल्या, आज तुम्हारी पाक-परीक्षा होगी।

अहल्या—यह कौन आदमी था दादा, जिसने मुसलमानों के हाथों से गौ की रक्षा की?

यशोदा०—यही तो मेरे दोस्त हैं, जिनकी दावत करने को कह रहा हूँ। बेचारे रास्ते में मिल गये। यहाँ सैर करने आये हैं। मंसूरी जायँगे।

अहल्या—(वागीश्वरी से) अम्माँ, ज़रा उन्हें अंदर बुला लेना, तो दर्शन करेंगे। दादा, मैं कोठे पर बैठी सब तमाशा देख रही थी। जब हिन्दुओं ने उन पर पत्थर फेंकना शुरू किया, तो ऐसा क्रोध आता था कि वहीं से फटकारूँ। बेचारे के सिर से खून निकलने लगा; लेकिन ज़रा भी न बोले। जब वह मुसलमानों के सामने आकर खड़े हुए, तो मेरा कलेजा धड़कने लगा कि कहीं सब-के-सब उन पर टूट न पड़ें। बड़े ही साहसी आदमी मालूम होते हैं। सिर में बहुत चोट आई है क्या?

यशोदा०—हाँ, खून जम गया है; लेकिन उन्हें उसकी कुछ परवा ही नहीं। डॉक्टर को बुला रहा हूँ।

वागीश्वरी—खा-पी चुकें, तो ज़रा देर के लिए यहीं भेज देना। मेरे लड़कों की जोड़ी तो हैं!

यशोदा०—अच्छी बात है। ज़रा सफ़ाई कर लेना।

पड़ोस में एक डॉक्टर रहते थे। यशोदानंदन ने उन्हें बुलाकर घाव पर पट्टी बँधवा दी। फिर कुछ देर तक बातें होती रहीं। धीरे-धीरे सारा मुहल्ला जमा हो गया। कई श्रद्धालु जनों ने तो चक्रधर के चरण छुए। आख़िर भोजन का समय आया। जब लोग खाने बैठे, तो यशोदानंदन ने कहा—भाई, बाबूजी से जो कुछ कहना हो कह लो, फिर मुझसे शिकायत न करना कि तुम उन्हें नहीं लाये। बाबूजी, इस घर की और मुहल्ले की कई स्त्रियों की इच्छा है कि आपके दर्शन करें। आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?

वागीश्वरी—हाँ बेटा, ज़रा देर के लिए चले आना; नहीं तो अपने घर जाके कहोगे न कि मैंने जिन लोगों के लिए जान लड़ा दी, उन्हीं ने बात भी न पूछी?

चक्रधर ने शरमाते हुए कहा—आप लोगों ने मेरी जो ख़ातिर की, वह कभी नहीं भूल सकता। उसके लिए मैं सदैव आपका एहसान मानता रहूँगा।

ज्योंही लोग चौके से उठे, अहल्या ने कमरे की सफ़ाई करनी शुरू की। दीवार की तसवीरें साफ़ की, फ़र्श फिर से झाड़कर बिछाया, एक छोटी-सी मेज़ पर फूलों का गिलास रख दिया, एक कोने में अगर की बत्ती जलाकर रख दी। पान बनाकर तश्तरी में रक्खे। इन कामों से फ़ुरसत पाकर उसने एकांत में बैठकर फूलों की एक माला गूँथनी शुरू की। मन में सोचती थी न जाने कौन हैं, स्वभाव कितना सरल है, लजाने में तो औरतों से भी बढ़े हुए हैं। खाना खा चुके; पर सिर न उठाया। देखने में ब्राह्मण मालूम होते हैं। चेहरा देखकर तो कोई नहीं कह सकता कि यह इतने साहसी होंगे।

सहसा वागीश्वरी ने आकर कहा—बेटी, दोनों आदमी आ रहे हैं। ज़रा साड़ी तो बदल लो।

अहल्या 'उँह' करके रह गई। हाँ, उसकी छाती में धड़कन होने लगी। एक क्षण में यशोदानंदनजी चक्रधर को लिये हुए कमरे में आये। वागीश्वरी और अहल्या दोनों खड़ी हो गईं। यशोदानंदन ने चक्रधर को क़ालीन पर बैठा दिया और ख़ुद बाहर चले गये। वागीश्वरी पंखा झलने लगी; लेकिन अहल्या मूर्ति की भाँति खड़ी रही।

चक्रधर ने उड़ती हुई निगाहों से अहल्या को देखा। ऐसा मालूम हुआ, मानों कोमल, स्निग्ध, सुगंधमय प्रकाश की एक लहर-सी आँखों में समा गई।

वागीश्वरी ने मिठाई की तश्तरी सामने रखते हुए कहा—कुछ जल-पान कर लो भैया, तुमने कुछ खाना भी तो न खाया! तुम-जैसे वीरों को तो सवा सेर से कम न खाना चाहिए। धन्य है वह माता, जिसने ऐसे बालक को जन्म दिया! अहल्या, ज़रा गिलास में पानी तो ला। भैया, जब तुम मुसलमानों के सामने अकेले खड़े थे, तो यह ईश्वर से तुम्हारी कुशल मना रही थी। जाने कितनी मनौतियाँ कर डालीं। कहाँ है वह माला, जो तूने गूँथी थी, अब पहनाती क्यों नहीं?

अहल्या ने लजाते हुए काँपते हाथों से माला चक्रधर के गले में डाल दी और आहिस्ता से बोली—क्या सिर में ज्यादा चोट आई?

चक्रधर—नहीं तो, बाबूजी ने ख्वाहमख्वाह पट्टी बँधवा दी।

वागीश्वरी—जब तुम्हें चोट लगी है, तो इसे इतना क्रोध आया था कि उस आदमी को पा जाती, तो मुँह नोच लेती। क्या काम करते हो बेटा!

चक्रधर—अभी तो कुछ नहीं करता, पड़े-पड़े खाया करता हूँ; मगर जल्द ही कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। धन से तो मुझे बहुत प्रेम नहीं है, और धन मिल भी जाय, तो मुझे उसको भोगने के लिए दूसरों की मदद

लेना पड़े। हाँ, इतना अवश्य चाहता हूँ कि किसी का आश्रित होकर न रहना पड़े।

वागीश्वरी—कोई सरकारी नौकरी नहीं मिलती क्या?

चक्रधर—नौकरी करने की तो मेरी इच्छा ही नहीं है। मैंने पक्का निश्चय कर लिया है कि नौकरी न करूँगा। न मुझे खाने का शौक़ है, न पहनने का, न ठाट-बाट का, मेरा निर्वाह बहुत थोड़े में हो सकता है।

वागीश्वरी—और जब विवाह हो जायगा, तब क्या करोगे?

चक्रधर—उस वक्त सिर पर जो आयेगी, देखी जायगी। अभी से क्यों उसकी चिन्ता करूँ?

वागीश्वरी—जल-पान तो कर लो, या मिठाई भी नहीं खाते?

चक्रधर मिठाइयाँ खाने लगे। इतने में महरी ने आकर कहा—बड़ी बहूजी, मेरे लला को रात से खाँसी आ रही है; तिल-भर भी नहीं रुकती, कोई दवाई दे दो।

वागीश्वरी दवा देने चली गई। अहल्या अकेली रह गई, तो चक्रधर ने उसकी ओर देखकर कहा—आपको मेरे कारण बड़ा कष्ट हुआ। मैं तो इस उपहार के योग्य न था।

अहल्या— यह उपहार नहीं, भक्त की भेंट है।

चक्रधर—मेरा परम सौभाग्य है कि बैठे-बैठाये इस पद को पहुँच गया।

अहल्या—आपने आज इस शहर के हिन्दूमात्र की लाज रख ली। क्या और पानी दूँ?

चक्रधर—तृप्त हो गया। आज मालूम हुआ कि जल में कितना स्वाद है! शायद अमृत में भी यह स्वाद न होगा?

वागीश्वरी ने आकर मुसकिराते हुए कहा—भैया, तुमने तो आधी मिठाइयाँ भी नहीं खाईं। क्या इसे देखकर भूख-प्यास बन्द हो गई? यह मोहिनी है, ज़रा इससे सचेत रहना।

अहल्या—अम्माँ, तुम छोटे-बड़े किसी का लिहाज़ नहीं करतीं!

वागीश्वरी—अच्छा बताओ, तुमने इनकी रक्षा के लिए कौन-कौन-सी मनौतियाँ की थीं ?

अहल्या—मुझे आप दिक़ करेंगी, तो चली जाऊँगी।

चक्रधर यहाँ कोई घंटे-भर तक बैठे रहे। वागीश्वरी ने उनके घर का सारा वृत्तांत पूछा, कै भाई हैं, कै बहनें हैं, पिताजी क्या करते हैं, बहनों का विवाह हुआ है या नहीं ? चक्रधर को उसके व्यवहार में इतना मातृ-स्नेह भरा मालूम होता था, मानों उससे उनका पुराना परिचय है ! चार बजते-बजते ख़्वाजा महमूद के आने की ख़बर पाकर चक्रधर बाहर चले आये। और भी कितने ही आदमी मिलने आये थे। शाम तक उन लोगों से बातें होती रहीं। निश्चय हुआ कि एक पंचायत बनाई जाय और आपस के झगड़े उसी के द्वारा तय हुआ करें। चक्रधर को भी लोगों ने उस पंचायत का एक मेम्बर बनाया। रात को जब अहल्या और वागीश्वरी छत पर लेटीं, तो वागीश्वरी ने पूछा—अहल्या, सो गई क्या ?

अहल्या—नहीं अम्माँ, जाग तो रही हूँ।

वागीश्वरी—हाँ, आज तुझे क्यों नींद आयेगी ! इनसे ब्याह करेगी ?

अहल्या—अम्माँ, मुझे गालियाँ दोगी, तो मैं नीचे जाकर लेटूँगी, चाहे मच्छर भले ही नोच खायें।

वागीश्वरी—अरे तो मैं कौन-सी गाली दे रही हूँ। क्या ब्याह न करेगी ? ऐसा अच्छा वर तुझे और कहाँ मिलेगा ?

अहल्या—तुम न मानोगी, लो मैं जाती हूँ !

वागीश्वरी—मैं दिल्लगी नहीं कर रही हूँ, सचमुच पूछती हूँ। तुम्हारी इच्छा हो, तो बातचीत की जाय। अपनी ही बिरादरी के हैं। कौन जाने राज़ी ही हो जायें।

अहल्या—सब बातें जानकर भी ?

वागेश्वरी—तुम्हारे बाबूजी ने सारी कथा पहले ही सुना दी है।

अहल्या—तो कहीं मानें न ?

वागीश्वरी—टालो मत, दिल की बात साफ़-साफ़ कह दो।

अहल्या—तुम मेरे दिल का हाल मुझसे अधिक जानती हो, फिर मुझसे क्यों पूछती हो?

वागीश्वरी—वह धनी नहीं हैं, याद रक्खो!

अहल्या—मैं धन की लौंडी कभी नहीं रही।

वागीश्वरी—तो अब तुम्हें संशय में क्यों रक्खूँ। तुम्हारे बाबूजी तुमसे मिलाने के लिए ही इन्हें काशी से लाये हैं। इनके पास और कुछ हो या न हो; हृदय अवश्य है और ऐसा हृदय जो बहुत कम लोगों के हिस्से में आता है। ऐसा स्वामी पाकर तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

अहल्या ने डबडबाई आँखों से वागीश्वरी को देखा; पर मुँह से कुछ न बोली। कृतज्ञता शब्दों में आकर शिष्टाचार का रूप धारण कर लेती है! उसका मौलिक रूप वही है, जो आँखों से बाहर निकलते हुए काँपता और लजाता है।

६

'मुंशी' वज्रधर उन रेल के मुसाफ़िरों में थे, जो पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फ़िक्र करने लगते हैं और अंत में सोने की तैयारी कर देते हैं। चक्रधर एक बड़ी रियासत के दीवान की लड़की को पढ़ायें और वह इस स्वर्ण-संयोग से लाभ न उठायें! यह क्योंकर हो सकता था! दीवान साहब को सलाम करने आने-जाने लगे। बातें करने में तो निपुण थे ही। दो ही चार मुलाक़ातों में उनका सिक्का जम गया। इस परिचय ने शीघ्र ही मित्रता का रूप धारण किया। एक दिन दीवान साहब के साथ रानी जगदीशपुर के दरबार में जा पहुँचे और ऐसी लच्छेदार बातें कीं, अपनी तहसीलदारी की ऐसी ड़ींट उड़ाई, कि रानीजी मुग्ध हो गईं। कोई क्या तहसीलदारी करेगा! जिस इलाक़े में मैं था, वहाँ के आदमी आज तक मुझे याद करते हैं। डींग नहीं मारता; डींग मारने की मेरी आदत नहीं; लेकिन जिस इलाक़े में मुश्किल से ५० हज़ार वसूल होता था, उसी इलाके से साल के अन्दर मैंने दो लाख वसूल करके दिखा दिया और लुत्फ़ यह कि किसी को हिरासत में रखने या क़ुरक़ी करने की ज़रू-रत नहीं पड़ी।

ऐसे कार्य-कुशल आदमी की सभी जगह ज़रूरत रहती है। रानी ने सोचा, इस आदमी को रख लूँ तो इलाके की आमदनी बढ़ जाय। ठाकुर साहब से सलाह की। यहाँ तो पहले ही से सारी बातें सधी-बधी थीं। ठाकुर साहब ने रंग और भी चोखा कर दिया। उनके दोस्तों में यही ऐसे थे, जिन पर लौंगी की असीम कृपा-दृष्टि थी। दूसरी ही सलामी में मुंशीजी को २५) मासिक की तहसीलदारी मिल गई। मुँह-माँगी मुराद पूरी

हुई। सवारी के लिए घोड़ा भी मिल गया। सोने में सुहागा हो गया।

अब मुंशीजी की पाँचों घी में थीं! जहाँ महीने में एक बार भी महफ़िल न जमने पाती थी, वहाँ अब तीसों दिन जमघट होने लगा। इतने बड़े अहलकार के लिए शराब की क्या कमी। कभी इलाक़े पर चुपके से दस-बीस बोतलें खिंचवा लेते, कभी शहर के किसी कलवार पर धौंस जमाकर दो-चार बोतल ऐंठ लेते। बिना हर्र-फिटकरी रंग चोखा हो जाता था। एक कहार भी नौकर रख लिया और ठाकुर साहब के घर से दो-चार कुरसियाँ उठवा लाये। उनके हौसले बहुत ऊँचे न थे, केवल एक भले आदमी की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते थे। इस नौकरी ने उनके हौसला को बहुत कुछ पूरा कर दिया; लेकिन यह जानते थे कि इस नौकरी का कोई ठिकाना नहीं। रईसों का मिज़ाज एकसा नहीं रहता। मान लिया, रानी साहब के साथ निभ ही गई, तो कै दिन। नये राजा साहब आते ही पुराने नौकरों को निकाल बाहर करेंगे। जब दीवान साहब ही न रहेंगे, तो मेरी क्या हस्ती! इसलिए उन्होंने पहले ही से नये राजा साहब के यहाँ आना-जाना शुरू कर दिया था। इनका नाम ठाकुर विशालसिंह था। रानी साहब के चचेरे देवर होते थे। उनके दादा दो भाई थे। बड़े भाई रियासत के मालिक थे। उन्हीं के वंशजों ने दो पीढ़ियों तक राज्य का आनन्द भोगा था। अब रानी के निस्संतान होने के कारण विशालसिंह के भाग्य उदय हुए थे। दो-चार गाँव जो उनके दादा को गुज़ारे के लिए मिले थे, उन्हीं को रेहन-बय करके इन लोगों ने ५० वर्ष काट दिये थे, यहाँ तक कि विशालसिंह के पास अब इतनी भी संपत्ति न थी कि गुज़र-बसर के लिए काफ़ी होती। उस पर कुल-मर्यादा का पालन करना आवश्यक था। वह महारानी के पट्टीदार थे और इस हैसियत का निर्वाह करने के लिए उन्हें नौकर-चाकर, घोड़ा-गाड़ी सभी कुछ रखना पड़ता था। अभी तक परम्परा की नक़ल होती चली आती थी। दशहरे के दिन उत्सव ज़रूर मनाया जाता, जन्माष्टमी के दिन ज़रूर धूमधाम होती।

प्रातःकाल था, माघ की ठंड पड़ रही थी। मुंशीजी ने गरम पानी से स्नान किया और चौकी से उतरे। मगर खड़ाऊँ उलटे रक्खे हुए थे। कहार खड़ा था कि यह जायें तो धोती छाँटूँ। मुंशीजी ने उलटे खड़ाऊँ देखे, तो कहार को डाटा—तुझसे कितनी बार कह चुका कि खड़ाऊँ सीधे रक्खा कर। तुझे याद क्यों नहीं रहता? बता, उलटे खड़ाऊँ पर कैसे पैर रक्खूँ। आज तो मैं छोड़े देता हूँ; लेकिन कल जो तूने उलटे खड़ाऊँ रक्खे, तो इतना पीटूँगा कि तू भी याद करेगा।

कहार ने काँपते हुए हाथों से खड़ाऊँ सीधे कर दिये।

निर्मला ने हलुवा बना रक्खा था। मुंशीजी आकर एक कुरसी पर बैठ गये और जलता हुआ हलुवा मुँह में डाल लिया। वारे किसी तरह उसे निगल गये और आँखों से पानी पोंछते हुए बोले—तुम्हारा कोई काम ठीक नहीं होता। जलता हुआ हलुवा सामने रख दिया। आख़िर मेरा मुँह जलाने से तुम्हें कुछ मिल तो नहीं गया!

निर्मला—ज़रा, हाथ से देख क्यों न लिया?

वज्रधर—वाह, उलटा चोर कोतवाले डाँटे! मुझी को उल्लू बनाती हो। तुम्हें खुद सोच लेना चाहिए था कि जलता हुआ हलुवा खा गये, तो मुँह की क्या दशा होगी; लेकिन तुम्हें क्या परवा! लल्लू कहाँ हैं?

निर्मला—लल्लू मुझसे कहके कहीं जाते हैं? पहर रात रहे, न-जाने किधर चले गये। जाने कहीं किसानों की सभा होने वाली है। वहीं गये हैं।

वज्रधर—वहाँ दिन-भर भूखों मरेगा! न-जाने इसके सिर से यह भूत कब उतरेगा? मुझसे कल दारोग़ाजी कहते थे, आप लड़के को सँभालिए, नहीं तो धोखा खाइएगा। समझ में नहीं आता, क्या करूँ। मेरे इलाक़े के आदमी भी इन सभाओं में अब जाने लगे हैं और मुझे ख़ौफ़ हो रहा है कि कहीं रानी साहब के कानों में भनक पड़ गई, तो मेरे सिर हो जायँगी! मैं यह तो मानता हूँ कि अहलकार लोग ग़रीबों को बहुत सताते हैं; मगर किया क्या जाय, सताये बग़ैर काम भी तो नहीं चलता। आख़िर

उनका गुज़र-बसर कैसे हो। किसानों को समझाना बुरा नहीं; लेकिन आग में कूदना तो बुरी बात है। मेरी तो सुनने की उसने क़सम खा ली है; मगर तुम क्यों नहीं समझातीं।

निर्मला—जो आग में कूदेगा आप जलेगा, मुझे क्या करना है। उससे बहस कौन करे। आज सबेरे-सबेरे कहाँ जा रहे हो?

वज्रधर—ज़रा ठाकुर विशालसिंह के यहाँ जाता हूँ।

निर्मला—दोपहर तक तो लौट आओगे न?

वज्रधर—हाँ, अगर उन्होंने छोड़ा। मुझे देखते ही टूट पड़ते हैं, तरह-तरह की ख़ातिर करने लगते हैं, दूध लाओ, मेवे लाओ, जान ही नहीं छोड़ते। तीनों औरतों का क़िस्सा छेड़ देते हैं। बड़े ही मिलनसार आदमी हैं। मंगला क्या अभी तक सो रही है?

निर्मला—हाँ, जगाके हार गई, उठती ही नहीं।

वज्रधर—यह तो बुरी बात है। बहू-बेटियों का इतने दिन चढ़े तक सोना क्या मानी?

यह कहकर मुंशीजी ने लोटे का पानी उठाया और जाकर मंगला के ऊपर डाल दिया। निर्मला 'हाँ-हाँ' करती रह गई। पानी पड़ते ही मंगला हड़बड़ाकर उठी और यह समझकर कि वर्षा हो रही है, कोठरी में घुस गई। सरदी के मारे काँप रही थी।

निर्मला—सबेरे-सबेरे लेके नहला दिया!

वज्रधर—यह सब तुम्हारे लाड़-प्यार का फल है। ख़ुद दोपहर तक सोती हो, वही आदतें लड़कों को भी सिखाती हो?

निर्मला—स्वभाव सबका अलग-अलग होता है। न कोई किसी के बनाने से बनता है, न बिगाड़ने से बिगड़ता है। माँ-बाप को देखकर लड़कों का स्वभाव बदल जाता, तो लल्लू कुछ और ही होता। तुम्हें पिये बिना एक दिन चैन नहीं आता, उसे भी कभी पीते देखा है? यह सब कहने की बातें हैं कि लड़के माँ-बाप की आदतें सीखते हैं।

वज्रधर ने इसका कुछ जवाब न दिया। कपड़े पहने, बाहर घोड़ा तैयार था ; उस पर बैठे और शिवपुर चले।

जब वह ठाकुर साहब के मकान पर पहुँचे, तो आठ बज गये थे। ठाकुर साहब धूप में बैठे एक पत्र पढ़ रहे थे। बड़ा तेजस्वी मुख था। वह एक काला दुशाला ओढ़े हुए थे, जिस पर समय के अत्याचार के चिह्न दिखाई दे रहे थे। इस दुशाले ने उनके गोरे रंग को और भी चमका दिया था।

मुंशीजी ने मोढ़े पर बैठते हुए कहा—सब कुशल-आनंद है न?

ठाकुर—जी हाँ, ईश्वर की दया है। कहिए, दरबार के क्या समाचार हैं?

यद्यपि ठाकुर साहब रानी के संबंध में कुछ पूछना ओछापन समझते थे; पर इस विषय से उन्हें इतना प्रेम था कि बिना पूछे रहा न जाता था।

मुंशीजी ने मुसकिराकर कहा—सब वही पुरानी बातें हैं। डॉक्टरों के पौ बारह हैं। दिन में तीन-तीन डॉक्टर आते हैं।

ठाकुर—क्या शिकायत है?

मुंशी—बुढ़ापे की शिकायत क्या कम है! यह तो असाध्य रोग है।

ठाकुर—उन्हें तो और मनाना चाहिए कि किसी तरह इस मायाजाल से छूट जायँ। दवा-दर्पन की अब क्या ज़रूरत है। इतने दिन राज-सुख भोग चुकीं; पर अब भी जी नहीं भरा!

मुंशी—वह तो अभी अपने को मरने लायक़ नहीं समझतीं। रोज़ जगदीशपुर से १६ कहार पालकी उठाने के लिए बेगार पकड़कर आते हैं। वैद्यजी को लाना और ले जाना उनका काम है।

ठाकुर—अन्धेर है और कुछ नहीं! पुराने जमाने में तो खैर सस्ता समय था, जो दो-चार पैसे मज़दूरों को मिल जाते थे, वही खाने-भर को बहुत थे। आजकल तो एक आदमी का पेट भरने को एक रुपया चाहिए। यह महा अन्याय है। बेचारी प्रजा तबाह हुई जाती है। आप देखेंगे कि मैं इस प्रथा को क्योंकर जड़ से उठा देता हूँ।

मुंशी—आपसे लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। चमारों पर भी यही आफ़त है। दस-बारह चमार रोज़ साईसी करने के लिए पकड़ बुलाये जाते हैं। सुना है, इलाके भर के चमारों ने पंचायत की है कि जो साईसी करे, उसका हुक्का पानी बंद कर दिया जाय। अब या तो चमारों को इलाका छोड़ना पड़ेगा, या दीवान साहब को साईस नौकर रखने पड़ेंगे।

ठाकुर—चमारों को इलाके से निकालना दिल्लगी नहीं है! यह लोग समझते हैं कि अभी वही दुनिया है, जो बाबा आदम के ज़माने में थी। चारों तरफ़ देखते हैं, कि ज़माना पलट गया, यहाँ तक कि किसान और मज़दूर राज्य करने लगे; पर अब भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं। इस देश से न जाने कब यह प्रथा मिटेगी। प्रजा तबाह हुई जाती है। आप देखेंगे, मैं रियासत को क्या से क्या कर दिखाता हूँ। काया-पलट कर दूँगा। सुनता हूँ, पुलिस आये दिन इलाके में तूफ़ान मचाती रहती है। मैं पुलिस को वहाँ क़दम न रखने दूँगा। इन ज़ालिमों के हाथों प्रजा तबाह हुई जाती है।

मुंशी—सड़कें इतनी ख़राब हो गई हैं कि एक्के-गाड़ी का गुज़र ही नहीं हो सकता।

ठाकुर—सड़कों को दुरुस्त करना मेरा पहला काम होगा। मोटर-सर्विस जारी कर दूँगा, जिसमें मुसाफिरों को स्टेशन से जगदीशपुर जाने में सुविधा हो। इलाके में लाखों बीघे ऊख बोई जाती है और उसका गुड़ या राब बनती है। मेरा इरादा है कि एक शक्कर की मिल़ खोल दूँ और एक अँगरेज़ को उसका मैनेजर बना दूँ। मैं तो इन लोगों के सुप्रबंध का क़ायल हूँ। हिन्दुस्तानियों पर कभी विश्वास न करे, भूलकर भी नहीं। ये इलाके को तबाह कर देते हैं। शेख़ी नहीं मारता, इलाके में एक बार राम-राज्य स्थापित कर दूँगा, कंचन बरसने लगेगा। आपने किसी महाजन को ठीक किया?

मुंशी—हाँ, कई आदमियों से मिला था और वे बड़ी ख़ुशी से रुपये

देने पर तैयार हैं, केवल यही चाहते हैं कि जमानत के तौर पर कोई गाँव लिख दिया जाय।

ठाकुर—आपने हामी तो नहीं भर ली।

मुंशी—जी नहीं, हामी तो नहीं भरी; लेकिन बग़ैर ज़मानत के रुपये मिलना मुश्किल मालूम होता है।

ठाकुर—तो जाने दीजिए। कोई ज़रूरत ऐसी नहीं है, जो टाली न जा सके। अगर कोई मेरे विश्वास पर रुपये दे, तो दे दे; लेकिन रियासत की इंच-भर ज़मीन भी रेहन नहीं कर सकता। मैं फ़ाके करूँ, बिक जाऊँ; लेकिन रियासत पर आँच न आने दूँगा। हाँ, इसका वादा करता हूँ कि रियासत मिलने के साल-भर बाद कौड़ी-कौड़ी सूद के साथ चुका दूँगा। सच्ची बात तो यह है कि मुझे पहले ही मालूम था कि इस शर्त पर कोई महाजन रुपये देने पर राज़ी न होगा। ये बला के चघड़ होते हैं। मुझे तो इनके नाम से चिढ़ है। मेरा वश चले, तो आज इन सबों को तोप पर उड़ा दूँ। जितना डर मुझे इनसे लगता है, उतना साँप से भी नहीं लगता। इन्हीं के हाथों आज मेरी यह दुर्गति है, नहीं तो इस गई-बीती दशा में भी आदमी होता। इन नर-पिशाचों ने सारा रक्त चूस लिया। पिताजी ने केवल पाँच हज़ार लिये थे जिसके पचास हज़ार हो गये और मेरे तीन गाँव जो इस वक्त दो लाख को सस्ते थे, नीलाम हो गये। पिताजी का मुझे यह अन्तिम उपदेश था कि क़र्ज़ कभी मत लेना। इसी शोक में उन्होंने देह त्याग दी।

यहाँ अभी यही बातें हो रही थीं कि ज़नानख़ाने में से कलह-शब्द आने लगे। मालूम होता था, कई स्त्रियों में संग्राम छिड़ा हुआ है। ठाकुर साहब ये कर्कश शब्द सुनते ही विकल हो गये, उनके माथे पर बल पड़ गये, मुख तेजहीन हो गया। यही उनके जीवन की सबसे दारुण व्यवस्था थी। यही काँटा था, जो नित्य उनके हृदय में खटका करता था। उनकी बड़ी स्त्री का नाम वसुमती था। वह अत्यन्त गर्वशीला थीं, नाक पर मक्खी भी न बैठने देतीं। उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती थी। वह

अपनी सपत्नियों पर उसी भाँति शासन करना चाहती थीं, जैसे कोई सास अपनी बहुओं पर करती है। वह यह भूल जाती थीं कि ये उनकी बहुएँ नहीं, सपत्नियाँ हैं। जो उनकी 'हाँ में हाँ' मिलाता, उस पर प्राण देती थीं; किन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध ज़रा भी कोई बात हो जाती तो सिंहनी का विकराल रूप धारण कर लेती थीं।

दूसरी स्त्री का नाम रामप्रिया था। यह रानी जगदीशपुर की सगी बहन थीं। उनके पिता पुराने खिलाड़ी थे, दोदस्ती झाड़ते थे, दोधारी तलवार से लड़ते थे। रामप्रिया दया और विनय की मूर्ति थीं, बड़ी विचार-शील और वाक्य-मधुर। जितना कोमल अंग था, उतना ही कोमल हृदय भी था। वह घर में इस तरह रहती थीं, मानों थीं ही नहीं। उन्हें पुस्तकों से विशेष रुचि थी, हरदम कुछ-न-कुछ पढ़ा-लिखा करती थीं। सबसे अलग बिलग रहती थीं, न किसी के लेने में, न देने में, न किसी से विशेष वैर न विशेष प्रेम।

तीसरी महिला का नाम रोहिणी था। ठाकुर साहब का उन पर विशेष प्रेम था, और वह भी प्राणपण से उनकी सेवा करती थीं। इसमें प्रेम की मात्रा अधिक थी या माया की, इसका निर्णय करना कठिन था! उन्हें यह असह्य था कि ठाकुर साहब उनकी सौतों से बातचीत भी करें। वसुमती कर्कशा होने पर भी मलिन-हृदय न थी, जो कुछ मन में होता वही मुख में। एक बार मुँह से बात निकाल डालने पर फिर उसके हृदय पर उसका कोई चिह्न न रहता था। रोहिणी द्वेष को पालती थीं, जैसे चिड़िया अपने अंडे को सेती है। वह जितना मुँह से कहती थी, उससे कहीं अधिक मन में रखती थी।

ठाकुर साहब ने अन्दर जाकर वसुमती से कहा—तुम घर में रहने दोगी या नहीं। ज़रा भी शरम-लिहाज़ नहीं कि बाहर कौन बैठा हुआ है; बस जब देखो, संग्राम मचा रहता है। इस ज़िन्दगी से तंग आ गया। सुनते-सुनते कलेजे में नासूर पड़ गये।

वसुमती—कर्म तो तुमने किये हैं, भोगेगा कौन ?

ठाकुर—तो ज़हर दे दो। जला-जलाकर मारने से क्या फ़ायदा !

वसुमती—क्या वह महारानी लड़ने के लिए कम थीं कि तुम उनका पक्ष लेकर आ दौड़े ! पूछते क्यों नहीं, क्या हुआ जो तीरों की बौछार करने लगीं ?

रोहिणी—आप चाहती हैं कि मैं कान पकड़कर उठाऊँ या बैठाऊँ, तो यहाँ कुछ आपके गाँव में नहीं बसी हूँ। क्यों कोई आपसे थर-थर काँपा करे !

ठाकुर—आख़िर कुछ मालूम तो हो, क्या बात हुई ?

रोहिणी—वही हुई, जो रोज़ होती है। मैंने हिरिया से कहा, ज़रा मेरे सिर में तेल डाल दे। मालकिन ने उसे तेल डालते देखा, तो आग हो गईं। तलवार खींचे हुए आ पहुँचीं और उसका हाथ पकड़कर खींच ले गईं। आज आप निश्चय कर दीजिए कि हिरिया उन्हीं की लौंडी है, या मेरी भी। यह निश्चय किये बिना आप यहाँ से न जाने पायेंगे।

वसुमती—वह क्या निश्चय करेंगे, निश्चय मैं करूँगी। हिरिया मेरे साथ मेरे नैहर से आई है और मेरी लौंडी है। किसी दूसरे का उस पर कोई दावा नहीं है।

रोहिणी—सुना आपने ! हिरिया पर किसी का दावा नहीं है, वह अकेली उन्हीं की लौंडी है !

ठाकुर—हिरिया इस घर में रहेगी, तो उसे सबका काम करना पड़ेगा !

वसुमती यह सुनकर जल उठी। नागिन की भाँति फुंकारकर बोली—इस वक्त तो आपने चहेती रानी की ऐसी डिग्री कर दी, मानों यहाँ उन्हीं का राज्य है। ऐसे ही न्यायशील होते, तो संतान का मुँह देखने को न तरसते !

ठाकुर साहब को ये शब्द बाण-से लगे। कुछ जवाब न दिया। बाहर आकर कई मिनट तक मर्माहत दशा में बैठे रहे। वसुमती इतनी मुँह-फट है, यह उन्हें आज मालूम हुआ। सोचा, मैंने तो कोई ऐसी बात न कही थी जिस पर वह इतना झल्ला जाती। मैंने क्या बुरा कहा कि हिरिया

को सबका काम करना पड़ेगा। अगर हिरिया केवल उसी का काम करती है, तो दो महरियाँ और रखनी पड़ती हैं। क्या वसुमती इतना भी नहीं समझती। ताना ही देना था, तो और कोई लगती हुई बात कह देती। यह तो कठोर-से-कठोर आघात है, जो वह मुझ पर कर सकती थी। ऐसी स्त्री का तो मुँह न देखना चाहिए।

सहसा उन्हें एक बात सूझी। मुंशीजी से बोले—ज्योतिष की भविष्य-वाणी के विषय में आपके क्या विचार हैं? क्या वह हमेशा सच निकलती है?

मुंशीजी असमंजस में पड़े कि इसका क्या जवाब दूँ। कैसा जवाब रुचिकर होगा—यह उनकी समझ में न आया। अँधेरे में टटोलते हुए बोले—यह तो उसी विद्या के विषय में कहा जा सकता है, जहाँ अनुमान से काम न लिया जाय। ज्योतिष में बहुत कुछ पूर्व अनुभव और अनुमान ही से काम लिया जाता है।

ठाकुर—बस, ठीक यही मेरा विचार है। अगर ज्योतिष मुझे धनी बतलाये, तो यह आवश्यक नहीं कि मैं धनी हो जाऊँ। ज्योतिष के धनी कहने पर भी सम्भव है कि मैं ज़िन्दगी-भर कौड़ियों को मुहताज रहूँ। इसी भाँति ज्योतिष का दरिद्र लक्ष्मी का कृपा-पात्र भी हो सकता है, क्यों?

मुंशीजी को अब भी पाँव जमाने को भूमि न मिली। संदिग्ध भाव से बोले—हाँ, ज्योतिष की धारणा जब अनुष्ठानों से बदली जा सकती है, तो उसे विधि का लेख क्यों समझा जाय?

ठाकुर साहब ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—अनुष्ठानों पर आपका विश्वास है? मुंशीजी को ज़मीन मिल गई। बोले—अवश्य!

विशालसिंह यह तो जानते थे कि अनुष्ठानों से शंकाओं का निवारण होता है। शनि, राहु आदि को शमन करने के अनुष्ठानों से परिचित थे। बहुत दिनों से मंगल का व्रत भी रखते थे; लेकिन इन अनुष्ठानों पर अब उन्हें विश्वास न था। वह कोई ऐसा अनुष्ठान करना चाहते थे, जो किसी

तरह निष्फल हीं न हो। पूछा—आप यहाँ किसी विद्वान् ज्योतिषी से परिचित हों, तो कृपा करके उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिएगा। मुझे एक विषय में उनसे कुछ पूछना है।

मुंशी—आज ही लीजिए, यहाँ एक-से-एक बढ़कर ज्योतिषी पड़े हुए हैं। आप मुझे कोई ग़ैर न समझिए। जब, जिस काम की इच्छा हो, मुझे कहला भेजिए। सिर के बल दौड़ा आऊँगा। बाज़ार से कोई चीज़ मँगानी हो, मुझे हुक्म दीजिए, किसी वैद्य-हकीम की ज़रूरत हो, मुझे सूचना दीजिए। मैं तो जैसे महारानीजी को समझता हूँ, वैसे ही आपको समझता हूँ।

ठाकुर—मुझे आपसे ऐसी ही आशा है। ज़रा रानी साहबा का कुशल-समाचार जल्द-जल्द भेजिएगा। वहाँ आपके सिवा मेरा और कोई नहीं है। आप ही के ऊपर मेरा भरोसा है। ज़रा देखिएगा कोई चीज़ इधर-उधर न होने पाये, यार लोग नोच-खसोट न शुरू कर दें।

मुंशी—आप इससे निश्चिन्त रहें। मैं देख-भाल करता रहूँगा।

ठाकुर—हो सके तो ज़रा यह पता भी लगाइएगा कि रानीजी ने कहाँ-कहाँ से कितने रुपये क़र्ज़ लिये हैं।

मुंशी—समझ गया, यह तो सहज ही में मालूम हो सकता है।

ठाकुर—ज़रा इसका पता भी लगाइएगा कि आजकल उनका भोजन कौन बनाता है। पहले तो उनके मैके ही की कोई स्त्री थी। मालूम नहीं, अब भी वही बनाती है या कोई दूसरा रसोइया रक्खा गया है।

वज्रधरसिंह ने ठाकुर साहब के मन का भाव ताड़कर दृढ़ता से कहा—महाराज, क्षमा कीजिएगा, मैं आपका सेवक हूँ; पर रानीजी का भी सेवक हूँ। उनका शत्रु नहीं हूँ। आप और वह दोनों सिंह और सिंहिनी की भाँति लड़ सकते हैं। मैं गीदड़ की भाँति अपने स्वार्थ के लिए बीच में कूदना अपमान-जनक समझता हूँ। मैं वहाँ तक सहर्ष आपकी सेवा कर सकता हूँ, जहाँ तक रानीजी का अहित न हो। मैं तो दोनों ही द्वारों का भिक्षुक हूँ।

ठाकुर साहब दिल में तो शरमाये ; पर इसके साथ ही मुंशीजी पर उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया । बात बनाते हुए बोले—नहीं-नहीं, मेरा मतलब आपने ग़लत समझा । छी ! छी ! मैं इतना नीच नहीं हूँ । मैं केवल इस लिए पूछता था कि नया रसोइया कुलीन है या नहीं । अगर वह सुपात्र है, तो वही मेरा भी भोजन बनाता रहेगा ।

ठाकुर साहब ने बात तो बनाई ; पर उन्हें स्वयं ज्ञात हो गया कि बात बनी नहीं । अपनी झेंप मिटाने को वह एक समाचार-पत्र देखने लगे, मानों उन्हें विश्वास हो गया कि मुंशीजी ने उनकी बात सच मान ली ।

इतने में हिरिया ने आकर मुंशीजी से कहा—बाबा, मालकिन ने कहा है कि आप जाने लगें, तो मुझसे मिल लीजिएगा ।

ठाकुर साहब ने गरजकर कहा—ऐसी क्या बात है, जिसको कहने की इतनी जल्दी है । इन बेचारों को देर हो रही है, कुछ निठल्ले थोड़े ही हैं कि बैठे-बैठे औरतों का रोना सुना करें । जा अन्दर बैठ !

यह कहकर ठाकुर साहब उठ खड़े हुए, मानों मुंशीजी को बिदा कर रहे हैं । वह वसुमती को उनसे बातें करने का अवसर न देना चाहते थे । मुंशीजी को भी अब विवश होकर बिदा माँगनी पड़ी ।

मुंशीजी यहाँ से चले, तो उनके मन में यह शंका समाई हुई थी कि ठाकुर साहब कहीं मुझसे नाराज़ तो नहीं हो गये । हाँ, इतना संतोष था कि मैंने कोई बुरा काम नहीं किया । यदि वह सच्ची बात कहने के लिए नाराज़ हो जाते हैं, तो हो जायँ । मैं क्यों रानी साहब का बुरा चीतूँ । बहुत होगा राजा होने पर मुझे जवाब दे देंगे । इसकी क्या चिंता । इस विचार से मुंशीजी और अकड़कर घोड़े पर बैठ गये । वह इतने खुश थे, मानों हवा में उड़े जा रहे हैं । उनकी आत्मा कभी इतनी गौरवोन्मत्त न हुई थी । चिन्ताओं को कभी उन्होंने इतना तुच्छ न समझा था !

७

चक्रधर की कीर्ति उनसे पहले ही बनारस पहुँच चुकी थी। उनके मित्र और अन्य लोग उनसे मिलने के लिए उत्सुक हो रहे थे। बार-बार आते थे और पूछकर लौट जाते थे। जब वह पाँचवें दिन घर पहुँचे, तो लोग मिलने और बधाई देने आ पहुँचे। नगर का सभ्य-समाज मुक्तकंठ से उनकी तारीफ़ कर रहा था। यद्यपि चक्रधर गंभीर आदमी थे; पर अपनी कीर्ति की प्रशंसा से उन्हें सच्चा आनन्द मिल रहा था। मुसलमानों की संख्या के विषय में किसी को भ्रम होता, तो वह तुरत उसे ठीक कर देते थे—एक हज़ार! अजी पूरे पाँच हज़ार आदमी थे और सभी की त्योरियाँ चढ़ी हुईं! मालूम होता था, मुझे खड़ा निगल जायँगे। जान पर खेल गया था, और क्या कहूँ। कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें चक्रधर की वह अनुनय-विनय अपमानजनक जान पड़ती थी। उनका ख़याल था कि इससे तो मुसलमान और भी शेर हो गये होंगे। इन लोगों से चक्रधर को घंटों बहस करनी पड़ी; पर वे क़ायल न हुए। मुसलमानों में भी चक्रधर की तारीफ़ हो रही थी। दो-चार आदमी मिलने भी आये; लेकिन हिंदुओं का जमघट देखकर लौट गये।

और लोग तो तारीफ़ कर रहे थे; पर मुंशी वज्रधर लड़के की नादानी पर बिगड़ रहे थे। तुम्हीं को क्यों यह भूत सवार हो जाता है। क्या तुम्हारी ही जान सस्ती है? तुम्हीं को अपनी जान भारी पड़ी है? क्या वहाँ और लोग न थे, फिर तुम क्यों आग में कूदने गये? मान लो मुसलमानों ने हाथ चला दिया होता, तो क्या करते? फिर तो कोई साहब पास न फटकते! यह हज़ारों आदमी जो आज ख़ुशी के मारे फूले नहीं

समाते, बात तक न पूछते। निर्मला तो इतनी बिगड़ी कि चक्रधर से बात न करनी चाहती थी।

शाम को चक्रधर मनोरमा के घर गये। वह बागीचे में दौड़-दौड़कर हज़ारे से पौदों को सींच रही थी। पानी से कपड़े लतपत हो गये थे। उन्हें देखते ही हज़ारा फेंक कर दौड़ी और पास आकर बोली—आप कब आये बाबूजी? मैं पत्रों में रोज़ वहाँ का समाचार देखती थी और सोचती थी कि आप आयेंगे तो आपकी पूजा करूँगी। आप न होते, तो वहाँ ज़रूर दंगा हो जाता। आपको बिगड़े हुए मुसलमानों के सामने अकेले जाते हुए ज़रा भी शंका न हुई?

चक्रधर ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—ज़रा भी नहीं। मुझे तो यही धुन थी कि इस वक्त कुरबानी न होने दूँगा, इसके सिवा दिल में और कोई ख़याल न था। अब सोचता हूँ तो आश्चर्य होता है कि मुझ में इतना बल और साहस कहाँ से आ गया। मैं तो यही कहूँगा कि मुसलमानों को लोग नाहक़ बदनाम करते हैं। फ़िसाद से वे भी उतना ही डरते हैं, जितना हिंदू! शान्ति की इच्छा भी उनमें हिंदुओं से कम नहीं है। लोगों का यह ख़याल कि मुसलमान लोग हिंदुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं, बिलकुल ग़लत है। मुसलमानों को केवल यह शंका हो गई है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते हैं और उनकी हस्ती को मिटा देने की फ़िक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठते हैं, और मरने-मारने पर आमादा हो जाते हैं।

मनोरमा—मैंने तो जब पढ़ा कि आप उन बौखलाये हुए आदमियों के सामने निःशंक भाव से खड़े थे, तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। आगे पढ़ने की हिम्मत न पड़ती थी कि कहीं कोई बुरी ख़बर न हो। क्षमा कीजिएगा, मैं उस समय वहाँ होती, तो आपको पकड़कर खींच लाती। आपको अपनी जान का ज़रा भी मोह नहीं है!

चक्रधर—(हँसकर)जान और हुई किस लिए। पेट पालने ही के लिए तो

हम आदमी नहीं बनाये गये हैं। हमारे जीवन का आदर्श कुछ तो ऊँचा होना चाहिए, विशेष उन लोगों का जो सभ्य कहलाते हैं। ठाटसे रहना ही सभ्यता नहीं।

मनोरमा—(मुसकिराकर) अच्छा, अगर इस वक्त आपको पाँच लाख रुपये मिल जायँ, तो आप लें या न लें ?

चक्रधर—कह नहीं सकता मनोरमा, उस वक्त दिल की क्या हालत हो। दान तो न लूँगा, पड़ा हुआ धन भी न लूँगा ; लेकिन अगर किसी ऐसी विधि से मिले कि उसे लेने में आत्मा की हत्या न होती हो, तो शायद मैं प्रलोभन को रोक न सकूँ ; पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उसे भोग-विलास में न उड़ाऊँगा। धन की मैं निन्दा नहीं करता, उससे मुझे डर लगता है। दूसरों का आश्रित बनना तो लज्जा की बात है ; लेकिन जीवन को इतना सरल रखना चाहता हूँ कि सारी शक्ति धन कमाने और अपनी ज़रूरतों को पूरा करने ही में न लगानी पड़े।

मनोरमा—धन के बिना परोपकार भी तो नहीं हो सकता ?

चक्रधर—परोपकार मैं करना भी नहीं चाहता, मुझमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं। यह तो वही लोग कर सकते हैं, जिन पर ईश्वर की कृपा-दृष्टि हो। मैं परोपकार के लिए जीवन को सरल नहीं बनाना चाहता ; बल्कि अपने उपकार के लिए, अपनी आत्मा के सुधार के लिए। मुझे अपने ऊपर इतना भरोसा नहीं है कि धन पाकर भी भोग में न पड़ जाऊँ। इसलिए, मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

मनोरमा—अच्छा, अब यह बताइए कि आपसे बधूजी ने क्या बातें कीं ? (मुसकिराकर) मैं तो जानती हूँ, आपने कोई बात-चीत न की होगी, चुपचाप लजाये बैठे होंगे। उसी तरह वह भी आपके सामने आकर खड़ी हो गई होंगी, और खड़ी-खड़ी चली गई होंगी।

चक्रधर शरम से सिर झुकाकर बोले—हाँ मनोरमा, हुआ तो ऐसा ही। मेरी समझ ही में न आता था कि क्या बातें करूँ। उसने दो-एक बार कुछ बोलने का साहस भी किया।

मनोरमा—आपको देखकर खुश तो बहुत हुई होंगी ?

चक्रधर—(शरमा कर) किसी के मन का हाल मैं क्या जानूँ !

मनोरमा ने अत्यन्त सरल भाव से कहा—सब मालूम हो जाता है। आप मुझसे बता नहीं रहे हैं। कम-से-कम उनकी इच्छा तो मालूम ही हो गई होगी। मैं तो समझती हूँ, जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है, वह विवाह ही नहीं है। आपका क्या विचार है ?

चक्रधर बड़े असमञ्जस में पड़े। मनोरमा से ऐसी बातें करते उन्हें संकोच होता था। डरते थे कि कहीं ठाकुर साहब को ख़बर मिल जाय—सरला मनोरमा ही कह दे—तो वह समझेंगे, मैं इसके सामाजिक विचारों में क्रान्ति पैदा करना चाहता हूँ। अब तक उन्हें ज्ञात न था कि ठाकुर साहब किन विचारों के आदमी हैं। हाँ, उनके गंगास्नान से यह आभास होता था कि वह सनातनधर्म के भक्त हैं। सिर झुकाकर बोले—मनोरमा, हमारे यहाँ विवाह का आधार प्रेम और इच्छा पर नहीं, धर्म और कर्तव्य पर रक्खा गया है। इच्छा चंचल है, क्षण-क्षण में बदलती रहती है। कर्तव्य स्थायी है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

मनोरमा—अगर यह बात है, तो पुराने ज़माने में स्वयंवर क्यों होते थे ?

चक्रधर—स्वयंवर में कन्या की इच्छा ही सर्व-प्रधान न होती थी। वह वीर-युग था ; और वीरता ही मनुष्य का सबसे उज्ज्वल गुण समझा जाता था। लोग आजकल वैवाहिक प्रथा सुधारने का प्रयत्न तो कर रहे हैं।

मनोरमा—जानती हूँ ; लेकिन कहाँ सुधार हो रहा है। माता-पिता धन देखकर लट्टू हो जाते हैं। इच्छा अस्थायी है, मानती हूँ ; लेकिन एक बार अनुमति देने के बाद फिर लड़की को पछताने के लिए कोई हीला नहीं रहता।

चक्रधर—अपने मन को समझाने के लिए तर्कों की कभी कमी नहीं रहती मनोरमा ! कर्तव्य ही ऐसा आदर्श है ; जो कभी धोखा नहीं दे सकता।

मनोरमा—हाँ, लेकिन आदर्श आदर्श ही रहता है, यथार्थ नहीं हो

सकता। (मुसकिरा कर) आप ही का विवाह किसी कानी, काली-कलूटी, स्त्री से हो जाय, तो क्या आपको दुःख न होगा? बोलिए! क्या आप समझते हैं कि लड़की का विवाह किसी खूसट से हो जाता है, तो उसे दुःख नहीं होता। उसका बस चले, तो वह पति का मुँह न देखे। लेकिन, इन बातों को जाने दीजिए, बधूजी बहुत सुन्दर हैं?

चक्रधर ने बात टालने के लिए कहा—सुन्दरता मनोभावों पर निर्भर होती है। माता अपने कुरूप बालक को भी सुन्दर समझती है।

मनोरमा—आप तो ऐसी बातें कर रहे हैं, जैसे भागना चाहते हों। क्या माता किसी सुन्दर बालक को देखकर यह नहीं सोचती कि मेरा बालक भी ऐसा ही होता!

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा—मेरा आशय यह न था। मैं यह कहना चाहता था कि सुन्दरता के विषय में सब की राय एक-सी नहीं हो सकती।

मनोरमा—आप फिर भागने लगे। मैं जब आपसे यह प्रश्न करती हूँ, तो उसका साफ़ मतलब यह है, कि आप उन्हें सुन्दर समझते हैं या नहीं?

चक्रधर लज्जा से सिर झुकाकर बोले—ऐसी बुरी तो नहीं है।

मनोरमा— तब तो आप उन्हें खूब प्यार करेंगे!

चक्रधर—प्रेम केवल रूप का भक्त नहीं होता।

सहसा घर के अन्दर से किसी के कर्कश शब्द कान में आये, फिर लौंगी का रोना सुनाई दिया। चक्रधर ने पूछा—यह तो लौंगी रो रही है?

मनोरमा—जी हाँ! आपसे तो भाई साहब से भेंट नहीं हुई। गुरुसेवकसिंह नाम है। कई महीनों से देहात में ज़मींदारी का काम करते हैं। हैं तो मेरे सगे भाई और पढ़े-लिखे भी खूब हैं; लेकिन भलमनसी छू भी नहीं गई। जब आते हैं, लौंगी अम्माँ से झूठमूठ तकरार करते हैं। न-जाने उससे इन्हें क्या अदावत है।

इतने में गुरुसेवकसिंह लाल-लाल आँखें किये निकल आये और मनो-

रमा से बोले—बाबूजी कहाँ गये हैं, तुझे मालूम है ? कब तक आयेंगे ? मैं आज फैसला कर लेना चाहता हूँ !

गुरुसेवकसिंह की उम्र २५ वर्ष से अधिक न थी। लंबे, छरेरे, रूपवान् आदमी थे, आँखों पर ऐनक थी, मुँह में पान का बीड़ा, देह पर तनज़ेब का कुरता, माँग निकली हुई। बहुत शौक़ीन आदमी थे।

चक्रधर को बैठे देखकर वह कुछ झिझके और अन्दर लौटना चाहते थे कि लौंगी रोती हुई आकर चक्रधर के पास खड़ी हो गई और बोली—बाबूजी, इन्हें समझाइए कि मैं अब बुढ़ापे में कहाँ जाऊँ। इतनी उम्र तो इस घर में कटी, अब किसके द्वार पर जाऊँ। जहाँ इतने नौकरों-चाकरों के लिए खाने को रोटियाँ हैं, वहाँ मेरे लिए एक टुकड़ा भी नहीं ? बाबूजी, सच कहती हूँ, मैंने इन्हें अपना दूध पिलाकर पाला है, मालकिन के दूध न होता था, और अब यह मुझे घर से निकालने पर तुले हुए हैं।

गुरुसेवकसिंह की इच्छा तो न थी कि चक्रधर से इस कलह के सम्बन्ध में कुछ कहें; लेकिन जब लौंगी ने उन्हें पंच बनाने में संकोच न किया, तो वह भी खुल पड़े। बोले—महाशय, इससे यह पूछिए कि अब यह बुढ़िया हुई, इसके मरने के दिन आये, क्यों नहीं किसी तीर्थ-स्थान में जाकर अपने कलुषित जीवन के बचे हुए दिन काटती। मैंने दादाजी से कहा था कि इसे वृन्दावन पहुँचा दीजिए और वह तैयार भी हो गये थे; पर इसने सैकड़ों बहाने किये और वहाँ न गई। आपसे तो अब कोई परदा नहीं है, इसके कारण मैंने यहाँ रहना छोड़ दिया। इसके साथ इस घर में रहते हुए मुझे लज्जा आती है। इसे इसकी ज़रा भी परवा नहीं कि जो लोग सुनते होंगे, दिल में क्या कहते होंगे। हमें कहीं मुँह दिखाने की जगह नहीं रही। मनोरमा अब सयानी हुई। इसका विवाह करना है या नहीं। इसके घर में रहते हुए हम किस भले आदमी के द्वार पर जा सकते हैं ? मगर इसे इन बातों की बिलकुल चिंता नहीं, बस मरते दम तक घर की स्वामिनी बनी रहना चाहती है। दादाजी भी सठिया

गये हैं, उन्हें मानापमान की ज़रा भी फ़िक्र नहीं, इसने उन पर न-जाने क्या मोहिनी डाल दी है, कि इसके पीछे मुझसे लड़ने पर तैयार रहते हैं। आज मैं निश्चय करके आया हूँ, कि इसे घर के बाहर निकाल कर छोड़ूँगा। या तो यह किसी दूसरे मकान में रहे, या किसी तीर्थ स्थान को प्रस्थान करे।

लौंगी—तो बच्चा सुनो, जब तक मालिक जीता है, लौंगी इसी घर में रहेगी और इसी तरह रहेगी! जब वह न रहेगा, तो जो कुछ सिर पर पड़ेगी झेल लूँगी। जो तुम चाहो कि लौंगी गली-गली ठोकर खाये, तो यह न होगा! मैं लौंडी नहीं हूँ कि घर से बाहर जाकर रहूँ, तुम्हें यह कहते लज्जा नहीं आती? चार भाँवरें फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता। मैंने अपने मालिक की जितनी सेवा की है और करने को तैयार हूँ, उतनी कौन ब्याहता करेगी! लाये तो हो बहू, कभी उठकर एक लुटिया पानी देती है? खाई है कभी उसकी बनाई कोई चीज़? नाम से कोई ब्याहता नहीं होती, सेवा और प्रेम से होती है।

गुरुसेवक—यह तो मैं जानता हूँ, कि तुझे बातें बहुत करनी आती हैं; पर अपने मुँह से जो चाहे बन, मैं तो तुझे लौंडी ही समझता हूँ।

लौंगी—तुम्हारे समझने से क्या होता है, अभी तो मेरा मालिक जीता है। भगवान् उसे अमर करें, जब तक जीती हूँ इसी तरह रहूँगी, चाहे तुम्हें अच्छा लगे या बुरा। जिसने जवानी में बाँह पकड़ी, वह क्या अब छोड़ देगा! भगवान् को कौन मुँह दिखायेगा?

यह कहती हुई लौंगी घर में चली गई। मनोरमा चुपचाप सिर झुकाए दोनों की बातें सुन रही थी। उसे लौंगी से सच्चा प्रेम था। मातृ-स्नेह का जो कुछ सुख उसे मिला था, लौंगी ही से मिला था। उसकी माता तो उसे गोद में छोड़कर परलोक सिधारी थी। उस एहसान को वह कभी न भूल सकती थी। अब भी लौंगी उस पर प्राण देती थी। इसलिए गुरुसेवकसिंह की यह निर्दयता उसे बहुत बुरी मालूम होती थी।

लौंगी के जाते ही गुरुसेवकसिंह बड़े शांत-भाव से एक कुरसी पर बैठ गये

और चक्रधर से बोले—महाशय, आपसे मिलने की बड़ी इच्छा हो रही थी और इस समय मेरे यहाँ आने का एक कारण यह भी था। आपने आगरे की समस्या जिस बुद्धिमानी से हल की, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

चक्रधर—वह तो मेरा कर्तव्य ही था!

गुरुसेवक—इसीलिए कि आपके कर्तव्य का आदर्श बहुत ऊँचा है। १०० में ९९ आदमी तो ऐसे अवसर पर लड़ जाना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। मुश्किल से एक आदमी ऐसा निकलता है, जो धैर्य से काम ले। शांति के लिए आत्म-समर्पण करनेवाला तो लाख-दो-लाख में एक होता है। आप विलक्षण धैर्य और साहस के मनुष्य हैं। मैंने भी अपने इलाके में कुछ लड़कों का खेल-सा कर रक्खा है। वहाँ पठानों के कई बड़े-बड़े गाँव हैं। उन्हीं से मिले हुए ठाकुरों के भी कई गाँव हैं। पहले पठानों और ठाकुरों में इतना मेल था कि शादी-ग़मी, तीज-त्योहार में एक दूसरे के साथ शरीक होते थे; लेकिन अब तो यह हाल है कि कोई त्योहार ऐसा नहीं जाता जिसमें खून-खच्चर, या कम-से-कम मार-पीट न हो। आप अगर दो-एक दिन के लिए वहाँ चलें, तो आपस में बहुत कुछ सफ़ाई हो जाय। मुसलमानों ने अपने पत्रों में आपका जिक्र देखा है और शौक से आपका स्वागत करेंगे। आपके उपदेशों का बहुत कुछ असर पड़ सकता है।

चक्रधर—बातों में असर डालना तो ईश्वर की इच्छा के अधीन है। हाँ, मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ। मुझसे जो सेवा हो सकेगी, वह उठा न रक्खूँगा। कब चलने का इरादा है?

गुरुसेवक—चलता तो इसी गाड़ी से; लेकिन मैं इस कुलटा को अबकी निकाल बाहर किये बग़ैर नहीं जाना चाहता। दादाजी ने रोक टोक की तो मनोरमा को लेता जाऊँगा और फिर इस घर में क़दम न रक्खूँगा। सोचिए, कितनी बड़ी बदनामी है।

चक्रधर बड़े संकट में पड़ गये। विरोध की कटुता को मिटाने के लिए

मुसकिराते हुए बोले—मेरे और आपके सामाजिक विचारों में बड़ा अंतर है। मैं बिल्कुल भ्रष्ट हो गया हूँ।

गुरुसेवक—क्या आप लौंगी का यहाँ रहना अनुचित नहीं समझते?

चक्रधर—जी नहीं, ख़ानदान की बदनामी अवश्य है; लेकिन मैं बदनामी के भय से अन्याय करने की सलाह नहीं दे सकता। क्षमा कीजिएगा, मैं बड़ी निर्भीकता से अपना मत प्रकट कर रहा हूँ।

गुरुसेवक—नहीं-नहीं, मैं बुरा नहीं मान रहा हूँ। (मुसकिरा कर) इतना उजड्ड नहीं हूँ कि किसी मित्र की सच्ची राय न सुन सकूँ। अगर आप मुझे समझा दें कि उसका यहाँ रहना उचित है, तो मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँगा। मैं ख़ुद नहीं चाहता कि मेरे हाथों किसी को अकारण कष्ट पहुँचे।

चक्रधर—जब किसी पुरुष का एक स्त्री के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध हो जाय, तो पुरुष का धर्म है कि जब तक स्त्री की ओर से कोई विरुद्ध आचरण न देखे, उस संबंध को निबाहे।

गुरुसेवक—चाहे स्त्री कितनी ही नीच जाति की हो?

चक्रधर—हाँ, चाहे किसी जाति की हो।

मनोरमा यह जवाब सुनकर गर्व से फूल उठी। वह आवेश में उठ खड़ी हुई, और पुलकित होकर खिड़की के बाहर झाँकने लगी। गुरुसेवकसिंह वहाँ न होते, तो वह ज़रूर कह उठती—आप मेरे मुँह से बात ले गये।

एकाएक फ़िटन की आवाज़ आई और ठाकुर साहब उतरकर अंदर गये। गुरुसेवकसिंह भी उनके पीछे-पीछे चले। वह डर रहे थे कि लौंगी अवसर पाकर कहीं उनके कान न भर दे।

जब वह चले गये, तो मनोरमा बोली—आप ने मेरे मन की बात कही। बहुत-सी बातों में मेरे विचार आपके विचारों से मिलते हैं।

चक्रधर—उन्हें बुरा तो ज़रूर लगा होगा!

मनोरमा—वह फिर आप से बहस करने आते होंगे। आज मौका न मिलेगा, तो कल करेंगे, अब की वह शास्त्रों के प्रमाण पेश करेंगे, देख लीजिएगा!

चक्रधर—ख़ैर, यह बताओ तुमने इन चारपाँच दिनोंमें क्या काम किया?

मनोरमा—मैंने तो किताब तक नहीं खोली। बस, समाचार पढ़ती थी और वही बातें सोचती थी। आप नहीं रहते, तो मेरा किसी काम में जी नहीं लगता। आप अब कभी बाहर न जाइएगा।

चक्रधर ने मनोरमा की ओर देखा, तो उसकी आँखें सजल हो गई थीं। सोचने लगे—बालिका का हृदय कितना सरल, कितना उदार, कितना कोमल और कितना भावमय है!

८

जगदीशपुर की रानी देवप्रिया का जीवन केवल दो शब्दों में समाप्त हो जाता था—विनोद और विलास। इस वृद्धावस्था में भी उनकी विलास-वृत्ति अणुमात्र भी कम न हुई थी। हमारी कर्मेन्द्रियाँ भले ही जर्जर हो जाएँ, चेष्टाएँ तो वृद्ध नहीं होतीं! कहते हैं, बुढ़ापा मरी हुई अभिलाषाओं की समाधि है, या पुराने पापों का पश्चात्ताप; पर रानी देवप्रिया का बुढ़ापा अतृप्त तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना। वह दान-पुण्य बहुत करती थीं, साल में दो-चार यज्ञ भी कर लिया करती थीं, साधु-संतों पर उनकी असीम श्रद्धा थी; पर इस धर्मनिष्ठा में उनका ऐहिक स्वार्थ छिपा होता था। परलोक की उन्हें कभी भूलकर भी याद न आती थी। वह भूल गई थीं कि इस जीवन के बाद भी कुछ है। उनके दान और स्नान का मुख्य उद्देश्य था—शारीरिक विकारों से निवृत्ति, विलास में रत रहने की परम योग्यता। यदि वह किसी देवता को प्रसन्न कर सकतीं, तो कदाचित् उससे यही वरदान माँगतीं कि वह कभी बूढ़ी न हों। इस पूजा-व्रत के सिवा वह इस महान् उद्देश्य को पूरा करने के लिए भाँति-भाँति के रसों और पुष्टिकारक औषधियों का सेवन करती रहती थीं। झुर्रियाँ मिटाने और रंग को चमकाने के लिए भी कितने ही प्रकार के पाउडरों, उबटनों और तेलों से काम लिया जाता था। वृद्धावस्था उनके लिए नरक से कम भयंकर न थी। चिंता को तो वह अपने पास न फटकने देती थीं। रियासत उनके भोग-विलास का साधनमात्र थी, प्रजा को क्या कष्ट होता है, उन पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, सूखे-झूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर देती है, इन बातों की ओर कभी

उनका ध्यान न जाता था। उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरन्त देना मैनेजर का काम था। वह ऋण लेकर दे, चोरी करे, या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन न था।

यों तो रानी साहब को हर एक प्रकार के विनोद से समान प्रेम था। चाहे वह थिएटर हो, या पहलवानों का दंगल, या अँगरेजी नाच; पर उनके जीवन की सबसे आनन्दमय घड़ियाँ वे होती थीं, जब वह युवकों और युवतियों के साथ प्रेम-क्रीड़ा करती थीं। इस मंडली में बैठकर उन्हें आत्म-प्रवञ्चना का सबसे अच्छा अवसर मिलता था। वह भूल जाती थीं कि मेरा यौवन-काल बीत चुका है। अपने बुझे हुए यौवन-दीपक को युवा की प्रज्वलित स्फूर्ति से जलाना चाहती थीं; किंतु इस धुन में वह कितने ही अन्य विलासांध प्राणियों की भाँति नीचों को मुँह न लगाती थीं। काशी आने वाले राजकुमारों और राजकुमारियों ही से उनका सहवास रहता था। आनेवालों की कमी न थी। एक-न-एक हमेशा ही आता रहता था। रानी की अतिथि-शाला हमेशा आबाद रहती थी। उन्हें युवकों की आँखों में खुब जाने की सनक-सी थी। वह चाहती थीं कि मेरे सौन्दर्य-दीपक पर युवक पतंगों की भाँति आकर गिरें। उनकी रसमयी कल्पना प्रेम के आघात-प्रत्याघात से एक विशेष स्फूर्ति का अनुभव करती थी।

एक दिन ठाकुर हरिसेवकसिंह मनोरमा को रानी साहब के पास ले गये। रानी उसे देखकर मोहित हो गईं। तब से दिन में एक बार उससे ज़रूर मिलतीं। वह किसी कारण से न आती, तो उसे बुला भेजतीं। उसका मधुर गान सुनकर वह मुग्ध हो जाती थीं। हरिसेवकसिंह का उद्देश्य कदाचित यही था कि वहाँ मनोरमा को रईसों और राजकुमारों को आकर्षित करने का मौक़ा मिलेगा।

भादों की अँधेरी रात थी। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। रानी साहब को आज कुछ ज्वर था, चेष्टा गिरी हुई थी, सिर उठाने को जी न चाहता था; पर पड़े रहने का अवसर न था। हर्षपुर के राजकुमार को

आज उन्होंने निमंत्रित किया था। उनके आदर-सत्कार का सामान करना ज़रूरी था। उनके सहवास के सुख से वह अपने को वंचित न कर सकती थीं। उनके आने का समय भी निकट था। रानी ने बड़ी मुश्किल से उठकर आईने में अपनी सूरत देखी। उनके हृदय पर आघात-सा हुआ। मुख प्रभात-चंद्र की भाँति मन्द हो रहा था।

रानी ने सोचा, अभी राजकुमार आते होंगे। क्या मैं उनसे इसी दशा में मिलूँगी? संसार में क्या कोई ऐसी संजीवनी नहीं है, जो काल के कुटिल चिह्न को मिटा दे? ऐसी वस्तु कहीं मिल जाती, तो मैं अपना सारा राज्य बेचकर उसे ले लेती। जब भोगने की सामर्थ्य ही न हो, तो राज्य से और सुख ही क्या! हा! निर्दयी काल! तूने मेरा कोई प्रयत्न सफल न होने दिया।

राजकुमार अब आते होंगे, मुझे तैयार हो जाना चाहिए। ज्वर है, कोई परवा नहीं। मालूम नहीं, जीवन में फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले।

सामने मेज़ पर एक अलबम रक्खा था। रानी ने राजकुमार का चित्र निकाल कर देखा। कितना सहास मुख था, कितना तेजस्वी स्वरूप, कितनी सुधामयी छवि!

रानी एक आराम-कुरसी पर लेटकर सोचने लगीं—यह चित्र न-जाने क्यों मेरे चित्त को इतने ज़ोर से खींच रहा है। मेरा चित्त कभी इतना चंचल न हुआ था। इसी अलबम में और भी कई चित्र हैं, जो इससे कहीं सुन्दर हैं; लेकिन उन युवकों को मैंने कठपुतलियों की तरह नचाकर छोड़ा। यह एक ऐसा चित्र है, जो मेरे हृदय में भूली हुई बातों की याद दिला रहा है, जिसके सामने ताकते हुए मुझे लज्जा-सी आती है!

रानी ने घड़ी की ओर आतुर नेत्रों से देखा। ९ बज रहे थे। अब वह लेटी न रह सकीं, सँभलकर उठीं, अलमारी में से एक शीशी निकाली। उसमें से कई बूँदें एक प्याली में डालीं और आँखें बंद करके पी गईं। इसका

चामत्कारिक असर हुआ, मानों कोई कुम्हलाया हुआ फूल ताज़ा हो जाय, कोई सूखी पत्ती हरी हो जाय। उनके मुख-मंडल पर अरुण आभा दौड़ गई। आँखों में चंचल सजीविता का विकास हो गया, शरीर में नये रक्त का प्रवाह-सा होने लगा। उन्होंने फिर आईने की ओर देखा और उनके अधरों पर एक मृदुल हास्य की झलक दिखाई दी। उनके उठने की आहट पा लौंडी कमरे में आकर खड़ी हो गई। यही उनकी नाइन थी। गुज-राती नाम था।

रानी—समय बहुत थोड़ा है, जल्दी कर।

गुजराती—रानियों को कैसी जल्दी! जिसे मिलना होगा, आयेगा और बैठा रहेगा!

रानी—नहीं, आज ऐसा ही अवसर है।

नाइन बड़ी निपुण थी, तुरन्त शृङ्गारदान खोलकर बैठ गई और रानी का शृङ्गार करने लगी, मानों कोई चित्रकार तस्वीर में रङ्ग भर रहा हो। आध घंटा भी न गुज़रा था कि उसने रानी के केश गूँथकर नागिन की-सी लटें डाल दीं। कपोलों पर एक ऐसा रङ्ग भरा कि झुर्रियाँ गायब हो गई और मुख पर मनोहर आभा झलकने लगी। ऐसा मालूम होने लगा, मानों कोई सुन्दरी युवती सो कर उठी है। वही अलसाया हुआ अंग था, वही मतवाली आँखें। रानी ने आईने की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोलीं—गुजराती, तेरे हाथ में कोई जादू है। मैं तुझे अपने साथ स्वर्ग में ले चलूँगी। वहाँ तो देवता लोग होंगे, तेरी मदद की और ज़रूरत होगी।

गुजराती—आप कभी इनाम तो देतीं नहीं। बस, बखान ही करके रह जाती हैं!

रानी—अच्छा, बता क्या लेगी?

गुजराती—मैं लूँगी तो वही लूँगी, जो कई बार माँग चुकी। रुपये-पैसे लेकर मुझे क्या करना है!

रानी—वह वस्तु तेरे लिए नहीं है। तू उसकी आराधना नहीं कर सकती।

यह एक दीवारगीर पर रक्खी हुई मदन की छोटी-सी मूर्ति थी। चतुर मूर्तिकार ने इस पर कुछ ऐसी कारीगरी की थी कि दिन के साथ उसका रंग भी बदलता रहता था।

गुजराती—अच्छा तो न दीजिए; लेकिन फिर मुझसे न पूछिएगा कि क्या लेगी?

रानी—क्या मुझसे नाराज़ हो गई। (चौंककर) वह रोशनी दिखाई दी! कुँअर साहब आ गये! मैं झूला-घर में जाती हूँ। इन्हें वहीं लाना।

यह कहकर रानी ने फिर वही शीशी निकाली और दुगुनी मात्रा में दवा पीकर झूला-घर की ओर चलीं। यह एक विशाल भवन था, बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठकर खूब पेंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था; पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौदों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुना-तट का कुञ्ज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। रात को उस भवन में पहुँच कर सहसा यह ज्ञान न होता था कि यह कोई भवन है। पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर से हलकी हलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना किसी उपवन की शोभा दरसाता था।

रानी झूले की डोरी पकड़कर खड़ी हो गई और एक हिरन के बच्चे को बुलाकर उसका मुँह सुहलाने लगी। सहसा क़दमों की आहट हुई। रानी मेहमान का स्वागत करने के लिए द्वार पर आई; पर यह राजकुमार न थे, मनोरमा थी। रानी को कुछ निराशा तो हुई; किन्तु मनोरमा भी आज के अभिनय की एक पात्री थी। उन्होंने उसे बुलवा भेजा था।

रानी—बड़ी देर लगाई। तेरी राह देखते-देखते आँखें थक गईं!

मनोरमा—पानी के मारे घर से निकलने की हिम्मत ही न पड़ती थी।

रानी—राजकुमार ने न-जाने क्यों देर की। आ तब तक कोई गीत सुना।

वहीं हौज़ के किनारे एक संगमरमर का चबूतरा था। दोनों जाकर उस पर बैठ गईं।

रानी—क्या मैं बहुत बुरी लगती हूँ?

मनोरमा—आप! आप तो सौन्दर्य की देवी मालूम होती हैं!

रानी—चल झूठी। मुझ से अपना रूप बदलेगी?

मनोरमा—मैं तो आपकी लौंडी की तरह भी नहीं हूँ। मुझे आपके साथ बैठते शरम आती है।

रानी—अच्छा, बता संसार में सबसे अमूल्य कौन-सा रत्न है?

मनोरमा—कोहनूर हीरा होगा, और क्या?

रानी—दुत पगली! संसार की सबसे उत्तम, देव-दुर्लभ वस्तु यौवन है। बता तूने किसी से प्रेम किया है?

मनोरमा—जाइए, मैं आपसे नहीं बोलती।

रानी—आह! तूने तीर मार दिया। यही बिगड़ना तो पुरुषों पर जादू का काम करता है। काश, मेरे मुँह से ऐसी बातें, निकलतीं। सच बता, तूने किसी युवक से प्रेम किया है? अच्छा आ, आज मैं सिखा दूँ।

मनोरमा—आप मुझे छेड़ेंगी, तो मैं चली जाऊँगी।

रानी—ऐ, तो इतना चिढ़ती क्यों है; ऐसी कोई बालिका तो नहीं। देख, सबसे पहली बात है कटाक्ष करने की कला में निपुण होना। जिसे यह कला आती है, वह चाहे चंद्रमुखी न हो, फिर भी पुरुष का हृदय छीन सकती है। सौन्दर्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, उसी तरह जैसे कोई सिपाही शस्त्रों से कुछ नहीं कर सकता, जब तक उन्हें चलाना न जानता हो। चतुर खिलाड़ी एक बाँस की छड़ी से वह काम कर सकता है, जो

दूसरे संगीन और बन्दूक से भी नहीं कर सकते। मान ले, मैं तेरा प्रेमी हूँ, बता मेरी ओर कैसे ताकेगी?

मनोरमा ने लज्जा से सिर झुका लिया। उसे रानी की रसिकता पर कुतूहल हो रहा था। वह कितनी ही बार यहाँ आई थी; पर रानी को कभी इतना मदमत्त न पाया था।

रानी ने उसकी ठुड्ढी पकड़ कर मुँह उठा दिया और बोलीं—पगली, इस भाँति सिर झुकाने से क्या होगा। पुरुष समझेगा यह कुछ जानती ही नहीं। अच्छा समझ ले, तू पुरुष है, देख मैं तेरी ओर कैसे ताकती हूँ। सिर उठाकर मेरी ओर देख, कहती हूँ सिर उठा, नहीं मैं चुटकी काट लूँगी। हाँ, इस तरह।

यह कहकर रानी ने मनोरमा को भृकुटी-विलास और लोचन-कटाक्ष का ऐसा कौशल दिखाया कि मनोरमा का अज्ञात मन भी एक क्षण के लिए चंचल हो उठा। कटाक्ष में कितनी उत्तेजक शक्ति है, इसका कुछ अनुमान हो गया।

रानी—तुझे कुछ मालूम हुआ?

मनोरमा—मुझे तो तीर-सा लगा। आप मोहिनी मन्त्र जानती होंगी!

रानी—तू युवक होती, तो इस समय छाती पर हाथ धरे आहतों की भाँति खड़ी होती; यह तो कटाक्ष हुआ। आ, अब तुझे बताऊँ कि आँखों से प्रेम की बातें कैसे की जाती हैं। मेरी ओर देख!

यह कहते-कहते रानी को फिर शिथिलता का अनुभव हुआ। 'सुधा-बिन्दु' का प्रकाश मंद होने लगा। विकल होकर पूछा—क्यों री, देख तो मेरा मुख कुछ उतरा जाता है।

मनोरमा ने चौंककर कहा—आपको यह क्या हो गया, मुख बिलकुल पीला पड़ गया है। क्या आप बीमार हैं?

रानी—हाँ, बेटी बीमार हूँ। राजकुमार अब भी नहीं आए। तू जाकर गुजराती से 'सुधाबिंदु' की शीशी और प्याली माँग ला। जल्द आना, नहीं मैं गिर पड़ूँगी।

मनोरमा दवा लाने गई, तो राजकुमार इन्द्रविक्रमसिंह को मोटर से उतरते देखा। कोई ३० वर्ष की अवस्था थी। मुख से संयम, तेज और संकल्प झलक रहा था। ऊँचा क़द था, गोरा रंग, चौड़ी छाती, ऊँचा मस्तक, आँखों में इतनी चमक और तेज़ी थी कि हृदय में चुभ जाती थीं। वह केवल एक पीले रंग का रेशमी नीचा कुरता पहने हुए थे, और गले में एक सुफ़ेद चादर डाल ली थी। मनोरमा ने किसी देव-ऋषि का एक चित्र देखा था। मालूम होता था,इन्हीं को देखकर वह चित्र खींचा गया था।

उनके मोटर से उतरते ही चपरासी ने सलाम किया और लाकर दीवानख़ाने में बैठा दिया। इधर मनोरमा ने गुजराती से शीशी ली और जाकर रानी से यह समाचार कहा। रानी चबूतरे पर लेटी हुई थीं। सुनते ही उठ बैठीं और मनोरमा के हाथ से शीशी ले, प्याली में बिना गिने कई बूँदें निकाल, पी गईं।

दवा ने जाते-ही-जाते अपना असर दिखाया। रानी के मुख-मंडल पर फिर वही मनोहर छवि, अंगों में फिर वही चपलता, वाणी में फिर वही सरसता, आँखों में फिर वही नशा, अधरों पर वही मधुर हास्य, कपोलों पर वही अरुण ज्योति शोभा देने लगी। वह उठकर झूले पर जा बैठीं। झूला धीरे-धीरे झूलने लगा। रानी का अंचल हवा से उड़ने लगा और केश बिखर गये। यही मोहिनी छवि वह राजकुमार को दिखाना चाहती थीं।

एक क्षण में राजकुमार ने झूले-घर में प्रवेश किया। रानी झूले से उतरना ही चाहती थीं कि वह उनके पास आ गये और बोले—क्या मधुर कल्पना स्वप्न-साम्राज्य में विहार कर रही है?

• रानी—जी नहीं, प्रतीक्षा नैराश्य की गोद में विश्राम कर रही है। इतने देर क्यों राह दिखाई?

राजकुमार—मेरा अपराध नहीं। मैं आ ही रहा था कि विश्वविद्यालय के कई छात्र आ पहुँचे और मुझे एक गम्भीर विषय पर व्याख्यान देने के लिए घसीट ले गये। बहुत हीले-हवाले किये; लेकिन उन सबों ने एक न सुनी।

रानी—तो मैं आपसे शिकायत कब करती हूँ। आप आ गये, यही क्या कम अनुग्रह है। न आते तो मैं क्या कर लेती; लेकिन इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, याद रखिए। आज रात-भर क़ैद रक्खूँगी।

राजकुमार—अगर प्रेम के कारावास में रहना प्रायश्चित्त है, तो मैं उसमें जीवन पर्यन्त रहने को तैयार हूँ।

रानी—आप बातें बनाने में निपुण मालूम होते हैं। इन निर्दयी केशों को ज़रा सँभाल दीजिए, बार-बार मुख पर आ जाते हैं।

राजकुमार—मेरे कठोर हाथ उन्हें स्पर्श करने योग्य नहीं हैं।

रानी ने कनखियों से—मर्मभेदी कनखियों से—राजकुमार को देखा। यह असाधारण जवाब था। उन कोमल, सुगन्धित, लहराते हुए केशों को स्पर्श करने का अवसर पाकर ऐसा कौन था, जो अपना धन्य भाग्य न समझता! रानी दिल में कटकर रह गईं। उन्होंने पुरुष को सदैव विलास की एक वस्तु समझा था। प्रेम से उनका हृदय कभी आंदोलित न हुआ था। वह लालसा ही को प्रेम समझती थीं। उस प्रेम से, जिसमें त्याग और भक्ति है, वह वंचित थीं; लेकिन इस समय उन्हें उसी प्रेम का अनुभव हो रहा था। उन्होंने दिल को बहुत सँभाल कर राजकुमार से इतनी बातें की थीं। उनका अन्तःकरण उन्हें राजकुमार से यह वासनामय व्यवहार करने पर धिक्कार रहा था। राजकुमार का देव स्वरूप ही उनकी वासना-वृत्ति को लज्जित करता था। सिर नीचा करके कहा—यदि हाथों की भाँति हृदय भी कठोर है, तो वहाँ प्रेम का प्रवेश कैसे होगा?

राजकुमार—बिना प्रेम के तो कोई उपासक देवी के सम्मुख नहीं जाता। प्यास के बिना भी आपने किसी को सागर की ओर जाते देखा है?

रानी अब झूले पर न रह सकीं। इन शब्दों में निर्मल प्रेम झलक रहा था। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि देवप्रिया के कानों में ऐसे सच्चे अनुराग में डूबे हुए शब्द पड़े। उन्हें ऐसा मालूम हो रहा था कि इनकी आँखें मेरे मर्मस्थल में चुभी जा रही हैं। वह उन तीव्र नेत्रों,

से बचना चाहती थीं। झूले से उतरकर रानी ने अपने केश समेट लिये, और घूँघट से माथा छिपाती हुई बोलीं—श्रद्धा देवताओं को भी खींच लाती है। भक्त के पास सागर भी उमड़ता चला आता है।

यह कह वह हौज के किनारे जा बैठीं और फौवारे को घुमाकर खोला, तो राजकुमार पर गुलाब-जल की फुहारें पड़ने लगीं। उन्होंने मुसकिराकर कहा—गुलाब से सिंचा हुआ पौदा लू के झोंके न सह सकेगा। इसका ख़याल रखिएगा।

रानी ने प्रेम-सजल नेत्रों से ताकते हुए कहा—अभी गुलाब से सींचती हूँ, फिर अपने प्राण-जल से सींचूँगी; पर उसका फल खाना मेरे भाग्य में है या नहीं, कौन जाने। उस वस्तु की आशा कैसे करूँ, जिसे मैं जानती हूँ कि मेरे लिए दुर्लभ है।

देवप्रिया ने यह कहते-कहते एक लंबी साँस ली और आकाश की ओर देखने लगी। उनके मन में एक शंका हो उठी, क्या यह दुर्लभ वस्तु मुझे मिल सकती है? मेरा यह मुँह कहाँ?

राजकुमार ने करुण स्वर में कहा—जिस वस्तु को आप दुर्लभ समझ रही हैं, वह आज से बहुत पहले आपकी भेंट हो चुकी है। आप मुझे नहीं जानतीं; पर मैं आपको जानता हूँ—बहुत दिनों से जानता हूँ। अब आपके मुँह से केवल यह सुनना चाहता हूँ कि आपने मेरी भेंट स्वीकार कर ली?

रानी—उस रत्न को ग्रहण करने की मुझे सामर्थ्य नहीं है। मैं आपकी दया के योग्य हूँ, प्रेम के योग्य नहीं।

राजकुमार—कोई ऐसा धब्बा नहीं है, जो प्रेम के जल से छूट न जाय।

रानी—समय के चिह्न को कौन मिटा सकता है? हाय! आपने मेरा असली रूप नहीं देखा। यह मोहिनी छवि जो आप देख रहे हैं, बहुत दिन हुए मेरा साथ छोड़ चुकी। अब मैं अपने यौवनकाल की चित्र-मात्र हूँ। आप मेरी असली सूरत देखेंगे, तो कदाचित् घृणा से मुँह फेर लेंगे।

यह कहते-कहते रानी को अपनी देह शिथिल होती हुई जान पड़ी। 'सुधाबिंदु' का असर मिटने लगा। उनका चेहरा पीला पड़ गया, झुर्रियाँ

दिखाई देने लगीं। उन्होंने लज्जा से मुँह छिपा लिया और यह सोचकर कि शीघ्र ही यह प्रेमाभिनय समाप्त हो जायगा, वह फूट-फूटकर रोने लगीं। राजकुमार ने धीरे से उनका हाथ पकड़ लिया और प्रेम-मधुर स्वर में बोले—प्रिये, मैं तुम्हारे इसी रूप पर मुग्ध हूँ, उस बने हुए रूप पर नहीं। मैं वह वस्तु चाहता हूँ, जो इस परदे के पीछे छिपी हुई है। वह बहुत दिनों से मेरी थी, हाँ इधर कुछ दिनों से उस पर मेरा अधिकार न रहा था। मेरी तरफ़ ध्यान से देखो, मुझे पहचानती हो? कभी देखा है?

रानी ने हैरत में आकर राजकुमार के मुँह पर नज़र डाली। ऐसा मालूम हुआ, मानों आँखों के सामने से परदा हट गया। याद आया, मैंने इन्हें कहीं देखा है। ज़रूर देखा है। वह सोचने लगी, मैंने इन्हें कहाँ देखा। याद न आया! बोलीं—मैंने आपको कहीं पहले देखा है।

राजकुमार—ख़ूब याद है कि आपने मुझे देखा है? भ्रम तो नहीं हो रहा है?

रानी—नहीं, मैंने आपको अवश्य देखा है। संभव है, कभी रेलगाड़ी में देखा हो; मगर मुझे ऐसा मालूम होता है कि आप और मैं कभी बहुत दिनों एक ही जगह रहे हैं। मुझे तो याद नहीं आता। आप ही बताइए।

राजकुमार—ख़ूब याद कर लिया?

रानी—(सोचकर) हाँ, कुछ ठीक याद नहीं आता। शायद तब आप की उम्र कुछ कम थी; मगर थे आप ही।

राजकुमार ने गंभीर भाव से कहा—हाँ प्रिये, मैं ही था। तुमने मुझे अवश्य देखा है, हम और तुम एक साथ रहे हैं और इसी घर में। यही मेरा घर था। तुम स्त्री थीं, मैं पुरुष था। तुम्हें याद है हम और तुम इसी जगह, इसी हौज़ के किनारे शाम को बैठा करते थे? अब पहचाना?

देवप्रिया की आँखें फिर राजकुमार की ओर उठीं। आईने की गर्द साफ़ हो गई। बोलीं—प्राणेश! तुम्हीं हो इस रूप में!!

यह कहते-कहते वह मूर्छित हो गईं।

६

रानी देवप्रिया का सिर राजकुमार के पैरों पर था और आँखों से आँसू बह रहे थे। उसे उनकी ओर ताकते हुए विचित्र भय हो रहा था। उसे कुछ-कुछ संदेह हो रहा था कि मैं सो तो नहीं रही हूँ। कोई मनुष्य माया के दुर्भेद्य अंधकार को चीर सकता है? जीवन और मृत्यु के मध्य-वर्ती अपार विस्मृति-सागर को पार कर सकता है? जिसमें यह सामर्थ्य हो वह मनुष्य नहीं, प्रेत-योनि का कोई जीव है। यह विचार आते ही रानी का सारा शरीर काँप उठा; पर इस भय के साथ ही उसके मन में उत्कंठा हो रही थी कि इन्हीं चरणों से लिपटी हुई इसी क्षण प्राण त्याग दूँ। राजकुमार उसके पति हैं, इसमें तो उसे संदेह न था, संदेह केवल यह था कि मेरे साथ यह कोई प्रेत-लीला तो नहीं कर रहे हैं। वह रह-रह कर छिपी हुई निगाहों से उनके मुख की ओर ताकती थी, मानों निश्चय कर रही हो कि यह मेरे पति ही हैं, या मुझे भ्रम हो रहा है।

सहसा राजकुमार ने उसे उठाकर बैठा दिया और उसके मनोभावों को शान्त करते हुए बोले—हाँ प्रिये, मैं तुम्हारा वही चिरसंगी हूँ, जो अपनी प्रेमाभिलाषाओं को लिये हुए कुछ दिनों को तुम से जुदा हो गया था। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि कोई यात्रा करके लौटा आ रहा हूँ। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, और जिसके भय से संसार काँपता है, वह केवल एक यात्रा है। उस यात्रा में भी मुझे तुम्हारी याद आती रहती थी। विकल होकर आकाश में इधर-उधर दौड़ा करता था। प्रायः सभी प्राणियों की यही दशा थी। कोई अपने संचित धन का अपव्यय देख-देखकर कुढ़ता था, कोई अपने बाल-बच्चों को ठोकरें खाते देखकर रोता था। वे हृदय

इस मर्त्यलोक के दृश्यों से कहीं करुणाजनक, कहीं दुःखमय थे। कितने ही ऐसे जीव दिखाई दिये, जिनके सामने यहाँ सम्मान से मस्तक झुकता था। वह उनका नग्न स्वरूप देखकर उनसे घृणा होती थी। यह कर्म-लोक है, वहाँ भोग-लोक; और कर्म का दंड कर्म से कहीं भयंकर होता है। मैं भी उन्हीं अभागों में था। देखता था कि मेरे प्रेम-सिंचित उद्यान को भाँति-भाँति के पशु कुचल रहे हैं, मेरे प्रणय के पवित्र सागर में हिंसक जल-जंतु दौड़ रहे हैं और देख-देखकर क्रोध से विह्वल हो जाता था। अगर मुझमें वज्र गिराने की सामर्थ्य होती, तो गिराकर उन पशुओं का अन्त कर देता। मुझे यही ताप, यही जलन थी। कितने दिनों मेरी यह अवस्था रही, इसका कुछ निश्चय नहीं कर सकता; क्योंकि वहाँ समय का बोध कराने वाली मात्राएँ न थीं; पर, मुझे तो ऐसा जान पड़ता था कि उस दशा में पड़े हुए मुझे कई युग बीत गये। रोज़ नई-नई सूरतें आतीं और पुरानी सूरतें लुप्त होती रहती थीं। सहसा एक दिन मैं भी लुप्त हो गया। कैसे लुप्त हुआ, यह याद नहीं; पर होश आया, तो मैंने अपने को बालक के रूप में पाया। मैंने राजा हर्षपुर के घर से जन्म लिया था।

इस नये घर में मेरा लालन-पालन होने लगा। ज्यों-ज्यों बढ़ता था, स्मृति पर परदा-सा पड़ता जाता था, पिछली बातें भूलता जाता था। यहाँ तक कि जब बोलने की सामर्थ्य हुई, तो माया अपना काम पूरा कर चुकी थी। बहुत दिनों तक अध्यापकों से पढ़ता रहा। मुझे विज्ञान से विशेष रुचि थी। भारतवर्ष में विज्ञान की कोई अच्छी प्रयोगशाला न होने के कारण मुझे यूरप जाना पड़ा। वहाँ मैं कई वर्ष वैज्ञानिक परीक्षाएँ करता रहा। जितना ही रहस्यों का ज्ञान बढ़ता था, उतनी ही ज्ञान-पिपासा भी बढ़ती थी; किंतु इन परीक्षाओं का फल मुझे लक्ष्य से दूर लिये जाता था। मैंने सोचा था, विज्ञान-द्वारा जीव का तत्व निकाल लूँगा; पर सात वर्षों तक अनवरत परिश्रम करने पर भी मनोरथ न पूरा हुआ।

एक दिन मैं बर्लिन की प्रधान प्रयोगशाला में बैठा हुआ यही सोच

रहा था कि एक तिब्बती भिक्षु आ निकला। मुझे चिन्तित देखकर वह एक क्षण मेरी ओर ताकता रहा, फिर बोला—बालू से मोती नहीं निकलते, भौतिक ज्ञान से आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

मैंने चकित होकर पूछा—आपको मेरे मन की बात कैसे मालूम हुई?

भिक्षु ने हँसकर कहा—आपके मन की इच्छा तो आपके मुख पर लिखी हुई है। जड़ से चेतन का ज्ञान नहीं होता। यह क्रिया ही उलटी है। उन महात्माओं के पास जाओ, जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया है। वही तुम्हें वह मार्ग दिखायेंगे।

मैंने पूछा—ऐसे महात्माओं के दर्शन कहाँ होंगे? मेरा तो अनुमान है कि वह विद्या ही लोप हो गई और जो उसके जानने का दावा करते हैं वे बने हुए महात्मा हैं!

भिक्षु—यथार्थ कहते हो; लेकिन अब भी खोजने से ऐसे महात्मा मिल जायँगे। तिब्बत की तपोभूमि में आज भी ऐसी महान् आत्माएँ हैं, जो माया का रहस्य खोल सकती हैं। हाँ, जिज्ञासा की सच्ची लगन चाहिए।

मेरे मन में बात बैठ गई। तिब्बत की चरचा बहुत दिनों से सुनता आता था। भिक्षु से वहाँ की कितनी ही बातें पूछता रहा। अंत में उसी के साथ तिब्बत चलने की ठहरी। मेरे मित्रों को यह बात मालूम हुई, तो वे भी मेरे साथ चलने पर तैयार हो गये। हमारी एक समिति बनाई गई, जिसमें २ अँगरेज २ फ्रेंच और ३ जर्मन थे। अपने साथ नाना प्रकार के यंत्र लेकर हम लोग अपने मिशन पर चले। मार्ग में भिन्न-भिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वहाँ कैसे पहुँचे, विहारों में क्या-क्या दृश्य देखे, इसकी चरचा करने लगूँ तो कई दिन लग जायँगे। कई बार तो हम लोग मरते-मरते बचे; लेकिन वहाँ चित्त को जो शांति मिली, उसके लिए हम मर भी जाते तो दुख न होता। अँगरेज़ों को तो सफलता न हुई; क्योंकि वे तिब्बत की सैनिक स्थिति का निरीक्षण करने आये थे और भिक्षुओं ने उनकी नीयत भाँप ली; लेकिन शेष पाँचों मित्रों ने तो पाली और संस्कृत

के ऐसे-ऐसे ग्रंथ-रत्न खोज निकाले कि उन्हें वहाँ से ले जाना कठिन हो गया। जर्मन तो ऐसे प्रसन्न थे, मानो उन्हें कोई प्रदेश हाथ आ गया हो।

शरद्-ऋतु थी, जलाशय हिम से ढक गये थे। चारों ओर बर्फ़-ही-बर्फ़ दिखाई देती थी। मेरे मित्र लोग तो पहले ही चले गये थे। अकेला मैं ही हो गया था। एक दिन संध्या-समय मैं इधर-उधर विचरता हुआ एक शिला पर जाकर खड़ा हो गया। सामने का दृश्य अत्यन्त मनोरम था, मानों स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। उसका बखान करना उसका अपमान करना है। मनुष्य की वाणी में न इतनी शक्ति है, न शब्दों में इतना वैचित्र्य! इतना ही कह देना काफ़ी है कि वह दृश्य अलौकिक था, स्वर्गोपम था। विशाल दृश्यों के सामने हम मंत्र-मुग्ध-से हो जाते हैं, अवाक् होकर ताकते हैं, कुछ कह नहीं सकते। मौन आश्चर्य की दशा में खड़ा ताक ही रहा था, कि सहसा मैंने एक वृद्ध पुरुष को सामने की एक गुफा से निकलकर पर्वत-शिखर की ओर जाते देखा। जिन शिलाओं पर कल्पना के भी पाँव डगमगा जायँ, उन पर वह इतनी सुगमता से चले जाते थे कि विस्मय होता था। बड़े-बड़े दरों को इस भाँति फाँद जाते थे, मानों छोटी-छोटी नालियाँ हैं। मनुष्य की यह शक्ति कि वह उस हिम से ढंके हुए, दुर्गम शृंग पर इतनी चपलता से उचकता चला जाय और मनुष्य भी वह जिसके सिर के बाल सन की भाँति सफ़ेद हो गये थे! मुझे ख़याल आया कि इतना पुरुषार्थ प्राप्त करना किसी सिद्ध ही का काम है। मेरे मन में उनके दर्शनों की तीव्र उत्कंठा हुई; पर मेरे लिए ऊपर चढ़ना असाध्य था। वह न-जाने फिर कब तक उतरें, कब तक वहाँ खड़ा रहना पड़े! उधर अँधेरा बढ़ता जाता था। आख़िर मैंने निश्चय किया कि आज लौट चलूँ, कल से रोज़ दिन-भर यहीं बैठा रहूँगा, कभी-न-कभी तो वह उतरेंगे ही, कभी-न-कभी तो दर्शन होंगे ही। मेरा मन कह रहा था कि इन्हीं से तुझे आत्म-ज्ञान प्राप्त होगा। दूसरे दिन मैं प्रातःकाल वहाँ आकर बैठ गया और सारे दिन शिखर की ओर टकटकी लगाए देखता रहा; पर चिड़िया का पूत

भी न दिखाई दिया। एक महीने तक यही मेरा नित्य का नियम रहा। रात-भर विहार में पड़ा रहता, दिन-भर शिला पर बैठा रहता; पर महात्माजी न-जाने कहाँ ग़ायब हो गये थे, उनकी झलक तक न दिखाई देती थी। मैंने कई बार ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया; पर सौ गज से आगे न जा सका। कील-काँटे ठोकते, शिलाओं पर रास्ता बनाते, कई महीनों में शिखर पर पहुँचना सम्भव था; पर यह अकेले आदमी का काम न था अन्य भिक्षुओं से पूछता तो वे हँसकर कहते—उनके दर्शन हमें दुर्लभ हैं, तुम्हें क्या होंगे। बरसों में कभी एक बार दिखाई दे जाते हैं। कहाँ रहते हैं, कोई नहीं जानता; किंतु अधीर न होना। वह यदि तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हो गये, तो तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जायगी। यह भी सुनने में आया कि कई भिक्षु उनके दर्शनों की चेष्टा में प्राणों से हाथ धो बैठे हैं। उनमें इतना विद्युत्तेज है कि साधारण मनुष्य उनके सम्मुख खड़ा ही नहीं हो सकता। उनकी नेत्र-ज्योति बिजली की तरह हृत्स्थल में लगती है। जिसने वह आघात सह लिया उसकी तो कुशल है; जो न सह सका वहीं खड़ा-खड़ा भस्म हो जाता है। कोई योगी ही उनसे साक्षात् कर सकता है।

यह बातें सुन-सुनकर मेरी भक्ति और भी दृढ़ होती जाती थी। मरूँ या जिऊँ; पर उनके दर्शन अवश्य करूँगा, यह धारणा मन में जम गई। योग की क्रियाएँ तो पहले ही से करने लगा था; इसलिए मुझे विश्वास था कि मैं उनके तेज का सामना कर सकता हूँ। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में मर जाना भी श्रेय की बात होगी। क्या था, क्या हूँगा? कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा? इन प्रश्नों का उत्तर किसी ने आज तक न दिया और न दे सकता है। वह तो अपने अनुभव की बात है। हम उसका अनुभव ही कर सकते हैं, किसी को बता नहीं सकते। इस महान् उद्योग में मर जाना भी मनुष्य के लिए गौरव की बात है।

एक वर्ष गुज़र गया और महात्माजी के दर्शन न हुए। न-जाने कहाँ

जाकर अन्तर्धान हो गये। वहाँ से न किसी को पत्र लिख सकता था, न संसार की कुछ ख़बर मिलती थी। कभी-कभी जी ऐसा घबराता कि चलकर अन्य सांसारिक प्राणियों की भाँति जीवन का सुख भोगूँ। इसमें रक्खा ही क्या है कि मैं क्या था और क्या हूँगा। पहले तो यही निश्चित नहीं कि मुझे यह ज्ञान प्राप्त भी होगा, और हो भी गया, तो उससे मेरा या संसार का क्या उपकार होगा। बिना इन रहस्यों के जाने भी, जीवन को उच्च और पवित्र बनाया जा सकता है। वहाँ की सुरम्यता अजीर्ण हो गई, वह कमनीय प्राकृतिक छटा आँखों में खटकने लगी। विवश होकर स्वर्ग में भी रहना पड़े, तो वह नरक-तुल्य हो जाय।

अंत में एक दिन मैंने निश्चय किया कि अब जो होना हो सो हो, इस पर्वत-श्रृंग पर अवश्य चढ़ूँगा। यह निश्चय करके मैंने चढ़ना शुरू किया; लेकिन दिन गुज़र गया और मैं सौ गज़ से आगे न जा सका। मेरी चढ़ाई उन विज्ञान के खोजियों की-सी न थी, जो सभी साधनों से लैस होते हैं। मैं अकेला था, न कोई यंत्र न मंत्र, न कोई रक्षक, न प्रदर्शक, भोजन का भी ठिकाना नहीं, प्राणों पर खेलना था। पर, करता क्या। ज्ञान के मार्ग में यंत्रों का जिक्र ही क्या। आत्म-समर्पण तो उसकी पहली क्रिया है। जानता था कि मर जाऊँगा; किन्तु पड़े-पड़े मरने से उद्योग करते हुए मरना अच्छा था।

पहली रात मैंने एक चट्टान पर बैठकर काटी। बार-बार झपकियाँ आती थीं; पर चौंक-चौंक पड़ता था। जरा चूका और रसातल पहुँचा! इतनी कुशल थी कि गरमी के दिन आ गये थे। हिम का गिरना बंद था; पर जहाँ इतना आराम था वहाँ पिघली हुई हिम-शिलाओं के गिरने से क्षणमात्र में जीवन से हाथ धोने की शंका भी थी। वह भयंकर निशा, वह भयंकर जंतुओं की गरज और तड़प, याद करता हूँ तो आज भी रोमांच हो जाता है। बार-बार पूर्व दिशा की ओर ताकता था; पर निर्दयी सूर्य उदय होने का नाम न लेता था। खैर, किसी तरह रात कटी, सवेरे

फिर चला। आज की चढ़ाई इतनी सीधी न थी, फिर भी ५० गज़ से आगे न जा सका। रास्ते में एक दर्रा पड़ गया जिसे पार करना असम्भव था। इधर-उधर बहुत निगाह दौड़ाई; पर ऐसा कोई उतार न दिखाई दिया जहाँ से उतर कर दर्रे को पार कर सकता। इधर भी सीधी दीवार थी, उधर भी। संयोग से एक जगह दोनों ओर दो छोटे-छोटे वृक्ष दिखाई दिये। मेरी जेब में पतली रस्सी का एक टुकड़ा पड़ा हुआ था। अगर किसी तरह इस रस्सी को दोनों वृक्षों में बाँध सकूँ, तो समस्या हल हो जाय; लेकिन उस पार रस्सी को पेड़ में कौन बाँधे ? आखिर मैंने रस्सी के एक सिरे में पत्थर का एक भारी टुकड़ा खूब कस कर बाँधा और उसको लंगर की भाँति उस पार वाले वृक्ष पर फेकने लगा कि किसी डाल में फँस जाय तो पार हो जाऊँ। बार-बार पूरा जोर लगाकर लंगर फेकता था; पर लंगर वहाँ तक न पहुँचता था। सारा दिन इसी लंगरबाजी में कट गया, रात आ गई। शिलाओं पर सोना जान-जोखिम था। इसलिए वह रात मैंने वृक्ष ही पर काटने की ठानी। मैं उस पर चढ़ गया और दो डालों में रस्सी फँसा-फँसाकर एक छोटी-सी खाट बना ली। आधी रात गुज़री थी कि बड़े जोर का धमाका हुआ। उस अथाह खोह में कई मिनट तक उसकी आवाज़ गूँजती रही। सवेरे देखा तो बर्फ़ की एक बड़ी शिला ऊपर से पिघलकर गिर पड़ी थी और उस दर्रे पर उसका एक पुल-सा बन गया था। मैं खुशी के मारे फूला न समाया। जो मेरे लिए कभी न हो सकता, वह प्रकृति ने आप-ही-आप कर दिया। यद्यपि उस पुल पर से दर्रे को पार करना प्राणों से खेलना था—मृत्यु के मुख में पाँव रखना था; पर दूसरा कोई उपाय न था। मैंने ईश्वर को स्मरण किया और सँभल-सँभलकर उस हिम-राशि पर पाँव रखता हुआ खाई को पार कर गया। इस असाध्य साधना में सफल होने से मेरे मन में यह धारणा होने लगी कि मैं मर नहीं सकता। कोई अज्ञात शक्ति मेरी रक्षा कर रही है। किसी कठिन कार्य में सफल हो जाना आत्मविश्वास के लिए संजीवनी के समान

है। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि मेरा मनोरथ अवश्य पूरा होगा।

उस पार पहुँचते ही सीधी चट्टान मिली। दर्रे के किनारे और चट्टान में केवल एक बालिश्त, और कहीं कहीं एक हाथ का अन्तर था। उस पतले रास्ते पर चलना तलवार की धार पर पैर रखना था। चट्टान से चिमट चिमटकर चलता हुआ, दो-तीन घंटों के बाद मैं एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा जहाँ चट्टान की तेज़ी बहुत कम हो गई थी। मैं लेटकर ऊपर को रेंगने लगा। सम्भव था, मैं संध्या तक इसी तरह रेंगता रहता, पर संयोग से एक समथल शिला मिल गई और उसे देखते ही मुझे ज़ोर की थकन मालूम होने लगी। जानता था कि यहाँ सोकर फिर उठने की नौबत न आयेगी, पर ज़रा-से लेट जाने के लोभ को मैं किसी तरह संवरण न कर सका। नींद को दूर रखने के लिए एक गीत गाने लगा। लेकिन न-जाने कब आँखें झपक गईं। कह नहीं सकता कितनी देर तक सोया, जब नींद खुली और चाहा कि उठूँ तो ऐसा मालूम हुआ कि ऊपर मनों बोझ रक्खा हुआ है। सब अंग जकड़े हुए थे। कितना ही ज़ोर मारता था, पर अपनी जगह से हिल न सकता था, चेतना किसी डूबते हुए नक्षत्र की भाँति डूबती जाती थी। समझ गया कि जीवन से इतने ही दिनों तक का साथ था। पूर्व स्मृतियाँ चेतना की अंतिम जाग्रति की भाँति जाग्रत् हो गईं। अपनी मूर्खता पर पछताने लगा। व्यर्थ प्राण खोये। इतना जानने ही से तो उद्धार न होगा कि मैं पूर्व-जन्म में क्या था। यह ज्ञान न रखते हुए भी संसार में एक से एक ज्ञानी, एक से एक प्रण-वीर, एक से एक धर्मात्मा हो गये, क्या उनका जीवन सार्थक न हुआ? यही सोचते-सोचते न-जाने कब मेरी चेतना का अपहरण हो गया। जब आँख खुली तो देखा कि एक छोटी-सी कुटी में मृग-चर्म पर कम्मल ओढ़े पड़ा हुआ हूँ और एक पुरुष बैठा हुआ मेरे मुख की ओर वात्सल्य-दृष्टि से देख रहा है। मैंने इन्हें पहचान लिया। यह वही महात्मा थे, जिनके दर्शनों के लिए मैं लालायित हो रहा था। मुझे आँखें खोलते देखकर वह सदय भाव से

मुसकिराये और बोले—हिम-शय्या कितनी प्रिय वस्तु है ! पुष्प-शय्या पर तुम्हें कभी इतना सुख मिला था ?

मैं उठ बैठा और महात्मा के चरणों पर सिर रखकर बोला—आपके दर्शनों से जीवन सफल हो गया। आपकी दया न होती तो शायद वहीं मेरा अंत हो जाता।

महात्मा—अंत कभी किसी का नहीं होता। जीव अनंत है। हाँ, अज्ञानवश हम ऐसा समझ लेते हैं।

मैं—मुझे आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। आपमें अमानुषीय शक्ति है।

महात्मा—इसी लिए ऐसा समझते हो कि तुमने मुझे शिलाओं पर चलते देखा है ? यह तो अमानुषीय शक्ति नहीं है। यह तो साधारण मनुष्य भी अभ्यास से कर सकता है।

मैं—आपने योग द्वारा ही यह बल प्राप्त किया होगा ?

महात्मा—नहीं, मैं योगी नहीं, प्रयोगी हूँ। आपने डारविन का नाम सुना होगा ? पूर्व-जन्म में मेरा ही नाम डारविन था।

मैंने विस्मित होकर कहा—आप ही डारविन थे !

महात्मा—हाँ, उन दिनों मैं प्राणी-शास्त्र का प्रेमी था। अब प्राण-शास्त्र का खोजी हूँ।

सहसा मुझे अपनी देह में एक अद्भुत-शक्ति का संचालन होता हुआ मालूम हुआ। नाड़ी की गति तीव्र हो गई, आँखों से ज्योति की रेखाएँ-सी निकलने लगीं। वाणी में ऐसा विकास हुआ, मानों कोई कली खिल गई हो। मैं फुर्ती से उठ बैठा और महात्माजी के चरणों पर झुकने लगा, किंतु उन्होंने मुझे रोककर कहा—तुम मुझे शिलाओं पर चलते देखकर विस्मित हो गये, पर वह समय आ रहा है, जब आनेवाली जाति जल, स्थल और आकाश में समान रीति से चल सकेगी। यह मेरा विश्वास है। पृथ्वी का क्षेत्र उन्हें छोटा मालूम होगा। वह पृथ्वी से अन्य पिंडों में उतनी ही सुगमता से आ-जा सकेंगे जैसे एक देश से दूसरे देश में।

मैं—आपको अपने पूर्व-जन्म का ज्ञान योग द्वारा ही हुआ होगा?

महात्मा—नहीं, मैं पहले ही कह चुका कि मैं योगी नहीं, प्रयोगी हूँ। तुमने तो विज्ञान पढ़ा है, क्या तुम्हें मालूम नहीं कि सम्पूर्ण ब्रह्माड विद्युत् का अपार सागर है। जब हम विज्ञान द्वारा मन के गुप्त रहस्य जान सकते हैं, तो क्या अपने पूर्व-संस्कार न जान सकेंगे। केवल स्मृति को जगा देने ही से पूर्व-जन्म का ज्ञान हो जाता है।

मैं—मुझे भी वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है?

महात्मा—मुझे हो सकता है, तो आपको क्यों न हो सकेगा। अभी तो आप थके हुए हैं। कुछ भोजन करके स्वस्थ हो जाइए, तो मैं आपको अपनी प्रयोगशाला की सैर कराऊँ।

मैं—क्या आपकी प्रयोगशाला भी यहीं है?

महात्मा—हाँ, इसी कमरे से मिली हुई है। आप क्या भोजन करना चाहते हैं?

मैं—उसके लिए आप कोई चिंता न करें। आपका जूठन मैं भी खा लूँगा।

महात्मा—(हँसकर) अभी नहीं खा सकते। अभी तुम्हारी पाचन-शक्ति इतनी बलवान् नहीं है। तुम जिन पदार्थों को खाद्य समझते हो, उन्हें मैंने बरसों से नहीं खाया। मेरे लिए उदर को स्थूल वस्तुओं से भरना वैसा ही अवैज्ञानिक है, जैसे इस वायुयान के दिनों में बैलगाड़ी पर चलना। भोजन का उद्देश्य केवल संचालन-शक्ति का उत्पन्न करना है। जब वह शक्ति हमें भोजन करने की अपेक्षा कहीं आसानी से मिल सकती है तो उदर को क्यों अनावश्यक वस्तुओं से भरें। वास्तव में आनेवाली जाति उदर-विहीन होगी।

यह कहकर उन्होंने मुझे थोड़े-से फल खिलाये जिनका स्वाद आज तक याद करता हूँ। भोजन करते ही मेरी आँखें-सी खुल गईं। ऐसे फल न-जाने किस बाग़ में पैदा होते होंगे। वहाँ की विद्युत्मय वायु ने

पहले ही आश्चर्यजनक स्फूर्ति उत्पन्न कर दी थी। यह भोजन करके तो मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मैं आकाश में उड़ सकता हूँ। वह चढ़ाई, जिसको मैं असाध्य समझ रहा था, अब तुच्छ मालूम होती थी।

अब महात्माजी मुझे अपनी प्रयोगशाला की सैर कराने चले। यह एक विशाल गुफा थी, जिसके विस्तार का अनुमान करना कठिन था। उसकी चौड़ाई २०० हाथ से कम न रही होगी। लंबाई इसकी चौगुनी थी। ऊँची इतनी कि हमारे ऊँचे से ऊँचे मीनार भी उसके पेट में समा सकते थे। बौद्ध मूर्तिकारों की अद्भुत चित्र-कला यहाँ भी विद्यमान थी। यह पुराने समय का कोई विहार था। महात्माजी ने उसे प्रयोगशाला बना लिया था।

प्रयोगशाला में क़दम रखते ही मैं एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच गया। जेनेवा नगर आँखों के सामने था और एक भवन में राष्ट्रों के मंत्री बैठे हुए किसी राजनीतिक विषय पर बहस कर रहे थे। उनकी आँखों के इशारे, ओठों का हिलाना और हाथों का उठना साफ़ दिखाई देता था। उनके मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द साफ़-साफ़ कानों में आता था। एक क्षण के लिए मैं धोखे में आ गया कि जेनेवा ही में बैठा हूँ। ज़रा और आगे बढ़ा तो मधुर संगीत की ध्वनि कानों में आई। मैंने यूरप में यह आवाज़ सुनी थी। पहचान गया, पैड्रेस्की की आवाज़ थी। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। जिन अविष्कारों का बड़े-बड़े विद्वानों को अभी आभास-मात्र था वे सब यहाँ अपने समुन्नत, पूर्ण रूप में दिखाई दे रहे थे। इस निर्जन स्थान में, आबादी से कोसों दूर, इतनी ऊँचाई पर कैसे इन प्रयोगों में सफलता हुई, ईश्वर ही जान सकते हैं। महात्मा लोग तो योग की क्रियाओं ही में कुशल होते हैं। अध्यात्म उनका क्षेत्र है। विज्ञान पर उन्होंने कैसे आधिपत्य जमाया। महात्माजी मेरी ओर देखकर मुसकिराये और बोले—विज्ञान अंतःकरण को भी शुद्ध नहीं छोड़ता। तुम्हें इन बातों से आश्चर्य हो रहा है, पर यथार्थ यह है कि

विज्ञान ने योग को बहुत सरल कर दिया है। वह बहिर्जगत् से अब धीरे-धीरे अंतर्जगत् में प्रवेश कर रहा है। मनोयोग की जटिल क्रियाओं द्वारा जो सिद्धि बरसों में प्राप्त होती थी, वह अब क्षणों में हो जाती है। कदाचित् वह समय दूर नहीं है कि हम विज्ञान द्वारा मोक्ष भी प्राप्त कर सकेंगे।

मैंने पूछा—क्या पूर्व-जन्म का ज्ञान भी किसी प्रयोग द्वारा हो सकता है?

महात्मा—हो सकता है, लेकिन उससे किसी उपकार की आशा नहीं। विज्ञान अगर प्राणियों का उपकार न करे तो उसका मिट जाना ही अच्छा। केवल जिज्ञासा को शांत करने, विलास में योग देने, या स्वार्थ की सहायता करने के लिए योग करना उसका दुरुपयोग करना है। मैं चाहूँ तो अभी एक क्षण में यूरप के बड़े-से-बड़े नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ, लेकिन विज्ञान प्राण-रक्षा के लिए है, वध करने के लिए नहीं।

मुझे निराशा तो हुई पर आग्रह न कर सका। शाम तक प्रयोगशाला के यंत्रों को देखता रहा। किन्तु उनमें अब मन न लगता था। यही धुन सवार थी कि क्योंकर यह दुस्तर कार्य सिद्ध करूँ। आखिर, उन्हें किसी तरह पसीजते न देखकर मैंने उसी हिक्मत से काम की जो निरुपायों का आधार है। बोला—भगवन्, आपने वह सब कर दिखाया जिसका संसार के विज्ञानवेत्ता अभी केवल स्वप्न देख रहे हैं।

महात्माजी पर इन शब्दों का वही असर पड़ा जो मैं चाहता था। यद्यपि मैंने यथार्थ ही कहा था, लेकिन कभी-कभी यथार्थ भी खुशामद का काम कर जाता है। प्रसन्न होकर बोले—मैं गर्व तो नहीं करता पर ऐसी प्रयोगशाला संसार में दूसरी नहीं है।

मैं—यूरपवालों को ख़बर मिल जाय तो आपको आराम से बैठना मुश्किल हो जाय।

महात्मा—मैंने कितनी ही नई-नई बातें खोज निकालीं पर उनका

गौरव आज दूसरों को प्राप्त है। लेकिन इसकी क्या चिंता। मैं विज्ञान का उपासक हूँ, अपनी ख्याति और गौरव का नहीं।

मैं—आपने इस देश का मुख उज्ज्वल कर दिया।

महात्मा—मेरा यान आकाश में जितनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है उसकी यूरपवाले कल्पना भी नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही मेरी चंद्रलोक की यात्रा सफल होगी। यूरप के वैज्ञानिकों की तैया-रियाँ देख-देखकर मुझे हँसी आती है। जब तक हमको वहाँ की प्राकृ-तिक स्थिति का ज्ञान न हो, हमारी यात्रा सफल नहीं हो सकती। सबसे पहले विचार-धाराओं को वहाँ ले जाना होगा। विद्वान् लोग भी कभी-कभी बालकों की-सी कल्पनाएँ करने लगते हैं।

मैं—वह दिन हमारे लिए सौभाग्य और गर्व का होगा।

महात्मा—प्राचीन काल में ऋषिगण योग-बल से त्रिकाल-दृष्टि प्राप्त किया करते थे। पर उसमें बहुधा भ्रम हो जाता था। उसकी सत्यता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न होता था। मैंने वैज्ञानिक परीक्षाओं से उस कार्य को सिद्ध किया है। प्रण तो मैंने यही किया था कि किसी को यह रहस्य न बताऊँगा लेकिन तुम्हारी तपस्या देखकर दया आ रही है। मेरे साथ आओ।

मैं महात्माजी के पीछे-पीछे एक ऐसी गुफा में पहुँचा जहाँ केवल एक छोटी-सी चौकी रक्खी हुई थी। महात्माजी ने गंभीर मुख से कहा—तुम्हें यह बात गुप्त रखनी होगी। मैंने कहा—जैसी आज्ञा।

महात्मा—तुम इसका वचन देते हो।

मैं—आप इसकी किंचित्‌मात्र भी चिंता न करें।

महात्मा—अगर किसी यश और धन के इच्छुक को यह ख़बर मिल गई तो वह संसार में एक महान् क्रांति उपस्थित कर देगा, और कदाचित् मुझे प्राणों से हाथ धोना पड़े। मैं मर जाऊँगा, किन्तु इस गुप्त ज्ञान का प्रचार न करूँगा। तुम इस चौकी पर लेट जाओ और आँखें बंद कर लो।

चौकी पर लेटते ही मेरी आँखें झपक गईं और पूर्व-जन्म के दृश्य आँखों के सामने आ गये। हाँ प्रिये, मेरा अतीत जीवित हो गया। यही भवन था, यही माता-पिता थे, जिनकी तसवीरें दीवानखाने में लगी हुई हैं। मैं लड़कों के साथ बाग़ में गेंद खेल रहा था। फिर दूसरा दृश्य सामने आया। मैं गुरु की सेवा में बैठा हुआ पढ़ रहा था। यह वही गुरुजी थे जिनकी तसवीर तुम्हारे कमरे में है। एक तिल का भी अन्तर नहीं है। इसके बाद युवावस्था का दृश्य आया। मैं तुम्हारे साथ एक नौका पर बैठा हुआ नदी में जल-क्रीड़ा कर रहा था। याद है वह दृश्य जब हवा वेग से चलने लगी थी और तुम डरकर मेरे हृदय से चिमट गईं थीं?

देवप्रिया—ख़ूब याद है, प्राणेश! ख़ूब याद है।

राजकुमार—वह दृश्य याद है, जब मैं लताकुंज में घास पर बैठा हुआ तुम्हें पुष्पाभूषणों से अलंकृत कर रहा था।

देवप्रिया—हाँ प्राणनाथ, ख़ूब याद है। यही तो वह स्थान है!

राजकुमार—पाँचवाँ दृश्य वह था जब मैं मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था। माता-पिता सिरहाने खड़े थे और तुम मेरे पैरों पर सिर रक्खे रो रही थीं! याद है?

देवप्रिया—हाय प्राणनाथ! वह दिन भी भूल सकती हूँ?

राजकुमार—एक क्षण में मेरी आँखें खुल गईं। पर जो कुछ न देखा था वह सब आँखों में फिर रहा था, मानो बचपन की बातें हों। मैंने महात्मा से पूछा—मेरे माता-पिता जीवित हैं? उन्होंने एक क्षण आँखें बन्द करके सोचने के बाद कहा—उनका देहावसान हो गया है। तुम्हारे शोक में दोनों घुल-घुलकर मर गये।

मैं—और मेरी स्त्री?

महात्मा—वह अभी जीवित है।

मैं—किस नगर में है?

महात्मा—काशी के समीप जगदीशपुर में। किन्तु तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं, यह ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध होगा और संस्कारों के क्रम को पलटना अनिष्ट का मूल है।

मैंने उस समय तो कुछ न कहा, पर उसी क्षण मैंने तुमसे मिलने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मुझे अब वहाँ एक-एक क्षण एक-एक युग हो गया। दो दिन तो मैं किसी तरह रहा, तीसरे दिन मैंने महात्माजी से विदा होकर प्रस्थान कर दिया। महात्माजी बड़े प्रेम से मुझसे गले मिले और चलते-चलते एक ऐसी क्रिया बतलाई, जिसके द्वारा हम अपनी आयु और बल को इच्छानुसार बढ़ा सकते हैं। तब मुझे गले से लगाकर एक यान पर बैठा दिया। यान मुझे हरिद्वार पहुँचाकर आप ही आप लौट गया। यह उनके यानों की विशेषता है। हरिद्वार से मैं सीधा हर्षपुर पहुँचा और एक सप्ताह तक माता-पिता की सेवा में रहकर यहाँ आ पहुँचा। तुमसे मिलने के पहले मैं कई बार इधर से निकला। यहाँ की हरएक वस्तु मेरी जानी-पहचानी मालूम होती थी। दो-चार पुराने दोस्त भी दिखाई दिये पर उनसे मैं बोला नहीं। एक दिन जगदीशपुर की सैर भी कर आया। ऐसा मालूम होता था कि मेरी बाल्यावस्था वहीं गुज़री हो। तुमसे मिलने के पहले कई दिन तक गहरी चिन्ता में पड़ा रहा। एक विचित्र शंका होती थी। अकस्मात् तुमसे पार्क में मुलाक़ात हो गई। कह नहीं सकता तुम्हें देखकर मेरे चित्त की क्या दशा हुई। ऐसा जी चाहता था, दौड़कर हृदय से लगा लूँ। महात्मा के अंतिम शब्द भूल गये और मैं वहीं तुमसे मिल गया।

देवप्रिया ने रोते हुए कहा—प्राणनाथ, आपके दर्शन पाते ही मेरा हृदय गद्गद हो गया। ऐसा मालूम हुआ, मानों आपसे मेरा पुराना परिचय है, मानो मैंने आपको कहीं देखा है। आपने एक ही दृष्टि में मेरे मन के उन भावों को जाग्रत् कर दिया जिन्हें मेरी विलासिता ने कुचल-कुचलकर शिथिल कर दिया था। स्वामी! मैं आपके चरणों को स्पर्श करने योग्य नहीं हूँ

लेकिन जब तक जिऊँगी आपकी पवित्र स्मृति को हृदय में संचित रखूँगी।

राजकुमार—प्रिये, तुम्हें मालूम है, विवाह का संबंध देह से नहीं, आत्मा से है। क्या आत्मा अनन्त और अमर नहीं है?

देवप्रिया ने उसका कोई उत्तर न दिया। प्रश्नसूचक नेत्रों से राजकुमार की ओर ताकने लगी।

राजकुमार—तो अब तुम्हें मेरे साथ चलने में कोई आपत्ति तो नहीं है?

देवप्रिया ने रूँधे हुए कंठ से कहा—प्राणनाथ, आप मुझसे यह प्रश्न क्यों करते हैं? आप मेरा उद्धार कर रहे हैं, आपको छोड़कर और किसकी शरण जाऊँगी। अब तो मुझे आप मार-मारकर भी भगायें तो आपका दामन न छोड़ूँगी। आह! स्वामी! यह शुभ अवसर जीते-जी मिलेगा, इसकी तो स्वप्न में भी आशा न थी। मेरा सौभाग्य-सूर्य इतने दिनों के बाद फिर उदय होगा, यह तो कदाचित् मेरे देवताओं को भी न मालूम होगा। न-जाने किसके पुण्य-प्रताप से मुझे यह दिन देखना नसीब हुआ है। कौन स्त्री इतनी सौभग्यवती हुई है? आपको पाकर मैं सब कुछ पा गई। अब मुझे किसी बात की अभिलाषा नहीं रही। आपकी चेरी हूँ, वही चेरी जो एक बार आपके ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी है।

राजकुमार ने रानी को कंठ से लगाकर कहा—यह हमारा पुनर्संयोग है!

देवप्रिया—नहीं प्राणनाथ, मैं इसे प्रेम-मिलन समझती हूँ।

यह कहते-कहते रानी चुप हो गई। उसे याद आ गया कि मुझ-जैसी वृद्धा ऐसे देव-रूप पुरुष के योग्य नहीं है। अभी दया के वशीभूत होकर यह मेरा उद्धार कर देंगे, पर दया कब तक प्रेम का पार्ट खेलेगी? सम्भव है, इनकी यह दया-दृष्टि मुझ पर सदैव बनी रहे, लेकिन मैं रनिवास की युवतियों को कौन मुँह दिखलाऊँगी, जनता के सामने कैसे निकलूँगी। उस दशा में तो दया मेरी रक्षा न कर सकेगी। यह अवस्था तो असह्य हो जायगी। राजकुमार ने उसके मनोभावों को ताड़कर कहा—प्रिये, तुम्हारे मन में शंकाओं का उठना स्वाभाविक है लेकिन उन्हें निकाल डालो।

मैं विलास का दास होता तो तुम्हारे पास आता ही नहीं। मेरे चित्त की वृत्ति वासना की ओर नहीं है। मैं रूप-सौंदर्य का मूल्य जानता हूँ और उसका मुझ पर कोई आकर्षण नहीं हो सकता। मेरे लिए तो तुम इस रूप में भी उतनी ही प्रिय हो। हाँ, तुम्हारे संतोष के लिए मुझे वह क्रियाएँ करनी पड़ेंगी जो महात्माजी ने चलते-चलते बताई थीं। जिसके द्वारा मैंने मायान्धकार पर विजय पाई, उसके द्वारा काल की गति को भी पलट सकूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि मुरझाया हुआ फूल एक बार फिर हरा होगा, वही छवि, वही सौरभ, वही कोमलता, फिर इनको बलाएँ लेंगी। लेकिन तुम्हें भी मेरे लिए बड़े-बड़े त्याग करने पड़ेंगे। सम्भव है, तुम्हें राजभवन के बदले किसी वन में वृक्षों के नीचे रहना पड़े, रत्न-जटित आभूषणों के बदले वन्य पुष्पों पर ही संतोष करना पड़ेगा। क्या तुम उन कष्टों को सह सकोगी?

देवप्रिया—आपको पाकर अब मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं रही। विलास सच्चे सुख की छायामात्र है। जिसे सच्चा सुख मयस्सर हो, वह विलास की तृष्णा क्यों करे?

रानी मुँह से तो ये बातें कह रही थी, किंतु इस विचार से उसका चित्त प्रफुल्लित हो रहा था कि (मेरा यौवन-पुष्प फिर खिलेगा, सौंदर्य-दीपक फिर जलेगा।)

राजकुमार—तो अब मैं जाता हूँ। कल संध्या-समय फिर आऊँगा। इस बीच में तुम यात्रा की तैयारियाँ कर लेना।

देवप्रिया ने राजकुमार का हाथ पकड़कर कहा—मैं भी आपके साथ चलूँगी। मुझे न-जाने कैसी शंकाएँ हो रही हैं। मैं अब एक क्षण के लिए भी आपको न छोड़ूँगी।

राजकुमार—यों चलने से लोगों के मन में भाँति-भाँति की शंकाएँ होंगी। मेरे पुनर्जन्म का किसी को विश्वास न आयेगा, लोग समझेंगे कि ऐब को छिपाने के लिए यह कथा गढ़ ली गई है, केवल कुत्सित प्रेम

को छिपाने के लिए यह कौशल किया गया है। इसलिए तुम किसी तीर्थ-यात्रा..........।

रानी ने बात काटकर कहा—मुझे अब लोक-निंदा का भय नहीं है। मैं यह कहने को तैयार हूँ कि अपने प्राणपति के साथ जा रही हूँ।

राजकुमार ने मुसकिराकर कहा—अगर मैं तुमसे दग़ा करूँ तो?

रानी ने भयातुर होकर कहा—प्राणनाथ, ऐसी बातें न करो। मैं अपने को तुम्हारे चरणों पर अर्पण कर चुकी, लेकिन कुसंस्कारों से मुक्त नहीं हुई हूँ। यदि कोई आदमी अभी आकर मुझसे कहे कि यह इन्द्रजाल का खेल कर रहे हैं, तो मैं नहीं कह सकती, मेरी क्या दशा होगी। अलौकिक बातों को समझने के लिए अलौकिक बुद्धि चाहिए और मैं इससे वंचित हूँ। मैं निष्कपट भाव से अपने मन की दुर्बलताएँ प्रकट कर रही हूँ। मुझे क्षमा कीजिएगा। अभी बहुत दिन गुज़रेंगे जब मैं इस स्वप्न को यथार्थ समझूँगी। उस स्वप्न को भंग न कीजिए। इस वक्त यहीं आराम कीजिए, रात बहुत बीत गई है। मैं तब तक कुँअर विशालसिंह को सूचना दे दूँ कि आकर अपना राज्य सँभालें। कल मैं प्रातःकाल आपके साथ चलने को तैयार हो जाऊँगी।

यह कहकर रानी ने राजकुमार के लिए भोजन लाने की आज्ञा दी। जब वह भोजन करने लगे तो आप खड़ी होकर उन्हें पंखा झलने लगी। ऐसा स्वर्गीय आनन्द उसे कभी प्राप्त न हुआ था। उसके मर्म-स्थल में प्रेम और उल्लास की तरंगे उठ रही थीं। जी चाहता था कि इसी क्षण इसके चरणों पर गिरकर प्राण त्याग दूँ।

कुँवर साहब लेटने गये तो रानी ने विशालसिंह के नाम पत्र लिखा—

प्रिय कुँवर विशालसिंहजी!

इतने दिनों तक मायाजाल में फँसे रहने के बाद अब मेरा चित्त संसार से विरक्त हो गया है। मैं तीर्थ-यात्रा करने जा रही हूँ और शायद फिर न लौटूँगी। किसी तीर्थस्थान में ही जीवन के शेष

दिन काटूँगी। आपको उचित है कि आकर अपने राज्य का भार सँभालें मुझे खेद है कि मेरे कारण आपको बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़े। आपने मेरे साथ जो अनीति की उसे भी मैं क्षमा करती हूँ। मायान्ध होकर हम सभी ऐसा करते हैं। मेरी आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि मेरी लौंडियों और सेवकों पर दया कीजिएगा। मैं अपने साथ कोई चीज़ नहीं ले जा रही हूँ। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आपको सद्बुद्धि दें और आपकी कीर्ति देश-देशान्तरों में फैले। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द की और कोई बात न होगी।

आपकी

देवप्रिया

वह पत्र लिखकर रानी ने मेज़ पर रक्खा ही था कि उन्हें ख़याल आया, मैं अपना राज्य क्यों छोड़ूँ? मैं हर्षपुर से भी तो इसकी देख-भाल कर सकती हूँ। साल में महीने-दो-महीने के लिए यहाँ आना कौन मुश्किल है। चलकर प्राणनाथ से पूछूँ, उन्हें इसमें कोई आपत्ति तो न होगी। वह राजकुमार के कमरे के द्वार तक गईं, पर अंदर क़दम न रख सकीं। ख़याल आया, समझेंगे अभी तक इसकी तृष्णा बनी हुई है! उलटे पाँव लौट आईं।

रात के दो बज गये थे। देवप्रिया यात्रा की तैयारियाँ कर रही थी। उसके मन में प्रश्न हो रहा था, कौन-कौन-सी चीज़ें साथ ले जाऊँ। पहले वह अपने वस्त्रागार में गईं। शीशे की आलमारियों में एक-से-एक अपूर्व वस्त्र चुने हुए रक्खे थे। इस समूह में से उसने खोजकर अपनी सोहाग की साड़ी निकाल ली, जिसे पहने आज २५ वर्ष हो गये थे। आज उसकी शोभा और सभी साड़ियों से बढ़ी हुई थी। उसके सामने सभी कपड़े फीके जँचते थे।

फिर वह अपने आभूषणों की कोठरी में गईं। इन आभूषणों पर वह जान देती थी। ये उसे अपने राज्य से भी प्रिय थे। लेकिन इस समय इनको छूते हुए उसे ऐसा भय हो रहा था, मानो चोरी कर रही है। उसने बहुत साहस करके रत्नों का वह सन्दूक़चा निकाला जिस पर इन २५ बरसों में उसने लाखों रुपये ख़र्च किये थे, और उसे अंचल में छिपाये हुए बाहर निकली। इस लोभ को वह संवरण न कर सकी।

वह अपने कमरे में आकर बैठी ही थी कि गुजराती आकर खड़ी हो गई। देवप्रिया ने पूछा—तू अभी सोई नहीं?

गुजराती—सरकार नहीं सोईं तो मैं कैसे सोती?

'मैं तो कल तीर्थ-यात्रा करने जा रही हूँ।'

'मुझे भी साथ ले चलियेगा?'

'नहीं, मैं अकेली जाऊँगी।'

'सरकार लौटेंगी कब तक ?'

'कह नहीं सकती। बहुत दिन लगेंगे। बता, तुझे क्या उपहार दूँ ?'

'मैं तो एक बार माँग चुकी। लूँगी तो वही लूँगी।'

'मैं तुझे नौलखा हार दूँगी।'

'उसकी मुझे इच्छा नहीं।'

'जड़ाऊ कंगन लेगी ?'

'जी नहीं !'

'वह रत्न लेगी जो बड़ी-बड़ी रानियों को भी मयस्सर नहीं ?'

'जी नहीं, वह आप ही को शोभा देगा।'

'पागल है क्या ! एक रत्न के दाम एक लाख से कम न होंगे !'

'वह आप ही को मुबारक हो।'

रानी ने रत्नों का संदूकचा खोलकर गुजराती के सामने रख दिया और बोली—इनमें से जो चाहे निकाल ले।

गुजराती ने संदूकचा बंद करके कहा—मुझे इनमें से कोई भी न चाहिए। रानी ने एक क्षण सोचने के बाद कहा—अच्छा, जा वही मूर्ति ले ले।

'आप खुशी से दे रही हैं न ?'

'हाँ, खुशी से !'

'भगवान् आपका भला करें।'

यह कहकर गुजराती खुश-खुश वहाँ से चली गई। थोड़ी ही देर के बाद रानी भी रत्नों का सन्दूकचा लिए हुए उठीं और तोशाखाने में जाकर उसे उसी स्थान पर रख दिया जहाँ से निकाला था। उनका मन एक क्षण के लिए चंचल हो गया, लेकिन उसे धिक्कारती हुई वह जल्दी से अपने कमरे में चली आईं।

सहसा कोयल की कूक सुनाई दी। रानी ने चौंककर द्वार का परदा हटा दिया। उषा की स्निग्ध, मधुर, संगीतमय आभा किवाड़ों के शीशों

द्वारा कमरे में प्रवेश कर रही थी, मानों किसी नवयौवना के हृदय में प्रेम का उदय हो रहा हो। उसी नवयौवना की भाँति देवप्रिया उस अरुण छटा को देख कर सशंक हो उठी।

उसी समय राजकुमार द्वार पर आकर खड़े हो गये।

रानी ने कहा—मैं तैयार हूँ।

राजकुमार—और मेरा जी चाहता है कि यहीं तुम्हारी उपासना में अपना जीवन व्यतीत करूँ। मुझे अपने उद्देश्य में जितनी सफलता हुई, इसकी मुझे आशा न थी। इस देश के सिवा ऐसी देवियाँ और कहाँ हैं जो इस भाँति अपने को आदर्श पर बलिदान कर दें।

आध घण्टे के बाद राजकुमार भी संध्योपासन करके निकले। मोटर तैयार था। दोनों आदमी उस पर आ बैठे। जब मोटर चली तो रानी ने उस भवन को करुण नेत्रों से देखा और एक ठण्डी साँस ली। उसके हृदय की वह दशा हो रही रही थी जो किसी नववधू की पति के घर जाते समय होती है। शोक और हर्ष, आशा और दुराशा, ममत्व और विराग का एक विचित्र समावेश हो गया था।

घर के नौकर-चाकर, सिपाही-प्यादे सजल नेत्र खड़े थे और मोटर चली जा रही थी!

१०

मुं० वज्रधर विशालसिंह के पास से लौटे तो उनकी तारीफ़ों के पुल बाँध दिये। रईस हो तो ऐसा हो, आँखों में कितनी शील है! किसी तरह छोड़ते ही न थे। यों समझो कि लड़कर आया हूँ। प्रजा पर तो जान देते हैं। बेगार की चरचा सुनी तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। उनके ज़माने में प्रजा चैन करेगी। यह तारीफ़ सुनकर चक्रधर को विशालसिंह से श्रद्धा-सी हो गई। उनसे मिलने गये और समिति के संरक्षकों में उनका नाम दर्ज कर लिया। तब से कुँवर साहब समिति की सभाओं में नित्य सम्मिलित होते थे। अतएव अब की जब उनके यहाँ कृष्णाष्टमी का उत्सव हुआ तो चक्रधर अपने सहवर्गियों के साथ उसमें शरीक हुए।

कुँवर साहब कृष्ण के परम भक्त थे। उनका जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाते थे; लेकिन उनकी स्त्रियों में इस विषय में भी मतभेद था। उनके व्रत भी अलग-अलग थे। तीजे के सिवा तीनों कोई एक व्रत न रखती थीं। रोहिणी कृष्ण की उपासक थी तो वसुमती रामनवमी का उत्सव मनाती थी। नवरात्रि का व्रत रखती, ज़मीन पर सोती और दुर्गा-पाठ सुनती। रही रामप्रिया, वह कोई व्रत न रखती थी। कहती—इस दिखावे से क्या फ़ायदा। मन शुद्ध चाहिए, यही सबसे बड़ी भक्ति है। जब मन में ईर्ष्या और द्वेष की ज्वाला दहक रही हो, राग और मत्सर की आँधी चल रही हो, तो कोरा व्रत रखने से क्या होगा। ये उत्सव आपस में प्रीति बढ़ाने के लिए मनाये जाते हैं। जब प्रीति के बदले द्वेष बढ़े तो उनका न मनाना ही अच्छा!

संध्या हो गई थी। बाहर कँवल, झाड़ आदि जलाये जा रहे थे। चक्र-

घर अपने मित्रों के साथ बनाव-सजाव में मसरूफ़ थे। संगीत-समाज के लोग आ पहुँचे थे। गाना शुरू होनेवाला ही था कि वसुमती और रोहिणी में तक़रार हो गई। वसुमती को यह तैयारियाँ एक आँख न भाती थीं। उसके रामनवमी के उत्सव में सन्नाटा-सा रहता था। विशाल-सिंह उस उत्सव से उदासीन रहते थे। वसुमती इसे उनका पक्षपात समझती थी। उसके विचार में उनके इस असाधारण उत्साह का कारण कृष्ण की भक्ति नहीं, रोहिणी के प्रति स्नेह था। वह दिल में जल-भुन रही थी। रोहिणी सोलहो शृङ्गार किये पकवान बना रही थी। कदाचित् वसुमती को जलाने ही के लिए आप-ही-आप गीत गा रही थी। घर के सब बरतन उसी के यहाँ छिपे हुए थे। उसका यह अनुराग देख-देखकर वसुमती के कलेजे पर साँप-सा लोट रहा था। वह इस रंग में भंग मिलाना चाहती थी। सोचते-सोचते उसे एक बहाना मिल गया। महरी को भेजा, जाकर रोहिणी से कह—घर के बरतन जल्दी खाली कर दें। दो थालियाँ, दो बटलोहियाँ, कटोरे-कटोरियाँ माँग लो। उनका उत्सव रात-भर होगा, तो कोई कब तक बैठा उनकी राह देखता रहेगा। उनके उत्सव के लिए दूसरे क्यों भूखों मरें। महरी गई, तो रोहिणी ने तमककर कहा—आज इतनी जल्द भूख लग गई। रोज़ तो आधी रात तक बैठी रहती हैं, आज ८ बजे ही भूख सताने लगी। अगर ऐसी ही जल्दी है, तो कुम्हार के यहाँ से हाँड़ियाँ मगवा लें। पत्तल मैं दे दूँगी।

वसुमती ने यह सुना, तो आग हो गई। हाँड़ियाँ चढ़ाएँ मेरे दुश्मन! जिनकी छाती फटती हो, मैं क्यों हाँड़ी चढ़ाऊँ। उत्सव मनाने की बड़ी साध है, तो नये बासन क्यों नहीं मँगवा लेतीं। अपने कृष्ण से कह दें, गाड़ी-भर बरतन भेज दें। क्या जबरदस्ती दूसरों को भूखों मारेंगी?

रोहिणी रसोई से बाहर निकलकर बोली—बहन, ज़रा मुँह सँभालकर बातें करो। देवताओं का अपमान करना अच्छा नहीं।

वसुमती—अपमान तो तुम करती हो, जो व्रत के दिन यों बन-ठन-

कर अठिलाती फिरती हो। देवता रङ्ग-रूप नहीं देखते, भक्ति देखते हैं।

रोहिणी—मैं बनती-ठनती हूँ, तो दूसरों की आँखें क्यों फूटती हैं। भगवान् के जन्म के दिन भी न बनूँ-ठनूँ? उत्सव में तो रोया नहीं जाता!

वसुमती—तो और बनो ठनो, मेरे अँगूठे से, आँखें क्यों फोड़ती हो। आँखें फूट जायँगी, तो चिल्लू-भर पानी भी तो न दोगी?

रोहिणी—क्या आज लड़ने ही पर उतारू होकर आई हो क्या? भगवान् सब दुख दें, बुरी संगति न दें। लो, यही गहने-कपड़े आँखों में गड़ रहे हैं न? न पहनूँगी। जाकर बाहर कह दे, पकवान-प्रसाद किसी हलवाई से बनवालें। मुझे क्या, मेरे मन का हाल भगवान् आप जानते हैं, पड़ेगी उन पर, जिनके कारण यह सब हो रहा है।

यह कहकर रोहिणी अपने कमरे में चली गई। सारे गहने-कपड़े उतार फेंके और मुँह ढाँपकर चारपाई पर पड़ रही। ठाकुर साहब ने यह समाचार सुना, तो माथा कूटकर बोले—इन चांडालिनों से आज शुभोत्सव के दिन भी शांत नहीं बैठा जाता। इस ज़िन्दगी से तो मौत ही अच्छी। घर में आकर रोहिणी से बोले—तुम मुँह ढाँपकर सो रही हो या उठकर पकवान बनाती हो? रोहिणी ने पड़े-पड़े उत्तर दिया—फट पड़े वह सोना, जिससे टूटें कान। ऐसे उत्सव से बाज़ आई, जिसे देखकर घरवालों की छाती फटे।

विशालसिंह—तुमसे तो बार-बार कहा कि उनके मुँह न लगा करो। एक चुप सौ वक्कों को हरा देता है। दो बाते सुन लो, तो तीसरी बात कहने का साहस ही न हो। फिर, तुमसे बड़ी ठहरीं, यों भी तुमको उनका लिहाज़ करना चाहिए।

जिस दिन वसुमती ने विशालसिंह को वह व्यंग-बाण मारा था, जिसकी कथा हम कह चुके हैं उसी दिन से उन्होंने उससे बोलना-चालना छोड़ दिया था, उससे कुछ डरने लगे थे, उसके क्रोध की भयंकरता का अन्दाज़ पा लिया था; किन्तु रोहिणी क्यों दबने लगी थी। यह उपदेश

सुना तो झुँझलाकर बोली—रहने भी दो, जले पर निमक छिड़कते हो ! जब बड़ा देख-देखकर जले, बात-बात पर कोसे, तो कोई कहाँ तक उसका लिहाज़ करे। उन्हें मेरा रहना ज़हर लगता है, तो क्या करूँ, घर छोड़कर निकल जाऊँ ? वह इसी पर लगी हुई हैं। तुम्हीं ने उन्हें सिर चढ़ा लिया है। कोई बात होती है, तो मुझी को उपदेश करने दौड़ते हो, सीधा पा लिया है न ! उनसे बोलते हुए तो तुम्हारा भी कलेजा काँपता है। तुम न शह देते, तो उनकी मजाल थी कि यों मुझे आँखें दिखातीं !

विशालसिंह—तो क्या मैं उन्हें सिखा देता हूँ कि तुम्हें गालियाँ दें ?

रोहिणी—और क्या करते हो। जब घर में कोई न्याय करनेवाला नहीं रहा, तो इसके सिवा और क्या होगा। सामने तो चुड़ैल की तरह बैठी हुई हैं, जाकर पूछते क्यों नहीं ? मुँह में कालिख क्यों नहीं लगाते ? दूसरा पुरुष होता, तो जूते से बात करता, सारी शेखी किरकिरी हो जाती। लेकिन तुम तो खुद मेरी दुर्गति करानी चाहते हो। न-जाने क्यों ब्याह का शौक़ चर्राया था !

कुँवर साहब ज्यों-ज्यों रोहिणी का क्रोध शांत करने की चेष्टा करते थे, वह और भी बफरती जाती थी, और बार-बार कहती थी, तुमने मेरे साथ क्यों ब्याह किया। यहाँ तक कि अन्त में वह भी गर्म पड़ गये और बोले—और पुरुष स्त्रियों से विवाह करके कौन-सा सुख देते हैं, जो मैं तुम्हें नहीं दे रहा हूँ। रही लड़ाई-झगड़े की बात। तुम न लड़ना चाहो, तो कोई ज़बर-दस्ती तुमसे न लड़ेगा। आख़िर, रामप्रिया भी तो इसी घर में रहती है !

रोहिणी—तो मैं स्वभाव ही से लड़ाकू हूँ ?

विशालसिंह—यह मैं थोड़े ही कहता हूँ।

रोहिणी—और क्या कहते हो। साफ़-साफ़ कहते हो, फिर मुकरते क्यों हो। मैं स्वभाव ही से झगड़ालू हूँ, दूसरों से छेड़-छेड़कर लड़ती हूँ। यह तुम्हें बहुत दूर की सूझी। वाह ! क्या नई बात निकाली है। कहीं छपवा दो, तो खासा इनाम मिल जाय।

विशालसिंह—तुम बरबस बिगड़ रही हो। मैंने तो दुनिया की बात कही थी और तुम अपने ऊपर ले गईं।

रोहिणी—क्या करूँ, भगवान् ने बुद्धि ही नहीं दी। वहाँ भी अन्धेर नगरी और चौपट राजा होंगे। बुद्धि तो दो ही प्राणियों के हिस्से में पड़ी है, एक आपकी ठकुराइन के, नहीं-नहीं, महारानीजी के, और दूसरे आपके। जो कुछ बची-खुची वह आपके सिर में ठूँस दी गई।

विशालसिंह—अच्छा, उठकर पकवान बनाती हो कि नहीं? कुछ ख़बर है, ९ बज रहे हैं!

रोहिणी—मेरी बला जाती है! उत्सव मनाने की लालसा नहीं रही।

विशालसिंह—तो तुम न उठोगी?

रोहिणी—नहीं, नहीं, नहीं, या और दो-चार बार कह दूँ?

वसुमती सायबान में बैठी हुई दोनों प्राणियों की बातें तन्मय होकर सुन रही थी, मानों कोई सेनापति अपने प्रतिपक्षी की गति का अध्ययन कर रहा हो, कि कब यह चूके और कब मैं दबा बैठूँ। क्षण-क्षण में परिस्थिति बदल रही थी। कभी अवसर आता हुआ दिखाई देता था, फिर निकल जाता था, यहाँ तक कि अन्त में द्वन्द्वी की एक भद्दी चाल ने उसे अपेक्षित अवसर दे ही दिया। विशालसिंह को मुँह लटकाये रोहिणी की कोठरी से निकलते देखकर बोली—क्या मेरी सूरत देखने की क़सम खा, ली है, या तुम्हारे हिसाब मैं घर में हूँ ही नहीं? बहुत दिन तो हो गए रूठे, क्या जन्म-भर रूठे ही रहोगे? क्या बात है? इतने उदास क्यों हो?

विशालसिंह ने ठिठककर कहा—तुम्हारी ही लगाई हुई आग को तो शांत कर रहा था; पर उलटे हाथ जल गये। यह क्या रोज़-रोज़ तूफ़ान खड़ा किया करती हो? चार दिन की जिंदगी है, इसे हँस-खेलकर नहीं काटते बनता। मैं तो ऐसा तंग आ गया हूँ कि जी चाहता है कहीं भाग जाऊँ। सच कहता हूँ, ज़िन्दगी से तंग आ गया। यह सब आग तुम्हीं लगा रही हो।

वसुमती—कहाँ भाग कर जाओगे? नई-नवेली बहू को किस पर छोड़ोगे? नये ब्याह का कुछ सुख तो उठाया ही नहीं?

विशालसिंह—बहुत उठा चुका, जी भर गया।

वसुमती—बस, एक ब्याह और कर लो, एक ही और, जिसमें चौकड़ी पूरी हो जाय।

विशालसिंह—क्यों बैठे-बैठे जलाती हो, विवाह क्या किया था, भोग-विलास करने के लिए, या तुमसे कोई बड़ी सुन्दरी होगी?

वसुमती—अच्छा, आओ सुनते जाओ।

विशालसिंह—जाने दो, लोग बाहर बैठे होंगे।

वसुमती—अब यही नहीं अच्छा लगता। अभी घंटे-भर वहाँ बैठे चिकनी-चुपड़ी बातें करते रहे तो नहीं देर हुई, मैं एक क्षण के लिए बुलाती हूँ तो भागे जाते हो। इसी दोअक्खी की तो तुम्हें सज़ा मिल रही है।

यह कहकर वसुमती ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया, घसीटती हुई अपने कमरे में ले गई और चारपाई पर बैठाती हुई बोली—औरतों को सिर चढ़ाने का यही फल है। उसे तो जब चैन आये, जब घर में अकेली वही रहे। जब देखो तब अपने भाग्य को रोया करती है, क़िस्मत फूट गई, माँ-बाप ने कुएँ में झोंक दिया, ज़िन्दगी ख़राब हो गई। यह सब मुझसे नहीं सुना जाता, यही मेरा अपराध है। तुम उसके मनके नहीं हो, सारी जलन इसी बात की है। पूछो, तुझे कोई जबरदस्ती निकाल लाया था, या तेरे माँ-बाप की आँखें फूट गई थीं। वहाँ तो यह मंसूबे थे कि बेटी मुहज़ोर है ही, जाते-ही-जाते राजा को अपनी मुट्ठी में करके रानी बन बैठेगी! क्या मालूम था कि यहाँ उसका सिर कुचलने को कोई और भी बैठा हुआ है। यही बातें खोलकर कह देती हूँ, तो तिलमिला उठती है, और तुम दौड़ते हो मनाने, बस उसका मिज़ाज और आसमान पर चढ़ जाता है। दो दिन, चार दिन, दस दिन, रूठी पड़ी रहने दो; फिर देखो भीगी बिल्ली हो जाती है या नहीं, यह चिरंतन का नियम है कि

लोहे को लोहा ही काटता है। कुमानुस के साथ कुमानुस बनने ही से काम चलता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने नारियों के विषय में जो कहा है बिलकुल सच कहा है।

विशालसिंह—यहाँ वह खटवाँस लेकर पड़ो, अब पकवान कौन बनाये।

वसुमती—तो क्या जहाँ मुर्गा न होगा, वहाँ सबेरा ही न होगा? आखिर जब वह नहीं थी, तब भी तो जन्माष्टमी मनाई जाती थी। ऐसा कौनसा बड़ा काम है। मैं बनाये देती हूँ। भगवान् थोड़े ही बाँटे हुए हैं, या मुझे जन्माष्टमी से कोई बैर है।

विशालसिंह ने पुलकित होकर कहा—बस, तुम्हारी इन्ही बातों पर मेरी जान जाती है। कुलवंती स्त्रियों का यही धर्म है। आज तुम्हारी धानी साड़ी ग़ज़ब ढा रही है। कवियों ने सच कहा है, यौवन प्रौढ़ होकर और भी अजेय हो जाता है। चंद्रमा का पूरा प्रकाश भी तो पूर्णिमा ही को होता है।

वसुमती—ख़ुशामद करनी कोई तुमसे सीख ले!

विशालसिंह—जो चीज़ कम हो, वह और मँगवा लेना।

विजय के गर्व में फूली हुई वसुमती आधी रात तक बैठी भाँति-भाँति के पकवान बनाती रही। द्वेष ने बरसों की सोई हुई कृष्ण-भक्ति को जाग्रत कर दिया। वह इन कामों में निपुण थी। श्रम से उसे कुछ रुचि-सी थी। निचले न बैठा जाता था। रोहिणी जिस काम को दिन भर में मर-मरकर करती, उसे वह दो घंटों में हँसते-हँसते पूरा कर देती थी। रामप्रिया ने उसे बहुत व्यस्त देखा, तो वह भी आ गई और दोनों मिल-कर काम करने लगीं।

विशालसिंह बाहर गये और कुछ देर गाना सुनते रहे; पर वहाँ जी न लगा। फिर भीतर चले आये और रसोईंघर के द्वार पर मोढ़ा डाल बैठ गये। भय था कि कहीं रोहिणी कुछ कह न बैठे और दोनों फिर लड़ मरें।

वसुमती ने कहा—बाहर क्या हो रहा है?

विशालसिंह—गाना शुरू हो गया है। तुम इतनी महीन पूरियाँ कैसे बनाती हो? फट नहीं जातीं!

वसुमती—चाहूँ तो इससे भी महीन बेल दूँ, काग़ज़ मात हो जाय।

विशालसिंह—मगर खिलेंगी न!

वसुमती—खिला के दिखा दूँ। डब्बे-सी फूल जायें तो कहना। अभी महारानी नहीं उठीं क्या? इसमें छिपकर बातें सुनने की बुरी लत है। न-जाने क्या चाहती है। बहुत औरतें देखीं; लेकिन इसके ढंग सबसे निराले हैं। मुहब्बत तो इसे छू नहीं गई। अभी तुम तीन दिन बाहर पड़े कराहते रहे; पर कसम ले लो, जो उसका मन ज़रा भी मैला हुआ हो। हम लोगों के प्राण तो नखों में समा गये थे, रात-दिन देवी-देवता मनाया करती थीं, वहाँ पान चबाने, आईना देखने और माँग-चोटी करने के सिवा दूसरा काम न था। ऐसी औरतों पर कभी विश्वास न करे।

विशालसिंह—सब देखता हूँ और समझता हूँ, निरा गधा नहीं हूँ।

वसुमती—यही तो रोना है कि तुम देखकर भी नहीं देखते, समझकर भी नहीं समझते। जहाँ उसने मुसकिराकर, आँखें मटकाकर बातें कीं, मस्त हो गये। लल्लो-चप्पो किया करते हो! थरथर काँपते रहते हो कि कहीं रानी नाराज न हो जायें। आदमी में सब ऐब हों, मेहरबस न हो। ऐसी कोई बड़ी सुन्दरी भी तो नहीं है!

रामप्रिया—एक समय सबो सूअर सुन्दर! जवानी में कौन नहीं सुन्दर होता।

वसुमती—उसके माथे से तो तुम्हारे तलुवे अच्छे। सात जन्म ले, तो भी तुम्हारी गर्द को न पहुँचे।

विशालसिंह—मैं मेहरबस हूँ?

वसुमती—और क्या हो?

विशालसिंह—मैं उसे ऐसी-ऐसी बातें कहता हूँ कि वह भी याद करती होगी। घण्टों रुलाता हूँ।

वसुमती—क्या जाने, यहाँ तो जब देखती हूँ, उसे मुसकिराते ही देखती हूँ। कभी आँखों में आँसू न देखा।

रामप्रिया—कड़ी बात भी हँसकर कही जाय, तो मीठी हो जाती है।

विशालसिंह—हँसकर नहीं कहता। डाटता हूँ, फटकारता हूँ। लौंडा नहीं हूँ कि सूरत पर लट्टू हो जाऊँ।

वसुमती—डाटते होंगे; मगर प्रेम के साथ। ढलती उम्र में सभी मर्द तुम्हारे ही जैसे हो जाते हैं, कोई नई बात नहीं है। मैं तुमसे लाख रूठी रहूँ; लेकिन तुम्हारा मुँह ज़रा भी गिरा देखा और जान निकल गई। सारा क्रोध हवा हो जाता है। वहाँ जब तक जाकर पैर न सुहलाओ, तलुवों से आँखें न मलो, देवीजी सीधी ही नहीं होतीं। कभी-कभी तुम्हारी लम्पटता पर मुझे हँसी आती है। आदमी कड़े दम चाहिए, जिसका अन्याय देखे, उसे डाट दे, बुरी तरह डाट दे, खून पी लेने पर उतारू हो जाय। ऐसे ही पुरुषों से स्त्रियाँ प्रेम करती हैं। भय बिना प्रीति नहीं होती। आदमी ने स्त्री की पूजा की और उनकी आँखों से गिरा। जैसे घोड़ा पैदल और सवार पहचानता है, उसी तरह औरत भी भकुए और मर्द को पहचानती है। जिसने सच्चा आसन जमाया और लगाम कड़ी रक्खी, उसकी जय है। जिसने रास ढीली कर दी, उसकी कुशल नहीं।

रामप्रिया मुँह फेरकर मुसकिराई और बोली—बहन, तुम सब गुर बताये देती हो, किसके माथे जायगी?

वसुमती—हम लोगों की लगाम कब ढीली थी?

रामप्रिया—जिसकी लगाम कभी कड़ी न थी, वह आज लगाम तानने से थोड़ी ही क़ाबू में आई जाती है; और दुलत्तियाँ झाड़ने लगेगी।

विशालसिंह—मैंने तो अपनी जान में कभी लगाम ढीली नहीं की, आज ही देखो, कैसी फटकार बताई।

वसुमती—क्या कहना है, ज़रा मूँछें खड़ी कर लो, लाओ पगिया मैं सँवार दूँ। यह नहीं कहते कि उसने ऐसी-ऐसी चोटें कीं कि भागते ही बनी!

सहसा किसी के पैरों की आहट पाकर वसुमती ने द्वार की ओर देखा। रोहिणी रसोई के द्वार से दबे पाँव चली जा रही थी। मुँह का रङ्ग उड़ गया। दाँतों से ओठ दबाकर बोली—छिपी खड़ी थी। मैंने साफ़ देखा। अब घर में रहना मुश्किल है। देखो क्या रङ्ग लाती है।

विशालसिंह ने पीछे की ओर सशंक नेत्रों से देखकर कहा—बड़ा गज़ब हुआ। चुड़ैल सब सुन गई होगी। मुझे ज़रा भी आहट न मिली।

वसुमती—ऊँह, रानी रूठेंगी अपना सोहाग लेंगी। कोई कहाँ तक डरे। आदमियों को बुलाओ, यह सब सामान यहाँ से ले जायें।

भादों की अँधेरी रात थी। हाथ को हाथ न सूझता था। मालूम होता था, पृथ्वी पाताल में चली गई है, या किसी विराट् जंतु ने उसे निगल लिया है। मोमबत्तियों का प्रकाश उस तिमिर-सागर में पाँव रखते काँपता था। विशालसिंह भोग के पदार्थ थालियों में भरवा-भरवाकर बाहर रखवाने में लगे हुए थे। कोई केले छील रहा था, कोई खीरे काटता था, कोई दोनों में प्रसाद सजा रहा था। एकाएक रोहिणी एक चादर ओढ़े हुए घर से निकली और बाहर की ओर चली। विशालसिंह देहलीज़ के द्वार पर खड़े थे। इस भरी सभा में उसे यों निश्शंक भाव से निकलते देखकर उनका रक्त खौलने लगा। ज़रा भी न पूछा, कहाँ जाती हो, क्या बात है। मूर्ति की भाँति खड़े रहे। दिल ने कहा, जिसने इतनी बेहयाई की, उससे और क्या आशा की जा सकती है। वह जहाँ जाती हो जाय, जो जी में आये करे, जब उसने मेरा सिर ही नीचा कर दिया, तो मुझे उसकी क्या परवा। बेहया, निर्लज्ज तो है ही, कुछ पूछूँ और गालियाँ देने लगे, तो मुँह में और भी कालिख लग जाय। जब उसको मेरी परवा नहीं, तो मैं क्यों उसके पीछे दौड़ूँ। और सब लोग अपने-अपने काम में लगे हुए थे। रोहिणी पर किसी की निगाह न पड़ी।

इतने में चक्रधर उनसे कुछ पूछने आये, तो देखा कि महरी उनके सामने खड़ी है और वह क्रोध से आँखें लाल किये कह रहे हैं—अगर वह

मेरी लौंडी नहीं है, तो मैं उसका गुलाम नहीं हूँ। अगर वह स्त्री होकर इतनी आपे से बाहर हो सकती है, तो मैं पुरुष होकर उसके पैरों पर सिर न रक्खूँगा। जहाँ इच्छा हो जाय; मैंने तिलांजलि दे दी। अब इस घर में क़दम न रखने दूँगा। लौटकर आई, तो सिर काट लूँगा। (चक्रधर को देखकर) आपने भी तो उसे देखा होगा?

चक्रधर—किसे? मैं तो केले छील रहा था। कौन गया है?

विशालसिंह—मेरी छोटी पत्नीजी रूठकर बाहर चली गई हैं। आपसे घर का वास्ता है। आज औरतों में किसी बात पर तकरार हो गई। अब तक तो मुँह फुलाये पड़ी रहीं, अब यह सनक सवार हुई। मेरा धर्म नहीं है कि मैं उसे मनाने जाऊँ। आप धक्के खायगी। उसके सिर पर कुबुद्धि सवार है।

चक्रधर—किधर गई हैं, महरी?

महरी—क्या जानूँ बाबूजी, मैं तो बरतन माँज रही थी। सामने ही गई होंगी!

चक्रधर ने लपककर एक लालटेन उठा ली और बाहर निकलकर दायें-बायें निगाहें दौड़ाते, तेज़ी से क़दम बढ़ाते हुए चले। कोई दो सौ क़दम गये होंगे कि रोहिणी एक वृक्ष के नीचे खड़ी दिखाई दी। ऐसा मालूम होता था कि वह छिपने के लिए कोई जगह तलाश कर रही है। चक्रधर उसे देखते ही लपककर समीप जा पहुँचे और कुछ कहना चाहते थे कि रोहिणी खुद बोली—क्या मुझे पकड़ने आये हो? अपना भला चाहते हो, तो लौट जाओ, नहीं अच्छा न होगा। मैं अब उन पापियों का मुँह न देखूँगी।

चक्रधर—आप इस अँधेरे में कहाँ जायँगी? हाथ को तो हाथ सूझता नहीं।

रोहिणी—अँधेरे में डर उसे लगता है, जिसका कोई अवलम्ब हो। जिसका संसार में कोई नहीं, उसे किसका भय? गला काटनेवाले अपने

होते हैं, पराये गला नहीं काटते। जाकर कह देना, अब आराम से टाँगें फैलाकर सोइए, अब तो काँटा निकल गया।

चक्रधर—आप कुँवर साहब के साथ बड़ा अन्याय कर रही हैं। बेचारे लज्जा और शोक से खड़े रो रहे हैं।

रोहिणी—क्यों बातें बनाते हो, वह रोयेंगे और मेरे लिए! मैं जिस दिन मर जाऊँगी, उस दिन घी के चिराग़ जलेंगे। संसार में ऐसे अभागे प्राणी भी होते हैं। अपने माँ-बाप को क्या कहूँ। ईश्वर उन्हें नरक में भी चैन न दे। सोचे थे, बेटी रानी हो जायगी, तो हम राज करेंगे। यहाँ जिस दिन डोली से उतरी, उसी दिन से सिर पर विपत्ति सवार हुई। पुरुष रोगी हो, बूढ़ा हो, दरिद्र हो; पर नीच न हो। ऐसा नीच निर्दयी आदमी संसार में न होगा। नीचों के साथ नीच बनना ही पड़ता है।

चक्रधर—आपके यहाँ खड़े होने से कुँवर साहब का कितना अपमान हो रहा है, इसकी आपको ज़रा भी फ़िक्र नहीं?

रोहिणी—तुम्हीं ने तो मुझे रोक रक्खा है?

चक्रधर—आख़िर आप कहाँ जा रही हैं?

रोहिणी—तुम पूछनेवाले कौन होते हो? मेरा जहाँ जी चाहेगा, जाऊँगी। उनके पाँव में मेंहदी नहीं रची हुई थी। उन्होंने मुझे घर से निकलते भी देखा। क्या इसका मतलब यह नहीं है कि अच्छा हुआ, सिर से बला टली। दुत्कार सहकर जीने से मर जाना अच्छा है।

चक्रधर—आपको मेरे साथ चलना होगा।

रोहिणी—तुम्हें यह कहने का क्या अधिकार है?

चक्रधर—जो अधिकार सचेत को अचेत पर, सजान को अजान पर होता है, वही अधिकार मुझे आपके ऊपर है। अन्धे को कुएँ में गिरने से बचाना हर एक प्राणी का धर्म है।

रोहिणी—मैं न अचेत हूँ, न अजान, न अन्धी। स्त्री होने ही से बावली नहीं हो गई हूँ। जिस घर में मेरा पहनना-ओढ़ना, हँसना-

बोलना देख-देखकर दूसरों की छाती फटती है, जहाँ कोई अपनी बात तक नहीं पूछता, जहाँ तरह-तरह के आक्षेप लगाये जाते हैं; उस घर में फिर क़दम न रक्खूँगी।

यह कहकर रोहिणी आगे बढ़ी कि चक्रधर ने सामने खड़े होकर कहा—आप आगे नहीं जा सकतीं!

रोहिणी—ज़बरदस्ती रोकोगे?

चक्रधर—हाँ, ज़बरदस्ती रोकूँगा।

रोहिणी—सामने से हट जाओ।

चक्रधर—मैं आपको एक क़दम भी आगे न रखने दूँगा। सोचिए, आप अपनी अन्य बहनों को किस कुमार्ग पर ले जा रही हैं। जब वे देखेंगी कि बड़े-बड़े घरों की स्त्रियाँ भी रूठकर घर से निकल खड़ी होती हैं, तो उन्हें भी ज़रा-ज़रा-सी बात पर ऐसा ही साहस होगा या नहीं? नीति के विरुद्ध कोई काम करने का फल अपने ही तक नहीं रहता, दूसरों पर उसका और भी बुरा असर पड़ता है।

रोहिणी—मैं तो चुपके से चली जाती थी, तुम्हीं तो ढिंढोरा पीट रहे हो।

चक्रधर—जिस तरह रण से भागते हुए सिपाही को देखकर लोगों को उससे घृणा हो जाती है, यहाँ तक कि उसका वध कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता, उसी तरह कुल में कलंक लगानेवाली स्त्रियों से भी सब को घृणा हो जाती है और कोई उसकी सूरत नहीं देखना चाहता। हम चाहते हैं कि सिपाही गोली और आग के सामने अटल खड़ा रहे। उसी तरह हम यह भी चाहते हैं कि स्त्री सब कुछ झेलकर अपनी मर्यादा का पालन करती रहे। हमारा मुँह हमारी देवियों ही से उज्ज्वल है और जिस दिन हमारी देवियाँ इस भाँति मर्यादा की हत्या करने लगेंगी, उस दिन हमारा सर्वनाश हो जायगा।

रोहिणी रूँधे हुए कण्ठ से बोली—क्या चाहते हो कि फिर उसी आग में जलूँ?

चक्रधर—हाँ, यही चाहता हूँ। रणक्षेत्र में फूलों की वर्षा नहीं होती। मर्यादा की रक्षा करना उससे कहीं कठिन है।

रोहिणी—लोग हँसेंगे कि घर से निकली तो थीं बड़े दिमाग़ से, आख़िर झक मारकर लौट आईं।

चक्रधर—ऐसा वही कहेंगे, जो नीच और दुर्जन हैं। समझदार लोग तो आपकी सराहना ही करेंगे।

रोहिणी ने कई मिनट तक आगा-पीछा करने के बाद कहा—अच्छा चलिए, आप भी क्या कहेंगे। कोई बुरा कहे या भला। हाँ कुँवर, साहब को इतना ज़रूर समझा दीजिएगा कि जिन महारानी को आज वह घर की लक्ष्मी समझे हुए हैं, वह एक दिन उनको बड़ा धोखा देंगी। मैं कितनी ही आपे से बाहर हो जाऊँ; पर अपना ही प्राण दूँगी। वह बिगड़ेंगी तो प्राण लेकर छोड़ेंगी। आप किसी मौके से इतना ज़रूर समझा दीजिएगा।

यह कहकर रोहिणी घर की ओर लौट पड़ी; लेकिन चक्रधर का उसके ऊपर कहाँ तक असर पड़ा और कहाँ तक स्वयम् अपनी सहज बुद्धि का, इसका अनुमान कौन कर सकता है। वह लौटते वक्त लज्जा से सिर नहीं गड़ाये हुए थी। गर्व से उसकी गरदन उठी हुई थी। उसने अपनी टेक को मर्यादा की वेदी पर बलिदान कर दिया हो; पर इसके साथ ही उन व्यंग्य-वाक्यों की रचना भी करती जाती थी, जिनसे वह कुँवर साहब का स्वागत करना चाहती थी।

जब दोनों आदमी घर पहुँचे, तो विशालसिंह अभी तक वहीं मूर्तिवत् खड़े थे, महरी भी खड़ी थी। भक्तजन अपना-अपना काम छोड़कर लालटेन की ओर ताक रहे थे। सन्नाटा छाया हुआ था।

रोहिणी ने देहलीज़ में क़दम रक्खा; मगर ठाकुर साहब ने उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा। जब वह अंदर चली गई, तो उन्होंने चक्रधर का हाथ पकड़ लिया और बोले—मैं तो समझता था, किसी तरह न आएगी; मगर आप खींच ही लाये। क्या बहुत बिगड़ती थी? चक्र-

धर ने कहा—आपको कुछ नहीं कहा। मुझे तो बहुत समझदार मालूम होती हैं, हाँ मिज़ाज नाज़ुक है, बात बरदाश्त नहीं कर सकतीं।

विशालसिंह—मैं यहाँ से टला तो नहीं; लेकिन सच पूछिए तो ज़्यादती मेरी ही थी। मेरा क्रोध बहुत बुरा है। अगर आप न पहुँच जाते, तो बड़ी मुश्किल पड़ती। जान पर खेल जानेवाली स्त्री है। आपका यह एहसान कभी न भूलूँगा। देखिए तो, सामने कुछ रोशनी-सी मालूम हो रही है। बैंड भी बज रहा है। क्या माजरा है?

चक्रधर—हाँ मशालें और लालटेनें हैं। बहुत से आदमी भी साथ हैं।

और लोग भी आँगन में उतर आये और सामने देखने लगे। सैकड़ों आदमी, क़तार बाँधे, मशालों और लालटेनों के साथ चले आ रहे थे। आगे-आगे दो अश्वारोही भी नज़र आते थे। बैंड की मनोहर ध्वनि आ रही थी। सब खड़े देख रहे थे; पर किसी की समझ में न आता था, माजरा क्या है।

११

सभी लोग बड़े कुतूहल से आनेवालों को देख रहे थे। कोई १०-१२ मिनट में वह लोग विशालसिंह के घर के सामने आ पहुँचे। आगे-आगे दो घोड़ों पर मुं० वज्रधर और ठाकुर हरिसेवकसिंह थे। पीछे कोई २५-३० आदमी साफ़-सुथरे कपड़े पहने चले आते थे। दोनों तरफ़ कई झंडी-बरदार थे, जिनकी झंडियाँ हवा में लहरा रही थीं। सबके पीछे बाजे-वाले थे। मकान के सामने पहुँचते ही दोनों सवार घोड़ों से उतर पड़े, और हाथ बाँधे हुए कुँवर साहब के सामने आकर खड़े हो गये। मुंशीजी की सज-धज निराली थी। सिर पर एक हरा शमला था, देह पर एक नीची आबा। ठाकुर साहब भी हिन्दुस्तानी लिबास में थे। मुंशीजी खुशी से मुसकिराते थे, ठाकुर साहब का मुख मलिन था।

ठाकुर साहब बोले—दीनबंधु, हम सब आपके सेवक आपकी सेवा में यह शुभ सूचना देने के लिए हाजिर हुए हैं कि महारानीजी ने राज्य से विरक्त होकर तीर्थ-यात्रा को प्रस्थान किया है, और अब हमें श्रीमान् की छत्र-छाया के नीचे आश्रय लेने का वह स्वर्णावसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम सदैव ईश्वर से प्रार्थना करते रहते थे। यह हमारा परम सौभाग्य है कि आज से श्रीमान् हमारे भाग्य-विधाता हुए। यह वह पत्र है, जो महारानीजी ने श्रीमान् के नाम लिख रक्खा था।

यह कहकर ठाकुर साहब ने रानी का पत्र विशालसिंह के हाथ में रख दिया। कुँवर साहब ने एक ही निगाह में उसे आद्योपान्त पढ़ लिया और उनके मुख पर मंद हास्य की आभा झलकने लगी। पत्र जेब में रखते हुए बोले—यद्यपि महारानीजी की तीर्थ-यात्रा का समाचार जान-

कर मुझे अत्यंत खेद हो रहा है ; लेकिन इस बात का सच्चा आनंद भी है कि उन्होंने निवृत्ति-मार्ग पर पग रक्खा ; क्योंकि ज्ञान ही से मुक्ति प्राप्त होती है। मेरी ईश्वर से यही विनय है कि उसने मेरी गरदन पर जो कर्तव्य-भार रक्खा है, उसे सँभालने को मुझे शक्ति दे, और प्रजा के हित मेरा जो धर्म है, उसके पालन करने की शक्ति प्रदान करे। आप लोगों को मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यथासाध्य अपना कर्तव्य पालन करने में ऊँचे आदर्शों को सामने रक्खूँगा ; लेकिन मेरी सफलता बहुत कुछ आप ही लोगों की सहानुभूति और सहकारिता पर निर्भर है और मुझे आशा है कि आप मेरी सहायता करने में किसी प्रकार की कोताही न करेंगे। मैं इस समय यह जता देना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं अत्याचार का घोर शत्रु हूँ और ऐसे महापुरुषों को, जो प्रजा पर अत्याचार करने में अभ्यस्त हो रहे हैं, मुझसे ज़रा भी नरमी की आशा न रखनी चाहिए।

इस कथन में शिष्टता की मात्रा अधिक और नीति की बहुत कम थी, फिर भी सभी राज्य-कर्मचारियों को यह बातें अप्रिय जान पड़ीं। सब के कान खड़े हो गये और हरिसेवक को तो ऐसा मालूम हुआ कि यह निशाना मुझी पर है। उनके प्राण सूख गये। सभी आपस में काना-फूसी करने लगे।

कुँवर साहब ने लोगों को ले जाकर फ़र्श पर बैठाया और खुद मसनद लगाकर बैठे। नज़राने की निरर्थक रस्म अदा होने लगी। बैंड ने बधाई देना शुरू की। चक्रधर ने पान और इलायची से सबका सत्कार किया। कुँवर साहब का बार-बार जी चाहता था कि घर में जाकर यह सुख-संवाद सुनाऊँ ; पर मौक़ा न देखकर ज़ब्त किये हुए थे। मुंशी वज्रधर अबतक ख़ामोश बैठे थे। ठाकुर हरिसेवक को यह खुशख़बरी सुनाने का मौका देकर उन्होंने अपने ऊपर कुछ कम अत्याचार न किया था। अब उनसे चुप न रहा गया। बोले—हुज़ूर, आज सबसे पहले मुझी को यह हाल मालूम हुआ।

हरिसेवक ने इसका खण्डन किया—मैं भी तो आपके साथ ही पहुँच गया था ?

वज्रधर—आप मुझसे ज़रा देर बाद पहुँचे। मेरी आदत है कि बहुत सवेरे उठता हूँ। देर तक सोता, तो एक दिन भी तहसीलदारी न निभती। बड़ी हुकूमत की जगह है हुजूर! वेतन तो कुछ ऐसा ज्यादा न था; पर हुजूर, अपने इलाक़े का बादशाह था। ख़ैर, ड्योढ़ी पर पहुँचा, तो सन्नाटा छाया हुआ था। न दरबान का पता, न सिपाही का। घबराया कि माजरा क्या है! बेधड़क अंदर चला गया। मुझे देखते ही गुजराती रोती हुई दौड़ी और तुरत रानी साहब का ख़त लाकर मेरे हाथ में रख दिया। रानीजी ने उससे शायद यह ख़त मेरे ही हाथ में देने को कहा था।

हरिसेवक—यह तो कोई बात नहीं। मैं पहले पहुँचता, तो मुझे ख़त मिलता। आप पहले पहुँचे आपको मिल गया।

वज्रधर—आप नाराज़ क्यों होते हैं। मैंने तो केवल अपना विचार प्रकट किया है। वह ख़त पढ़कर मेरी जो दशा हुई, बयान नहीं कर सकता। कभी रोता था, कभी हँसता था। बस, यही जी चाहता था कि उड़कर हुजूर को ख़बर दूँ। ठीक उसी समय ठाकुर साहब पहुँचे। है यही बात न दीवान साहब ?

हरिसेवक—मुझे बाहर ही ख़बर मिल गई थी। आदमियों को चौकसी रखने की ताक़ीद कर रहा था।

वज्रधर—आपने बाहर से जो कुछ किया हो, मुझे उसकी ख़बर नहीं, अन्दर आप उसी वक्त पहुँचे जब मैं ख़त लिए खड़ा था। मैंने आपको देखते ही कहा—सब कमरों में ताला लगवा दीजिए और दफ़्तर में किसी को न जाने दीजिए।

हरिसेवक—इतनी मोटी-सी बात के लिए मुझे आपकी सलाह की आवश्यकता न थी।

वज्रधर—यह मेरा मतलब नहीं। अगर मैंने तहसीलदारी की है, तो

आपने भी दीवानी की है । सरकारी नौकरी न सही, फिर भी काम एक ही है । जब हर एक कमरे में ताला पड़ गया, दफ़्तर का दरवाज़ा बन्द कर दिया गया, तो सलाह होने लगी कि हुजूर को कैसे ख़बर दी जाय । कोई कहता था, आदमी दौड़ाया जाय, कोई मोटर से ख़बर भेजनी चाहता था । मैंने यह मुनासिब नहीं समझा । इतनी उम्र तक भाड़ नहीं झोंका किया हूँ । जगदीशपुर ख़बर भेजकर सब कर्मचारियों को बुलाने की राय दी । दीवान साहब को भी मेरी राय पसन्द आई । इसी कारण इतनी देर हुई । हुजूर, सारे दिन दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये । आज दोहरी ख़ुशी का दिन है । गुस्ताख़ी माफ़, मिठाइयाँ खिलवाइए और महफ़िल जमाइए ! एक हफ़्ते तक गाना होना चाहिए । हुजूर, यही देना-दिलाना, खाना-खिलाना याद रहता है ।

विशालसिंह—अब इस वक्त तो भजन होने दीजिए, कल वहीं महफ़िल जमेगी ।

वज्रधर—हुजूर, मैंने पहले ही से गाने-बजाने का इन्तज़ाम कर लिया है । लोग आते ही होंगे । सारे शहर के अच्छे-अच्छे उस्ताद बुलाये हैं, हुजूर, एक-से-एक गुणी । सभी का मुजरा होगा ।

अभी तहसीलदार साहब ने बात भी पूरी न की थी कि झिनकू ने अन्दर आकर सलाम किया और बोला—दीनानाथ, उस्ताद लोग आ गये हैं । हुक्म हो तो हाज़िर हों ।

मुंशीजी तुरत बाहर गये और उस्तादों को हाथोंहाथ ले आये । कोई १०-१२ आदमी थे, सब-के-सब बूढ़े, किसी का मुँह पोपला, किसी की कमर झुकी हुई, कोई आँखों का अन्धा ! उनका पहनावा देखकर ऐसा अनुमान होता था, कम-से-कम तीन शताब्दी पहले के मनुष्य हैं । बड़ी नीची चपकन, जिस पर हरी गोट लगी हुई, वही चुनावदार पाजामा, वही उलझी हुई तार-तार पगड़ी, कमर में पटका बँधा हुआ । दो-तीन उस्ताद नंग-धिड़ंग थे, जिनके बदन पर एक लँगोटी के सिवा और कुछ न था ।

यही सरस्वती के उपासक थे और इन्हीं पर उनकी कृपा-दृष्टि थी।

उस्तादों ने अन्दर आकर कुँवर साहब और अन्य सज्जनों को झुक-झुककर सलाम किया और घुटने तोड़-तोड़ बैठे। मुंशीजी ने उनका परिचय कराना शुरू किया। यह उस्ताद मेंडूखाँ हैं, महाराज अलवर के दरबारी हैं, वहाँ से हज़ार रुपये सालाना वज़ीफ़ा मिलता है। आप सितार बजाने में अपना सानी नहीं रखते। किसी के यहाँ आते-जाते नहीं, केवल भगवद्भजन किया करते हैं। यह चन्दू महराज हैं, पखावज के पक्के उस्ताद! ग्वालियर के महाराज इनसे लाख-लाख कहते हैं कि आप दरबार में रहिए, दो हज़ार रुपये महीने तक देते हैं; लेकिन आपको काशी से प्रेम है। छोड़कर नहीं जाते। यह उस्ताद फ़ज़लू हैं, राग-रागिनियों के फिकैत, स्वरों से रागिनियों की तसवीर खींच देते हैं। एक बार आप ने लाट साहब के सामने गाया था। जब गाना बन्द हुआ, तो साहब ने आपके पैरों पर अपनी टोपी रख दी और घंटों छाती पीटते रहे। डॉक्टरों ने जब दवा दी तो उनका नशा उतरा।

विशालसिंह—यहाँ वह रागिनी न गवाइएगा, नहीं तो लोग लोट-लोट जायेंगे। यहाँ तो डाक्टर भी नहीं हैं।

वज्रधर—हुज़ूर, रोज़-रोज़ यह बातें थोड़े ही होती हैं। बड़े-से-बड़े कलावन्त को भी जिन्दगी में केवल एक बार गाना नसीब होता है। फिर लाख सिर मारें, वह बात नहीं पैदा होती।

परिचय के बाद गाना शुरू हुआ। फ़ज़लू ने मलार छेड़ा और मुंशीजी झूमने लगे। फ़ज़लू भी मुंशीजी ही को अपना कमाल दिखाते थे। उनके सिवा और उनकी निगाह में कोई था ही नहीं। उस्ताद लोग 'वाह-वाह' का तार बाँधे हुए थे, मुंशीजी आँखें बंद किये सिर हिला रहे थे, और महफ़िल के लोग एक-एक करके बाहर चले आ रहे थे। जो दो-चार सज्जन बैठे थे वह वास्तव में सो रहे थे। फ़ज़लू को इसकी ज़रा भी परवा न थी कि लोग उसका गाना पसंद करते हैं या नहीं। उस्ताद

उस्तादों के लिए गाते हैं। गुणी गुणियों ही की निगाह में सम्मान पाने का इच्छुक होता है। जनता की उसे परवा नहीं होती। अगर उस महफ़िल में अकेले मुंशीजी होते, तो भी फ़ज़्लू इतना ही मस्त होकर गाता। धनी लोग ग़रीबों की क्या परवा करते हैं? विद्वान् मूर्खों को कब ध्यान में लाते हैं। इसी भाँति गुणी जन अनाड़ियों की परवा नहीं करते। उनकी निगाह में मर्मज्ञ का स्थान धन और विभव के स्वामियों से कहीं ऊँचा होता है।

मलार के बाद फ़ज़्लू ने 'निर्गुण' गाना शुरू किया। रागिनी का नाम तो उस्ताद ही बता सकते हैं। उस्तादों के मुख में सभी रागिनियाँ समान रूप धारण करती हुई मालूम होती हैं। आग में पिघलकर सभी धातुएँ एक-सी हो जाती हैं। मुन्शीजी को इस राग ने मतवाला कर दिया। पहले बैठे-बैठे झूमते थे, फिर खड़े होकर झूमने लगे। झूमते-झूमते, आप-ही-आप उनके पैरों में एक गति-सी होने लगी। हाथों के साथ पैरों से भी ताल देने लगे। यहाँ तक की वह नाचने लगे। उन्हें इसकी ज़रा भी झेंप न थी कि लोग दिल में क्या कहते होंगे। गुणी को अपना गुण दिखाते शर्म नहीं आती। पहलवान को अखाड़े में ताल ठोंककर उतरते क्या शर्म। जो लड़ना नहीं जानते, वह ढकेलने से भी अखाड़े में नहीं जाते। सभी कर्मचारी मुँह फेर-फेर हँसते थे। जो लोग बाहर चले गये थे वे भी यह ताण्डव-नृत्य देखने के लिए आ पहुँचे। यहाँ तक कि विशाल-सिंह भी हँस रहे थे। मुन्शीजी के बदले देखनेवालों को झेंप हो रही थी; लेकिन मुन्शीजी अपनी धुन में मग्न थे। गुणी गुणियों के सामने अनुरक्त हो जाता है। अनाड़ी लोग तो हँस रहे थे और गुणी लोग नृत्य का आनन्द उठा रहे थे। नृत्य ही अनुराग की चरम सीमा है।

नाचते-नाचते आनन्द से विह्वल होकर मुन्शीजी गाने लगे। उनका मुख अनुराग से प्रदीप्त हो रहा था। आज बड़े सौभाग्य से और बहुत दिनों के बाद उन्हें यह स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिला था।

उनकी बूढ़ी हड्डियों में इतनी चपलता कहाँ से आ गई, इसका निश्चय करना कठिन है। इस समय तो उनकी फुर्ती और चुस्ती जवानों को भी लज्जित करती थी। उनका उछलकर आगे जाना, फिर उचककर पीछे आना, झुकना और मुड़ना और एक-एक अङ्ग को फेरना वास्तव में आश्चर्यजनक था। इतने में कृष्ण के जन्म का मुहूर्त आ पहुँचा। सारी महफ़िल खड़ी हो गई और सभी उस्तादों ने एक स्वर से मंगल-गान शुरू किया। साज़ों के मेल ने समाँ बाँध दिया। केवल दो ही प्राणी ऐसे थे, जिन्हें इस समय भी चिंता घेरे हुए थी। एक तो ठाकुर हरिसेवकसिंह थे, दूसरे कुँवर विशालसिंह। एक को यह चिन्ता लगी हुई थी कि देखें कल क्या मुसीबत आती है, दूसरे को यह फ़िक्र थी कि इस दुष्ट से क्योंकर पुरानी कसर निकालूँ। चक्रधर अब तक तो लज्जा से मुँह छिपाये बाहर खड़े थे, मंगल-गान समाप्त होते ही आकर प्रसाद बाँटने लगे। किसी ने मोहन-भोग का थाल उठाया, किसी ने फलों का, कोई पञ्चामृत बाँटने लगा। हरबोंग-सा मच गया। कुँवर साहब ने मौक़ा पाया, तो उठे और मुं० वज्रधर को इशारे से बुला, दालान में लेजाकर पूछने लगे—दीवान साहब ने तो मौक़ा पाकर खूब हाथ साफ़ किए होंगे।

वज्रधर—मैंने तो ऐसी कोई बात नहीं देखी। बेचारे दिन-भर सामान की जाँच-परताल करते रहे। घर तक न गये।

विशालसिंह—यह सब तो आपके कहने से किया। आप न होते, तो न-जाने क्या गज़ब ढाते।

वज्रधर—मेरी बातों का यह मतलब न था कि वह आपसे कीना रखते हैं। इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान देना उनका काम नहीं है। मुझे तो यह फ़िक्र थी कि कहीं सामान न उठ जाय, उन्हें यह फ़िक्र थी कि दफ़्तर के कागज़ तैयार हो जायें। मैं किसी की बुराई न करूँगा। दीवान साहब को आपसे अदावत थी, यह मैं मानता हूँ। रानी साहब का नमक खाते थे और आपका बुरा चाहना उनका धर्म था; लेकिन अब वह आपके

सेवक हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि वह उतनी ही ईमानदारी से आपकी सेवा करेंगे।

विशालसिंह—आपको पुरानी कथा मालूम नहीं। इसने मुझ पर बड़े-बड़े जुल्म किये हैं। इसी के कारण मुझे जगदीशपुर छोड़ना पड़ा। बस चला होता तो इसने मुझे क़त्ल करा दिया होता।

वज्रधर—गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा। आपका बस चलता तो क्या रानीजी की जान बच जाती या दीवान साहब ज़िंदा रहते? इन पिछली बातों को भूल जाइए। भगवान् ने आज आपको ऊँचा रुतबा दिया है। अब आपको उदार होना चाहिए। ऐसी छोटी बातें आपके दिल में न आनी चाहिएँ। मातहतों से उनके अफ़सर के विषय में कुछ पूछ-ताछ करना अफ़सर को ज़लील कर देता है। मैंने इतने दिनों तहसीलदारी की; लेकिन नायब साहब तहसीलदार के विषय में चपरासियों से कभी कुछ नहीं पूछा। मैं तो ख़ैर इन मामलों को समझता हूँ; लेकिन दूसरे मातहतों से आप ऐसी बातें करेंगे, तो वह अपने अफ़सर की हज़ारों बुराइयाँ आपसे करेगा। मैंने ठाकुर साहब के मुँह से एक बात भी आज ऐसी नहीं सुनी, जिससे यह मालूम हो कि वह आपसे कोई अदावत रखते हैं।

विशालसिंह ने कुछ लज्जित होकर कहा—मैं आपको ठाकुर साहब का मातहत नहीं, अपना मित्र समझता हूँ और इसी नाते से मैंने आपसे यह बात पूछी थी। मैंने निश्चय कर लिया था कि सबसे पहला वार इन्हीं पर करूँगा; लेकिन आपकी बातों ने मेरा विचार पलट दिया। आप भी उन्हें समझा दीजिएगा कि मेरी तरफ़ से कोई शंका न रक्खें। हाँ, प्रजा पर अत्याचार न करें।

वज्रधर—नौकर अपने मालिक का रुख़ देखकर ही काम करता है। रानीजी को हमेशा रुपये की तंगी रहती थी। दस लाख की आमदनी भी उनके लिए काफ़ी न होती थी। ऐसी हालत में ठाकुर साहब को मजबूर होकर प्रजा पर सख़्ती करनी पड़ती थी। वह कमी आमदनी और ख़र्च

का हिसाब न देखती थीं। जिस वक्त जितने रुपयों की उन्हें ज़रूरत पड़ती थी; ठाकुर साहब को देने पड़ते थे। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस वक्त रोकड़ में एक पैसा भी नहीं है। गद्दी के उत्सव के लिए रुपयों का कोई-न-कोई और प्रबंध करना पड़ेगा। दो ही उपाय हैं या तो क़र्ज़ लिया जाय, या प्रजा से वसूल किया जाय। क़र्ज़ पहले ही बहुत हो चुका है, प्रजा से वसूल करने के सिवा ठाकुर साहब और क्या कर सकते हैं?

विशालसिंह—गद्दी के उत्सव के लिए मैं प्रजा का गला नहीं दबाऊँगा। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि उत्सव मनाया ही न जाय।

वज्रधर—हुजूर यह क्या फ़रमाते हैं। ऐसा भी कहीं हो सकता है?

विशालसिंह—ख़ैर, देखी जायगी। ज़रा अन्दर जाकर रानियों को भी खुशख़बरी दे आऊँ!

यह कह कर कुँवर साहब घर में गये। सबसे पहले रोहिणी के कमरे में क़दम रक्खा। वह पीछे की तरफ़ की खिड़की खोले खड़ी थी। उस अन्धकार में उसे अपने भविष्य का रूप खिंचा हुआ नज़र आता था। पति की निष्ठुरता ने आज उसकी मदांध आँखें खोल दी थीं। वह घर से निकलने की भूल स्वीकार करती थी; लेकिन कुँवर साहब का उसको मनाने न जाना बहुत अखर रहा था, इस अपराध का इतना कठोर दण्ड! ज्यों-ज्यों वह उस स्थिति पर विचार करती थी, उसका अपमानित हृदय और भी तड़प उठता था।

कुँवर साहब ने कमरे में क़दम रखते ही कहा—रोहिणी, ईश्वर ने आज हमारी अभिलाषा पूरी की। जिस बात की आशा न थी, वह पूरी हो गई।

रोहिणी—अब तो घर में रहना और भी मुश्किल हो जायगा। जब कुछ न था, तभी मिज़ाज न मिलता था। अब तो आकाश पर चढ़ जायगा। काहे को कोई जीने पायेगा?

विशालसिंह ने दुखित होकर कहा—प्रिये, यह इन बातों का समय नहीं है। ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने हमारी विनय सुन ली।

रोहिणी—जब अपना कोई रहा ही नहीं, तो राजपाट लेकर चाटूँगी ?

विशालसिंह को क्रोध तो आया ; लेकिन इस भय से कि बात बढ़ जायगी, कुछ बोले नहीं, वहाँ से वसुमती के पास पहुँचे । वह मुँह लपेटे पड़ी हुई थी । जगाकर बोले—क्या सोती हो, उठो खुशख़बरी सुनायें ।

वसुमती—पटरानीजी को तो सुना ही आये, मैं सुनकर क्या करूँगी । अब तक जो बात मन में थी, वह आज तुमने खोल दी तो यहाँ बचा हुआ सत्तू खानेवाले पाहुने नहीं हैं !

विशालसिंह—क्या कहती हो ? मेरी समझ में नहीं आता ।

वसुमती—हाँ, अभी भोले नादान बच्चे हो, समझ में क्यों आयेगा । गरदन पर छुरी फेर रहे हो, ऊपर से कहते हो तुम्हारी बातें समझ में नहीं आतीं ! ईश्वर मौत भी नहीं दे देते कि इस आये-दिन की दाँता-किल-किल से छूटती । यह जलन अब नहीं सही जाती । पीछेवाली आगे आई, आगेवाली कोने में । मैं यहाँ से बाहर पाँव निकालती, तो सिर काट लेते, नहीं तो कैसी खुशामदें कर रहे हो । किसी के हाथों में भी जस नहीं, किसी की लातों में भी जस है ।

विशालसिंह दुखी होकर बोले—यह बात नहीं है वसुमती, तुम जान-बूझकर नादान बनती हो । मैं इधर ही आ रहा था, ईश्वर से कहता हूँ, उसका कमरा अँधेरा देखकर चला गया कि देखूँ क्या बात है ।

वसुमती—मुझसे बातें न बनाओ समझ गये । तुम्हें तो ईश्वर ने नाहक मूँछें दे दीं । औरत होते तो किसी भले आदमी का घर बसता । जाँघ तले की स्त्री सामने से निकल गई और तुम टुकुर-टुकुर ताकते रहे । मैं कहती हूँ, आख़िर तुम्हें यह क्या हो गया है । उसने कहीं कुछ कर-करा तो नहीं दिया । जैसे काया ही पलट गई । जो एक औरत को क़ाबू में नहीं रख सकता, वह रियासत का भार क्या सँभालेगा ?

यह कहकर वह उठी और झल्लाई हुई छत पर चली गई । विशाल-सिंह कुछ देर उदास खड़े रहे, तब रामप्रिया के कमरे में प्रवेश किया । वह

चिराग के सामने बैठी कुछ लिख रही थी। पति की आहट पाकर सिर ऊपर उठाया, तो आँखों में आँसू भरे हुए थे। विशालसिंह ने चौंककर पूछा—क्या बात है प्रिये? रो क्यों रही हो! मैं तुम्हें एक खुशख़बरी सुनाने आया हूँ।

रामप्रिया ने आँसू पोंछते हुए कहा—सुन चुकी हूँ; मगर आप उसे खुशख़बरी कैसे कहते हैं। मेरी प्यारी बहन सदा के लिए संसार से चली गई, क्या यह खुशख़बरी है? अब तक और कुछ नहीं था तो उसकी कुशल-क्षेम का समाचार तो मिलता रहता था। अब क्या मालूम होगा कि उस पर क्या बीत रही है। दुखिया ने संसार का कुछ सुख न देखा। उसका तो जन्म ही व्यर्थ हुआ। रोते-ही-रोते उम्र बीत गई।

यह कहते-कहते रामप्रिया फिर सिसक-सिसककर रोने लगी।

विशालसिंह—उन्होंने पत्र में तो लिखा है कि मेरा मन संसार से विरक्त हो गया।

रामप्रिया—इसको विरक्त होना नहीं कहते। यह तो जिन्दगी से घबराकर भाग जाना है। जब आदमी को कोई आशा नहीं रहती, तो वह मर जाना चाहता है। यह विराग नहीं है। विराग ज्ञान से होता है, और उस दशा में किसी को घर से निकल भागने की ज़रूरत नहीं होती। जिसे फूलों के सेज पर भी नींद न आती थी, वह पत्थर की चट्टानों पर कैसे सोयेगी। बहन से बड़ी भूल हुई। क्या अंत समय ठोकरें खाना ही उनके कर्म में लिखा था?

यह कहकर वह फिर सिसकने लगी। विशालसिंह को उसका रोना बुरा मालूम हुआ। बाहर आकर महफ़िल में बैठ गये। मेंडूखाँ सितार बजा रहे थे। सारी महफ़िल तन्मय हो रही थी। जो लोग फ़ज़लू का गाना न सुन सके थे, वे भी इस वक्त सिर धुनते और झूमते नज़र आते थे। ऐसा मालूम होता था, मानों सुधा का अनन्त प्रवाह स्वर्ग की सुनहरी शिलाओं से गले मिल-मिलकर नन्ही-नन्ही फुहारों में किलोल कर रहा

हो। सितार के तारों से स्वर्गीय तितलियों की कतारें-सी निकल-निकलकर समस्त वायु-मंडल में अपने झीने परों से नाच रही थीं। उसका आनंद उठाने के लिए लोगों के हृदय कानों के पास आ बैठे थे।

किंतु इस आनन्द और सुधा के अनन्त प्रवाह में एक प्राणी हृदय की ताप से विकल हो रहा था। वह राजा विशालसिंह थे। सारी बारात हँसती थी। दुल्हा रो रहा था।

राजा साहब ऐश्वर्य के उपासक थे। तीन पीढ़ियों से उनके पुरखे यही उपासना करते चले आते थे। उन्होंने स्वयं इस देवता की तन-मन से आराधना की थी। आज देवता प्रसन्न हुए थे। तीन पीढ़ियों की अविरल भक्ति के बाद उनके दर्शन मिले थे। इस समय घर के सभी प्राणियों को पवित्र हृदय से उनकी वन्दना करनी चाहिए थी, सब को दौड़-दौड़कर उनके चरणों को धोना और उनकी आरती करनी चाहिए थी। इस समय ईर्ष्या, द्वेष और क्षोभ को हृदय में पालना उस देवता के प्रति घोर अभक्ति थी। राजा साहब को महिलाओं पर दया न आती थी, क्रोध आता था। सोच रहे थे, जब अभी से ईर्ष्या के मारे इनका यह हाल है, तो आगे क्या होगा? तब तो आये-दिन तलवारें चलेंगी। इनकी सज़ा यही है कि इन्हें इसी जगह छोड़ दूँ। लड़ें जितना लड़ने का बूता हो। रोयें जितना रोने की शक्ति हो। जो रोने के लिए बनाया गया हो, उसे हँसाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इन्हें राज-भवन में ले जाकर गले का हार क्यों बनाऊँ। उस सुख को, जिसका मेरे जीवन के साथ ही अंत हो जाना है इन क्रूर क्रीड़ाओं से क्यों नष्ट करूँ?

१२

दूसरी वर्षा भी आधी से ज्यादा बीत गई ; लेकिन चक्रधर ने माता-पिता से अहल्या का वृत्तांत गुप्त ही रक्खा। जब मुंशीजी पूछते—वहाँ क्या बातें कर आये, आख़िर यशोदानन्दन को विवाह करना है या नहीं ? न आते हैं, न चिट्ठी-पत्री लिखते हैं, अजीब आदमी हैं। नहीं करना है तो साफ़-साफ़ कह दें, करना हो तो उसकी तैयारी करें। ख्वाम-ख्वाह झमेले में फँसा रक्खा है—तो चक्रधर कुछ इधर-उधर की बातें करके टाल जाते। उधर यशोदानन्दन बार-बार लिखते—तुमने मुंशीजी से सलाह की या नहीं, अगर तुम्हें उनसे कहते शर्म आती हो, तो मैं ही आकर कहूँ ? आख़िर इस तरह कब तक समय टालोगे ? अहल्या तुम्हारे सिवा किसी और से विवाह न करेगी। यह मानी हुई बात है। फिर उसे वियोग का व्यर्थ क्यों कष्ट देते हो ? चक्रधर इन पत्रों के जवाब में भी यही लिखते कि मैं ख़ुद फ़िक्र में हूँ। ज्यों ही मौक़ा मिला, ज़िक्र करूँगा। मुझे विश्वास है कि पिताजी राज़ी हो जायँगे।

जन्माष्टमी के उत्सव के बाद मुंशीजी घर आये, तो उनके हौसले बढ़े हुए थे। राजा साहब के साथ ही उनके सौभाग्य का सूर्य भी उदय होता हुआ मालूम होता था। अब वह अपने ही शहर के किसी रईस के घर चक्रधर की शादी कर सकते थे। अब इस बात की ज़रूरत न होगी कि लड़की के पिता से विवाह का ख़र्च माँगा जाय। अब वह मनमाना दहेज ले सकते थे और धूम-धाम से बरात निकाल सकते थे। राजा साहब ज़रूर उनकी मदद करेंगे ; लेकिन मुंशी यशोदानन्दन को वचन दे चुके थे ; इसलिए उनसे एक बार पूछ लेना उचित था। अगर उनकी

तरफ़ से ज़रा भी विलंब हो, तो साफ़ कह देना चाहते थे कि मुझे आपके यहाँ विवाह करना मंजूर नहीं। यों दिल में निश्चय करके एक दिन भोजन करते समय उन्होंने चक्रधर से कहा—मुन्शी यशोदानन्दन भी कुछ ऊल-जलूल आदमी हैं। अभी तक कान में तेल डाले बैठे हैं। क्या समझते हैं कि मैं ही ग़रज़ू हूँ।

चक्रधर—उनकी तरफ़ से तो देर नहीं है। वह तो मेरे ख़त का इंतज़ार कर रहे हैं।

वज्रधर—मैं तो तैयार ही हूँ; लेकिन अगर उन्हें कुछ पसोपेश हो, तो मैं उन्हें मजबूर नहीं करना चाहता। उन्हें अख्तियार है, जहाँ चाहें करें। यहाँ सैकड़ों आदमी मुँह खोले हुए हैं। उस वक्त जो बात थी, वह अब नहीं है। तुम आज उन्हें लिख दो कि या तो इसी जाड़े में शादी कर दें या कहीं और बातचीत करें। मैं उन्हें समझता क्या हूँ। तुम देखोगे कि उनके-जैसे आदमी इसी द्वार पर नाक रगड़ेंगे। आदमी को बिगड़ते देर लगती है, बनते देर नहीं लगती। ईश्वर ने चाहा, तो एक बार फिर धूम से तहसीलदारी करूँगा।

चक्रधर ने देखा कि अब अवसर आ गया है। इस वक्त चूके, तो फिर न-जाने कब ऐसा अच्छा मौक़ा मिले। आज निश्चय ही कर लेना चाहिए। बोले—उन्हें तो कोई पसोपेश नहीं, पसोपेश जो कुछ होगा, आप ही की तरफ़ से होगा। बात यह है कि वह कन्या मुंशी यशोदानंदन की पुत्री नहीं है।

वज्रधर—पुत्री नहीं है! वह तो लड़की ही बताते थे। तुम्हारे सामने की तो बात है। ख़ैर पुत्री न होगी भतीजी होगी, भान्जी होगी, नातिन होगी, बहन होगी। मुझे आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से? जब लड़की तुम्हें पसन्द है और वह अच्छा दहेज दे सकते हैं तो मुझे और किसी बात की चिंता नहीं।

चक्रधर—वह लड़की उन्हें किसी मेले में मिली थी। तब उसकी

उम्र तीन-चार बरस की थी। उन्हें उस पर दया आ गई, घर लाकर पाला, पढ़ाया, लिखाया।

वज्रधर—(स्त्री से) कितना दग़ाबाज आदमी है! क्या अभी तक लड़की के माँ-बाप का पता नहीं चला?

चक्रधर—जी नहीं, मुंशीजी ने उनका पता लगाने की बड़ी चेष्टा की; पर कोई फल न निकला।

वज्रधर—अच्छा तो यह क़िस्सा है! बड़ा झूठा आदमी है, बना हुआ मक्कार।

निर्मला—जो लोग मीठी बातें करते हैं, उनके पेट में छुरी छिपी रहती है। न-जाने किस ज़ात की लड़की है। क्या ठिकाना। तुम साफ़-साफ़ लिख दो, मुझे नहीं करना है। बस!

वज्रधर—मैं तुमसे तो सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हीं ने इतने दिनों नेकनामी के साथ तहसीलदारी नहीं की है। मैं खुद जानता हूँ, ऐसे धोखे-बाज़ों के साथ कैसे पेश आना चाहिए?

खाना खाकर दोनों आदमी उठे, तो मुंशीजी ने कहा—क़लम-दावात लाओ, मैं इसी वक्त यशोदानंदन को ख़त लिख दूँ। बिरादरी का वास्ता न होता, तो हरजाने का दावा कर देता।

चक्रधर आरक्त मुख और संकोच-रुद्ध कंठ से बोले—मैं तो वचन दे आया हूँ।

निर्मला—चल, झूठा कहीं का, खा मेरी क़सम!

चक्रधर—सच अम्माँ, तुम्हारे सिर की क़सम!

वज्रधर—तो यह क्यों नहीं कहते कि तुमने सब कुछ आप-ही-आप तय कर लिया। फिर मुझसे क्या सलाह पूछते हो। क्यों न हो, आख़िर विद्वान् हो, बालिग़ हो, अपना भला-बुरा सोच सकते हो, मुझसे पूछने की ज़रूरत ही क्या; लेकिन तुमने लाख एम्० ए० पास कर लिया हो वह तजुरबा कहाँ से लाओगे जो, मुझे है। इसी लिए तो वह मक्कार तुम्हें

यहाँ से ले गया था। तुमने लड़की सुन्दर देखी, रीझ गये; मगर याद रक्खो स्त्री में सुन्दरता ही सबसे बड़ा गुण नहीं है। मैं तुम्हें हरगिज़ यह शादी न करने दूँगा।

चक्रधर—अगर और लोग भी यही सोचने लगें, तो सोचिए, उस बालिका की क्या दशा होगी?

वज्रधर—तुम कोई शहर के क़ाज़ी हो, तुमसे मतलब? वक़्त होगा ज़हर खा लेगी। तुम्हीं को उसकी सबसे ज़्यादा फ़िक्र क्यों हो। सारा देश तो पड़ा हुआ है।

चक्रधर—अगर दूसरों को अपने कर्तव्य का विचार न हो, तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं भी अपने कर्तव्य का विचार न करूँ।

वज्रधर—कैसी बेतुकी बातें करते हो जी! जिस लड़की के माँ-बाप का पता नहीं, उससे विवाह करके क्या ख़ानदान का नाम डुबाओगे? ऐसी बात करते हुए तुम्हें शर्म भी नहीं आती?

चक्रधर—मेरा ख़याल है कि स्त्री हो या पुरुष, गुण और स्वभाव ही उसमें मुख्य वस्तु है। इसके सिवा और सभी बातें गौण हैं।

वज्रधर—तुम्हारे सिर तो नई रोशनी का भूत नहीं सवार हुआ था, एकाएक यह क्या कायापलट हो गई?

चक्रधर—मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा तो यही है कि आप लोगों की सेवा करता जाऊँ, आपकी मरज़ी के ख़िलाफ़ कोई काम न करूँ; लेकिन सिद्धान्त के विषय में मजबूर हूँ।

वज्रधर—सेवा करना तो नहीं चाहते, मुँह में कालिख लगाना चाहते हो; मगर याद रक्खो, तुमने यह विवाह किया तो अच्छा न होगा। ईश्वर वह दिन न लाये कि मैं अपने कुल में कलंक लगते देखूँ।

चक्रधर—तो मेरा भी यही निश्चय है कि मैं और कहीं विवाह न करूँगा।

यह कहते हुए चक्रधर बाहर चले आये और बाबू यशोदानंदन को एक

पत्र लिखकर सारा क़िस्सा बयान किया। उसके अंतिम शब्द ये थे—'पिताजी राज़ी नहीं होते और यद्यपि मैं सिद्धान्त के विषय में उनसे दबना नहीं चाहता ; लेकिन उनसे अलग रहने और बुढ़ापे में उन्हें इतना बड़ा सदमा पहुँचाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं बहुत लज्जित होकर आपसे क्षमा चाहता हूँ। अगर ईश्वर की यही इच्छा है, तो मैं जीवन पर्यन्त अविवाहित ही रहूँगा ; लेकिन यह असंभव है कि कहीं और विवाह कर लूँ। जिस तरह अपनी इच्छा से विवाह करके माता-पिता को दुखी करने की कल्पना नहीं कर सकता, उसी तरह उनकी इच्छा से विवाह करके जीवन व्यतीत करने की कल्पना भी मेरे लिए असह्य है।'

इसके बाद उन्होंने दूसरा पत्र अहल्या के नाम लिखा। यह काम इतना आसान न था, प्रेम-पत्र की रचना कवित्त की रचना से कहीं कठिन होती है। कवि चौड़ी सड़क पर चलता है, प्रेमी तलवार की धार पर तीन बजे कहीं जाकर चक्रधर ने यह पत्र पूरा कर पाया। उसके अन्तिम शब्द ये थे—'प्रिये, मैं अपने माता-पिता का वैसा ही भक्त हूँ, जैसा कोई और बेटा हो सकता है, उनकी सेवा में अपने प्राण तक दे सकता हूँ ; किंतु यदि इस भक्ति और आत्मा की स्वाधीनता में विरोध आ पड़े, तो मुझे आत्मा की रक्षा करने में ज़रा भी संकोच न होगा। अगर मुझे यह भय न होता कि माताजी मेरी अवज्ञा से रो-रोकर प्राण दे देंगी, और पिताजी देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे, तो मैं यह असह्य यातना न सहता। लेकिन मैं सब कुछ तुम्हारे ही फ़ैसले पर छोड़ता हूँ, केवल इतनी ही याचना करता हूँ कि मुझ पर दया करो।'

दोनों पत्रों को डाकघर में डालते हुए वह मनोरमा को पढ़ाने चले गये।

मनोरमा बोली—आज आप बड़ी जल्दी आ गये ; लेकिन देखिए मैं आपको तैयार मिली। मैं जानती थी कि आप आ रहे होंगे, सच!

चक्रधर ने मुसकिराकर पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं आ रहा हूँ।

मनोरमा—यह न बताऊँगी ; किन्तु मैं जान गई थी। अच्छा कहिए, आपके विषय में कुछ और बताऊँ। आज आप किसी-न-किसी बात पर रोये हैं। बताइए सच है कि नहीं ?

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—झूठी बात है। मैं क्यों रोता, कोई बालक हूँ ?

मनोरमा खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—बाबूजी, कभी-कभी आप बड़ी मौलिक बात कहते हैं। क्या रोना और हँसना बालकों ही के लिए है ? जवान और बूढ़े नहीं रोते।

चक्रधर पर उदासी छा गई। हँसने की विफल चेष्टा करके बोले—तुम चाहती हो कि मैं तुम्हारे दिव्य-ज्ञान की प्रशंसा करूँ। वह मैं न करूँगा।

मनोरमा—अन्याय की बात दूसरी है ; लेकिन आपकी आँखें कहे देती हैं कि आप रोये हैं ! (हँसकर) अभी आपने वह विद्या नहीं पढ़ी, जो हँसी को रोने और रोने को हँसी का रूप दे सकती है।

चक्रधर—क्या आजकल तुम उस विद्या का अभ्यास कर रही हो क्या ?

मनोरमा—कर तो नहीं रही हूँ ; पर करना चाहती हूँ।

चक्रधर—नहीं मनोरमा, तुम वह विद्या न सीखना। मुलम्मे की ज़रूरत सोने को नहीं होती।

मनोरमा—होती है बाबूजी, होती है। इससे सोने का मूल्य चाहे न बढ़े ; पर चमक बढ़ जाती है। आपने महारानी की तीर्थ-यात्रा का हाल तो सुना ही होगा। अच्छा बताइए, आप इस रहस्य को समझते हैं ?

चक्रधर—क्या इसमें भी कोई रहस्य है ?

मनोरमा—और नहीं क्या ! मैं परसों रात को बड़ी देर तक वहीं थी। हर्षपुर के राजकुमार आये हुए थे। उन्हीं के साथ गई हैं।

चक्रधर—ख़ैर होगा, तुमने आज क्या काम किया है, लाओ देखूँ !

मनोरमा—एक छोटा-सा लेख लिखा है ; पर आपको दिखाते शर्म आती है।

चक्रधर—तुम्हारे लेख बहुत अच्छे होते हैं। शर्म की क्या बात है ?

मनोरमा ने सकुचाते हुए अपना लेख उनके सामने रख दिया और वहाँ से उठकर चली गई। चक्रधर ने लेख पढ़ा, तो दङ्ग रह गये। विषय था—ऐश्वर्य के सुख! वे क्या हैं? काल पर विजय, लोकमत पर विजय, आत्मा पर विजय। लेख में इन्हीं तीनों अंगों की विस्तार के साथ व्याख्या की गई थी। चक्रधर उन विचारों की मौलिकता पर मुग्ध तो हुए; पर इसके साथ ही उन्हें उनकी स्वच्छंदता पर खेद भी हुआ। ये भाव किसी व्यंग्य में तो उपयुक्त हो सकते थे; लेकिन एक विचारपूर्ण निबंध में शोभा न देते थे। उन्होंने लेख समाप्त करके रक्खा ही था कि मनोरमा लौट आई और बोली—हाथ जोड़ती हूँ बाबूजी, इस लेख के विषय में कुछ न पूछिएगा, मैं इसी के भय से चली गई थी।

चक्रधर—पूछना तो बहुत कुछ चाहता था; लेकिन तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो न पूछूँगा। केवल इतना बता दो कि ये विचार तुम्हारे मन में क्योंकर आये? ऐश्वर्य का सुख विहार और विलास तो नहीं। यह तो ऐश्वर्य का दुरुपयोग है। यह तो व्यंग्य मालूम होता है।

मनोरमा—आप जो समझिए!

चक्रधर—तुमने क्या समझकर लिखा है?

मनोरमा—जो कुछ आँखों देखा, वही लिखा।

यह कहकर मनोरमा ने वह लेख उठा लिया और तुरत फाड़कर खिड़की के बाहर फेंक दिया। चक्रधर 'हाँ-हाँ' करते रह गये। जब वह फिर अपनी जगह पर आकर बैठी, तो चक्रधर ने गंभीर स्वर से कहा—तुम्हारे मन में ऐसे कुत्सित विचारों को स्थान पाते देखकर मुझे दुःख होता है।

मनोरमा ने सजल नयन होकर कहा—अब मैं ऐसा लेख कभी न लिखूँगी।

चक्रधर—लिखने की बात नहीं है। तुम्हारे मन में ऐसे भाव आने ही न चाहिएँ। काल पर हम विजय पाते हैं, अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से। परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का

अर्थ यह नहीं है कि हम कृत्रिम साधनों से भोग-विलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है, अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं; बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है। यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा, है वह यथार्थ नहीं है। उनकी नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यंत भयंकर होता है, और हम यथार्थ ही को आदर्श मान लें, तो संसार नरक-तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर न पड़नी चाहिए; बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिए। दुर्बलताओं की ओर हमारी प्रवृत्ति स्वयं इतनी बलवती है कि उसे उधर ढकेलने की ज़रूरत नहीं। ऐश्वर्य का एक सुख और है, जिसे तुमने न-जाने क्यों छोड़ दिया, जानती हो वह क्या है?

मनोरमा—अब उसकी और व्याख्या करके मुझे लज्जित न कीजिए।

चक्रधर—तुम्हें लज्जित करने के लिए नहीं, तुम्हारा मनोरञ्जन करने के लिए बताता हूँ। वह पुरानी बातों का भूल जाना है। ऐश्वर्य पाते ही हमें अपना पूर्व-जीवन विस्मृत हो जाता है। हम अपने पुराने हम-जोलियों को नहीं पहचानते। ऐसा भूल जाते हैं, मानों कभी देखा ही न था। मेरे जितने धनी मित्र थे, वे सब मुझे भूल गये। कभी सलाम करता हूँ, तो हाथ तक नहीं उठाते। ऐश्वर्य का यह एक ख़ास लक्षण है। कौन कह सकता है कि कुछ दिनों के बाद तुम्हीं मुझे न भूल जाओगी!

मनोरमा—मैं आपको भूल जाऊँगी! असम्भव है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि पूर्व-जन्म में भी मेरा और आपका किसी-न-किसी रूप में साथ था। पहले ही दिन से मुझे आपसे इतनी श्रद्धा हो गई, मानों पुराना परिचय हो। मैं जब कभी कोई बात सोचती हूँ, तो आप

उसमें अवश्य पहुँच जाते हैं। अगर ऐश्वर्य पाकर आपको भूल जाने की सम्भावना हो, तो मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँगी।

चक्रधर ने मुसकिराकर कहा—जब हृदय यही रहे तब तो!

मनोरमा—यही रहेगा, देख लीजिएगा। मैं मरकर भी आपको नह भूल सकती।

इतने में ठाकुर हरिसेवक आकर बैठ गये। आज वह बहुत प्रसन्न चित्त मालूम होते थे! अभी थोड़ी ही देर पहले राजभवन से लौटकर आये थे। रात को नशा जमाने का अवसर न मिला था, उसकी कसर इस वक्त पूरी कर ली थी। आँखें चढ़ी हुई थीं। चक्रधर से बोले—आपने कल महाराजा साहब के यहाँ उत्सव का प्रबंध जितनी सुन्दरता से किया। उसके लिए आपको बधाई देता हूँ। आप न होते, तो सारा खेल बिगड़ जाता। महाराज साहब बड़े ही उदार आदमी हैं। अब तक मैं उनके विषय में कुछ और ही समझे हुए था। कल उनकी उदारता और सज्जनता ने मेरा संशय दूर कर दिया। आप से तो बिलकुल मित्रों का-सा बरताव करते हैं।

चक्रधर—जी हाँ, अभी तक तो उनके बारे में कोई शिकायत नहीं है।

हरिसेवक—महाराज को एक प्राइवेट सेक्रेटरी की ज़रूरत तो पड़ेगी ही, आप कोशिश करें, तो आपको अवश्य ही वह जगह मिल जाय। आप घर के आदमी हैं, आपके हो जाने से बड़ा इतमीनान हो जायगा। एक सेक्रेटरी के बग़ैर महाराजा साहब का काम नहीं चल सकता। कहिए तो ज़िक्र करूँ?

चक्रधर—जी नहीं, अभी तो मेरा इरादा कोई स्थायी नौकरी करने का नहीं है, दूसरे मुझे विश्वास भी नहीं है कि मैं उस काम को सँभाल सकूँगा।

हरिसेवक—अजी, काम करने से सब आ जाता है और आपकी

योग्यता तो मेरे सामने है। मनोरमा को पढ़ाने कितने ही मास्टर आये, कोई दो-चार महीनों से ज्यादा न ठहरा। आप जब से आये हैं, इसने बहुत ख़ासी तरक्की कर ली है। मैं अब तक आपकी तरक्की नहीं कर सका, इसका मुझे खेद है। इस महीने से आपको ५०) महीने मिलेंगे; यद्यपि मैं इसे भी आपकी योग्यता और परिश्रम के देखते बहुत कम समझता हूँ।

लौंगी देवी भी आ पहुँचीं। कही-बदी बात थी। ठाकुर साहब का समर्थन करके बोलीं—देवता-रूप हैं, देवता रूप। मेरी तो इन्हें देखकर भूख-प्यास बन्द हो जाती है।

हरिसेवक—तो तुम इन्हीं को देख लिया करो, खाने का कष्ट न उठाना पड़े।

लौंगी—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ। क्यों बेटा, तुम नौकरी क्यों नहीं कर लेते?

चक्रधर—जितना आप देती हैं, मेरे लिए उतना ही काफ़ी है।

लौंगी—इसी से शादी-ब्याह नहीं करते? अब की लाला (वज्रधर) आते हैं, तो उनसे कहती हूँ, लड़के को कब तक छूटा रक्खोगे।

हरिसेवक—शादी यह खुद ही नहीं करते, वह बेचारे क्या करें। यह स्वाधीन रहना चाहते हैं।

लौंगी—तो कोई रोजगार क्यों नहीं करते बेटा?

चक्रधर—अभी इस चरखे में नहीं पड़ना चाहता।

हरिसेवक—यह और विचार के आदमी हैं। माया-फाँस में नहीं पड़ना चाहते।

लौंगी—धन्य है बेटा, धन्य है। तुम सच्चे साधु हो।

इस तरह की बातें करके ठाकुर साहब अंदर चले गये। लौंगी भी उनके पीछे-पीछे चली गई। मनोरमा सिर झुकाये दोनों प्राणियों की बातें सुन रही थी और किसी शंका से उसका दिल काँप रहा था। किसी आदमी में स्वभाव के विपरीत आचरण देखकर शंका होती ही है। आज

दादाजी इतने उदार क्यों हो रहे हैं। आज तक इन्होंने किसी को पूरा वेतन नहीं दिया, तरक्की करने का ज़िक्र ही क्या। आज विनय और दया की मूर्ति क्यों बने जाते हैं? इसमें अवश्य कोई रहस्य है? बाबूजी से कोई कपट-लीला तो नहीं कराना चाहते, ज़रूर यही बात है। कैसे इन्हें सचेत कर दूँ?

वह यही सोच रही थी कि गुरुसेवकसिंह कन्धे पर बंदूक रक्खे शिकारी कपड़े पहने एक कमरे से निकल आये और बोले—कहिए महाशय, दादाजी तो आज आपसे बहुत प्रसन्न मालूम होते थे।

चक्रधर ने कहा—यह उनकी कृपा है।

गुरुसेवक—कृपा के धोखे में न रहिएगा। ऐसे कृपालु नहीं हैं। इनका मारा पानी भी नहीं माँगता। इस डाइन ने इन्हें पूरा राक्षस बना दिया है। शर्म भी नहीं आती। आपसे ज़रूर कोई मतलब गाँठना चाहते होंगे।

चक्रधर ने मुसकिराकर कहा—लौंगी अम्मा से अभी आपका मेल नहीं हुआ?

गुरुसेवक—मेल! मैं उससे मेल करूँगा! मर जाय, तो कंधा तक न दूँ। डाइन है, लंका की डाइन, उसके हथकण्डों से बचते रहिएगा। वेतन कभी बाकी न रखिएगा। दादाजी को तो इसने बुद्धू बना छोड़ा है। दादाजी जब किसी पर सख्ती करते हैं, तो तुरत घाव पर मरहम रखने पहुँच जाती है। आदमी धोखे में आकर समझता है, यह दया और क्षमा की देवी है। वह क्या जाने कि यही आग लगानेवाली भी है और बुझानेवाली भी। इसका चरित्र समझने के लिए मनोविज्ञान के किसी बड़े पंडित की ज़रूरत है।

चक्रधर ने आकाश की ओर देखा, तो घटा घिर आई थी। पानी बरसा ही चाहता था। उठकर बोले—आप इस विद्या में बहुत कुशल मालूम होते हैं।

जब वह बाहर निकल गये, तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पट्टी पढ़ा रहे थे ?

मनोरमा—कोई ख़ास बात तो नहीं थी।

गुरुसेवक—यह महाशय भी बने हुए मालूम होते हैं। सरल जीवन-वालों से बहुत घबराता हूँ। जिसे यह राग अलापते देखो, समझ जाओ कि या तो उसके लिए अंगूर खट्टे हैं, या वह यह स्वांग रचकर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है।

मनोरमा—बाबूजी उन आदमियों में नहीं हैं।

गुरुसेवक—तुम क्या जानो। ऐसे गुरुघंटालों को मैं खूब पहचानता हूँ।

मनोरमा—नहीं भाई साहब, बाबूजी के विषय में आप धोखा खा रहे हैं। महाराजा साहब इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं, लेकिन यह मंजूर नहीं करते।

गुरुसेवक—सच ! उस जगह का वेतन तो ४-५ सौ से कम न होगा।

मनोरमा—इससे क्या कम होगा। चाहें तो इन्हें अभी वह जगह मिल सकती है। राजा साहब इन्हें बहुत मानते हैं; लेकिन यह कहते हैं, मैं स्वाधीन रहना चाहता हूँ। यहाँ भी अपने घर वालों के बहुत दबाने से आते हैं।

गुरुसेवक—मुझे वह जगह मिल जाय, तो बड़ा मजा आये।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ, इसका दुगुना वेतन मिले, तो भी बाबूजी स्वीकार न करेंगे। सोचिए, कितना ऊँचा आदर्श है।

गुरुसेवक—मुझे किसी तरह वह जगह मिल जाती, तो ज़िन्दगी बड़े चैन से कटती।

मनोरमा—अब गाँवों का सुधार न कीजिएगा ?

गुरुसेवक—वह भी करता रहूँगा, यह भी करता रहूँगा। राज-मंत्री होकर प्रजा की सेवा करने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना

स्वाधीन रहकर नहीं। कोशिश करके देखूँ, इसमें तो कोई बुराई नहीं है।

यह कहते हुए वह अपने कमरे में चले गये।

मेघों का दल उमड़ा चला आता था। मनोरमा खिड़की के सामने खड़ी आकाश की ओर भयातुर नेत्रों से देख रही थी। अभी बाबूजी घर न पहुँचे होंगे। पानी आ गया, तो ज़रूर भीग जायँगे। मुझे चाहिए था कि उन्हें रोक लेती। भैया न आ जाते, तो शायद वह अभी खुद ही बैठते। ईश्वर करे, वह घर पहुँच गये हों।

१३

मुद्दत के बाद जगदीशपुर के भाग्य जगे। राजभवन आबाद हुआ। बरसात में मकानों की मरम्मत न हो सकती थी; इसलिए क्वार तक शहर ही में गुजर करना पड़ा। कार्तिक लगते ही एक ओर जगदीशपुर के राज-भवन की मरम्मत होने लगी, दूसरी ओर गद्दी के उत्सव की तैयारियाँ शुरू हुईं। शहर से सामान लद-लदकर जगदीशपुर जाने लगा। राजा साहब वयं एक बार रोज़ जगदीशपुर जाते; लेकिन रहते शहर में ही। रानियाँ जगदीशपुर चली गईं थीं और राजा साहब को अब उनसे चिढ़-सी हो गई थी। घंटे-दो-घंटे के लिए भी वहाँ जाते, तो सारा समय गृह-कलह सुनने में कट जाता था और कोई काम देखने की मुहलत ही न मिलती थी। रानियों में पहले ही चख-चख मची रहती थी, अब तो एक दूसरे के खून की प्यासी-सी हो रही थीं। राजा साहब ने जीवन का नया अध्याय शुरू कर दिया था।

राजा साहब ताकीद करते रहते थे कि प्रजा पर ज़रा भी सख्ती न होने पाये। दीवान साहब से उन्होंने जोर देकर कह दिया था कि बिना पूरी मजूरी दिये किसी से काम न लीजिए; लेकिन यह उनकी शक्ति से बाहर था कि आठों पहर वहाँ बैठे रहें। उनके पास अगर कोई शिकायत पहुँचती, तो कदाचित् वह राज-कर्मचारियों को फाड़ खाते; लेकिन प्रजा सहनशील होती है, जब तक प्याला भर न जाय, वह ज़बान नहीं खोलती। फिर गद्दी के उत्सव में थोड़ा-बहुत कष्ट होना स्वाभाविक समझकर और भी कोई न बोलता था। अपना काम तो बारहों मास करते ही हैं, मालिक की भी तो कुछ सेवा होनी चाहिए। यह ख़याल करके सभी लोग उत्सव की

तैयारियों में लगे हुए थे। सुन रक्खा था कि राजा साहब बड़े दयालु, प्रजा-वत्सल पुरुष हैं, इससे लोग खुशी से इस अवसर पर योग दे रहे थे। समझते थे, महीने-दो-महीने का झंझट है, फिर तो चैन-ही-चैन है। रानी साहब के समय की-सी धाँधली तो इनके समय में न होगी।

तीन महीने तक सारी रियासत के बढ़ई, लोहार, मिस्त्री, दरजी, चमार, कहार सभी दिल तोड़कर काम करते रहे। चक्रधर को रोज़ खबरें मिलती रहती थीं कि प्रजा पर बड़े-बड़े अत्याचार हो रहे हैं; लेकिन वह राजा साहब से शिकायत करके उन्हें असमंजस में न डालना चाहते थे। अक्सर खुद जाकर मजूरों और कारीगरों को समझाते थे। १५ ही मील का तो रास्ता था। रेलगाड़ी आध घंटे में पहुँचा देती थी। इस तरह तीन महीने गुज़र गये। राजभवन का कलेवर नया हो गया। सारे क़सबे में रोशनी के फाटक बन गये, तिलकोत्सव का विशाल पंडाल तैयार हो गया। चारों तरफ़ भवन में, पंडाल में, क़स्बे में, सफ़ाई और सजावट नज़र आती थी। कर्मचारियों को नई वरदियाँ बनवा दी गईं। प्रांत-भर के रईसों, राजाओं के नाम निमंत्रण-पत्र भेज दिये गये और रसद का सामान जमा होने लगा। वसंत की ऋतु थी, चारों तरफ़ वसंती रङ्ग की बहार नज़र आती थी। राजभवन वसंती रङ्ग से पोताया गया था। पंडाल भी वसंती था। मेहमानों के लिए जो कैंप बनाये गये थे, वे भी वसंती थे। कर्मचारियों की वरदियाँ भी वसंती। दो मील के घेरे में वसंत-ही-वसंत था। सूर्य के प्रकाश में सारा दृश्य कंचनमय हो जाता था। ऐसा मालूम होता था, मानों स्वयं ऋतुराज के अभिषेक की तैयारियाँ हो रही हैं।

लेकिन अब तक बहुत कुछ काम बेगार से चल गया था। मजूरों को भोजन-मात्र मिल जाता था। अब नक़द रुपये की ज़रूरत सामने आ रही थी। राजाओं का आदर-सत्कार और अंगरेज़ हुक्काम की दावत-तवाज़ा तो बेगार में न हो सकती थी! कलकत्ते से थिएटर की कंपनी बुलाई गई थी, मथुरा की रासलीला-मण्डली को नेवता दिया गया था। ख़र्च का तख़-

मीना पाँच लाख से ऊपर था। प्रश्न था, ये रुपये कहाँ से आवें। ख़ज़ाने में फ़ूटी कौड़ी न थी! असामियों से छमाही लगान पहले ही वसूल किया जा चुका था। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। मुहूर्त आता जाता था और कुछ निश्चय न होता था। यहाँ तक कि केवल १५ दिन रह गये।

सन्ध्या का समय था। राजा साहब उस्ताद मेंहूखाँ के साथ बैठे सितार का अभ्यास कर रहे थे। राज्य पाकर उन्होंने अब तक केवल यही एक व्यसन पाला था। वह कोई नई बात करते हुए डरते रहते थे कि कहीं लोग यह न कहने लगें कि ऐश्वर्य पाकर मतवाला हो गया, अपने को भूल गया। वह छोटे-बड़े सभी से बड़ी नम्रता से बोलते थे और यथाशक्ति किसी टहलुए पर भी न बिगड़ते थे। मेंहूखाँ इस वक्त उन्हें डाट रहे थे—सितार बजाना कोई मुँह का नेवाला नहीं है—कि दीवान साहब और मुंशीजी आकर खड़े हो गये।

विशालसिंह ने पूछा—कोई ज़रूरी काम है?

ठाकुर—ज़रूरी न होता, तो हुजूर को इस वक्त क्यों कष्ट देने आता?

मुंशी—दीवान साहब तो आते हिचकते थे। मैंने कहा, इन्तज़ाम की बात में कैसी हिचक। चलकर साफ़-साफ़ कहिए। तब डरते-डरते आये हैं।

ठाकुर—हुजूर, उत्सव को अब केवल एक सप्ताह रह गया है और अभी तक रुपये की कोई सबील नहीं हो सकी। अगर आज्ञा हो, तो किसी बैंक से ५ लाख क़र्ज़ ले लिया जाय।

राजा—हरगिज नहीं। आपको याद है तहसीलदार साहब, मैंने आपसे क्या कहा था? मैंने उस वक्त क़र्ज़ नहीं लिया, जब कौड़ी-कौड़ी का मुहताज था। क़र्ज़ का आप ज़िक्र ही न करें।

मुंशी—हुजूर, क़र्ज़ और फ़र्ज़ के रूप में तो केवल ज़रा-सा अन्तर है; पर अर्थ में ज़मीन और आसमान का फ़र्क़ है।

दीवान—तो अब महाराज क्या हुक्म देते हैं?

राजा—ये हीरे-जवाहरात ढेरों पड़े हुए हैं। क्यों न इन्हें निकाल डालिए? किसी जौहरी को बुलाकर उनके दाम लगवाइए!

दीवान—महाराज, इसमें तो रियासत की बदनामी है।

मुंशी—घर के ज़ेवर ही तो आबरू हैं। वे घर से गये और आबरू गई।

राजा—हाँ, बदनामी तो ज़रूर है; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या है?

दीवान—मेरी तो राय है कि असामियों पर हल पीछे १०) चंदा लगा दिया जाय।

राजा—मैं अपने तिलकोत्सव के लिए असामियों पर ज़ुल्म न करूँगा। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि उत्सव हो न हो।

दीवान—महाराज, रियासतों में पुरानी प्रथा है। सब असामी खुशी से देंगे, किसी को आपत्ति न होगी।

मुंशी—गाते-बजाते आयेंगे और दे जायेंगे।

राजा—मैं किस मुँह से उनसे ये रुपये लूँ? गद्दी पर मैं बैठ रहा हूँ, मेरे उत्सव के लिए असामी क्यों इतना जब्र सहें?

दीवान—महाराज, यह तो परस्पर का व्यवहार है। रियासत भी तो अवसर पड़ने पर हर तरह से असामियों की सहायता करती है। शादी-ग़मी में रियासत से लकड़ियाँ मिलती हैं, सरकारी चरावर में लोगों की गौएँ चरती हैं। और भी कितनी बातें हैं। जब रियासत को अपना नुकसान उठाकर प्रजा की मदद करनी पड़ती है, तो प्रजा राजा की शादी-ग़मी में क्यों न शरीक हो?

राजा—अधिकांश असामी ग़रीब हैं, उन्हें कष्ट होगा?

मुंशी—हुज़ूर असामियों को जितना ग़रीब समझते हैं, उतने ग़रीब नहीं हैं। एक-एक आदमी लड़कों-लड़कियों की शादी में हज़ारों उड़ा देता है। दस रुपये की रक़म इतनी ज्यादा नहीं कि किसी को अखर सके। मेरा तो पुराना तजरबा है। तहसीलदार था, तो हाकिमों को

डालो देने के लिए बात-की-बात में हज़ारों रुपये वसूल कर लेता था।

राजा—मैं असामियों को किसी हालत में कष्ट नहीं देना चाहता। इससे तो कहीं अच्छी बात यह होगी कि उत्सव को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाय; लेकिन अगर आप लोगों का विचार है कि किसी को कष्ट न होगा और लोग खुशी से मदद देंगे, तो आप अपनी ज़िम्मेदारी पर यह काम कर सकते हैं। मेरे कानों तक कोई शिकायत न आये।

दीवान—हुजूर, शिकायत तो थोड़ी-बहुत हर हालत में होती है। इससे बचना असंभव है। अगर और कोई शिकायत न होगी, तो यही होगी कि महाराजा साहब की गद्दी हो गई और हमारा मुँह भी न मीठा हुआ, कोई जलसा तक न हुआ। अगर किसी से कुछ न लीजिए, केवल तिलकोत्सव में शरीक होने के लिए बुलाइए, तब भी लोग शिकायत से बाज़ न आयेंगे। नेवते को तलबी समझेंगे और रोयेंगे कि हम अपने काम-धंधे छोड़कर कैसे जायँ। रोना तो उनकी घुट्टी में पड़ गया है। रियासत का कोई नौकर जा पड़ता है, तो उसे उपले तक नहीं मिलते, और कोई धूर्त जटा बढ़ाकर पहुँच जाता है, तो महीनों उसका आदर-सत्कार होता है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध ही ऐसा है। प्रजा-हित के लिए भी कोई काम कीजिए, तो उसमें भी लोगों को शंका होती है। हल पीछे १०) बैठा देने से कोई ५ लाख रुपये हाथ आ जायेंगे। रही रसद, वह तो बेगार में मिलती ही है। आपकी अनुमति की देर है।

मुंशी—जब सरकार ने कह दिया कि आप अपनी ज़िम्मेदारी पर वसूल कर सकते हैं, तो अनुमति का क्या प्रश्न? इसका मतलब तो इतना गहरा नहीं है कि बहुत डूबने से मिले। आप महाजनों को देखते हैं, मालिक मुनीम को लिखता है कि फ़लाँ काम के लिए रुपये दे दो, मुनीम हीले-हवाले करके टाल देता है। हमारी अँगरेजी सरकार ही को देखिए। ऊपरवाले हुक्काम कितनी मुलायमत से बातें करते हैं; लेकिन उनके मातहत खूब जानते हैं कि किसके साथ कैसा बरताव करना चाहिए।

चलिए, अब हुजूर को तकलीफ़ न दीजिए। मैंडूखाँ, बस यही समझ लो कि निहाल हो जाओगे।

राजा—बस, इतना ख़याल रखिए कि किसी को कष्ट न होने पाये। आपको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि असामी लोग सहर्ष आकर शरीक हों।

मुंशी—हुजूर का फरमाना बहुत वाजिब है। अगर हुजूर सख्ती करने लगेंगे, तो उन ग़रीबों के आँसू कौन पोंछेगा। उन्हें तसकीन कौन देगा। हुकूमत करने के लिए तो आपके गुलाम हम हैं। सूरज जलता भी है, रोशनी भी देता है। जलानेवाले हम हैं, रोशनी देनेवाले आप हैं। दुआ का हक़ आपका है, गालियों का हक़ हमारा। चलिए, दीवान साहब, अब हुजूर को सितार से शौक़ करने दीजिए।

दोनों आदमी वहाँ से चले, तो दीवान साहब ने कहा—ऐसा न हो, शोर-गुल मचे तो हमारी जान आफत में फँसे?

मुंशीजी बोले—यह सब बगला-भगतपन है। मैं तो रुख पहचानता हूँ। ग़रीबों का तो ज़िक्र ही क्या, हमें कभी एक पैसे का नुकसान हो जाता है, तो कितना बुरा मालूम होता है। जिससे आप १०) ऐंठ लेंगे, क्या वह खुशी से दे देगा? इसका मतलब यही है कि धड़ल्ले से रुपये वसूली कीजिए। किसी राजा ने आज तक न कहा होगा कि प्रजा को सताकर रुपये वसूल कीजिए। लेकिन चन्दे जब वसूल होने लगे और शोर मचा, तो किसीने कर्मचारियों की तम्बीह नहीं की। यही हमेशा से होता आता है और यही अब भी हो रहा है।

हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के हाथ तो खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग़-बाग़ हो गये। फिर तो वह अन्धेर मचा कि सारे इलाके में कुहराम पड़ गया। असामियों ने नये राजा साहब से दूसरी ही आशाएँ बाँध रक्खी थीं। यह बला सिर पड़ी, तो झल्ला गये। यहाँ तक कि कर्मचारियों के अत्याचार देखकर चक्रधर का खून भी उबल

पड़ा। समझ गये कि राजा साहब भी कर्मचारियों के पंजे में आ गये। उनसे कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। चारों तरफ़ लूट-खसोट हो रही थी। गालियाँ और ठोंक-पीट तो साधारण बात थी, किसी के बैल खोल लिये जाते थे, किसी की गाय छीन ली जाती थी, कितनों ही के खेत कटवा लिये गये। बेदखली और इज़ाफ़े की धमकियाँ दी जाती थीं। जिसने खुशी से दिये, उसका तो १०) ही में गला छूट गया। जिसने हीले-हवाले किये, कानून बघारा, उसे १०) के बदले २०), ३०), ४०) देने पड़े। आखिर विवश होकर एक दिन चक्रधर ने राजा साहब से शिकायत कर ही दी।

राजा साहब ने त्योरी बदलकर कहा—मेरे पास तो आज तक कोई असामी शिकायत करने नहीं आया। जब उनको कोई शिकायत नहीं है, तो आप उनकी तरफ़ से क्यों वकालत कर रहे हैं?

चक्रधर—आपको असामियों का स्वभाव तो मालूम होगा? उन्हें आपसे शिकायत करने का क्योंकर साहस हो सकता है।

राजा—यह मैं नहीं मानता। असामी ऐसे बेसींग की गाय नहीं होते। जिसको किसी बात की अखर होती है, वह चुप नहीं बैठा रहता। उसका चुप रहना ही इस बात का प्रमाण है कि उसे अखर नहीं, या है तो बहुत कम। आपके पिताजी और दीवान साहब, यही दो आदमी तो करता-धरता हैं, आप उनसे क्यों नहीं कहते?

चक्रधर—तो आपसे कोई आशा न रक्खूँ?

राजा—मैं अपने कर्मचारियों से अलग कुछ नहीं हूँ।

चक्रधर ने इसका और कुछ जवाब न दिया। दीवान साहब या मुंशीजी से इस मामले में सहायता की याचना करना अंधे के आगे रोना था। क्रोध तो ऐसा आया कि इसी वक्त जगदीशपुर चलूँ और सारे आदमियों से कह दूँ, अपने घर जाओ! देखूँ लोग क्या करते हैं। समिति के सेवकों के साथ रियासत में दौरा करना शुरू करूँ, फिर देखूँ लोग कैसे रुपये वसूल करते हैं; पर राजा साहब की बदनामी का ख़याल करके रुक

गये। अभी राजभवन ही में थे कि मुंशीजी अपना पुराना, तहसीलदारी के दिनों का ओवर-कोट डाटे, मोटरकार से उतरे और इन्हें देखकर बोले— तुम यहाँ क्या करने आये थे। अपने लिए कुछ नहीं कहा?

चक्रधर—अपने लिए क्या कहता? सुनता हूँ रियासत में बड़ा अन्धेर मचा हुआ है।

वज्रधर—यह सब तुम्हारे आदमियों की शरारत है। तुम्हारी समिति के आदमी जा-जाकर असामियों को भड़काते रहते हैं। इन्हीं लोगों की शह पाकर वे सब शेर हो गये हैं, नहीं तो किसी की मजाल न थी कि चूँ करता। न-जाने तुम्हारी अक्ल कहाँ गई है?

चक्रधर—हम लोग तो केवल इतना चाहते हैं कि असामियों पर सख्ती न की जाय और आप लोगों ने इसका वादा भी किया था, फिर यह मार-धाड़ क्यों हो रही है?

वज्रधर—इसीलिए कि असामियों से कह दिया गया है कि राजा साहब किसी पर जब्र नहीं करना चाहते। जिसकी खुशी हो दे, जिसकी खुशी हो न दे। तुम अपने आदमियों को बुला लो, फिर देखो, कितनी आसानी से काम हो जाता है। नशे का जोश ताक़त नहीं है। ताक़त वह है. जो अपने बदन में हो। जब तक प्रजा खुद न सँभलेगी, कोई उसकी रक्षा नहीं कर सकता। तुम कहाँ-कहाँ उन पर हाथ रखते फिरोगे? चौकीदार से लेकर बड़े-से-बड़े हाकिम तक सभी उनके दुश्मन हैं। मान लो, हमने छोड़ दिया; मगर थानेदार है, पटवारी है, कानूनगो है, माल के हुक्काम हैं। सभी तो उनकी जान के गाहक हैं। तुम फक़ीर बन जाओ, सारी दुनिया तो तुम्हारे लिए सन्यास न ले लेगी? तुम आज ही अपने आदमियों को बुला लो। अब तक तो हम लोग उनका लिहाज़ करते आये हैं; लेकिन रियासत के सिपाही उनसे बेतरह बिगड़े हुए हैं। ऐसा न हो, मार-पीट हो जाय।

चक्रधर यहाँ से अपने आदमियों को बुला लेने का वादा करके तो

चले ; लेकिन दिल में आग-सी लग रही थी। कुछ समझ में न आता कि क्या करना चाहिए। इसी सोच में पड़े हुए मनोरमा के यहाँ चले गये।

मनोरमा उन्हें उदास देखकर बोली—आप बहुत चिंतित-से मालूम होते हैं ? घर में तो सब कुशल है ?

चक्रधर—हाँ, कोई बात नहीं। लाओ देखूँ, तुमने क्या काम किया है ?

मनोरमा—आप मुझ से छिपा रहे हैं। आप जब तक न बतायेंगे, मैं कुछ न पढ़ूँगी। आप तो यों कभी मुरझाए न रहते थे।

चक्रधर—क्या करूँ मनोरमा, अपनी दशा देखकर कभी-कभी रोना आ जाता है। सारा देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, फिर भी हम अपने भाइयों की गरदन पर छुरी फेरने से बाज नहीं आते। इतनी दुर्दशा पर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। जिनसे लड़ना चाहिए, उनके तो तलुए चाटते हैं और जिनसे गले मिलना चाहिए, उनकी गरदन दबाते हैं। और यह सारा जुल्म हमारे पढ़े-लिखे भाई ही कर रहे हैं। जिसे कोई अख्तियार मिल गया, वह फौरन् दूसरों को पीसकर पी जाने की फ़िक्र करने लगता है। विद्या ही से विवेक होता है ; पर जब रोगी असाध्य हो जाता है, तो दवा भी उस पर विष का काम करती है। हमारी शिक्षा ने हमें पशु बना दिया है। राजा साहब की ज़ात से लोगों को कैसी-कैसी आशाएँ थीं ; लेकिन अभी गद्दी पर बैठे ६ महीने भी नहीं हुए और इन्होंने भी वही पुराना ढंग अख्तियार कर लिया। प्रजा से डंडों के जोर से रुपये वसूल किये जा रहे हैं और कोई फ़रियाद नहीं सुनता। सबसे ज्यादा रोना तो इस बात का है कि दीवान साहब और मेरे पिताजी ही राजा साहब के मंत्री और इस अत्याचार के मुख्य कारण हैं।

सरल हृदय प्राणी अन्याय की बात सुनकर उत्तेजित हो जाते हैं। मनोरमा ने उद्दंड होकर कहा—आप असामियों से क्यों नहीं कहते कि किसी को एक कौड़ी भी न दें। कोई देगा ही नहीं, तो ये लोग कैसे ले लेंगे।

चक्रधर को हँसी आ गई। बोले—तुम मेरी जगह होतीं, तो असामियों को मना कर देतीं ?

मनोरमा—अवश्य । खुल्लम-खुल्ला कहती, ख़बरदार ! राजा के आदमियों को कोई एक पैसा भी न दे। मैं तो राजा के आदमियों को इतना पिटवाती कि फिर इलाके में जाने का नाम ही न लेते।

चक्रधर ने फिर हँसकर कहा—और दीवान साहब से क्या कहतीं ?

मनोरमा—उनसे भी यही कहतीं कि आप चुपके से घर चले जाइए, नहीं तो अच्छा न होगा। आप मेरे पूज्य पिता हैं, मैं आपकी सेवा करूँगी ; लेकिन आपको दूसरों का खून न चूसने दूँगी। ग़रीबों को सताकर अपना घर भर लिया, तो कौन-सा बड़ा तीर मार लिया। वीर तो जब बखानूँ, जब सबलों से ताल ठोकिए। अभी एक गोरा आ जाय, तो घर में दुम दबाकर भागोगे। उस वक्त ज़बान भी न खुलेगी। उससे जरा आँखें मिलाइए तो देखिए, ठोकर जमाता है या नहीं। उनसे तो बोलने की हिम्मत नहीं। बेचारे दीनों को सताते फिरते हैं। यह तो मरे को मारना हुआ। इसे हुकूमत नहीं कहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुरदे और गिद्ध का तमाशा है।

चक्रधर यह बातें सुनकर पुलकित हो उठे। मुसकिरा कर बोले—अगर दीवान साहब ख़फ़ा हो जाते ?

मनोरमा—तो ख़फ़ा हो जाते ! किसी के ख़फ़ा हो जाने के डर से सच्ची बात पर परदा थोड़ा ही डाला जाता है। अगर आज वह आ गये, तो मैं आज ही ज़िक्र करूँगी।

यह कहते-कहते मनोरमा कुछ चिंतित-सी हो गई और चक्रधर भी विचार में पड़ गये। दोनों के मन में एक ही भाव उठ रहे थे—इसका फल क्या होगा ? वह सोचती थी, कहीं लालाजी ने गुस्से में आकर बाबूजी को अलग कर दिया तो ? चक्रधर सोच रहे थे, यह शंका मुझे क्यों इतना भयभीत कर रही है ! इस विषय पर फिर कुछ बात-चीत न हुई ; लेकिन

चक्रधर यहाँ से पढ़ाकर चले, तो उनके मन में प्रश्न हो रहा था—क्या अब यहाँ मेरा आना उचित है ? आज उन्होंने विवेक के प्रकाश में अपने अंतस्तल को देखा, तो उसमें कितने ही ऐसे भाव छिपे हुए थे, जिन्हें यहाँ न रहना चाहिए था ! रोग जब तक कष्ट न देने लगे हम उसकी परवा नहीं करते। बालक की गालियाँ हँसी में उड़ जाती हैं ; लेकिन सयाने लड़के की गालियाँ कौन सहेगा ?

१४
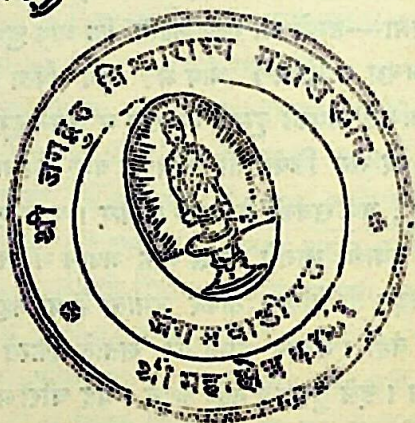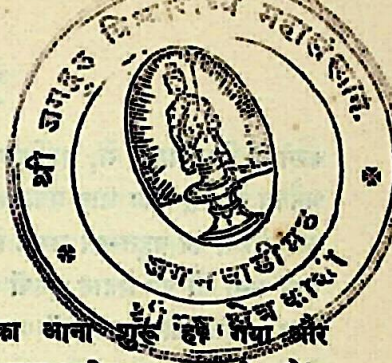
गद्दी के कई दिन पहले ही से मेहमानों का आना शुरू हो गया और तीन दिन बाक़ी ही थे कि सारा कैम्प भर गया। दीवान साहब ने कैम्प ही में बाज़ार लगवा दिया था, वहीं रसद-पानी का भी इंतज़ाम था। राजा साहब स्वयं मेहमानों की ख़ातिरदारी करते रहते थे; किंतु जमघट बहुत बड़ा था। आठों पहर हरबोंग-सा मचा रहता था।

बड़े-बड़े नरेश आये थे। कोई चुने हुए दरबारियों के साथ, कोई लाव-लश्कर लिये हुए। कहीं ऊदी वरदियों की बहार थी, तो कहीं केसरिये बाने की। कोई रत्न-जटित आभूषण पहने, कोई अँगरेजी सूट से लैस; कोई इतना विद्वान् कि विद्वानों में शिरोमणि, कोई इतना मूर्ख कि मूर्ख-मंडली की शोभा! कोई पाँच घंटे स्नान करता था और कोई सात घंटे पूजा। कोई दो बजे रात को सोकर उठता था, कोई दो बजे दिन को। रात-दिन तबले ठनकते रहते थे। कितने ही महाशय ऐसे भी थे, जिनका दिन अँगरेज़ी कैम्प का चक्कर लगाने ही में कटता था। दो-चार सज्जन प्रजा-वादी भी थे। चक्रधर और उनकी टुकड़ी के और लोग इन लोगों की सेवा-सम्मान विशेष रूप से करते थे; किंतु विद्वान् या मूर्ख, राजसत्ता के स्तम्भ या लोकसत्ता के भक्त, सभी अपने को ईश्वर का अवतार समझते थे, सभी गुरूर के नशे में मतवाले, सभी विलासिता में डूबे हुए, एक भी साधु नहीं, एक भी ऐसा नहीं, जिसमें चरित्र-बल हो, सिद्धान्त-प्रेम हो, मर्यादा-भक्ति हो।

नरेशों की सम्मान-लालसा पग-पग पर अपना जलवा दिखाती थी। वह मेरे आगे क्यों चले, उन्हें मेरे पीछे रहना चाहिए था। उनका पूर्वज हमारे पुरखाओं का कर-दाता था। बातें करने में, अभिवादन में, भोजन

करने के लिए बैठने में, महफ़िल में, पान और इलायची लेने में, यही अनैक्य और द्वेष का भाव प्रकट होता रहता था। राजा विशालसिंह और कर्मचारियों का बहुत-सा समय चिरौरी-विनती करने में कट जाता था। कभी-कभी तो इन महान् पुरुषों को शान्त करने के लिए राजा साहब को हाथ जोड़ना और उनके पैरों पर सिर रखना पड़ता था। दिल में पछताते थे कि व्यर्थ ही यह आडम्बर रचा। भगवान् किसी भाँति कुशल से यह उत्सव समाप्त कर दें, अब कान पकड़े कि ऐसी भूल कभी न होगी! किसी अनिष्ट की शंका उन्हें हरदम उद्विग्न रखती थी। मेहमानों से तो काँपते रहते थे; पर अपने आदमियों से ज़रा-ज़रा-सी बात पर बिगड़ जाते थे, जो कुछ मुँह में आता, बक डालते थे!

अगर शांति थी तो अँगरेज़ी कैम्प में। न नौकरों की तकरार थी, न बाज़ारवालों से जूती-पैज़ार थी। सबकी चाय का एक समय, डिनर का एक समय, विश्राम का एक समय, मनोरंजन का एक समय। सब एक साथ खेलते, एक साथ थिएटर देखते, एक साथ हवा खाने जाते। न बाहर गंदगी थी, न मन में मलिनता। नरेशों के कैम्प में पराधीनता का राज्य था। अँगरेज़ी कैम्प में स्वाधीनता का। स्वाधीनता सद्गुणों को जगाती है, पराधीनता दुर्गुणों को।

उधर रनिवास में भी खूब जमघट था! महिलाओं का रंग-रूप देख-कर आँखों में चकाचौंध हो जाती थी। रत्न और कन्चन ने उनकी कान्ति को और भी अलंकृत कर दिया था। कोई पारसी वेष में थी, कोई अँगरेज़ी वेष में, और कोई अपने ठेठ स्वदेशी ठाट में। युवतियाँ इधर-उधर चहकती फिरती थीं, प्रौढ़ाएँ आँखें मटका रही थीं। वासना उम्र के साथ बढ़ती जाती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आँखों के सामने था। अँगरेज़ी फैशन-वालियाँ औरों को गँवारिनें समझती थीं; और गँवारिनें उन्हें कुलटा कहती थीं। मज़ा यह था कि सभी महिलाएँ ये बातें अपनी महरियों और लौंडियों से कहने में भी संकोच न करती थीं। ऐसा मालूम होता था कि

ईश्वर ने स्त्रियों को निंदा और परिहास के लिए ही रचा है। मन और तन में कितना अन्तर हो सकता है, इसका कुछ अनुमान हो जाता था। मनोरमा को महिलाओं की सेवा-सत्कार का भार सौंपा गया था; किंतु उसे यह चरित्र देखने में विशेष आनंद आता था। उसे उनके पास बैठने में घृणा होती थी। हाँ, जब रानी रामप्रिया को बैठे देखती; तो उनके पास जा बैठती। इतने काँच के टुकड़ों में उसे वही एक रत्न नज़र आता था।

मेहमानों के आदर-सत्कार की तो यह धूम थी। और वे मजदूर, जो छाती फाड़-फाड़कर काम कर रहे थे, भूखों मरते थे। कोई उनकी ख़बर न लेता था। काम लेने को सब थे, भोजन को पूछनेवाला कोई न था। चमार पहर रात रहे घास छीलने जाते, मेहतर पहर रात से सफाई करने लगते, कहार पहर रात से पानी खींचना शुरू करते; मगर कोई उनका पुरसाँहाल न था। चपरासी बात-बात पर उन्हें गालियाँ सुनाते; क्योंकि उन्हें ख़ुद बात-बात पर डाँट पड़ती थी। चपरासी सहते थे; क्योंकि उन्हें दूसरों पर अपना गुस्सा उतारने का मौक़ा मिल जाता था। बेगारों से न सहा जाता था, इसी लिए कि उनकी आँतें जलती थीं। दिन-भर धूप में जलते, रात-भर क्षुधा की आग में। रानी के समय में बेगार इससे भी ज्यादा ली जाती थी; लेकिन रानी को स्वयं उन्हें खिलाने-पिलाने का ख़याल रहता था। बेचारे अब उन दिनों को याद कर-करके रोते थे। क्या सोचे थे, क्या हुआ? असंतोष बढ़ता जाता था। न-जाने कब सब-के-सब जान पर खेल जायें, हड़ताल कर दें, न-जाने कब बारूद में चिनगारी पड़ जाय। दशा ऐसी ही भयंकर हो गई थी। राजा साहब को नरेशों ही की ख़ातिरदारी से फ़ुरसत न मिलती थी, यह सत्य है; किन्तु राजा के लिए ऐसे बहाने शोभा नहीं देते। उसकी निगाह चारों तरफ़ दौड़नी चाहिए। अगर उसमें इतनी योग्यता नहीं, तो उसे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं।

संध्या का समय था। चारों तरफ चहल-पहल मची हुई थी। तिलक का मुहूर्त निकट आ गया था। हवन की तैयारी हो रही थी। सिपाहियों को वरदी पहनकर खड़े हो जाने की आज्ञा दे दी गई थी, कि सहसा मज़दूरों के बाड़े से रोने-चिल्लाने की आवाज़ें आने लगीं। किसी कैम्प में घास न थी और ठाकुर हरिसेवक हंटर लिये हुए चमारों को पीट रहे थे। मुंशी वज्रधर की आँखें मारे क्रोध के लाल हो रही थीं। कितना अनर्थ है! सारा दिन गुजर गया और अभी तक किसी कैम्प में घास नहीं पहुँची! चमारों का यह हौसला! ऐसे बदमाशों को गोली मार देनी चाहिए!

एक चमार बोला—मालिक, आपको अख्तियार है मार डालिए, मुदा पेट बाँधकर काम नहीं होता!

चौधरी ने हाथ बाँधकर कहा—हुजूर, घास तो रात ही को पहुँचा दी गई थी, मैं आप जाके रखवा आया था। हाँ, इस बेला अभी नहीं पहुँची। आधे आदमी तो माँदे पड़े हुए हैं। क्या करूँ?

मुन्शी—बदमाश! झूठ बोलता है, सुअर, डैमफूल, ब्लाडी, रैस्केल, शैतान का बच्चा, अभी पोलो खेल होगा, घोड़े बिना खाये कैसे दौड़ेंगे?

एक युवक ने कहा—हम लोग तो बिना खाये ८ दिन से घास दे रहे हैं, घोड़े क्या बिना खाये एक दिन भी न दौड़ेंगे? क्या हम घोड़ों से भी गये-गुजरे हैं?

चौधरी डंडा लेकर युवक को मारने दौड़ा; पर उसके पहले ही ठाकुर साहब ने झपटकर उसे चार-पाँच हंटर सड़ाप-सड़ाप लगा दिये। नंगी देह, चमड़ा कट गया, खून निकल आया।

चौधरी ने ठाकुर साहब और युवक के बीच में खड़े होकर कहा—हुजूर, क्या मार ही डालोगे? लड़का है, कुछ अनुचित मुँह से निकल जाय, तो क्षमा करनी चाहिए। राजा को दयावान होना चाहिए।

ठाकुर साहब आपे से बाहर हो रहे थे। एक चमार का यह हौसला कि उनके सामने मुँह खोल सके। वही हंटर तानकर चौधरी को जमाया।

बूढ़ा आदमी, उस पर कई दिन का भूखा, खड़ा भी मुश्किल से हो सकता था। हंटर पड़ते ही जमीन पर गिर पड़ा। बाड़े में हलचल पड़ गई। हज़ारों आदमी जमा हो गये। कितने ही चमारों ने मारे डर के खुरपी और रस्सी उठा ली थी और घास छीलने जा रहे थे। चौधरी पर हंटर पड़ते देखा, तो रस्सी-खुरपी फेंक दी और आकर चौधरी को उठाने लगे।

ठाकुर साहब ने तड़पकर कहा—तुम सब अभी एक घंटे में घास लाओ, नहीं तो एक-एक की हड्डी तोड़ दी जायगी।

एक चमार बोला—हम यहाँ काम करने आये हैं, जान देने नहीं आये हैं। एक तो भूखों मरें, दूसरे लात खायें। हमारा जनम इसी लिए थोड़े ही हुआ है? जिससे चाहे काम कराइए, हम घर जाते हैं!

ठाकुर साहब फिर हंटर फटकारकर बोले—कहाँ भागकर जाओगे? गाँव में घुसने भी न पाओगे। क्या सरकारी काम को हँसी-खेल समझ लिया है?

चमार—सरकार अपना गाँव ले लें, हम छोड़कर चले जायेंगे।

ठाकुर—खेत छीन लिये जायँगे। घर गिरा दिये जायेंगे। इस फेर में मत रहना!

चमार—आपको अख्तियार है, जो चाहें करें। हमें अब इस राज्य में नहीं रहना है। कुछ हाथ-पाँव थोड़े ही कटाये बैठे हैं। अगर कहीं ठिकाना न लगेगा, तो मिरिच-डमरा तो है ही।

मुंशी—जिसने बाड़े के बाहर क़दम रक्खा, उसकी शामत आई। तोप पर उड़ा दूँगा।

लेकिन चमारों के सिर भूत सवार था। बूढ़े चौधरी को उठाकर सब-के-सब एक गोल में बाड़े के द्वार की ओर चले। सिपाहियों की क़वायद हो रही थी। ठाकुर साहब ने खबर भेजी और बात-की-बात में उन सबों ने आकर बाड़े का द्वार रोक लिया। सभी कैम्पों में खलबली पड़ गई। तरह-तरह की अफवाहें उड़ने लगीं। किसी ने कहा—चमारों ने दीवान

साहब को मार डाला। किसी ने उड़ाया—सिपाहियों ने गोली चला दी और २५ चमार जान से मारे गये ? चारों तरफ से दौड़-दौड़कर लोग तमाशा देखने आने लगे। बाड़े का द्वार भेड़ों के बाड़े का द्वार बना हुआ था। भीतर भेड़ें थीं घबराई हुई, बाहर कुत्ते थे झल्लाये हुए। भेड़ें लड़ना नहीं जानतीं ; पर प्राण-भय से भागना जानती हैं। वे उसी रास्ते से निकलेंगी, जो आँखों के सामने है। उस पर कुत्ते हों या शेर, घबराहट में भेड़ों को कुछ नहीं सूझता। सिपाहियों को अपनी वीरता दिखाने का ऐसा अवसर क्यों कभी मिला था। निहत्थों पर हथियार चलाने से आसान और क्या है। सभी संगीने चढ़ाये तैयार थे कि हुक्म मिले और अपनी निशानेबाज़ी के जौहर दिखायें। राजा साहब अपने खेमे में तिलक के भड़कीले-सजीले वस्त्र धारण कर रहे थे। एक आदमी उनकी पाग सँवार रहा था। इन वस्त्रों में उनकी प्रतिभा और भी चमक उठी थी। वस्त्रों में इतनी तेज बढ़ानेवाली शक्ति है, इसकी उन्हें कभी कल्पना भी न थी। यह ख़बर सुनी, तो तिलमिला गये। वह अपनी समझ में प्रजा के सच्चे भक्त थे, उन पर कोई अत्याचार न होने देते थे, उनको लूटना नहीं, उनका पालन करना चाहते थे। जब वह प्रजा पर इतना प्राण देते थे, तो क्या प्रजा का धर्म न था कि वह भी उनपर प्राण देती ; और फिर इस शुभ अवसर पर ! जो लोग इतने कृतघ्न हैं, उन पर किसी तरह की रिआयत करना व्यर्थ है। दयालुता दो प्रकार की होती है। एक में नम्रता होती है, दूसरी में आत्म-प्रशंसा। राजा साहब की दयालुता इसी प्रकार की थी। उन्हें यश की बड़ी इच्छा थी ; पर यहाँ इस शुभ अवसर पर इतने राजाओं-रईसों के सामने, ये दुष्ट लोग उनका अपमान करने पर तुले हुए थे। यह उन पाजियों की घोर नीचता थी और इसका जवाब इसके सिवा और कुछ नहीं था कि उन्हें खूब कुचल दिया जाय। सच है, सीधे का मुँह कुत्ता चाटता है। मैं जितना ही इन लोगों को संतुष्ट रखना चाहता हूँ, उतने ही ये लोग शेर होते जाते हैं। चलकर अभी उन्हें इसका मज़ा

चखाता हूँ। क्रोध से बावले होकर वह अपनी बन्दूक लिए हुए खेमे से निकल आये और कई आदमियों के साथ बाड़े के द्वार पर जा पहुँचे।

चौधरी इतनी देर में झाड़-पोंछकर उठ बैठा था। राजा साहब को देखते ही रोकर बोला—दुहाई है महाराज की! सरकार बड़ा अँधेर हो रहा है। गरीब लोग मारे जाते हैं।

राजा—तुम सब पहले बाड़े के द्वार से हट जाओ, फिर जो कुछ कहना है, मुझसे कहो। अगर किसी ने बाड़े के बाहर पाँव रक्खा, तो जान से मारा जायगा। दंगा किया, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं।

चौधरी—सरकार ने हमको काम करने के लिए बुलाया है कि हमारी जान लेने के लिए?

राजा—काम न करोगे, तो जान ली जायगी।

चौधरी—काम तो आपका करें, खाने किसके घर जायें?

राजा—क्या बेहूदा बातें करता है, चुप रह। तुम सब-के-सब मुझे बदनाम करना चाहते हो। हमेशा से लात खाते चले आये हो और वही तुम्हें अच्छा लगता है। मैंने तुम्हारे साथ भलमनसी का बरताव करना चाहा था; लेकिन मालूम हो गया कि लातों के देवता बातों से नहीं मानते। तुम नीच हो और नीच लातों के बगैर सीधा नहीं होता। तुम्हारी यही मरज़ी है, तो यही सही।

चौधरी—जब लात खाते थे, तब खाते थे। अब न खायेंगे।

राजा—क्यों? अब कौन से सुरखाब के पर लग गये हैं?

चौधरी—वह समय ही लद गया। क्या अब हमारी पीठ पर कोई है नहीं कि मार खाते रहें और मुँह न खोलें। अब तो सेवा-सम्मती हमारी पीठ पर है। क्या वह कुछ न्याव न करेगी। हमारी राय से मेम्बर चुने जाते हैं; क्या कोई हमारी फरियाद न सुनेगा।

राजा—अच्छा! तो तुझे सेवा-समितिवालों का घमंड है?

चौधरी—हई है, वह हमारी रक्षा करती है, तो क्यों न उसका घमंड करें।

राजा साहब ओठ चबाने लगे—तो यह समितिवालों की कारस्तानी है। चक्रधर मेरे साथ यह कपट-चाल चल रहे हैं, लाला चक्रधर! जिसका बाप मेरी खुशामद की रोटियाँ खाता है। जिसे मित्र समझता था, वही आस्तीन का साँप निकला। देखता हूँ, वह मेरा क्या कर लेता है। एक रुक्का बड़े साहब के नाम लिख दूँ, तो बचा के होश ठीक हो जायँ। इन मूर्खों के सिर से यह घमण्ड निकाल ही देना चाहिए। यह ज़हरीले कीड़े फैल गये, तो आफ़त मचा देंगे।

चौधरी तो ये बातें कर रहा था, उधर बाड़े में घोर कोलाहल मचा हुआ था। सरकारी आदमियों की सूरत देखकर जिनके प्राण-पखेरू उड़ जाते थे, वे इस समय निःशंक और निर्भय बन्दूकों के सामने मरने को तैयार खड़े थे। द्वार से निकलने का रास्ता न पाकर कुछ आदमियों ने बाड़े की लकड़ियाँ और रस्सियाँ काट डालीं और हजारों आदमी उधर से भड़भड़ाकर निकल पड़े, मानों कोई उमड़ी हुई नदी बाँध तोड़कर निकल पड़े। उसी वक्त एक ओर से सशस्त्र पुलिस के जवान और दूसरी ओर से चक्रधर, समिति के कई युवकों के साथ आते हुए दिखाई दिये। चक्रधर ने निश्चय कर लिया था कि राजा साहब के आदमियों को उनके हाल पर छोड़ देंगे; लेकिन यहाँ की ख़बरें सुन-सुनकर उनके कलेजे पर साँप-सा लोटता रहता था। ऐसे नाज़ुक मौके पर दूर खड़े होकर तमाशा देखना उन्हें लज्जाजनक मालूम होता था। अब तक तो वह दूर ही से आदमियों को दिलासा देते रहे; लेकिन आज की ख़बरों ने उन्हें यहाँ आने के लिए मजबूर कर दिया।

उन्हें देखते ही हड़तालियों में जान-सी पड़ गई, जैसे अबोध बालक अपनी माता को देखकर शेर हो जाय। हज़ारों आदमियों ने उन्हें घेर लिया—'भैया आ गये! भैया आ गये!' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

चक्रधर को यहाँ की स्थिति उससे कहीं भयावह जान पड़ी, जितना

उन्होंने समझा था। राजा साहब को यह ज़िद कि कोई आदमी यहाँ से जाने न पाये। आदमियों को यह ज़िद कि अब हम यहाँ एक क्षण भी न रहेंगे। सशस्त्र पुलिस सामने तैयार। सबसे बड़ी बात यह कि मुन्शी वज्र-धर खुद एक बन्दूक लिये पैतरे बदल रहे थे, मानों सारे आदमियों को कच्चा ही खा जायेंगे।

चक्रधर ने ऊँची आवाज से कहा—क्यों भाइयो, तुम मुझे अपना मित्र समझते हो या शत्रु ?

चौधरी—भैया, यह भी कोई पूछने की बात है। तुम हमारे मालिक हो, सामी हो, सहाय हो। क्या आज तुम्हें पहली ही बार देखा है !

चक्रधर—तो तुम्हें विश्वास है कि मैं जो कुछ कहूँ और करूँगा, वह तुम्हारे ही भले के लिए होगा ?

चौधरी—मालिक, तुम्हारे ऊपर विश्वास न करेंगे, तो और किस पर करेंगे ? लेकिन इतना समझ लीजिए हम और सब कर सकते हैं, यहाँ नहीं रह सकते। यह देखिए (पीठ दिखाकर), कोड़े खाकर यहाँ किसी तरह न रहूँगा।

चक्रधर इस भीड़ से निकलकर सीधे राजा साहब के पास आये और बोले—महाराज, मैं आपसे कुछ विनय करना चाहता हूँ।

राजा साहब ने त्योरियाँ बदलकर कहा—मैं इस वक्त कुछ नहीं सुनना चाहता।

चक्रधर—आप कुछ न सुनेंगे, तो पछतायेंगे।

राजा—मैं इन सबों को गोली मार दूँगा।

चक्रधर—दीन प्रजा के रक्त से राज-तिलक लगाना किसी राजा के लिए मंगलकारी नहीं हो सकता। प्रजा का आशीर्वाद ही राज्य की सबसे बड़ी शक्ति है। मैं आपका सेवक हूँ, आपका शुभचिंतक हूँ, इसी लिए आपकी सेवा में आया हूँ। मुझे मालूम है कि आपके हृदय में कितनी दया है और प्रजा से आपको कितना स्नेह है। यह सारा तूफ़ान अयोग्य

कर्मचारियों का खड़ा किया हुआ है। उन्हीं के कारण आज आप उन लोगों के रक्त के प्यासे बन गये हैं, जो आपकी दया और कृपा के प्यासे हैं। ये सभी आदमी इस वक्त झल्लाये हुए हैं। गोली चलाकर आप उनके प्राण ले सकते हैं; लेकिन उनका रक्त केवल इसी बाड़े में न सूखेगा, यह सारा विस्तृत कैम्प उस रक्त से सिंच जायगा; उसकी लहरों के झोंके से यह विशाल मंडप उखड़ जायगा और यह आकाश में फहराती हुई ध्वजा भूमि पर गिर पड़ेगी। अभिषेक का दिन दान और दया का है। रक्तपात का नहीं। इस शुभ अवसर पर एक हत्या भी हुई, तो वह सहस्रों रूप धारण करके ऐसे भयंकर अभिनय दिखायेगी कि सारी रियासत में हाहाकार मच जायगा।

राजा साहब अपनी टेक पर अड़ना जानते थे; किन्तु इस समय उनका दिल काँप उठा। वही प्राणी, जो दिन-भर गालियाँ बकता है, प्रातःकाल कोई मिथ्या शब्द मुँह से नहीं निकलने देता। वही दूकानदार, जो दिन-भर टेनी मारता है, प्रातःकाल ग्राहक से मोल-जोल तक नहीं करता। शुभ मुहूर्त पर हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक हो जाती हैं। राजा साहब कुछ नरम होकर बोले—मैं खुद नहीं चाहता कि मेरी तरफ़ से किसी पर अत्याचार किया जाय; लेकिन इसके साथ ही यह भी नहीं चाहता कि प्रजा मेरे सिर चढ़ जाय। इन लोगों को अगर कोई शिकायत थी, तो इन्हें आकर मुझसे कहना चाहिए था। अगर मैं न सुनता, तो इन्हें अख्तियार था, जो चाहते करते; पर मुझसे न कहकर इन लोगों ने हेकड़ी करनी शुरू की, रात घोड़ों को घास नहीं दी और इस वक्त भागे जाते हैं। मैं यह घोर अपमान नहीं सह सकता।

चक्रधर—आपने इन लोगों को अपने पास आने का अवसर कब दिया? आपके द्वारपाल इन्हें दूर ही से भगा देते थे। आपको मालूम है कि इन ग़रीबों को एक सप्ताह से कुछ भोजन नहीं मिला?

राजा—एक सप्ताह से भोजन नहीं मिला! यह आप क्या कहते हैं।

मैंने सख्त ताक़ीद कर दी थी कि हरएक मज़दूर को इच्छा-पूर्ण भोजन दिया जाय। क्यों दीवान साहब, क्या बात है?

हरिसेवक—धर्मावतार, आप इन महाशय की बातों में न आइए। यह सारी आग इन्हीं की लगाई हुई है। प्रजा को बहकाना और भड़काना इन लोगों ने अपना धर्म बना रक्खा है। यहाँ से हर एक आदमी को दोनों वक्त भोजन दिया जाता था।

मुंशी—दीनबंधु, यह लड़का बिलकुल नासमझ है। दूसरों ने जो कुछ कह दिया, उसे सच समझ लेता है। तुमसे किसने कहा बेटा कि आदमियों को भोजन नहीं मिलता था। भण्डारी तो मैं हूँ, मेरे सामने जिस तौली जाती थी। मैं पूछ-पूछ देता था। बरातियों की भी कोई इतनी ख़ातिर न करता होगा। इतनी-सी बात भी न जानता, तो तहसीलदारी क्या ख़ाक करता?

राजा—मैं इसकी पूछ-ताछ करूँगा।

हरिसेवक—हुजूर, इन्हीं लोगों ने आदमियों को उभारकर सरकश बना दिया है। यह लोग सबसे कहते फिरते हैं कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को बराबर बनाया है, किसी को तुम्हारे ऊपर राज्य करने का अधिकार नहीं है, किसी को तुमसे बेगार लेने का अधिकार नहीं है। प्रजा ऐसी बातें सुन सुनकर शेर हो गई है।

राजा—इन बातों में तो मुझे कोई बुराई नहीं नज़र आती। मैं ख़ुद प्रजा से यही बातें कहना चाहता हूँ।

हरिसेवक—हुजूर, यह लोग कहते हैं, ज़मीन के मालिक तुम हो। जो ज़मीन से बीज उगाये, वही उसका मालिक है। राजा तो तुम्हारा गुलाम है।

राजा—बहुत ठीक कहते हैं। इसमें मुझे तो बिगड़ने की कोई बात नहीं मालूम होती। वास्तव में मैं प्रजा का गुलाम हूँ; बल्कि उसके गुलाम का गुलाम हूँ।

हरिसेवक—हुजूर, मैं इन लोगों की बातें कहाँ तक कहूँ। कहते हैं राजा को इतने बड़े महल में रहने का कोई हक़ नहीं। उसका संसार में कोई काम ही नहीं।

राजा—बहुत ही ठीक कहते हैं। आखिर मैं पड़े-पड़े खाने के सिवा और क्या करता हूँ?

चक्रधर ने झुँझलाकर कहा—ठाकुर साहब, आप मेरे स्वामी हैं; लेकिन क्षमा कीजिए; आप मेरे साथ बड़ा अन्याय कर रहे हैं। मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं; लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक़ नहीं; क्योंकि मैं जानता हूँ, जिस दिन राजाओं की ज़रूरत न रहेगी, उसी दिन उनका अन्त हो जायगा। देश में वही राज-व्यवस्था होती है, जिसका वह अधिकारी होता है।

राजा—मैं तो बुरा नहीं मानता, ज़रा भी नहीं। आपने कोई ऐसी बात नहीं कही, जो और लोग न कहते हों। वास्तव में जो राजा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करे, उसका जीना व्यर्थ है।

चक्रधर को मालूम हुआ कि राजा साहब मुझे बना रहे हैं। यह अवसर मज़ाक का न था। हज़ारों आदमी साँस बंद किये सुन रहे थे कि वह लोग क्या फैसला करते हैं और यहाँ इन लोगों को मज़ाक की सूझ रही है। गरम होकर बोले—अगर आपके यह भाव सच्चे होते, तो प्रजा पर यह विपत्ति न आती? राजाओं की यह पुरानी नीति है कि प्रजा का मन मीठी-मीठी बातों से भरें और अपने कर्मचारियों को मनमाने अत्याचार करने दें। वह राजा, जिसके कानों तक प्रजा की पुकार न पहुँचने पावे, आदर्श नहीं कहा जा सकता।

राजा—किसी तरह नहीं। उसे गोली मार देनी चाहिए। जीता चुनवा देना चाहिए। प्रजा का गुलाम है कि दिल्लगी है?

चक्रधर यह व्यंग्य न सह सके। उनकी स्वाभाविक शांति ने उनका साथ छोड़ दिया। चेहरा तमतमा उठा। बोले—जिस आदर्श के सामने

आपको सिर झुकाना चाहिए, उसका मज़ाक उड़ाना आपको शोभा नहीं देता। समाज की यह व्यवस्था अब थोड़े दिनों की मेहमान है और वह समय आ रहा है, जब या तो राजा प्रजा का सेवक होगा, या होगा ही नहीं। मैंने कभी यह अनुमान न किया था कि आपके वचन और कर्म में इतनी जल्द इतना बड़ा भेद हो जायगा।

क्रोध ने अब अपना यथार्थ रूप धारण किया। राजा साहब अभी तक तो व्यंग्यों से चक्रधर को परास्त करना चाहते थे; लेकिन जब चक्रधर के वार मर्मस्थल पर पड़ने लगे, तो उन्हें भी अपने शस्त्र निकालने पड़े। डपटकर बोले—अच्छा बाबूजी, अब अपनी ज़बान बन्द करो। मैं जितनी ही तरह देता जाता हूँ, उतने ही आप सिर पर चढ़े जाते हैं। मित्रता के नाते जितना सह सकता था, उतना सह चुका। अब नहीं सह सकता। मैं प्रजा का गुलाम नहीं हूँ, प्रजा मेरे पैरों की धूल है। मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ, वैसा सलूक करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का हक़ नहीं है। आप अब कृपा करके यहाँ से चले जाइए और फिर कभी मेरी रियासत में क़दम न रखिएगा; वरना शायद आपको पछताना पड़े। जाइए!

मुंशी वज्रधर की छाती धकधक करने लगी। चक्रधर को हाथों से पीछे हटाकर बोले—हुजूर की कृपा-दृष्टि ने इसे शोख़ कर दिया है। अभी तक बड़े आदमियों की सोहबत में बैठने का मौक़ा तो मिला नहीं। बात करने की तमीज़ कहाँ से आये।

लेकिन चक्रधर भी जवान आदमी थे, उस पर सिद्धान्तों के पक्के, आदर्श पर मिटने वाले, अधिकार और प्रभुत्व के जानी दुश्मन। वह राजा साहब के उद्दंड शब्दों से ज़रा भी भयभीत न हुए। यह उस सिंह की गरज थी, जिसके दाँत और पंजे टूट गये हों। यह उस रस्सी की ऐंठ थी, जो जल गई हो। तने हुए सामने आये और बोले—आपको अपने मुख से ये शब्द निकालते हुए शर्म आनी चाहिए थी। अगर संपत्ति से

इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज़ संसार में नहीं। आपके भाव कितने पवित्र थे! कितने ऊँचे। आप प्रजा पर अपने को अर्पण कर देना चाहते थे। आप कहते थे, मैं प्रजा को अपने पास बेरोक-टोक आने दूँगा, उनके लिए मेरे द्वार हरदम खुले रहेंगे। आप कहते थे, मेरे कर्मचारी उनकी ओर टेढ़ी निगाह से भी देखेंगे, तो उनकी शामत आ जायगी। वह सारी बातें क्या आपको भूल गईं और इतनी जल्द! अभी तो बहुत दिन नहीं गुज़रे। अब आप कहते हैं, प्रजा मेरे पैरों की धूल है! ईश्वर आपको सुबुद्धि दें।

राजा साहब कहाँ तो क्रोध से उन्मत्त हो रहे थे, कहाँ यह लगती हुई बातें सुनकर रो पड़े। क्रोध निरुत्तर होकर पानी हो जाती है। या यों कहिए कि आँसू अव्यक्त भावों ही का रूप है। ग्लानि थी, या पश्चात्ताप, अपनी दुर्बलता का दुःख था या विवशता का; या इस बात का रंज था कि यह दुष्ट मेरा इतना अपमान कर रहा है और मैं कुछ नहीं कर सकता—इसका निर्णय करना कठिन है।

मगर एक ही क्षण में राजा साहब सचेत हो गये। प्रभुता ने आँसुओं को दबा दिया। अकड़कर बोले—मैं कहता हूँ, यहाँ से चले जाओ!

हरिसेवक—आपको शर्म नहीं आती कि किससे ऐसी बातें कर रहे हैं।

वज्रधर—बेटा, क्यों मेरे मुँह में कालिख लगा रहे हो?

चक्रधर—जब तक आप इन आदमियों को यहाँ से जाने न देंगे, मैं नहीं जा सकता।

राजा—मेरे आदमियों से तुम्हें कोई सरोकार नहीं है। उनमें से अगर एक भी हिला, तो उसकी लाश ज़मीन पर होगी।

चक्रधर—तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि उन्हें यहाँ से हटा ले जाऊँ?

यह कहकर चक्रधर मज़दूरों की ओर चले। राजा साहब जानते थे कि

इनका इशारा पाते ही सारे मज़दूर हवा हो जायेंगे, फिर सशस्त्र सेना भी उन्हें न रोक सकेगी। तिलमिलाकर बंदूक लिये हुए चक्रधर के पीछे दौड़े और ऐसी ज़ोर से उन पर कुंदा चलाया कि सिर पर लगता तो शायद वह वहीं ठंडे हो जाते; मगर कुशल हुई। कुन्दा पीठ में लगा और उसके झोंके से चक्रधर कई हाथ पर जा गिरे। उनका जमीन पर गिरना था कि पाँच हज़ार आदमी बाड़े को तोड़कर, सशस्त्र सिपाहियों के घेरे को चीरते, बाहर निकल आये और नरेशों के कैम्प की ओर चले। रास्ते में जो कर्मचारी मिला उसे पीटा। मालूम होता था कैम्प में लूट मच गई है। दूकानदार अपनी दूकानें समेटने लगे, दर्शक अपनी धोतियाँ सँभाल-कर भागने लगे। चारों तरफ़ भगदड़ पड़ गई। जितने बेफ़िक्र, शोहदे, लुच्चे तमाशा देखने आये थे, वे सब उपद्रवकारियों में मिल गये। यहाँ तक कि नरेशों के कैम्प तक पहुँचते-पहुँचते उनकी संख्या दूनी हो गई।

राजा-रईस अपनी वासनाओं के सिवा और किसी के गुलाम नहीं होते। वक्त की गुलामी भी उन्हें पसन्द नहीं। वे किसी नियमको अपनी स्वेच्छा में बाधा नहीं डालने देते। फिर उनको इसकी क्या परवा कि सुबह है या शाम। कोई मीठी नींद के मज़े लेता था, कोई गाना सुनता था, कोई स्नान-ध्यान में मग्न था और कुछ लोग तिलक-मंडप में जाने की तैयारियाँ कर रहे थे। कहीं भंग घुटती थी, कहीं कवित्त-चरचा हो रही थी और कहीं नाच हो रहा था। कोई नाश्ता कर रहा था और कोई लेटा हुआ नौकरों से चप्पी करा रहा था। उत्तरदायित्व-हीन स्वतंत्रता अपनी विविध लीलाएँ दिखा रही थी। अगर उपद्रवी इस कैम्प में पहुँच जाते, तो महाअनर्थ हो जाता। न-जाने कितने राज-वंशों का अंत हो जाता; किंतु राजाओं की रक्षा उनका इक़बाल करता है। अँगरेज़ी कैम्प में १०-१२ आदमी अभी शिकार खेलकर लौटे थे। उन्होंने जो यह हंगामा सुना, तो बाहर निकल आये और जनता पर अन्धाधुन्ध बंदूकें छोड़ने लगे। पहले तो उत्तेजित जनता ने बन्दूकों की परवा न की, उसे अपनी संख्या का बल

था। लोग सोचते थे, मरते-मरते भी हम में से इतने आदमी कैम्प में पहुँच जायँगे कि नरेशों को कहीं भागने की जगह न मिलेगी। हम सारे प्रान्त को इन अत्याचारियों से मुक्त कर देंगे। ये सब भी तो अपनी प्रजा पर ऐसा ही अत्याचार करते होंगे।

जनता उत्तेजित होकर आदर्शवादी हो जाती है।

गोलियों की पहली बाढ़ आई। कई आदमी गिर गये।

चौधरी—देखो भाई, घबराना नहीं, जो गिरता है उसे गिरने दो, आज ही तो दिल के हौसले निकले हैं। जय हनुमानजी की!

एक मज़दूर—बढ़े आओ, बढ़े आओ, अब मार लिया है। आज ही तो...

उसके मुँह से पूरी बात न निकलने पाई थी कि गोलियों की दूसरी बाढ़ आई और कई आदमियों के साथ दोनों नेताओं का काम तमाम कर गई। एक क्षण के लिए सबके पैर रुक गये। जो जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया। समस्या थी कि आगे जायँ या पीछे? सहसा एक युवक ने कहा—यारो, रुक क्यों गये? सामने पहुँचकर हिम्मत छोड़ देते हो! बढ़े चलो। जय दुर्गा माई की!

दूसरा बोला—आज जो मरेगा, बैकुंठ में जायगा। बोलो, हनुमानजी की जय!......

उसे भी गोली लगी और चक्कर खाकर गिर पड़ा।

इतने में दीवान साहब बन्दूक लिये पीछे से दौड़ते हुए आ पहुँचे। गुरुसेवक भी उनके साथ थे। दोनों एक दूसरे रास्ते से कैम्प के द्वार पर पहुँच गये थे।

हरिसेवक—तुम मेरे पीछे खड़े हो जाओ और यहीं से निशाना लगाओ।

गुरुसेवक—अभी फ़ैर न कीजिए। मैं ज़रा इन्हें समझा लूँ। समझाने से काम निकल जाय, तो क्यों रक्त बहाया जाय?

हरिसेवक—अब समझाने का मौक़ा नहीं है। अभी दम-के-दम में सब-के-सब अन्दर घुस आवेंगे, तो प्रलय हो जायगा।

किन्तु गुरुसेवक के हृदय में दया थी। पिता की बात न मानकर वह सामने आ गये और ललकारकर बोले—तुम लोग यहाँ क्यों आ रहे हो। यह न समझो कि तुम कैम्प के द्वार पर पहुँच गये हो। यहाँ तक आते-आते तुम आधे हो जाओगे।

एक मजदूर—कोई चिंता नहीं। मर-मरकर जीने से एक बार मर जाना अच्छा है। मारो, आगे बढ़ो, क्या हिम्मत छोड़े देते हो?

गुरुसेवक—आगे एक क़दम भी रक्खा और गिरे! यह समझ लो कि तुम्हारे आगे मौत खड़ी है।

मज़दूर—हम आज मरने के लिए ही कमर बाँधकर......

अँगरेज़ी कैम्प से फिर गोलियों की बाढ़ आई और कई आदमियों के साथ यह आदमी भी गिर गया, और उसके गिरते ही सारे समूह में खलबली पड़ गई। अभी तक इन लोगों को न मालूम था कि गोलियाँ किधर से आ रही हैं। समझ रहे थे कि इसी कैम्प से आती होंगी। अब शिकारी लोग बहुत बढ़ आये थे और साफ़ नज़र आ रहे थे।

एक चमार बोला—साहब लोग गोली चला रहे हैं।

दूसरा—गोरों की फौज है, फौज।

तीसरा—चलो उन्हीं सबों को पथें। मुर्गी-अंडे खा-खाकर खूब मोटाये हुए हैं।

चौथा—यही सब तो राजाओं को बिगाड़े हुए हैं। दो शिकार भी मिल गये, तो मेहनत सफल हो जायगी।

लेकिन कायरों की हिम्मतें टूटने लगी थीं। लोग चुपके-चुपके दायें-बायें से सरकने लगे थे। यहाँ प्राण देने से बाज़ार में लूट मचाना कहीं आसान था। देखते-देखते पीछे के सभी आदमी खिसक गये। केवल आगे के लोग खड़े रह गये थे। उन्हें क्या ख़बर थी कि पीछे क्या हो रहा है। वे अँगरेज़ी कैम्प की तरफ़ मुड़े और एक ही हल्ले में अँगरेज़ी कैम्प के फाटक तक आ पहुँचे। अब तो यहाँ भी भगदड़ पड़ी। एक ओर नरेशों

के कैम्प से मोटरें निकल–निकलकर पीछे की ओर से दौड़ी चली जा रही थीं। इधर अँगरेज़ी कैम्प से भी मोटरों का निकलना शुरू हुआ। एक क्षण में सारी लेडियाँ ग़ायब हो गईं। मर्दों में भी आधे से ज्यादा निकल भागे। केवल वही लोग रह गये, जो मोरचे पर खड़े थे। और जिनके लिए भागना मौत के मुँह में जाना था; मगर उन सबों के हाथों में मार्टिन और माज़र के यंत्र थे। इधर ईश्वर की दी हुई लाठियाँ थीं या ज़मीन से चुने हुए पत्थर। यद्यपि हड़तालियों का दल एक ही हल्ले में इस फाटक तक पहुँच गया; पर वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कोई २० आदमी गिर पड़े। अगर इस वक्त ५० गज़ के अन्तर पर भी इतने आदमी गिरे होते, तो शायद सबके पैर उखड़ जाते; लेकिन यह विश्वास कि अब मार लिया है, उनके हौसले बढ़ाये हुए था। विजय के सम्मुख पहुँच कर कायर भी वीर हो जाते हैं। घर के समीप पहुँचकर थके हुए पथिक के पैरों में भी पर लग जाते हैं।

इन मनुष्यों के मुख पर इस समय हिंसा झलक रही थी। चेहरे विकृत हो गये थे। जिसने इन्हें इस दशा में न देखा हो, वह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये वही दीनता के पुतले हैं, जिन्हें एक काठ की पुतली भी जिस नाच चाहे नचा सकती थी। अँगरेज़ योद्धा अभी तक तो मोरचे पर खड़े बन्दूकें छोड़ रहे थे; लेकिन इस भयंकर दल को सामने देखकर उनके औसान जाते रहे। दो-चार तो भागे, दो-तीन मूर्च्छा खाकर गिर पड़े। केवल पाँच फ़ौजी अफ़सर अपनी जगह पर डटे रहे। उन्हें बचने की अब कोई आशा न थी और इसी निराशा ने उन्हें अदम्य साहस प्रदान कर दिया था। वे जान पर खेले हुए थे। क्षण-क्षण पर बन्दूकें चलाते थे, मानों बन्दूक चलाने की कलें हों। जो आगे बढ़ता था, उनके अचूक निशाने का शिकार हो जाता था। इधर से ढेले और पत्थरों की वर्षा हो रही थी, जो फाटक तक मुश्किल से पहुँचती थी। अब सामने पहुँच कर लोगों ने आगे बढ़कर पत्थर चलाने शुरू किए। यहाँ तक कि

दो अँगरेज़ चोट खाकर गिर पड़े। एक का सिर फट गया था, दूसरे की बाँह टूट गई थी। केवल तीन आदमी रह गये, और वही इन आदमियों को रोके रखने के लिए काफ़ी थे; लेकिन उनके पास भी अब कारतूस न रह गये थे। कठिन समस्या थी। प्राण बचने की कोई आशा नहीं। भागने की कल्पना ही से उन्हें घृणा होती है। जिन मनुष्यों को हमेशा पैरों से ठुकराया किये, उन्हें कुली कहते और कुत्तों से भी नीच समझते रहे; उनके सामने पीठ दिखाना ऐसा अपमान था, जिसे वे किसी तरह न सह सकते थे। इधर हड़तालियों के हौसले बढ़ते जाते थे। शिकार अब बेदम होकर गिरा चाहता था। हिंसा के मुँह से लार टपक रही थी।

एक आदमी ने कहा—हाँ बहादुरो, बस एक हल्ले की और कसर है, घुस पड़ो। अब कहाँ जाते हैं।

दूसरा बोला—फाँसी तो पड़ेंगे ही, अब इन्हें क्यों छोड़ें!

सहसा एक आदमी पीछे से भीड़ को चीरता, बेतहाशा दौड़ता हुआ आकर बोला—बस, बस, क्या करते हो! ईश्वर के लिए हाथ रोको! क्या ग़ज़ब करते हो?

लोगों ने चकित होकर देखा, तो चक्रधर थे। सैकड़ों आदमी उन्मत्त होकर उनकी ओर दौड़े और उन्हें घेर लिया। जय-जयकार की ध्वनि से आकाश गूँजने लगा।

एक मज़दूर ने कहा—हमें अपने एक-सौ भाइयों के खून का बदला लेना है।

चक्रधर ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा—कोई एक क़दम आगे न बढ़े। ख़बरदार!

मज़दूर—यारो, बस एक हल्ला और!

चक्रधर—हम फिर कहते हैं अब एक क़दम भी आगे न उठे।

ज़िले के मैजिस्ट्रेट मिस्टर जिम ने कहा—बाबू साहब, खुदा के लिए हमें बचाइए।

फ़ौज के कप्तान मिस्टर सिम बोले—हम हमेशा आपको दुआ देगा। हम सरकार से आपका सिफ़ारिश करेगा।

एक मज़दूर—हमारे एक सौ जवान भून डाले, तब आप कहाँ थे? यारो, क्या खड़े हो, बाबूजी का क्या बिगड़ा है। मारे तो हम गये हैं। मारो बढ़के!

चक्रधर ने उपद्रवियों के सामने खड़े होकर कहा—अगर तुम्हें खून की ऐसी ही प्यास है, तो मैं हाज़िर हूँ, मेरी लाश को पैरों से कुचलकर तभी तुम आगे बढ़ सकते हो।

मज़दूर—भैया हट जाओ, हमने बहुत मार खाई है, बहुत सताये गये हैं, इस वक्त दिल की आग बुझा लेने दो!

चक्रधर—मेरा लहू इस ज्वाला को शांत करने के लिए काफ़ी नहीं है?

मज़दूर—भैया, तुम सांत-सांत बका करते हो; लेकिन उसका फल क्या होता है। हमें जो चाहता है मारता है, जो चाहता है पीसता है, तो क्या हमीं सांत बैठे रहें। सांत रहने से तो और भी हमारी दुरगत होती है। हमें सांत रहना मत सिखाओ। हमें मरना सिखाओ, तभी हमारा उद्धार कर सकोगे।

चक्रधर—अगर अपनी आत्मा की हत्या करके हमारा उद्धार भी होता हो, तो हम आत्मा की हत्या न करेंगे। संसार को मनुष्य ने नहीं बनाया है। ईश्वर ने बनाया है। भगवान् ने उद्धार के जो उपाय बताये हैं, उनसे काम लो और ईश्वर पर भरोसा रक्खो।

मज़दूर—हमारी फाँसी तो हो ही जायगी। तुम माफ़ी तो न दिला सकोगे।

मिस्टर जिम—हम किसी को सज़ा नहीं देंगे।

मिस्टर सिम—हम सबको इनाम दिलायेगा।

चक्रधर—इनाम मिले या फाँसी, इसकी क्या परवा। अभी तक

तुम्हारा दामन खून के छींटों से पाक है। उसे पाक ही रक्खो। ईश्वर की निगाह में तुम निर्दोष हो! अब अपने को कलंकित मत करो, जाओ।

मज़दूर—अपने भाइयों का खून कभी हमारे सिर से न उतरेगा; लेकिन तुम्हारी यही मरज़ी है, तो लौट जाते हैं। आख़िर फाँसी पर तो चढ़ना ही है।

चक्रधर कुन्दे की चोट से कुछ देर तक तो अचेत पड़े रहे। जब होश आया, तो देखा, दाहनी ओर हड़तालियों का एक दल अँगरेज़ी कैम्प के द्वार पर खड़ा है, बाईं ओर बाजार लुट रहा है और सशस्त्र पुलिस के सिपाही हड़तालियों के साथ मिले हुए दूकानें लूट रहे हैं और विशाल तिलक-मंडप से अग्नि की ज्वाला उठ रही है। वह उठे और अँगरेज़ी कैम्प की ओर भागे। वहीं उनके पहुँचने की सबसे ज्यादा ज़रूरत थी। बाजार में रक्तपात का भय न था। रक्षक स्वयं लुटेरे बने हुए थे। उन्हें लूट से कहाँ फ़ुरसत थी कि हड़तालियों का शिकार करते। अँगरेज़ी कैम्प में ही स्थिति सबसे भयावह थी। इस नाज़ुक मौके पर वह न पहुँच जाते, तो किसी अँगरेज़ की जान न बचती, सारा कैम्प लुट जाता और खेमे राख के ढेर हो जाते। हड़तालियों की रक्षा करनी तो उन्हें बदी न थी; लेकिन विदेशियों को उन्होंने मौत के मुँह से निकाल लिया। एक क्षण में सारा कैम्प साफ हो गया। एक मज़दूर भी न रह गया।

इन आदमियों के जाते ही वे लोग भी इनके साथ हो लिये, जो पहले लूट के लालच से चले आये थे। जिस तरह पानी आ जाने से कोई मेला उठ जाता है, ग्राहक, दूकानदार और उनकी दूकानें सब न-जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं, उसी भाँति एक क्षण में सारे कैम्प में सन्नाटा छा गया। केवल तिलक-मंडप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने-गिनाये आदमी उसके सामने चुप-चाप खड़े थे, मानों श्मशान में खड़े किसी मृतक की दाह-क्रिया कर रहे हों। बाज़ार लुटा, गोलियाँ चलीं, आदमी मक्खियों की तरह मारे गये; पर

राजा साहब मंडप के सामने ही खड़े रहे। उन्हें अपनी सारी मनोकामनाएँ इसी अग्नि-राशि में भस्म होती हुई मालूम होती थीं।

अँधेरा छा गया था। घायलों के कराहने की आवाजें आ रही थीं। चक्रधर और उनके साथ के युवक उन्हें सावधानी से उठा-उठाकर एक वृक्ष के नीचे जमा कर रहे थे। कई आदमी तो उठाते-ही-उठाते सुरलोक सिधारे। कुछ सेवक तो उन्हें ले जाने की फ़िक्र करने लगे। कुछ लोग शेष घायलों की देख-भाल में लगे। रियासत का डाक्टर सज्जन मनुष्य था। वहाँ से संदेशा जाते ही आ पहुँचा। उसकी सहायता ने बड़ा काम किया। आकाश पर काली घटा छाई हुई थी। चारों तरफ़ अँधेरा था। तिलक-मंडप की आग भी बुझ चुकी थी। उस अन्धकार में ये लोग लालटेनें लिए घायलों को अस्पताल ले जा रहे थे।

एकाएक कई सिपाहियों ने आकर चक्रधर को पकड़ लिया और अँगरेज़ी कैम्प की तरफ़ ले चले। पूछा, तो मालूम हुआ कि जिम साहब का यह हुक्म है। चक्रधर ने सोचा, मैंने ऐसा कोई अपराध तो नहीं किया जिसका यह दण्ड हो! फिर यह पकड़-धकड़ क्यों? संभव है, मुझसे कुछ पूछने के लिए बुलाया हो और ये मूर्ख सिपाही उसका आशय न समझ कर मुझे यों पकड़े लिए जाते हों। यह सोचते हुए वह मिस्टर जिम के खेमे में दाख़िल हुए।

देखा, तो वहाँ कचहरी लगी हुई है। सशस्त्र पुलिस के सिपाही, जिन्हें अब लूट से फ़ुरसत मिल चुकी थी, द्वार पर संगीनें चढ़ाये खड़े थे। अन्दर मिस्टर जिम और मिस्टर सिम रौद्र रूप धारण किए, सिगार पी रहे थे, मानों क्रोधाग्नि मुँह से निकल रही हो। राजा साहब मिस्टर जिम की बगल में बैठे थे। दीवान साहब क्रोध से आँखें लाल किये मेज़ पर हाथ रक्खे कुछ कह रहे थे और मुन्शी वज्रधर हाथ बाँधे एक कोने में खड़े थे।

चक्रधर को देखते ही मिस्टर जिम ने कहा—राजा साहब कहता है कि यह सब तुम्हारी शरारत है। तुम और तुम्हारा साथी लोग बहुत

दिनों से रियासत के असामियों को भड़का रहा है और आज भी तुम न आता, तो यह दंगा न मचता।

चक्रधर आवेश में आकर बोले—अगर राजा साहब आपका ऐसा विचार है, तो इसका मुझे दुःख है। हम लोग जनता में जाग्रति अवश्य फैलाते हैं, उनमें शिक्षा का प्रचार करते हैं, उन्हें स्वार्थान्ध अमलों के फंदों से बचाने का उपाय करते हैं, और उन्हें अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करने का उपदेश देते हैं। हम चाहते हैं कि वे मनुष्य बनें और मनुष्यों की भाँति संसार में रहें। वे स्वार्थ के दास बनकर कर्मचारियों की खुशामद न करें, भय-वश अपमान और अत्याचार न सहें। अगर इसे कोई भड़काना समझता है, तो समझे। हम इसे अपना कर्तव्य समझते हैं।

जिम—तुम्हारे उपदेश का यह नतीजा देखकर कौन कह सकता है कि तुम उन्हें नहीं भड़काता?

चक्रधर—यहाँ उन आदमियों पर अत्याचार हो रहा था और उन्हें यहाँ से चले जाने या काम न करने का अधिकार था। अगर उन्हें शांति के साथ चले जाने दिया जाता, तो यह नौबत कभी न आती!

राजा—हमें परम्परा से बेगार लेने का अधिकार है और उसे हम नहीं छोड़ सकते। आप असामियों को बेगार देने से मना करते हैं और आज के हत्याकांड का सारा भार आपके ऊपर है।

चक्रधर—कोई अन्याय केवल इस लिए मान्य नहीं हो सकता कि लोग उसे परम्परा से सहते आये हैं।

जिम—हम तुम्हारे ऊपर बग़ावत का मुक़दमा चलाएगा। तुम Dangerous आदमी है।

राजा—हुजूर, मैं इनके साथ कोई सख्ती नहीं करना चाहता, केवल इनसे यह प्रतिज्ञा लिखाना चाहता हूँ कि यह या इनके सहकारी लोग मेरी रियासत में न जाएँ।

चक्रधर—मैं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता। दीनों पर अत्याचार होते देखकर दूर खड़े रहना वह दशा है, जो हम किसी तरह नहीं सह सकते। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि राजा साहब के विचार मेरे विचारों से पूरे-पूरे मिलते थे। उन्हें अपने विचारों को बदलने के नये कारण हो गये हों, मेरे लिए कोई कारण नहीं।

राजा—मेरे प्रजा-हित के विचारों में कोई अंतर नहीं हुआ। मैं अब भी अपनी प्रजा का सेवक हूँ; लेकिन आप उन्हें राजनीतिक यंत्र बनाना चाहते हैं और इसी उद्देश्य से आप उनके हित-चिंतक बनते हैं। मैं उन्हें राजनीति में नहीं डालना चाहता। आप उनके आत्म-सम्मान की रक्षा करते हैं, मैं उन के प्राणों की। बस, आपके और मेरे विचारों में केवल यही अंतर है।

मिस्टर जिम ने सब-इंसपेक्टर से कहा—इनको हवालात में रखो, कल इजलास पर पेश करो।

वज्रधर ने आगे बढ़कर जिम के पैरों पर पगड़ी रख दी और बोले—हुजूर, यह गुलाम का लड़का है। हुजूर, इसकी जाँबख्शी करें। हुजूर का पुराना गुलाम हूँ! गुलाम जब खुरजे में तहसीलदार था, तो हुजूर ने सनद अता फ़रमाई थी हुजूर!

मिस्टर जिम—ओ! तहसीलदार साहब, यह तुम्हारा लड़का है? तुमने उसको घर से निकाल क्यों नहीं दिया! सरकार तुमको इसलिए पेंशन नहीं देता कि तुम बागियों को पाले। हम तुम्हारा पेंशन बन्द कर देगा। पेंशन इसीलिए दिया जाता है कि तुम सरकार का वफ़ादार नौकर बना रहे।

वज्रधर—हुजूर मेरे मालिक हैं। आज इसका कुसूर माफ़ कर दिया जाय। आज से मैं इसे घर से निकलने ही न दूँगा।

चक्रधर ने पिता को तिरस्कार-भाव से देखकर कहा—आप क्यों ऐसी बातों से मुझे लज्जित करते हैं। मिस्टर जिम और राजा साहब मुझे

जेल के बाहर भी क़ैद करना चाहते हैं। मेरे लिए जेल की क़ैद इस क़ैद से कहीं आसान है।

वज्रधर—बेटा, मैं अब थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ। मुझे मर जाने दो, फिर तुम्हारे जो जी में आए, करना। मैं मना करने न आऊँगा।

हरिसेवक—तहसीलदार साहब, आप व्यर्थ हैरान होते हैं। आपका काम समझा देना है। वह समझदार हैं। अपना भला-बुरा समझ सकते हैं। जब वह खुद आग में कूद रहे हैं, तो आप कब तक उन्हें रोकिएगा?

वज्रधर—मेरी यह अर्ज़ है हुजूर कि मेरी पेंशन पर रेप न आये।

जिम—तुमको इस मुक़दमे में शहादत देना होगा। तुमने अच्छा शहादत दिया, तो तुम्हारा पेंशन बहाल रक्खा जायगा।

चक्रधर—लीजिए, आपकी पेंशन बहाल हो गई, केवल मेरे विरुद्ध गवाही दे दीजिएगा।

राजा—बाबू चक्रधर, अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। आप प्रतिज्ञा लिखकर शौक़ से घर जा सकते हैं। मैं आपको तंग नहीं करना चाहता। हाँ, इतना ही चाहता हूँ कि फिर ऐसे हंगामे न खड़े हों।

चक्रधर—राजा साहब, क्षमा कीजिएगा, जब तक असंतोष के कारण दूर न होंगे, ऐसी दुर्घटनाएँ होंगी और फिर होंगी। मुझे आप पकड़ सकते हैं, क़ैद कर सकते हैं; पर इससे चाहे आपको शांति हो; पर वह असंतोष अणुमात्र भी कम न होगा, जिससे प्रजा का जीवन असह्य हो गया है। असंतोष को भड़काकर आप प्रजा को शांत नहीं कर सकते। हाँ, उन्हें कायर बना सकते हैं। अगर आप उन्हें कर्महीन, बुद्धिहीन, पुरुषार्थहीन, मनुष्य का तन धारण करने वाले सियार और सूअर बनाना चाहते हैं, तो बनाइये; पर इससे न आपकी कीर्ति होगी, न ईश्वर प्रसन्न होंगे और न स्वयं आपकी आत्मा तुष्ट होगी।

१५

राजाओं-महाराजाओं को क्रोध आता है, तो उनके सामने जाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। न-जाने क्या ग़ज़ब हो जाय, क्या आफ़त आ जाय। विशालसिंह किसी को फाँसी न दे सकते थे, यहाँ तक कि क़ानून के रू से वह किसी को गालियाँ भी न दे सकते थे, क़ानून उनके लिए भी था, वह भी सरकार की प्रजा थे; किन्तु नौकरी तो छीन सकते थे, जुरमाना तो कर सकते थे? इतना अख़्तियार क्या थोड़ा है! सारी रात गुज़र गई; पर राजा साहब अपने कमरे से बाहर नहीं निकले। उनको पलकें तक न झपकी थीं। आधी रात तक तो उनकी तलवार हरिसेवक पर खिंची रही, इसी बुड्ढे खूसट के कुप्रबंध ने यह सारा तूफ़ान खड़ा किया। उसके बाद तलवार के वार अपने ऊपर होने लगे। मुझे इस उत्सव की ज़रूरत ही क्या थी? रियासत मुझे मिल ही चुकी थी। टीके-तिलक की हिमाकत में क्यों पड़ा! पिछले पहर क्रोध ने फिर पहलू बदला और तलवार की चोटें चक्रधर पर पड़ने लगीं। यह सारी शरारत इसी लौंडे की है। न्याय, धर्म और परोपकार सब बहुत अच्छी बातें हैं; लेकिन हरएक काम के लिए एक अवसर होता है। इसी ने प्रजा में असंतोष की आग भड़काई। दो-चार दिन आधे ही पेट खाकर रह जाते; तो क्या मज़दूरों की जान निकल जाती? अपने घर ही पर उन्हें कौन दोनों वक़्त पकवान मिलता है। जब बारहों मास एक वक़्त और आधे पेट खाकर रहते हैं, तो यहाँ रसद के लिए दंगा कर बैठना साफ़ बतला रहा है कि यह दूसरों का मंत्र था। बाप तो तलुए सुहलाता फिरता है और आप परोपकारी बने फिरते हैं। पाँच साल तक चक्की न पिसवाई, तो नाम नहीं!

राज-भवन में सन्नाटा छाया हुआ था। रोहिणी ने तो जन्माष्टमी के दिन ही से राजा साहब से बोलना-चालना छोड़ दिया था। यों पड़ी रहती थी, जैसे कोई चिड़िया पिंजरे में। वसुमती को अपनी पूजा-पाठ से फ़ुरसत न थी। अब उसे राम और कृष्ण दोनों ही की पूजा-अर्चना करनी पड़ती थी। केवक रामप्रिया घबराई हुई इधर-उधर दौड़ रही थी। कभी चुपके-चुपके कोप-भवन के द्वार तक जाती, कभी खिड़की से झाँकती; पर राजा साहब की त्योरियाँ देखकर उल्टे पाँव लौट आती। डरती थी कि कहीं वह कुछ खा न लें, कहीं भाग न जायें। निर्बल क्रोध ही तो वैराग्य है।

वह इसी चिंता में विकल थी कि मनोरमा आकर सामने खड़ी हो गई। उसकी दोनों आँखें वीरबहूटी हो रही थीं, भवें चढ़ी हुईं। मानों किसी गुण्डे ने सती को छेड़ दिया हो।

रामप्रिया ने पूछा—कहाँ थी मनोरमा?

मनोरमा—ऊपर ही तो थी। राजा साहब कहाँ हैं?

रामप्रिया ने मनोरमा के मुख की ओर तीव्र-दृष्टि से देखा। हृदय आँखों में रो रहा था। बोली—क्या करोगी पूछकर?

मनोरमा—उनसे कुछ कहना चाहती हूँ।

रामप्रिया—कहीं उनके सामने जाना मत। कोप-भवन में हैं। मैं तो खुद उनके सामने जाते डरती हूँ।

मनोरमा—आप बतला तो दें।

रामप्रिया—नहीं, मैं न बतलाऊँगी। कौन जानता है, इस वक़्त उनके हृदय पर क्या बीत रही है। खून का घूँट पी रहे होंगे। सुनती हूँ, तुम्हारे गुरुजी ही की यह सारी करामात है। देखने में तो बड़े ही सज्जन मालूम होते हैं; पर हैं एक ही छटे हुए!

मनोरमा तीर की भाँति कमरे से निकलकर वसुमती के पास जा पहुँची। वसुमती अभी स्नान करके आई थी और पूजा करने जा रही थी

कि मनोरमा को सामने देखकर चौंक पड़ी। मनोरमा ने पूछा—आप जानती हैं राजा साहब कहाँ हैं?

वसुमती ने रुखाई से कहा—होंगे जहाँ उनकी इच्छा होगी! मैं तो पूछने भी न गई। जैसे राम राधा से, वैसे ही राधा राम से!

मनोरमा—आपको मालूम नहीं?

वसुमती—मैं होती कौन हूँ। न सलाह में, न बात में। बेगानों की तरह घर में पड़ी दिन काट रही हूँ। वह रानी बैठी हुई हैं। उनसे पूछो, जानती होंगी।

मनोरमा रोहिणी के कमरे में आई। वह गाव-तकिये लगाये, ठस्से से मसनद पर बैठी हुई थी। सामने आईना था। नाइन केश गूँथ रही थी। मनोरमा को देखकर मुसकिराई। पूछा—कैसे चलीं?

मनोरमा—आपको मालूम है, राजा साहब इस वक्त कहाँ मिलेंगे? मुझे उनसे कुछ कहना है।

रोहिणी—कहीं बैठे अपने नसीबों को रो रहे होंगे। यह सब मेरी हाय का फल है। कैसा तमाचा पड़ा है कि याद ही करते होंगे। ईश्वर बड़ा न्यायी है। मैंने तो चिंता करनी ही छोड़ दी। ज़िंदगी रोने ही के लिए थोड़े ही है। सच पूछो, तो इतना सुख मुझे कभी न था। घर में आग लगे या वज्र गिरे, मेरी बला से!

मनोरमा—मुझे इतना बता दीजिए, वह कहाँ हैं?

रोहिणी—मेरे हृदय में! उसे बाणों से छेद रहे हैं।

मनोरमा निराश होकर यहाँ से भी निकली। वह इस राज-भवन में पहले ही पहल आई थी। अंदाज़ से दीवानख़ाने की तरफ़ चली। जब रानियों के यहाँ नहीं हैं, तो अवश्य दीवानख़ाने में होंगे। द्वार पर पहुँचकर वह ज़रा ठिठक गई। झाँककर अंदर देखा, राजा साहब कमरे में टहलते थे और मूँछें ऐंठ रहे थे। मनोरमा अंदर चली गई। पछताई कि व्यर्थ रानियों से पूछती फिरी।

राजा साहब उसे देखकर चौंक पड़े। कोई दूसरा आदमी होता, तो शायद वह उस पर झल्ला पड़ते, गरज उठते, निकल जाने को कहते; किन्तु मनोरमा के मान-प्रदीप्त सौंदर्य ने उन्हें परास्त कर दिया। खौलते हुए पानी ने दहकती हुई आग को शांत कर दिया। उन्होंने दो-तीन दिन पहले उसे एक बार देखा था। तब वह बालिका थी। आज वही बालिका नवयुवती हो गई थी। यह एक रात की भीषण चिंता, दारुण वेदना और दुस्सह ताप की सृष्टि थी। राजा साहब के सम्मुख आने पर भी उसे ज़रा भी भय या संकोच न हुआ। सरोष नेत्रों से ताकती हुई बोली—उसका कंठ आवेश से काँप रहा था—महाराज, मैं आपसे यह पूछने आई हूँ कि क्या प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु हैं, या उनमें कुछ अन्तर है?

राजा साहब ने विस्मित होकर कहा—मैं तुम्हारा आशय नहीं समझा मनोरमा! बात क्या है? तुम्हारी त्योरियाँ चढ़ी हुई हैं। क्या किसी ने कुछ कहा है, या मुझसे नाराज़ हो। यह भवें क्यों तनी हुई हैं?

मनोरमा—मैं आपके सामने फ़रियाद करने आई हूँ।

राजा—क्या तुम्हें किसी ने कटु वचन कहे हैं?

मनोरमा—मुझे किसी ने कटु वचन कहे होते, तो फ़रियाद करने न आती। अपने लिए आपको कष्ट न देती; लेकिन आपने अपने तिलकोत्सव के दिन एक ऐसे प्राणी पर अत्याचार किया है, जिस पर मेरी असीम भक्ति है, जिसे मैं देवता समझती हूँ, जिसका हृदय कमल के जल-सिंचित दल की भाँति पवित्र और कोमल है, जिसमें संन्यासियों का त्याग और ऋषियों का सत्य है, जिसमें बालक की सरलता और योद्धाओं की वीरता है। आपके न्याय और धर्म की चरचा उसी पुरुष के मुँह से सुना करती थी। अगर यही उसका यथार्थ रूप है, तो मुझे भय है कि इस आतंक के आधार पर बने हुए राज-भवन का शीघ्र ही पतन हो जायगा, और आपकी सारी कीर्ति स्वप्न की भाँति मिट जायगी। जिस समय आपके ये निर्दय हाथ बाबू चक्रधर पर उठे, अगर उस समय मैं

वहाँ होती, तो कदाचित् कुंदे का वह वार मेरी गरदन पर पड़ता। मुझे आश्चर्य होता है कि इन पर आपके हाथ उठे क्योंकर! उसी समय से मेरे मन में विचार हो रहा है कि क्या प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु तो नहीं हैं?

मनोरमा के मुख से ये जलते हुए शब्द सुनकर राजा साहब दंग रह गये। उनका क्रोध प्रचंड वायु के इस झोंके से आकाश पर छाये हुए मेघ के समान उड़ गया। आवेश में भरी हुई, सरल हृदय बालिका से वाद-विवाद करने के बदले उन्हें उस पर अनुराग उत्पन्न हो गया। सौंदर्य के सामने प्रभुत्व भीगी बिल्ली बन जाता है। आसुरी शक्ति भी सौंदर्य के सामने सिर झुका देती है। राजा साहब नम्रता से बोले—चक्रधर को तुम कैसे जानती हो?

मनोरमा—वह मुझे अँगरेज़ी पढ़ाने आया करते हैं।

राजा—कितने दिनों से?

मनोरमा—बहुत दिन हुए।

राजा—मनोरमा, मेरे दिल में बाबू चक्रधर की जितनी इज़्ज़त थी और है, उसकी चरचा करते हुए शर्म आती है। जब उन पर इन्हीं कठोर हाथों से मैंने आघात किया, तो अब ऐसी बातें सुनकर तुम्हें विश्वास न आयेगा। तुमने बहुत ठीक कहा है कि प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु हैं। एक वस्तु चाहे न हों; पर उनमें फूस और चिनगारी का संबंध अवश्य है। मुझे याद ही नहीं आता कि कभी मुझे इतना क्रोध आया हो। अब मुझे याद आ रहा है कि यदि मैंने धैर्य से काम लिया होता, तो चक्रधर चमारों को ज़रूर शांत कर देते। जनता पर उसी आदमी का असर पड़ता है, जिसमें सेवा का गुण हो। यह उनकी सेवा ही है, जिसने उन्हें इतना सर्वप्रिय बना दिया है। अँगरेज़ों की प्राण-रक्षा करने में उन्होंने जितनी वीरता से काम लिया, उसे अलौकिक कहना चाहिए। वह विद्रोहियों के सामने जाकर न खड़े हो जाते, तो शायद इस वक्त जगदीशपुर

पर गोलों की वर्षा होती और मेरी जो दशा होती उसकी कल्पना ही से रोएँ खड़े होते हैं। वह वीरात्मा हैं और उनके साथ मैंने जो अन्याय किया है, उसका मुझे जीवन पर्यन्त दुःख रहेगा।

विनय क्रोध को निगल जाता है। मनोरमा शांत होकर बोली—केवल दुःख प्रकट करने से तो अन्याय का घाव नहीं भरता?

राजा—क्या करूँ मनोरमा, अगर मेरे वश की बात होती, तो मैं इसी क्षण जाता और चक्रधर को अपने कंधों पर बैठाकर लाता; पर अब मेरा कुछ अख्तियार नहीं है। अगर उनकी जगह मेरा ही पुत्र होता, तो भी मैं कुछ न कर सकता!

मनोरमा—आप मिस्टर जिम से तो कह सकते हैं?

राजा—हाँ, कह सकता हूँ; पर आशा नहीं कि वह मानें। राजनीतिक अपराधियों के साथ यह लोग ज़रा भी रिआयत नहीं करते, उनके विषय में कुछ सुनना ही नहीं चाहते। हाँ, एक बात हो सकती है; अगर चक्रधरजी यह प्रतिज्ञा कर लें कि अब वह कभी सार्वजनिक कामों में भाग न लेंगे, तो शायद मिस्टर जिम उन्हें छोड़ दें। तुम्हें आशा है कि चक्रधर यह प्रतिज्ञा करेंगे?

मनोरमा ने संदिग्ध भाव से सिर हिलाकर कहा—न। मुझे इसकी आशा नहीं। वह अपनी खुशी से कभी ऐसी प्रतिज्ञा न करेंगे।

राजा—तुम्हारे कहने से मान जायँगे!

मनोरमा—मेरे कहने से क्या, वह ईश्वर के कहने से भी न मानेंगे, और अगर मानेंगे, तो उसी क्षण मेरे आदर्श से गिर जायँगे। मैं यह कभी न चाहूँगी कि वह उन अधिकारों को छोड़ दें, जो उन्हें ईश्वर ने दिये हैं। आज के पहले मुझे उनसे वही स्नेह था, जो किसी को एक सज्जन आदमी से हो सकता है। मेरी भक्ति उन पर न थी। उनकी प्रण-वीरता ही ने मुझे उनका भक्त बना दिया है। उनकी निर्भीकता ही ने मेरी श्रद्धा पर विजय पाई है।

राजा ने बड़ी दीनता से पूछा—जब यह जानती हो, तो मुझे क्यों जिम के पास भेजती हो ?

मनोरमा—इसलिए कि सच्चे आदमी के साथ सच्चा बरताव होना चाहिए। किसी को उसकी सच्चाई या सज्जनता का दंड न मिलना चाहिए। इसी में आपका भी कल्याण है। जब तक चक्रधर के साथ न्याय न होगा, आपके राज्य में शांति न होगी। आपके माथे पर कलंक का टीका लगा रहेगा।

राजा—क्या करूँ मनोरमा, अच्छे सलाहकार न मिलने से मेरी यह दशा हुई। ईश्वर जानता है, मेरे मन में प्रजा-हित के कैसे-कैसे हौसले थे। मैं अपनी रियासत में राम-राज्य का युग लाना चाहता था; पर दुर्भाग्य से परिस्थिति कुछ ऐसी होती जाती है कि मुझे वे सभी काम करने पड़ रहे हैं, जिनसे मुझे घृणा थी। न-जाने वह कौन-सी शक्ति है, जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने पर मजबूर कर देती है। मेरे पास कोई ऐसा मंत्री नहीं है; जो मुझे सच्ची सलाहें दिया करे। मैं हिंसक जंतुओं से घिरा हुआ हूँ। सभी स्वार्थी हैं, कोई मेरा मित्र नहीं। इतने आदमियों के बीच में मैं अकेला, निस्सहाय, मित्र-हीन प्राणी हूँ। एक भी ऐसा हाथ नहीं, जो मुझे गिरते देखकर सँभाल ले। मैं अभी मिस्टर जिम के पास जाऊँगा और साफ़-साफ़ कह दूँगा कि मुझे बाबू चक्रधर से कोई शिकायत नहीं है!

मनोरमा के सौंदर्य ने राजा साहब पर जो जादू का-सा असर डाला था, वही असर उनकी विनय और शालीनता ने मनोरमा पर किया। सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गई। नरम होकर बोली—जब उनके पास जाने से आपको कोई आशा ही नहीं है, तो व्यर्थ क्यों कष्ट उठाइएगा। मैं आपसे यह आग्रह न करूँगी। मैंने आपका इतना समय नष्ट किया, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिएगा। मेरी कुछ बातें अगर कटु और अप्रिय लगी हों.........

राजा ने बात काटकर कहा—मनोरमा, सुधा-वृष्टि भी किसी को कड़वी और अप्रिय लगती है? मैंने ऐसी मधुर वाणी कभी न सुनी थी। तुमने मुझ पर जो अनुग्रह किया है, उसे कभी न भूलूँगा।

मनोरमा कमरे से चली गई। विशालसिंह द्वार पर खड़े उसकी ओर ऐसी तृषित नेत्रों से देखते रहे, मानों उसे पी जायँगे। जब वह आँखों से ओझल हो गई, तो वह कुरसी पर लेट गये। उनके हृदय में एक विचित्र आकांक्षा अंकुरित हो रही थी।

किन्तु वह आकांक्षा क्या थी? मृग-तृष्णा! मृग-तृष्णा!

१६

संध्या हो गई है। ऐसी उमस है कि साँस लेना कठिन है, और जेल की कोठरियों में यह उमस और भी असह्य हो गई है। एक भी खिड़की नहीं, एक भी जँगला नहीं। उस पर मच्छरों का निरंतर गान कानों के परदे फाड़े डालता है। सब-के-सब दावत खाने के पहले गा-गाकर मस्त हो रहे हैं। एक आध मरभुखे पत्तलों की राह न देखकर कभी-कभी रक्त का स्वाद ले लेते हैं; लेकिन अधिकांश मंडली उस समय का इंतज़ार कर रही है, जब निद्रादेवी उनके सामने पत्तल रखकर कहेगी—प्यारो, खाओ जितना खा सको; पियो, जितना पी सको। रात तुम्हारी है और भंडार भरपूर!

यहीं एक कोठरी में चक्रधर को भी स्थान दिया गया है। स्वाधीनता की देवी अपने सच्चे सेवकों को यही पद प्रदान करती है।

वह सोच रहे हैं—यह भीषण उत्पात क्यों हुआ? हमने तो कभी भूलकर भी किसी से यह प्रेरणा नहीं की। फिर लोगों के मन में यह बात कैसे समाई? इस प्रश्न का उन्हें यही उत्तर मिल रहा है कि यह हमारी नीयत का नतीजा है। हमारी शांति-शिक्षा की तह में द्वेष छिपा हुआ था। हम भूल गये थे कि संगठित शक्ति आग्रहमय होती है। वह अत्याचार से उत्तेजित हो जाती है। अगर हमारी नीयत साफ़ होती, तो जनता के मन में कभी राजाओं पर चढ़ दौड़ने का आवेश न होता; लेकिन क्या जनता राजाओं के कैम्प की तरफ़ न जाती, तो पुलीस उन्हें बिना रोक-टोक अपने घर जाने देती? कभी नहीं। सवार के लिए घोड़े का अड़ जाना या बिगड़ जाना एक बात है। जो छेड़-छेड़कर लड़ना चाहे

उससे कोई क्योंकर बचे ? फिर अगर प्रजा अत्याचार का विरोध न करे, तो उसके संगठन से फ़ायदा ही क्या ? इसीलिए तो उसे सारे उपदेश दिये जाते हैं ! कठिन समस्या है। या तो प्रजा को उनके हाल पर छोड़ दूँ ! उन पर कितने ही ज़ुल्म हों, उनके निकट न जाऊँ ; या ऐसे उपद्रवों के लिए तैयार रहूँ। राज्य पशु-बल का प्रत्यक्ष रूप है। वह साधु नहीं है, जिसका बल धर्म है ; वह विद्वान् नहीं है, जिसका बल तर्क है। वह सिपाही है, जो डंडे के ज़ोर से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। इसके सिवा उसके पास कोई दूसरा साधन ही नहीं।

यह सोचते-सोचते उन्हें अपना ख़याल आया। मैं तो कोई आंदोलन नहीं कर रहा था। किसी को भड़का नहीं रहा था। जिन लोगों की प्राण रक्षा के लिए अपनी जान जोखिम में डाली, वही मेरे साथ यह सलूक कर रहे हैं ! इतना भी नहीं देख सकते कि जनता पर किसी का असर हो। उनकी इच्छा इसके सिवा और क्या है कि सभी आदमी अपनी-अपनी आँखें बन्द कर रक्खें, उन्हें अपने आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ देखने का हक़ नहीं। अगर सेवा करना पाप है, तो यह पाप तो मैं उस वक्त तक करता रहूँगा, जब तक प्राण रहेंगे। जेल की क्या चिंता ! सेवा करने के लिए सभी जगह मौके हैं। जेल में तो और भी ज़्यादा। लालाजी को दुःख होगा, अम्माँजी रोयेंगी ; लेकिन मजबूरी है। जब बाहर भी ज़बान और हाथ-पाँव बाँधे जायेंगे, तो जैसे जेल वैसे बाहर। वह भी जेल ही है। हाँ, ज़रा उसका विस्तार अधिक है। मैं किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं कर सकता।

वह इसी सोच-विचार में पड़े हुए थे कि एकाएक मुंशी वज्रधर कमरे में दाख़िल हुए। उनकी देह पर एक पुरानी अचकन थी, जिसका मैल उसके असली रंग को छिपाये हुए था। नीचे एक पतलून था, जो कमरबन्द न होने के कारण खिसककर इतना नीचा हो गया था कि घुटनों के नीचे एक झोल-सा पड़ गया था। संसार में कपड़े से ज़्यादा बेवफ़ा और

कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हर एक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं रहता। आज जो वस्त्र हमारा है, वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख-दुःख की ज़रा भी चिन्ता नहीं होती, फ़ौरन् बेवफ़ाई कर जाता है। हम ज़रा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जल-वायु ज़रा हमारे अनुकूल हो जाय, बस हमारे प्यारे वस्त्र, जिनके लिए हमने दर्ज़ी की दूकान की खाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं। उन्हें लाख अपना बनाओ, अपने नहीं होते। अगर ज़बरदस्ती गले लगाओ, तो चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं, हम तुम्हारे नहीं। वे केवल हमारी पूर्वावस्था के चिन्ह होते हैं। मुंशी वज्रधर की अचकन भी, जो उनकी अल्पकालीन; लेकिन ऐतिहासिक तहसील-दारी की यादगार थी, पुकार-पुकार कर कहती थी—मैं अब इनकी नहीं; किन्तु तहसीलदार साहब हुकूमत के जोर से उसे गले से चिपटाये हुए थे। तुम कितनी ही बेवफ़ाई करो, मेरी कितनी ही बदनामी करो, छोड़ने का नहीं। अच्छे दिनों में तो तुमने हमारे साथ चैन किये। इन बुरे दिनों में तुम्हें क्यों छोड़ूँ। यों भूत और वर्तमान के संग्राम की मूर्ति बने हुए तहसीलदार साहब चक्रधर के पास आकर बोले—क्या करते हो बेटा, यहाँ तो बड़ा अँधेरा है। चलो, बाहर इक्का खड़ा है। बैठ लो। इधर ही से साहब के बँगले पर होते चलेंगे। जो कुछ वह कहें लिख देना। बात ही कौन-सी है। हमें कौन किसी से लड़ाई करनी है। कल ही से दौड़ लगा रहा हूँ। बारे आज दोपहर को जाके सीधा हुआ। पहले बहुत चीं-चीं करता रहा; लेकिन मैंने पिंड न छोड़ा। मेम साहब के पास पहुँच कर रोने लगा। इस फ़न में तुम जानो उस्ताद हूँ। सरकारी मुलाज़िमत और वह भी तहसीलदारी सब कुछ सिखा देती है। अँगरेज़ों को तो तुम जानते ही हो, मेमों के गुलाम होते हैं। मेम ने जाकर हज़रत को डाटा—क्यों तहसीलदार साहब को दिक़ कर रहे हो? अभी इनके लड़के को छोड़ दो, नहीं तो घर से निकल जाओ। यह डाट पड़ी, तो हज़रत के

होश ठिकाने हुए। बोले—वेल, तहसीलदार साहब, हम आपका बहुत इज़्ज़त करता है। आपको हम नाउम्मेद नहीं करना चाहता; लेकिन जब तक आपका लड़का इस बात का कौल न करे कि वह फिर कभी गोलमाल न करेगा, तब तक हम उसे नहीं छोड़ सकता। हम अभी जेलर को लिखता है कि उससे पूछो, राजी है? मैंने कहा—हुजूर, मैं खुद जाता हूँ और उसे हुजूर की खिदमत में लाकर हाज़िर करता हूँ। या वहाँ न चलना चाहो, तो यहीं एक हलफ़नामा लिख दो। देर करने से क्या फ़ायदा। तुम्हारी अम्माँ रो-रोकर जान दे रही हैं।

चक्रधर ने सिर नीचा करके कहा—अभी तो मैंने कुछ निश्चय नहीं किया है। सोचकर जवाब दूँगा। आप नाहक़ इतने हैरान हुए।

वज्रधर—कैसी बातें करते हो; बेटा, यहाँ नाक कटी जा रही है, घर से निकलना मुश्किल हो गया है और तुम कहते हो—सोचकर जवाब दूँगा। इसमें सोचने की बात ही है क्या? इस तहसीलदारी की लाज तो रखनी है। की तो थोड़े ही दिन; लेकिन आज तक लोग याद करते हैं और हमेशा याद करेंगे। कोई हाकिम इलाके में आया नहीं कि उससे मिलने दौड़ा। रसद के ढेर लगा देता था। हाकिमों के नौकर-चाकर तक खाते-खाते ऊब जाते थे। ज़मींदारों की तो मेरे नाम से जान निकल जाती थी। जिम साहब ने मेरी तारीफी चिट्ठियाँ पढ़ीं, तो दंग रह गये। इस इज़्ज़त को तो निभाना ही पड़ेगा। चलो, हलफ़नामा लिख दो। घर में कल से आग नहीं जली।

चक्रधर—मेरी आत्मा किसी तरह अपने पाँव में बेड़ियाँ डालने पर राज़ी नहीं होती।

वज्रधर—मौक़ा देखकर सब कुछ किया जाता है बेटा! दुनिया में कोई किसी का नहीं होता। यही राजा साहब पहले तुमसे कितनी मुहब्बत से पेश आते थे। जब अपने सिर पर पड़ी, तो कैसा सारी बला तुम्हारे सिर ठेल-कर निकल गये। दीवान साहब का लड़का गुरुसेवक पहले जाति के पीछे

कैसा लट्टू लिये फिरता था। कल डिप्टीकलक्टरी में नामज़द हो गया। कहाँ तो मुझसे हमदर्दी करता था। कहाँ अब विद्रोहियों के खिलाफ़ जलसा करने के लिए दौड़-धूप कर रहा है। जब सारी दुनिया अपना मतलब निकालने की धुन में है, तो तुम्हीं दुनिया की फ़िक्र में क्यों अपने को बरबाद करो। दुनिया जाय जहन्नुम में। हमें अपने काम से काम है, या दुनिया के झगड़ों से ?

चक्रधर—अगर और लोग अपने मतलब के बंदे हो जायें और स्वार्थ के लिए अपने सिद्धान्तों से मुँह मोड़ बैठें, तो कोई वजह नहीं कि मैं भी उन्हीं की नकल करूँ। मैं ऐसे लोगों को अपना आदर्श नहीं बना सकता। मेरे आदर्श इनसे बहुत ऊँचे हैं।

वज्रधर—बस, तुम्हारी इसी ज़िद पर मुझे गुस्सा आता है। मैंने भी अपनी जवानी में इस तरह के खिलवाड़ किये हैं और उन लोगों को कुछ-कुछ जानता हूँ, जो अपने को जाति के सेवक कहते हैं। बस, मुँह न खुलवाओ। सब अपने-अपने मतलब के बंदे हैं, दुनिया को लूटने के लिए यह सारा स्वाँग फैला रक्खा है। हाँ, तुम्हारे-जैसे दो-चार उल्लू भले ही फँस जाते हैं, जो अपने को तबाह कर डालते हैं। मैं तो सीधी-सी बात जानता हूँ, जो अपने घरवालों की सेवा न कर सका, वह जाति की सेवा कभी कर ही नहीं सकता, घर सेवा की सीढ़ी का पहला डंडा है, इसे छोड़कर तुम ऊपर नहीं जा सकते।

चक्रधर जब अब भी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पर राजी न हुए, तो मुंशीजी निराश होकर बोले—अच्छा बेटा, लो अब कुछ न कहेंगे। जो तुम्हारी खुशी हो, वह करो। मैं तो जानता था कि तुम जन्म के ज़िद्दी हो, मेरी एक न सुनोगे, इसीलिए आता ही न था; लेकिन तुम्हारी माता ने मुझे कुरेद-कुरेदकर भेजा। कह दूँगा, नहीं आता। सब कुछ कहके हार गया, सब्र करके बैठो, उसे अपनी बात और अपनी शान माँ-बाप से प्यारी है, जितना रोना हो, रो लो।

कठोर-से-कठोर हृदय में भी मातृ-स्नेह की कोमल स्मृतियाँ संचित

होती हैं। चक्रधर कातर होकर बोले—आप माताजी को समझाते रहिएगा, कह दीजिएगा, मुझे जरा भी तकलीफ़ नहीं है, मेरे लिए रंज न करें।

वज्रधर ने इतने दिनों तक यों ही तहसीलदारी न की थी। ताड़ गये कि अबकी निशाना ठीक पड़ा। बेपरवाई से बोले—मुझे क्या ग़रज पड़ी है कि किसी के लिए झूठ बोलूँ। बिना किसी मतलब के झूठ बोलना मेरी नीति नहीं। जो आँखों से देख रहा हूँ वही कहूँगा, रोयेंगी रोयें, इसमें मेरा क्या अख्तियार है। रोना तो उनकी तक़दीर ही में लिखा है। जब से तुम आये हो, एक बूँद पानी तक मुँह में नहीं डाला। इसी तरह दो-चार दिन और रहीं, तो प्राण निकल जायेंगे। तुम्हारे सिर का बोझ टल जायगा। वह लो, वार्डर मुझे बुलाने आ रहा है। वक्त पूरा होगया।

चक्रधर ने दीन भाव से कहा—अम्माँजी को एक बार यहाँ न लाइएगा?

वज्रधर—तुम्हें इस दशा में देखकर तो उन्हें जो दो-चार दिन जीना है, वह भी न जियेंगी। क्या कहते हो, इक़रारनामा लिखना हो, तो मेरे साथ दफ़्तर में चलो।

चक्रधर करुणा से विह्वल हो गये। बिना कुछ कहे हुए मुंशीजी के साथ दफ़्तर की ओर चले। मुंशीजी के चेहरे की झुर्रियाँ एक क्षण के लिए मिट गईं। चक्रधर को गले लगाकर बोले—जीते रहो बेटा, तुमने मेरी बात मान ली, इससे बढ़कर और क्या खुशी की बात होगी।

दोनों आदमी दफ़्तर में आये, तो जेलर ने कहा—कहिए तहसीलदार साहब, आपकी हार हुई न? मैं कहता न था, वह न सुनेंगे। आजकल के नौजवान अपनी बात के आगे किसी की नहीं सुनते।

वज्रधर—ज़रा क़लम-दावात तो निकालिए, फिर बातें होंगी।

दारोग़ा—(चक्रधर से) क्या आप इक़रारनामा लिख रहे हैं। निकल गई सारी शेखी! इसी पर इतनी डून की लेते थे?

चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया। मन की अस्थिरता पर लज्जित हो

गये । जाति-सेवकों से सभी दृढ़ता की आशा रखते हैं, सभी उसे आदर्श पर बलिदान होते देखना चाहते हैं । जातीयता के क्षेत्र में आते ही उसके गुणों की परीक्षा अत्यन्त कठोर नियमों से होने लगती है और दोषों की सूक्ष्म नियमों से । परले सिरे का कुचरित्र मनुष्य भी साधु-वेष रखने वालों से ऊँचे आदर्श पर चलने की आशा रखता है, और उन्हें आदर्श से गिरते देखकर उनका तिरस्कार करने में संकोच नहीं करता । जेलर के कटाक्ष ने चक्रधर की झपकी हुई आँखें खोल दीं । तुरंत उत्तर दिया—मैं ज़रा वह प्रतिज्ञा-पत्र देखना चाहता हूँ ।

तहसीलदार साहब ने जेलर की मेज़ पर से वह काग़ज़ उठा लिया और चक्रधर को दिखाते हुए बोले—बेटा, इसमें कुछ नहीं है । जो कुछ मैं कह चुका हूँ, वही बातें ज़रा क़ानूनी ढंग से लिखी गई हैं ।

चक्रधर ने काग़ज़ को सरसरी तौर से देखकर कहा—इसमें तो मेरे लिए कोई जगह ही नहीं रही । घर पर क़ैदी बना बैठा रहूँगा । मेरा ऐसा ख़याल न था । अपने हाथों अपने पाँव में बेड़ियाँ न डालूँगा । जब क़ैद ही होना है, तो क़ैदख़ाना क्या बुरा है ? अब या तो अदालत से बरी होकर आऊँगा, या सज़ा के दिन काटकर !

यह कहकर चक्रधर अपनी कोठरी में चले आये और एकांत में खूब रोये । आँसू उमड़ रहे थे ; पर जेलर के सामने कैसे रोते ।

एक सप्ताह के बाद मिस्टर जिम के इजलास में मुक़दमा चलने लगा । तहसीलदार साहब ने न कोई वकील खड़ा किया, न अदालत में आये । वहाँ तो गवाहों के बयान होते थे, और वह सारे दिन जिम के बँगले पर बैठे रहते थे । साहब बिगड़ते थे, धमकाते थे ; पर वह उठने का नाम न लेते । जिम जब बँगले से निकलते, तो द्वार पर मुंशीजी खड़े नज़र आते थे । कचहरी से आते, तो भी उन्हें वहीं खड़ा पाते । मारे क्रोध के लाल हो जाते । दो-एक बार घूँसा भी ताना ; लेकिन मुंशीजी को सिर नीचा किये देख दया आ गई । अक्सर वह साहब के दोनों बच्चों को

खेलाया करते, कंधे पर लेकर दौड़ते, मिठाइयाँ ला-लाकर खिलाते और मेम साहब को हँसानेवाले लतीफ़े सुनाते।

आख़िर एक दिन साहब ने पूछा—तुम मुझसे क्या चाहता है?

वज्रधर ने अपनी पगड़ी उतारकर साहब के पैरों पर रख दी और हाथ जोड़कर बोले—हुजूर सब जानते हैं, मैं क्या अर्ज़ करूँ। सरकार की खिदमत में सारी उम्र कट गई। मेरे देवता तो, ईश्वर तो, जो कुछ हैं आप ही हैं। आपके सिवा मैं और किसके द्वार पर जाऊँ? किसके सामने रोऊँ? इन पके बालों पर तरस खाइए। मर जाऊँगा हुजूर, इतना बड़ा सदमा उठाने की ताक़त अब नहीं रही!

जिम—हम छोड़ नहीं सकता, किसी तरह नहीं!

वज्रधर—हुजूर जो चाहें करें। मेरा तो आपसे कहने ही-भर का अख्तियार है। हुजूर को दुआ देता हुआ मर जाऊँगा; पर दामन न छोड़ूँगा।

जिम—तुम अपने लड़के को क्यों नहीं समझाता?

वज्रधर—हुजूर नाख़लफ़ है, और क्या कहूँ। ख़ुदा सातवें दुश्मन को भी ऐसी औलाद न दे। जी तो यही चाहता है हुजूर कि कम्बख्त का मुँह न देखूँ; लेकिन कलेजा नहीं मानता। हुजूर, माँ-बाप का दिल कैसा होता है, इसे तो हुजूर भी जानते हैं।

अदालत में रोज़ ख़ासी भीड़ हो जाती। वे सब मज़दूर, जिन्होंने हड़ताल की थी, एक बार चक्रधर के दर्शनों को आ जाते; अगर चक्रधर को छोड़ने के लिए एक सौ आदमियों की ज़मानत माँगी जाती, तो उसके मिलने में बाधा न होती। सब जानते थे कि इन्हें हमारे ही पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। शहर से भी हज़ारों आदमी आ पहुँचते थे। कभी-कभी राजा विशालसिंह; भी आकर दर्शकों की गैलरी में बैठ जाते; लेकिन और कोई आये या न आये, सवेरे आये या देर को आये; किंतु मनोरमा रोज़ ठीक दस बजे कचहरी में आ जाती और अदालत के उठने तक अपनी जगह पर मूर्ति की भाँति बैठीरहती।

उसके मुख पर अब वह पहले की अरुण आभा, वह चंचलता, वह प्रफुल्लता नहीं है। इसकी जगह दृढ़ संकल्प, विशाल करुणा, अलौकिक धैर्य और गहरी चिंता का फीका रंग छाया हुआ है, मानों कोई विरागिनी है, जिसके मुख पर हास्य की मृदु रेखा कभी खिंची ही नहीं। वह न किसी से बोलती है, न मिलती है, उसे देखकर सहसा कोई यह नहीं कह सकता कि यह वही आमोद-प्रिय बालिका है, जिसकी हँसी दूसरों को हँसाती थी।

वहाँ बैठी हुई मनोरमा कल्पनाओं का संसार रचा करती है। उस संसार में प्रेम-ही-प्रेम है, आनंद-ही-आनंद है। उसे अनायास कहीं से अतुल धन मिल जाता है, कदाचित् कोई देवी प्रसन्न हो जाती है। इस विपुल धन को वह चक्रधर के चरणों पर अर्पण कर देती है; फिर वही देवी उसे किसी देश की रानी बना देती है! किंतु चक्रधर उसके राजा नहीं होते, वह अब भी उसके आश्रयी ही रहते हैं। उन्हें आश्रय देने ही के लिए वह रानी बनती है, अपने लिए वह कोई मंसूबे नहीं बाँधती, जो कुछ सोचती है चक्रधर के लिए। चक्रधर से उसे प्रेम नहीं है, केवल भक्ति है। चक्रधर को वह मनुष्य नहीं, देवता समझती है।

संध्या का समय था, आज पूरे १५ दिनों की कार्रवाई के बाद मिस्टर जिम ने दो साल की कैद का फैसला सुनाया था। यह कम-से-कम सज़ा थी, जो उस धारा के अनुसार दी जा सकती थी।

चक्रधर हँस-हँसकर मित्रों से विदा हो रहे थे। सब की आँखों में जल भरा हुआ था। मजूरों का दल इजलास के द्वार पर खड़ा 'जय जय' का शोर मचा रहा था। कुछ स्त्रियाँ खड़ी रो रही थीं। सहसा मनोरमा आकर चक्रधर के सम्मुख खड़ी हो गई। उसके हाथ में फूलों का एक हार था। वह उसने उनके गले में डाल दिया और बोली—अदालत ने तो आपको सज़ा दे दी; पर इतने आदमियों में एक भी ऐसा न होगा, जिसके दिल में आप से सौगुना प्रेम न हो गया हो। आपने हमें सच्चे साहस, सच्चे आत्म-बल

और सच्चे कर्तव्य का रास्ता दिखा दिया। जाइए, जिस काम का बीड़ा उठाया, है उसे पूरा कीजिए, हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं।

उसने इसी अवसर के लिए कई दिन से ये वाक्य रच रक्खे थे। इस भाँति उद्गारों को न बाँध रखने से वह आवेश में न-जाने क्या कह जाती।

चक्रधर ने केवल दबी आँखों से मनोरमा को देखा, कुछ बोल न सके। उन्हें शर्म आ रही थी कि लोग दिल में क्या ख़याल कर रहे होंगे। सामने राजा विशालसिंह, दीवान साहब, ठाकुर गुरुसेवक और मुंशी वज्रधर खड़े थे। बरामदे में हज़ारों आदमियों की भीड़ थी। धन्यवाद के शब्द उनकी ज़बान पर आकर रुक गये। वह दिखाना चाहते थे कि मनोरमा की यह वीर-भक्ति उसकी बाल-क्रीड़ामात्र है।

एक क्षण में सिपाहियों ने चक्रधर को एक बन्द गाड़ी में बिठा दिया और जेल की ओर चले। धीरे-धीरे कमरा खाली हो गया। मिस्टर जिम ने भी चलने की तैयारी की। तहसीलदार साहब के सिवा अब कमरे में और कोई न था। जब जिम कठघरे से नीचे उतरे, तो मुंशीजी आँखों में आँसू भरे उनके पास आये और बोले—मिस्टर जिम, मैं तुम्हें आदमी समझता था; पर तुम पत्थर निकले। मैंने तुम्हारी जितनी खुशामद की, उतनी अगर ईश्वर की करता, तो मोक्ष पा जाता। मगर तुम न पसीजे, न पसीजे। रिआया का दिल यों मुट्ठी में नहीं आता। यह धाँधली उसी वक्त तक चलेगी, जब तक यहाँ के लोगों की आँखें बन्द हैं। यह मज़ा बहुत दिनों तक न उठा सकोगे।

यह कहते हुए मुंशीजी कमरे से बाहर चले आये। जिम ने कुपित नेत्रों से देखा; पर कुछ बोला नहीं।

चक्रधर जेल पहुँचे, तो शाम हो गई थी। जाते-ही-जाते उनके कपड़े उतार लिये गये और जेल के वस्त्र मिले। लोटा और तसला भी दिया गया। गरदन में लोहे का नंबर डाल दिया गया। चक्रधर जब ये कपड़े पहनकर खड़े हुए, तो उनके मुख पर विचित्र शांति की झलक दिखाई दी,

मानों किसी ने जीवन का तत्त्व पा लिया हो। उन्होंने वही किया, जो उनका कर्तव्य था और कर्तव्य का पालन ही चित्त की शांति का मूल मन्त्र है।

रात को जब वह लेटे, तो मनोरमा की सूरत आँखों के सामने फिरने लगी। उसकी एक-एक बात याद आने लगी और हर बात में कोई-न-कोई गुप्त आशय भी छिपा हुआ मालूम होने लगा; लेकिन इसका अंत क्या? मनोरमा, तुम क्यों मेरे झोपड़े में आग लगाती हो? तुम्हें मालूम है, तुम मुझे किधर खींचे लिये जाती हो। ये बातें कल तुम्हें भूल जायँगी। किसी राजा-रईस से तुम्हारा विवाह हो जायगा, फिर मुझे भूलकर भी याद न करोगी। देखने पर शायद पहचान भी न सको। मेरे हृदय में क्यों अपने खेल के घरौंदे बना रही हो। तुम्हारे लिए जो खेल है, वह मेरे लिए मौत है। मैं जानता हूँ, यह तुम्हारी बाल-क्रीड़ा है; लेकिन मेरे लिए वह आग की चिनगारी है। तुम्हारी आत्मा कितनी पवित्र है, हृदय कितना सरल! धन्य होंगे उसके भाग्य, जिसकी तुम हृदयेश्वरी बनोगी; मगर इस अभागे को कभी अपनी सहानुभूति और सहृदयता से वंचित मत करना। मेरे लिए इतना ही बहुत है!

१७

राजा विशालसिंह की जवानी कब की गुजर चुकी थी; किंतु प्रेम से उनका हृदय अभी तक वञ्चित था। अपनी तीनों रानियों में केवल वसुमती के प्रेम की कुछ भूली हुई-सी याद उन्हें आती थी; लेकिन प्रेम वह प्याला नहीं है; जिससे आदमी छक जाय, उसकी तृष्णा सदैव बनी रहती है। राजा साहब को अब अपनी रानियाँ गँवारिनें-सी जँचती थीं, जिन्हें इसका ज़रा भी ज्ञान न था कि अपने को इस नई परिस्थिति के अनुकूल कैसे बनायें, कैसे जीवन का आनंद उठाएँ। वे केवल आभूषणों ही पर टूट रही थीं। रानी देवप्रिया के बहुमूल्य आभूषणों के लिए तो वह संग्राम छिड़ा कि कई दिनों तक आपस में गोलियाँ-सी चलती रहीं। राजा साहब पर क्या बीत रही है, राज्य की क्या दशा है, इसकी किसी को सुधि न थी। उनके लिए जीवन में यदि कोई वस्तु थी, तो वह रत्न और आभूषण थे। यहाँ तक कि रामप्रिया भी अपने हिस्से के लिए लड़ने-झगड़ने में संकोच न करती थी। इस आभूषण-प्रेम के सिवा उनकी रुचि या विचार में कोई विकास न हुआ था। कभी-कभी तो उनके मुँह से ऐसी बातें निकल जाती थीं कि रानी देवप्रिया के समय की लौंडियाँ-बाँदियाँ मुँह मोड़ कर हँसने लगतीं। उनके यह व्यवहार देख कर राजा साहब का दिल उनसे खट्टा होता जाता था।

यों अपने-अपने ढङ्ग पर तीनों ही उनसे प्रेम करती थीं; पर वसुमती के प्रेम में ईर्ष्या थी, रोहिणी के प्रेम में शासन और रामप्रिया का प्रेम तो सहानुभूति की सीमा के अंदर ही रह जाता था। कोई राजा के जीवन को सुखमय न बना सकती थी, उनकी प्रेम-तृष्णा को तृप्त न कर सकती थी।

उन सरोवरों के बीच में वह प्यास से तड़प रहे थे—उस पथिक की भाँति जो गन्दे तालाबों के सामने प्यास से व्याकुल हो। पानी बहुत था; पर पीने लायक नहीं। उसमें रोग की दुर्गंध थी, विष के कीड़े। इसी व्याकुलता की दशा में मनोरमा मीठे, ताजे जल की गागर लिये हुए सामने से आ निकली—नहीं, उसने उन्हें जल पीने को निमन्त्रित किया—और वह उसकी ओर लपके, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

राजा साहब के हृदय में नई-नई प्रेम-कल्पनाएँ अंकुरित होने लगीं। उसकी एक-एक बात उन्हें अपनी ओर खींचती थी! वेष कितना सुन्दर था, वस्त्रों से सुरुचि झलकती थी, आभूषणों से सुबुद्धि! वाणी कितनी मधुर थी, प्रतिभा में डूबी हुई, एक-एक शब्द हृदय की पवित्रता में रँगा हुआ। कितनी अद्भुत रूप-छटा है, मानों उषा के हृदय से ज्योतिर्मय मधुर संगीत की कोमल, सरस, शीतल, ध्वनि निकल रही हो। वह अकेली आई थी; पर यह विशाल दीवानखाना भरा-सा मालूम होता था। हृदय कितना उदार है, कितना कोमल! ऐसी रमणी के साथ जीवन कितना आनंदमय, कितना कल्याणमय हो सकता है। जो बालिका एक साधारण व्यक्ति के प्रति इतनी श्रद्धा रख सकती है, वह अपने पति के साथ कितना प्रेम करेगी, इसकी कल्पना से उनका चित्त फूल उठता था। जीवन स्वर्ग-तुल्य हो जायगा। और अगर परमात्मा की कृपा से किसी पुत्र का जन्म हुआ, तो कहना ही क्या! उसके शौर्य और तेज के सामने बड़े-बड़े नरेश काँपेंगे। बड़ा प्रतापी, मनस्वी, कर्मशील राजा होगा, जो कुल को उज्ज्वल कर देगा। राजा साहब को इसकी लेशमात्र भी शंका न थी कि मनोरमा उन्हें वरने की इच्छा भी करेगी या नहीं। उनके विचार में अतुल संपत्ति और सभी त्रुटियों को पूरा कर सकती थी।

दीवान साहब से पहले वह खिचे रहते थे। अब उनका विशेष आदर-सत्कार करने लगे। उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करते। दो-तीन बार उनके मकान पर भी गये और अपनी सज्जनता की छाप लगा आये।

ठाकुर साहब की भी कई बार दावत की। आपस में घनिष्ठता बढ़ने लगी। हर्ष की बात यह थी कि मनोरमा के विवाह की बातचीत और कहीं नहीं हो रही थी। मैदान खाली था। इन अवसरों पर मनोरमा उनके साथ कुछ इस तरह दिल खोलकर मिली कि राजा साहब की आशाएँ और भी चमक उठीं। क्या उसका उनसे हँस-हँसकर बातें करना, बार-बार उनके पास आकर बैठ जाना और उनकी बातों को ध्यान से सुनना, रहस्यपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर ताकना और नित्य नई छवि दिखाना, उसके मनोभावों को प्रकट न करता था? रहे दीवान साहब, वह सांसारिक जीव थे और स्वार्थ-सिद्धि के ऐसे अच्छे अवसर को कभी न छोड़ सकते थे, चाहे समाज इसका तिरस्कार ही क्यों न करे। हाँ, अगर शंका थी, तो लौंगी की ओर से थी। वह राजा साहब का आना-जाना पसंद न करती थी। वह उनके इरादों को भाँप गई थी और उन्हें दूर ही रखना चाहती थी। मनोरमा को बार-बार आँखों से इशारा करती कि अन्दर जा। किसी-न-किसी बहाने से उसे हटाने की चेष्टा करती रहती थी। उसका मुँह बन्द करने के लिए राजा साहब उससे लल्लो-चप्पो की बातें करते और एक बार एक क़ीमती साड़ी भी उसकी भेंट की; पर उसने उसकी ओर देखे बिना ही उसे लौटा दिया। राजा साहब के मार्ग में यही एक कंटक था और उसे हटाये बिना वह अपने लक्ष्य पर न पहुँच सकते थे। बेचारे इसी उधेड़-बुन में पड़े रहते थे। आखिर उन्होंने मुंशीजी को अपना भेदिया बनाना निश्चय किया। वही एक ऐसे प्राणी थे, जो इस कठिन समस्या को हल कर सकते थे। एक दिन उन्हें एकान्त में बुलाया और राज्य-संबंधी बातें करने लगे—

राजा—इलाके का क्या हाल है? फसल तो अब की बहुत अच्छी है!

मुंशी—हुजूर, मैंने अपनी उम्र में ऐसी अच्छी फसल नहीं देखी। अगर पूरब के इलाके में २०० कुएँ बन जाते, तो फसल दुगुनी हो जाती। पानी का वहाँ बड़ा कष्ट है।

राजा—मैं खुद इसी फ़िक्र में हूँ। कुएँ क्या, मैं तो एक नहर बनवाना चाहता हूँ। अरमान तो दिल में बड़े-बड़े हैं; मगर सामने अँधेरा देखकर कुछ हौसला नहीं होता। सोचता हूँ, किसके लिए यह जञ्जाल बढ़ाऊँ।

इस भूमिका के बाद विवाह की चरचा अनिवार्य थी।

राजा—मैं अब क्या विवाह करूँगा। जब ईश्वर ने अब तक संतान न दी, तो अब कौन-सी आशा है?

मुंशी—गरीबपरवर, अभी आपकी उम्र ही क्या है। मैंने ८० बरस की उम्र में आदमियों के भाग्य जागते देखे हैं।

राजा—फिर मुझसे अपनी कन्या का विवाह कौन करेगा!

मुंशी—अगर आपका ज़रा-सा इशारा पा गया होता, तो अब तक कभी बहूजी घर में आ गई होतीं। राजा से अपनी कन्या का विवाह करना किसे बुरा लगता है!

राजा—लेकिन मुझे तो अब ऐसी स्त्री चाहिए, जो सुशिक्षित हो, विचारशील हो, राज्य के मामलों को समझती हो, अँगरेजी रहन-सहन से परिचित हो। बड़े-बड़े अफ़सर आते हैं। उनकी मेमों का आदर-सत्कार कर सके। घर को अँगरेजी ढंग से सजा सके। बातचीत करने में चतुर हो। बाहर निकलने में न झिझके। ऐसी स्त्री आसानी से नहीं मिल सकती। मिली भी, तो उसमें चरित्र-दोष अवश्य होंगे। जहाँ ऐसी स्त्रियों को देखता हूँ, भ्रष्ट ही पाता हूँ। मैं तो ऐसी स्त्री चाहता हूँ, जो इन गुणों के साथ निष्कलंक हो। ऐसी एक कन्या मेरी निगाह में है; लेकिन वहाँ मेरी रसाई नहीं हो सकती।

मुंशी—क्या इसी शहर में है?

राजा—शहर ही में नहीं, घर ही में समझिए।

मुंशी—अच्छा! समझ गया। मैं तो चकरा गया कि इस शहर में ऐसा कौन राजा या रईस है, जहाँ हुजूर की रसाई नहीं हो सकती। वह

तो सुनकर निहाल हो जायँगे, दौड़ते हुए करेंगे। कन्या सचमुच देवी है। ईश्वर ने उसे रानी बनने ही के लिए बनाया है। ऐसी विचारशील लड़की मेरी नज़र से नहीं गुज़री!

राजा—आप ज़रा घरवालों को आज़माइए तो। आप जानते हैं न दीवान साहब के घर की स्वामिनी लौंगी है?

मुंशी—वह क्या करेगी?

राजा—वही सब कुछ करेगी। दीवान साहब को तो उसने भेड़ा बना रक्खा है। और है भी बड़ी अभिमानिनी। न उस पर लालच का कुछ दाँव चलता है, न खुशामद का।

मुंशी—हुजूर, उसकी कुंजी मेरे पास है। खुशामद से तो उसका मिज़ाज और भी बढ़ता है। कितने ही बड़े दरजे पर पहुँच जाय; पर है तो वही नीच जात। उसे धमकाकर, मारने का भय दिखाकर, आप उससे जो काम चाहें करा सकते हैं। नीच ज़ात बातों से नहीं, लातों ही से मानती है।

दूसरे दिन प्रातःकाल मुंशीजी दीवान साहब के मकान पर पहुँचे। दीवान साहब मनोरमा के साथ गंगास्नान को गये हुए थे। लौंगी अकेली बैठी हुई थी। मुंशीजी फूले न समाये। ऐसा ही मौक़ा चाहते थे। जाते-ही-जाते विवाह की बात छेड़ दी।

लौंगी ने कहा—तहसीलदार साहब, कैसी बातें करते हो। हमें अपनी रानी को धन के हाथ बेचना थोड़ा ही है। ब्याह जोड़ का होता है कि ऐसा बेजोड़। लड़की कंगाल को दे दे; पर बूढ़े को न दे। ग़रीब रहेगी तो क्या, जनम-भर का रोना-झींकना तो न रहेगा!

मुंशी—तो राजा बूढ़े हैं?

लौंगी—और नहीं क्या छैला-जवान हैं!

मुंशी—अगर यह विवाह न हुआ, तो समझ लो कि ठाकुर साहब कहीं के न रहेंगे। तुम नीच ज़ात, राजाओं का स्वभाव क्या जानो। राजा

लोगों को जहाँ किसी बात की धुन सवार हो गई, फिर उसे पूरी किये बिना न मानेंगे, चाहे उनका राज्य ही क्यों न मिट जाय। राजाओं की बात को टुलकना हँसी नहीं है, क्रोध में आकर न-जाने क्या हुक्म दे बैठें। बात तो समझती नहीं हो, सब धान बाईस पसेरी तौलना चाहती हो।

लौंगी—यह तो अनोखी बात है कि या तो अपनी बेटी दे, या मेरा गाँव छोड़। ऐसी धमकी देकर थोड़े ही ब्याह होता है।

मुंशी—राजाओं-महाराजाओं का काम इसी तरह होता है। अभी तुम इन राजा साहब को जानती नहीं हो। सैकड़ों आदमियों को भुनवा के रख दिया, किसी ने पूछा तक नहीं। अभी चाहें जिसे लुटवा लें, चाहें जिसके घर में आग लगवा दें, अफ़सरों से दोस्ती है ही, कोई उनका कर ही क्या सकता है। जहाँ एक अच्छी-सी डाली भेज दी, बस काम निकल गया।

लौंगी—तो यों कहो कि पूरे डाकू हैं।

मुंशी—डाकू कहो, लुटेरे कहो, सभी कुछ हैं। बात जो थी मैंने साफ़-साफ़ कह दी। यह चारपाई पर बैठकर पान चबाना भूल जायगा।

लौंगी—तहसीलदार साहब, तुम तो ऐसा धमकाते हो, जैसे हम राजा साहब के हाथों बिक गये हों। रानी रूठेंगी अपना सोहाग लेंगी। अपनी नौकरी ही न लेंगे, ले जाएँ। भगवान् का दिया खाने-भर को बहुत है।

मुंशी—अच्छी बात है; मगर याद रखना, ख़ाली नौकरी से हाथ धोकर गला न छूटेगा। राजा लोग जिसे निकालते हैं, कोई-न-कोई दाग़ भी ज़रूर लगा देते हैं। एक झूठा इल्ज़ाम भी लगा देंगे, तो कुछ करते-धरते न बनेगी। यही कह दिया कि इन्होंने सरकारी रक़म उड़ा ली है। तो बताओ क्या होगा। समझ से काम लो। बड़ों से रार मोल लेने में अपना निबाह नहीं है। तुम अपना मुंह बँद रक्खो, हम दीवान साहब को राज़ी कर लेंगे। अगर तुमने भाँजी मारी, तो सारी बला तुम्हारे ही सिर आयेगी।

ठाकुर साहब चाहे इस वक्त तुम्हारा कहना मान जाएँ, पर जब चरखे में फँसेंगे तो सारा गुस्सा तुम्हीं पर उतारेंगे। कहेंगे, तुम्हीं ने मुझे चौपट किया। सोचो ज़रा !

लौंगी गहरे सोच में पड़ गई। वह और सब कुछ सह सकती थी, दीवान साहब का क्रोध न सह सकती थी। यह भी जानती थी कि दीवान साहब के दिल में ऐसा ख़याल आना असम्भव नहीं है। मनोरमा के रंग-ढंग से भी उसे मालूम हो गया था कि वह राजा साहब को दुत्कारना नहीं चाहती। जब वह लोग राज़ी हैं, तो मैं क्यों बोलूँ। कहीं पीछे से कोई आफ़त आई, तो मेरे ही सिर के बाल नोचे जायेंगे। मुंशीजी ने भले चेता दिया, नहीं तो मुझसे बिना बोले कब रहा जाता।

अभी उसने कुछ जवाब न दिया कि दीवान साहब स्नान करके लौट आये। उन्हें देखते ही लौंगी ने इशारे से बुलाया और अपने कमरे में ले जाकर उनके कान में बोली—राजा साहब ने मनोरमा के ब्याह के लिए संदेशा भेजा है।

ठाकुर—तुम्हारी क्या सलाह है ?

लौंगी—जो तुम्हारी इच्छा हो करो, मेरी सलाह क्या पूछते हो ?

ठाकुर—यही मेरी बात का जवाब है ? अगर मुझे अपनी इच्छा से करना होता, तो तुमसे पूछता ही क्यों ?

लौंगी—मेरी बात मानोगे तो है नहीं, पूछने से फायदा ?

ठाकुर—कोई बात बता दो, जो मैंने तुम्हारी इच्छा से न की हो।

लौंगी—कोई बात भी मेरी इच्छा से नहीं होती। एक बात हो तो बताऊँ। तुम्हीं कोई बात बता दो, जो मेरी इच्छा से हुई हो। तुम करते हो अपने ही मन की, हाँ मैं अपना धर्म समझ के भूँक लेती हूँ।

ठाकुर—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मेरा मारने को जी चाहता है। तू क्या चाहती है कि मैं अपनी ज़बान कटवा लूँ।

लौंगी—उसकी परिच्छा तो अभी हुई जाती है, तब पूछती हूँ कि मेरी इच्छा से हो रहा है कि विना मेरी इच्छा के। मैं कहती हूँ मुझे यह विवाह एक आँख नहीं भाता। मानते हो?

ठाकुर—हाँ, मानता हूँ। जाकर मुंशीजी से कहे देता हूँ।

लौंगी—मगर राजा साहब बुरा मान जायँ तो?

ठाकुर—कुछ परवा नहीं।

लौंगी—नौकरी जाती रहे तो?

ठाकुर—कुछ परवा नहीं। ईश्वर का दिया बहुत है, और न भी हो तो क्या। एक बात निश्चय कर ली, तो उसे करके छोड़ेंगे, चाहे उसके पीछे प्राण ही क्यों न चले जायँ।

लौंगी—मेरे सिर के बाल तो न नोचने लगोगे कि तू ही ने मुझे चौपट किया? अगर ऐसा करना हो, तो मैं साफ़ कहती हूँ मंजूर कर लो। मुझे बाल नुचवाने का बूता नहीं है।

ठाकुर—क्या तू मुझे बिलकुल ही गया-गुज़रा समझती है। मैं ज़रा झगड़े से बचता हूँ, तो तूने समझ लिया कि इनमें कुछ दम ही नहीं है। लत्ते-लत्ते उड़ जाऊँ; पर विशालसिंह से लड़की का विवाह न करूँ। तूने मुझे समझा क्या है? लाख गया बीता हूँ तो भी क्षत्रिय हूँ।

दीवान साहब उसी जोश में उठे और जाकर मुंशीजी से बोले—आप राजा साहब से जाकर कह दीजिए कि हमें विवाह करना मंजूर नहीं।

लौंगी भी ठाकुर साहब के पीछे-पीछे आई थी। मुंशीजी ने उसकी तरफ़ तिरस्कार से देखकर कहा—आप इस वक्त गुस्से में मालूम होते हैं। राजा साहब ने बड़ी मिन्नत करके और बहुत डरते-डरते आपके पास यह संदेशा भेजा है। आपने मंजूर न किया, तो मुझे भय है कि वह ज़हर न खा लें।

लौंगी—भला, जब जहर खाने लगेंगे तब देखी जायगी। इस वक्त आप जाकर यही कह दीजिए।

मुंशी—दीवान साहब, इस मामले में ज़रा सोच-समझकर फैसला कीजिए !

लौंगी—राजा साहब के पास दौलत के सिवा और क्या है ? दौलत ही तो संसार में सब कुछ नहीं।

मुंशी—सब कुछ न हो ; लेकिन इतनी तुच्छ भी नहीं !

लौंगी—शादी-ब्याह के मामले में मैं उसे तुच्छ समझती हूँ।

मुंशी—यह मैं कब कहता हूँ कि दौलत संसार की सब चीजों से बढ़कर है। इतना आप लोगों की दुआ से जानता हूँ कि सुख का मूल संतोष है। एक आदमी जल और स्थल के सारे रत्न पाकर ग़रीब रह सकता है, दूसरा फटे वस्त्रों और रूखी रोटियों में भी धनी हो सकता है...

सहसा मनोरमा आकर खड़ी हो गई। यह वाक्य उसके कान में भी पड़ गया। समझी, धन की निंदा हो रही है। बात काटकर बोली—इसे संतोष नहीं, मूर्खता कहना चाहिए।

ठाकुर—अगर संतोष मूर्खता है, तो संसार-भर के नीति-ग्रन्थ, उपनिषदों से लेकर कुरान तक, मूर्खता के ढेर हो जायेंगे। संतोष से अधिक और किसी तप की महिमा नहीं गाई गई है। धन ही पाप, द्वेष और अन्याय का मूल है।

मनोरमा—संसार के धर्मग्रन्थ, उपनिषदों से लेकर कुरान तक, उन लोगों के रचे हुए हैं, जो रोटियों को मुहताज थे। उन्होंने अंगूर खट्टे समझ कर धन की निंदा की, तो कोई आश्चर्य नहीं। अगर कुछ ऐसे आदमी हैं, जो धनी होकर भी धन की निंदा करते हैं, तो मैं उन्हें धूर्त समझती हूँ, जिन्हें अपने सिद्धान्त पर व्यवहार करने का साहस नहीं।

ठाकुर साहब ने समझा मनोरमा ने यह व्यंग्य उन्हीं पर किया है। चिढ़कर बोले—ऐसे लोग भी तो हो गये हैं, जिन्होंने धन ही नहीं, राज-पाट पर लात मार दी है।

मनोरमा—ऐसे आदमियों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

मेरी समझमें तो धन ही सुख और कल्याण का मूल है। संसार में जितना परोपकार होता है धनियों ही के हाथों होता है।

ठाकुर—संसार में जितना अत्याचार होता है, वह भी तो धनियों ही के हाथों होता है।

मनोरमा—हाँ मानती हूँ, धन से अत्याचार भी होता है; लेकिन काँटे से फूल का आदर कम नहीं होता। संसार में धन सर्वप्रधान वस्तु है। जिंदगी का कौनसा काम है, जो धन के विना चल सके। धर्म भी बिना धन के नहीं हो सकता। यही कारण है कि संसार ने धन को जीवन का लक्ष्य मान लिया है। धन का निरादर करके हमने प्रभुत्व खो दिया और यदि हमें संसार में रहना है, तो हमें धन की उपासना करनी पड़ेगी। इसी से लोक और परलोक में हमारा उद्धार होगा।

मुंशीजी ने विजय-गर्व से हँसकर कहा—कहिए दीवान साहब, मेरी डिग्री हुई कि अब भी नहीं?

ठाकुर—मुझे तो मालूम होता है धन के माहात्म्य पर इसने कोई लेख लिखा था और वही पढ़ सुनाया। क्यों मनोरमा, है न यही बात?

मनोरमा—अभी तो मैंने यह लेख नहीं लिखा; लेकिन लिखूँगी तो उसमें यही विचार प्रकट करूँगी। मेरे शब्दों में कदाचित् आपको दुराग्रह का भाव झलकता हुआ मालूम होता हो। इसका कारण यह कि मैं अभी एक अँगरेज़ी किताब पढ़े चली आती हूँ, जिसमें संतोष ही का गुणानुवाद किया गया है।

मुंशीजी ने देखा, मनोरमा के मन की थाह लेने का अच्छा अवसर है। ठाकुर साहब की ओर आँखें मारकर बोले—मनोरमा, मेरे विचार तुम्हारे विचारों से बिलकुल मिलते हैं। धन से जितना अधर्म होता है, अगर ज्यादा नहीं तो उतना ही धर्म भी होता है; लेकिन कभी-कभी ऐसे मौके आ जाते हैं, जब धन के मुक़ाबले में और कितनी ही बातों का लिहाज़ करना पड़ता है। कन्या का विवाह ऐसा ही मौक़ा है। मेरी कन्या का

विवाह होने वाला है। मेरे सामने इस वक्त दो वर हैं। एक तो अधेड़ आदमी है; पर दौलत उसके घर में गुलामी करती है। दूसरा एक सुन्दर युवक है, बहुत ही होनहार; लेकिन ग़रीब। बताओ किससे कन्या का विवाह करूँ?

ठाकुर—अगर कन्या की बात है, तो मैं यही सलाह दूँगा कि आप दौलत पर न जाइए। उसी युवक से विवाह कीजिए।

लौंगी—ऐसा तो होना ही चाहिए। ब्याह जोड़ का अच्छा होता है ऐसा ब्याह किस काम का कि वर बहू का बाप मालूम हो, बेचारी कन्या के दिन रोते ही बीतें।

मुंशी—और तुम्हारी क्या राय है मनोरमा?

मनोरमा ने कुछ लजाते हुए कहा—आप जैसा उचित समझें करें।

मुन्शी—नहीं, इस विषय में तुम्हारी राय बुड्ढों की राय से बढ़कर है।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ जो दिन खाने-पहनने, सैर-तमाशे के होते हैं; अगर वे किसी ग़रीब आदमी के साथ चक्की चलाने और चौका-बरतन करने में कट गये, तो जीवन का सुख ही क्या। हाँ, इतना मैं अवश्य कहूँगी कि उम्र का एक साल एक लाख से कम मूल्य नहीं रखता।

यह कहकर मनोरमा चली गई। उसके जाने के बाद दीवान साहब कई मिनट तक ज़मीन की ओर ताकते रहे। अन्त में लौंगी से बोले—तुमने इसकी बातें सुनीं?

लौंगी—सुनीं क्यों नहीं, क्या बहरी हूँ?

ठाकुर—फिर!

लौंगी—फिर क्या, लड़के हैं जो मुँह में आया बकते हैं, उनके बकने से क्या होता है। माँ-बाप का धर्म है कि लड़कों के हित ही की करें। लड़का माहुर माँगे, तो क्या माँ-बाप उसे माहुर दे देंगे? कहिए मुंशीजी!

मुन्शी—हाँ, यह तो ठीक ही है; लेकिन जब लड़के अपना भला-बुरा समझने लगें, तो उनका रुख़ देखकर ही काम करना चाहिए।

लौंगी—जब तक माँ-बाप जीते हैं, तब तक लड़कों को बोलने का अख्तियार ही क्या है। आप जाकर राजा साहब से यही कह दीजिए।

मुंशी—दीवान साहब, आपका भी यही फैसला है?

ठाकुर—साहब, मैं इस विषय में सोचकर जवाब दूँगा। हाँ, आप मेरे दोस्त हैं, इस नाते आपसे इतना कहता हूँ कि आप कुछ इस तरह गोल-मोल बातें कीजिए कि मुझ पर कोई इल्ज़ाम न आने पाये। आपने तो बहुत दिनों अफसरी की है और अफ़सर लोग ऐसी बातें करने में निपुण होते हैं।

मुंशीजी मन में लौंगी को गालियाँ देते हुए वहाँ से चले। जब फाटक के पास पहुँचे तो देखा, मनोरमा एक वृक्ष के नीचे घास पर लेटी हुई है। उन्हें देखते ही वह उठकर खड़ी हो गई। मुंशीजी ज़रा ठिठक गये और बोले—क्यों मनोरमा रानी, तुमने मुझे जो सलाह दी, उस पर खुद अमल कर सकती हो?

मनोरमा ने शर्म से सुर्ख़ होकर कहा—यह तो मेरे माता-पिता के निश्चय करने की बात है।

मुंशीजी ने सोचा, अगर जाकर राजा साहब से कहे देता हूँ कि दीवान साहब ने साफ़ इंकार कर दिया, तो मेरी किरकिरी होती है। राजा साहब कहेंगे, फिर गये ही किस बिरते पर थे। शायद यह भी समझें कि इसे मामला तय करने की तमीज़ नहीं। तहसीलदारी नहीं की, भाड़ झोंकता रहा; इसलिए आपने जाकर नून की हाँकनी शुरू की—हुजूर, बुढ़िया बला की चुड़ैल है, हत्थे पर तो आती ही नहीं, इधर भी झुकती है उधर भी; और दीवान साहब तो निरे मिट्टी के ढेले हैं।

राजा साहब ने अधीर होकर पूछा—आख़िर आप तय क्या कर आये?

मुंशी—हुजूर के एकबाल से फ़तह हुई; मगर दीवान साहब खुद आपसे शादी की बातचीत करते झेंपते हैं। आपकी तरफ़ से बातचीत

शुरू हो, तो शायद उन्हें इंकार न होगा। मनोरमा रानी तो सुनकर बहुत खुश हुईं।

राजा—अच्छा! मनोरमा खुश हुईं! खूब हँसी होंगी। आपने कैसे जाना कि खुश है?

मुंशी—हुजूर, साफ़-साफ़ कहला लिया। मैंने ऐसी लपेट की बातें कीं कि उनसे क़बुलवा के छोड़ा।

राजा—क्या कहा, कुछ याद है?

मुंशी—हुजूर, सब कुछ साफ़-साफ़ कह डाला, उम्र का फ़र्क़ कोई चीज़ नहीं, आपस में मुहब्बत होनी चाहिए, मुहब्बत के साथ दौलत भी हो तो क्या पूछना। हाँ, दौलत इतनी होनी चाहिए, जो किसी तरह कम न हो। और कितनी ही बातें इसी क़िस्म की हुईं। बराबर मुसकिराती रहीं।

राजा—तो मनोरमा को पसंद है?

मुंशी—उन्हीं की बातें सुनकर तो लौंगी भी चकराई।

राजा—तो मैं आज ही बातचीत शुरू कर दूँ? क़ायदा तो यही है कि उधर से 'श्रीगणेश' होता; लेकिन राजाओं में अक्सर पुरुष की ओर से भी छेड़छाड़ होती है। पच्छिम में तो सनातन से यही प्रथा चली आती है। मैं आज ठाकुर साहब की दावत करूँगा और मनोरमा को भी बुलाऊँगा। आप भी ज़रा तकलीफ़ कीजिएगा।

राजा साहब ने बाक़ी दिन दावत का सामान करने में काटा। हजामत बनवाई। एक भी पका बाल न रहने दिया। उबटन मलवाया, अपनी अच्छी-से-अच्छी अचकन निकाली, केसरिये रंग का रेशमी साफ़ा बाँधा, गले में मोतियों की माला डाली, आँखों में सुरमा लगाया, माथे पर केसर का तिलक सजाया, कमर में रेशमी कमरबन्द लपेटी, कन्धे पर शाह रुमाल रक्खा, मख़मली ग़िलाफ़ में रक्खी हुई तलवार कमर से लटकाई और यों सज-सजाकर जब वह खड़े हुए, तो ख़ासे छैला मालूम होते थे। ऐसा सुन्दर, बाँका जवान शहर में किसी ने कम देखा

होगा। उनके सौम्य स्वरूप और सुगठित शरीर पर यह वस्त्र और आभूषण खूब खिल रहे थे।

निमन्त्रण तो जा ही चुका था। रात के ९ बजते-बजते दीवान साहब और मनोरमा आ गये। राजा साहब उनका स्वागत करने दौड़े। मनोरमा ने उनकी ओर देखा तो मुसकिराई, मानों कह रही थी—ओ हो! आज तो कुछ और ही ठाट हैं! उसने आज और ही वेष रचा था। उसकी देह पर एक भी आभूषण न था। केवल एक सुफ़ेद साड़ी पहने हुए थी। उसका रूप-माधुर्य कभी इतना प्रस्फुटित न हुआ था। अलंकार भावों के अभाव का आवरण है। सुन्दर को अलंकारों की ज़रूरत नहीं। कोमलता अलंकारों का भार नहीं सह सकती।

दीवान साहब इस समय बहुत चिंतित मालूम होते थे। उनकी रक्षा करने के लिए यहाँ लौंगी न थी और बहुत जल्द उनके सामने एक भीषण समस्या आनेवाली थी। दावत का मंशा वह खूब समझ रहे थे। कुछ समझ में न आता था, क्या कहूँगा? लौंगी ने चलते-चलते उनसे समझा के कह दिया था—'हाँ' न करना, साफ़-साफ़ कह देना, यह बात नहीं हो सकती; मगर ठाकुर साहब उन वीरों में थे, जिनकी पीठ पर पाली में भी हाथ फेरने की जरूरत रहती है। बेचारे बिल-सा ढूँढ़ रहे थे कि कहाँ भाग जाऊँ। सहसा मुंशी वज्रधर आ गये। दीवान साहब की आँखें-सी मिल गईं। दौड़े और उन्हें लेकर एक अलग के कमरे में सलाह करने लगे। मनोरमा पहले ही झूले-घर में आकर इधर-उधर टहल रही थी। अब न वह हरियाली थी, न वह रौनक़, न वह सफ़ाई। सन्नाटा छाया हुआ था। राजा साहब ने उसे इधर आते देख लिया। वह उससे एकान्त में बातें करना चाहते थे। मौक़ा पाया, तो आकर उसके सामने खड़े हो गये।

मनोरमा ने कहा—रानीजी के सामने इस झूले-घर में कितनी रौनक़ थी। अब जिधर देखती हूँ सूनासूना दिखाई देता है।

राजा—अब तुम्हीं से इसकी फिर रौनक़ होगी मनोरमा ! यह भी मेरे हृदय की तरह तुम्हारी ओर आँखें लगाये बैठा है !

प्रणय के ये शब्द पहली बार मनोरमा के कानों में पड़े। उसका मुख-मंडल लज्जा से आरक्त हो गया। वह सहमी-सी खड़ी रही। कुछ बोल न सकी।

राजा साहब फिर बोले—मनोरमा, यद्यपि मेरे तीन रानियाँ हैं ; पर मेरा हृदय अब तक अक्षुण्ण है, उस पर आज तक किसी का अधिकार नहीं हुआ। कदाचित् वह अज्ञात रूप से तुम्हारी राह देख रहा था। तुमने मेरी रानियों को देखा है, उनकी बातें सुनी हैं, उनमें ऐसी कौन है जिसकी प्रेमोपासना की जाय। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि इतने दिन इनके साथ कैसे काटे !

मनोरमा ने गंभीर होकर कहा—मेरे लिए यह सौभाग्य की बात होगी कि आपकी प्रेम-पात्री बनूँ ; पर......मुझे भय है कि मैं आदर्श पत्नी न बन सकूँगी। कारण तो नहीं बतला सकती, मैं स्वयं नहीं जानती ; पर मुझे यह भय अवश्य है। मेरी हार्दिक इच्छा सदैव यही रही है कि किसी बन्धन में न पड़ूँ। मैं पक्षियों की भाँति स्वाधीन रहना चाहती हूँ।

राजा ने मुसकिराते हुए कहा—मनोरमा, प्रेम तो कोई बन्धन नहीं है।

मनोरमा—प्रेम बन्धन न हो ; पर धर्म तो बन्धन है। मैं प्रेम के बंधन से नहीं घबराती, धर्म के बन्धन से घबराती हूँ। आपको मुझ पर बड़ी कठोरता से शासन करना होगा। मैं आपको अपनी कुंजी पहले ही बताये देती हूँ। मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद हो भी न सकेगा। (मुसकिराकर) मैं रानी तो बनना चाहती हूँ ; पर किसी राजा की रानी नहीं। हाँ, आपको प्रसन्न रखने की चेष्टा करूँगी। जब आप मुझे भटकते देखें, ठोक दें। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं प्रेम करने के लिए नहीं, केवल विलास करने के लिए ही बनाई गई हूँ।

राजा—तुम अपने ऊपर जुल्म कर रही हो मनोरमा, तुम्हारा वेष तुम्हारी बातों का विरोध कर रहा है, तुम्हारे हृदय में वह प्रकाश है, जिसकी एक ज्योति मेरे समस्त जीवन के अन्धकार का नाश कर देगी।

मनोरमा—मैं दोनों हाथों से धन उड़ाऊँगी। आपको बुरा तो न लगेगा? मैं धन की लौंडी बनकर नहीं, उसकी रानी बनकर रहूँगी।

राजा—मनोरमा, राज्य तुम्हारा है, धन तुम्हारा है, मैं तुम्हारा हूँ। सब तुम्हारी इच्छा के दास होंगे।

मनोरमा—मुझे बातें करने की तमीज़ नहीं है। यह तो आप देख ही रहे हैं। लौंगी अम्माँ कहती हैं कि तू बातें करती है, तो लाठी-सी मारती है।

राजा—मनोरमा, उषा में अगर संगीत होता, तो वह भी इतना कोमल न होता।

मनोरमा—पिताजी से तो अभी आपकी बातें नहीं हुईं?

राजा—अभी तो नहीं मनोरमा! अवसर पाते ही करूँगा; पर कहीं उन्होंने इंकार कर दिया तो?

मनोरमा—मेरे भाग्य का निर्णय वही कर सकते हैं। मैं उनका यह अधिकार न छीनूँगी।

दोनों आदमी बरामदे में पहुँचे, तो मुंशीजी और दीवान साहब खड़े थे। मुंशीजी ने राजा साहब से कहा—हुजूर को मुबारकबाद देता हूँ।

दीवान—मुंशीजी......

मुंशी—हुजूर, आज जलसा होना चाहिए। (मनोरमा से) महारानी, आपका सोहाग सदा सलामत रहे।

दीवान—ज़रा मुझे सोच......

मुंशी—जनाब शुभ काम में सोच-विचार कैसा। भगवान् जोड़ी सलामत रक्खें।

सहसा बाग़ में बैंड बजने लगा और राजा के कर्मचारियों का समूह इधर-उधर से आ-आकर राजा साहब को मुबारकबाद देने लगा। दीवान साहब सिर झुकाये खड़े थे। न कुछ कहते बनता था न सुनते। दिल में मुंशीजी को हज़ारों गालियाँ दे रहे थे कि इसने मेरे साथ कैसी चाल चली! आख़िर यह सोचकर दिल को समझाया कि लौंगी से सब हाल कह दूँगा। भाग्य में यही बदा था, तो मैं करता क्या। मनोरमा भी तो खुश है।

बारह बजते-बजते मेहमान लोग सिधारे। राजा साहब के पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। सारे आदमी सो रहे थे; पर वह बागीचे में हरी-हरी घास पर टहल रहे थे। चैत्र की शीतल, सुखद, मंद समीर, चन्द्रमा की शीतल, सुखद, मंद घटा और बाग़ की शीतल, सुखद, मंद, सुगंध में उन्हें भी ऐसा उल्लास, ऐसी सुषमा, ऐसा आनन्द न प्राप्त हुआ था। मंद समीर में मनोरमा थी, चन्द्र की छटा में मनोरमा थी, शीतल सुगंध में मनोरमा थी, और उनके रोम-रोम में मनोरमा थी। सारा विश्व मनोरमा-मय हो रहा था।

१८

चक्रधर को जेल में पहुँचकर ऐसा मालूम हुआ कि एक नई दुनिया में आ गये, जहाँ मनुष्य-ही-मनुष्य हैं, ईश्वर नहीं। उन्हें ईश्वर के दिये हुए वायु और प्रकाश के मुश्किल से दर्शन होते थे। मनुष्य के रचे हुए संसार में मनुष्यत्व की कितनी हत्या हो सकती है, इसका उज्ज्वल प्रमाण सामने था। भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते। वस्त्र ऐसे, जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता; और परिश्रम इतना करना पड़ता जितना, बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से ज़बरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कंटक साधन। दो रुपये रोज़ का काम लेकर, दो आने का खाना खिलाना ऐसा अन्याय है, जिसकी कहीं नज़ीर नहीं मिल सकती! जिस परिश्रम से एक कुनबे का पालन होता हो, वह अपना पेट भी नहीं भर सकता! इन्साफ़ तो हम तब जानें जब अपराधी को दंड दीजिए, उससे खूब काम लीजिए; लेकिन उसकी मेहनत के पैसे उसके घर पहुँचा दीजिए। अपराधी के साथ उसके घरवालों की प्राण हत्या न कीजिए। अगर यह कहिए कि अपराधी घरवालों की सलाह से अपराध करता है, तो इसका प्रमाण दीजिए। बहुत से कुकर्म ऐसे होते हैं, जिनकी घरवालों को गंध तक नहीं मिलती। ऐसी दशा में घर वालों को क्यों दंड दिया जाय। फिर नाबालिगों का क्या दोष? वह तो कुकर्म में शरीक नहीं होते। उनका क्यों खून करते हो? आदि से अंत तक सारा व्यापार घृणित, जघन्य, पैशाचिक और निन्द्य है। अनीति की अक्ल भी यहाँ दंग है, दुष्टता भी यहाँ दाँतों-तले उँगली दबाती है।

मगर कुछ ऐसे भाग्यवान् भी हैं, जिनके लिए ये जेल कल्पवृक्ष से कम नहीं। बैल अनाज पैदा करता है, तो अनाज का भूसा खाता है। कभी-कभी खली-चोकर और दाना भी उसके कंठ तले पहुँच जाता है। क़ैदी बैल से भी गया-गुज़रा है। वह नाना प्रकार की शाक-भाजी, फल-फूल, पैदा करता है; पर उसकी गंध भी उसे नहीं मिलती। नित्य प्रति सब्ज़ी, फल और फूलों से भरी हुई डालियाँ हुक्काम के बंगलों पर पहुँच जाती हैं। क़ैदी देखता है और क़िस्मत ठोककर रह जाता है।

चक्रधर को चक्की पीसने का काम दिया गया। प्रातःकाल गेहूँ तौलकर दे दिया जाता और सन्ध्या तक उसे पीसना ज़रूरी था। कोई उज्र या बहाना न सुना जाता था। बीच में केवल एक बार खाने की छुट्टी मिलती थी। इसके बाद फिर चक्की में जुत जाना पड़ता था। वह बराबर सावधान रहते थे कि किसी कर्मचारी को उन्हें कुछ कहने का मौक़ा न मिले; लेकिन गालियों में बातें करना जिनकी आदत हो गई हो, उन्हें कोई क्योंकर रोकता। प्रायः रोज फटकार और गालियाँ खानी पड़ती थीं और उनकी रातें सोने के बदले रोने और दिल को शांत करने में कट जाती थीं।

किन्तु विपत्ति का अन्त यहीं तक न था। क़ैदी लोग उन पर ऐसे अश्लील, ऐसे अपमानजनक आवाज़ें कसते थे कि क्रोध और घृणा से उनका रक्त खौल उठता; पर लहू का घूँट पीकर रह जाते थे। कोई शिकायत सुननेवाला था, न घाव पर मरहम रखनेवाला। सबसे बड़ी मुसीबत का सामना रात को होता था, जब दरवाज़े बन्द हो जाते थे और अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए बाहु-बल के सिवा कोई साधन न होता था। उनके कमरे में पाँच क़ैदी रहते थे। उनमें धन्नासिंह नाम का एक ठाकुर भी था, बहुत ही बलिष्ठ और ग़ज़ब का शैतान। वह उनका नेता था। वे सब इतना शोर मचाते, इतनी गंदी, घृणोत्पादक बातें करते कि चक्रधर को कानों में उँगलियाँ डालनी पड़ती थीं। उन्हें प्रति क्षण यह भय रहता था कि ये सब न जाने कब मेरी दुर्गति कर डालें। रात को जब

तक वे सो न जाएँ वह खुद न सोते थे। हुक्म तो यह था कि कोई क़ैदी तम्बाकू भी न पीने पाये; पर यहाँ गाँजा, भंग, शराब, अफीम, यहाँ तक कि कोकेन भी न-जाने किस तिकड़म से पहुँच जाते थे। नशे में वे इतने उद्दण्ड हो जाते, मानों नर-तनधारी राक्षस हों।

धीरे-धीरे चक्रधर को इन आदमियों से सहानुभूति होने लगी। सोचा, इन परिस्थियों में पड़कर ऐसा कौन प्राणी है, जिसका पतन न हो जायगा। बहुत दिनों से सेवाकार्य करते रहने पर भी पहले उनको कैदियों से मिलने-जुलने में झिझक होती थी। उनकी गन्दी बातें सुनकर वह घृणा से मुँह फेर लेते थे। उन्हें सभी श्रेणी के मनुष्यों से साबिका पड़ चुका था; पर ऐसे निर्लज्ज, गालियाँ खाकर हँसनेवाले, दुर्व्यसनों में डूबे हुए, मुँहफट, बेहया, आदमी उन्होंने अब तक न देखे थे। उन्हें न गालियों की लाज थी, न मार का भय। कभी-कभी उन्हें ऐसी-ऐसी अस्वाभाविक ताड़नाएँ मिलती थीं कि चक्रधर के रोएँ खड़े हो जाते थे; मगर क्या मज़ाल कि किसी कैदी की आँखों में आँसू आये। यह व्यापार देख-देखकर चक्रधर अपने कष्टों को भूल जाते थे। कोई क़ैदी उन्हें गाली देता, तो चुपके हो जाते और इस ताक में रहते कि कब इसके साथ सज्जनता दिखाने का अवसर मिले। तहसीलदार साहब का हुक्काम से मेल-जोल था ही। जब से रियासत में नौकर हुए थे, यह मेल-जोल और भी बढ़ गया था। उन लोगों को देहातों से ला-लाकर कोई-न-कोई सौगात भेजते रहते थे। उसी मुलाहजे की बदौलत उन्हें समय-समय पर चक्रधर के पास खाने-पीने की चीजें भेजने में कोई दिक्कत न होती थी। चक्रधर इन चीज़ों को पाते ही क़ैदियों में बाँट देते। ऐसी लूट मचती कि कभी-कभी उनको अपने मुँह में ज़रा-सा भी रखने की नौबत न आती। जेल के छोटे कर्मचारी तो चाहते थे कि हमीं सब कुछ हड़प जायें; इसलिए जब वे चीजें उनके हाथ न लगकर क़ैदियों को मिल जाती थीं, तो वे इसकी कसर चक्रधर से निकालते थे—काम लेने में और भी सख्ती करते, ज़रा

ज़रा-सी बात पर गालियाँ देने पर तैयार हो जाते ; लेकिन क़ैदियों पर चक्रधर की सज्जनता का कुछ-न-कुछ असर अवश्य होता था। चक्रधर के साथ उनका बरताव कुछ नम्र होता जाता था। जहाँ चक्रधर की हँसी उड़ाते थे उन्हें मुँह चिढ़ाते थे, वहाँ अब उनकी बातों की ओर ध्यान देने लगे। आत्मा को आत्मा ही की आवाज़ जगा सकती है। चक्रधर का जीवन कभी इतना आदर्श न था। क़ैदियों को मौक़ा मिलने पर धर्म-कथाएँ सुनाते, ईश्वर की दया और क्रोध का स्वरूप दिखाते। ईश्वर अपने भक्तों से कितना प्रसन्न होता है। उनके पापों को कितनी दया से क्षमा कर देता है! ईश्वर-भक्तों की कथा इसका उज्ज्वल प्रमाण थी। केवल पश्चात्ताप का भाव मन में आना चाहिए। अजामिल और वाल्मीकि तर गये, तो क्या तुम और हम न तरेंगे? इन कथाओं को कैदी लोग इतने चाव से सुनते, मानों एक-एक शब्द उनके हृदय पर अंकित हो जाता है; किन्तु इनका असर बहुत जल्द मिट जाता था, इतनी जल्दी का आश्चर्य होता था। उधर कथा हो रही है और इधर लात-मुक्के चल रहे हैं। कभी-कभी वे इन कथाओं पर अविश्वास-पूर्ण टीकाएँ करते और बात हँसी में उड़ा देते। एक कहता—लो धन्नासिंह, अब हम लोग वैकुण्ठ चलेंगे, कोई डर नहीं है, भगवान् क्षमा कर ही देंगे, वहाँ खूब जलसा रहेगा। दूसरा कहता—धन्नासिंह, मैं तुझे न जाने दूँगा, ऊपर से ऐसा ढकेलूँगा कि हड्डियाँ टूट जायँगी। भगवान् से कह दूँगा कि ऐसे पापी को वैकुण्ठ में रक्खोगे, तो तुम्हारे नरक में स्यार लोटेंगे। तीसरा कहता—यार, वहाँ गाँजा मिलेगा कि नहीं? अगर गाँजे को तरसना पड़ा, तो वैकुंठ ही किस काम का। वैकुंठ तो जब जानें कि वहाँ ताड़ी और शराब की नदियाँ बहती हों। चौथा कहता—अजी यहाँ से बोरियों गाँजा और चरस लेते चलेंगे, वहाँ के रखवाले क्या घूस न खाते होंगे, उन्हें भी कुछ दे-दिलाकर काम निकाल लेंगे। जब यहाँ जुटा लिया, तो वहाँ भी जुटा ही लेंगे; पर ऐसी अभक्ति-पूर्ण आलोचनाएँ सुनकर भी चक्रधर हताश न होते। शनैः-शनैः उनकी भक्ति-चेतना स्वयं दृढ़

होती जाती थी। भक्ति की ऐसी शिक्षा उन्हें कदाचित् और कहीं न मिल सकती। बलवान् आत्माएँ प्रतिकूल दशाओं ही में उत्पन्न होती हैं। कठिन परिस्थिति में ही उनका धैर्य और साहस, उनकी सहृदयता और सहिष्णुता, उनकी बुद्धि और प्रतिभा अपना मौलिक रूप दिखाती हैं। आत्मोन्नति के लिए कठिनाइयों से बढ़कर कोई विद्यालय नहीं; कठिनाइयों ही में ईश्वर के दर्शन होते हैं और हमारी उच्चतम शक्तियाँ विकास पाती हैं। जिसने कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया, उसका चरित्र बालू की भीत है, जो वर्षा के पहले ही झोंके में गिर पड़ती है। उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। महान् आत्माएँ कठिनाइयों का स्वागत करती हैं, उनसे घबराती नहीं; क्योंकि यहाँ आत्मोत्कर्ष के जैसे मौक़े मिलते हैं उतने और किसी दशा में नहीं मिल सकते। चक्रधर इस परिस्थिति को एक शिक्षार्थी की दृष्टि से देखते थे और विचलित न होते थे। उन्हें विश्वास था कि प्रकृति उन्हीं प्राणियों को परीक्षा में डालती है, जिनके द्वारा उसे संसार में कोई महान् उद्देश्य पूरा करना होता है।

इस भाँति कई महीने गुज़र गये। एक दिन संध्या-समय चक्रधर दिन-भर के कठिन श्रम के बाद बैठे संध्या कर रहे थे कि कई क़ैदी आपस में बातें करते हुए निकले—आज इस दारोगा की ख़बर लेनी चाहिए। जब देखो, गालियाँ दिया करता है, सीधे मुँह तो बात ही नहीं करता। बात-बात पर मारने दौड़ता है। हम भी तो आदमी हैं। कहाँ तक सहें! अब आता ही होगा। ऐसा मारो कि जनम-भर को दाग हो जाय! यही न होगा, साल-दो-साल की मीयाद और बढ़ जायगी, बचा की आदत तो छूट जायगी! चक्रधर इस तरह की बातें अक्सर सुनते रहते थे; इसलिए उन्होंने इस पर कुछ विशेष ध्यान न दिया; मगर भोजन करने के समय ज्यों ही दारोगा साहब आकर खड़े हुए और एक क़ैदी को देर में आने के लिए मारने दौड़े कि कई क़ैदी चारों तरफ़ से दौड़ पड़े और 'मारो मारो' का शोर मच गया। दारोगाजी की सिट्टी-पिट्टी भूल गई। कहीं भागने

का रास्ता नहीं, कोई मददगार नहीं। चारों तरफ़ दीन नेत्रों से देखा, जैसे कोई बकरा भेड़ियों के बीच में फँस गया हो। सहसा धन्नासिंह ने आगे बढ़कर दारोगाजी की गरदन पकड़ी और इतनी ज़ोर से दबाई कि उनकी आँखें बाहर निकल आईं। चक्रधर ने देखा, अब अनर्थ हुआ चाहता है, तो तीर की तरह झपटे, क़ैदियों के बीच में घुसकर धन्नासिंह का हाथ पकड़ लिया, और बोले—हट जाओ, क्या करते हो ?

धन्नासिंह का हाथ ढीला पड़ गया ; लेकिन अभी तक उसने गरदन न छोड़ी।

चक्रधर—छोड़ो, ईश्वर के लिए।

धन्नासिंह—जाओ भी, बड़े ईश्वर की पूँछ बने हो। जब यह रोज गालियाँ देता है, बात-बात पर हंटर जमाता है, तब ईश्वर कहाँ सोया रहता है, जो इस घड़ी जाग उठा। हट जाओ सामने से, नहीं तो सारा बाबूपन निकाल दूँगा। पहले इससे पूछो, अब तो किसी को गालियाँ न देगा, मारने न दौड़ेगा ?

दारोगा—क़सम कुरान की, जो कभी मेरे मुँह से गाली का एक हरफ़ भी निकले।

धन्नासिंह—कान पकड़ो।

दारोगा—कान पकड़ता हूँ।

धन्नासिंह—जाओ बचा, भले का मुँह देखकर उठे थे, नहीं तो आज जान न बचती, यहाँ कौन कोई रोने वाला बैठा हुआ है।

चक्रधर—दारोगाजी, कहीं ऐसा न कीजिएगा कि जाकर वहाँ से सिपाहियों को चढ़ा लाइए और इन गरीबों को भुनवा डालिए।

दारोगा—लाहौल विला कूवत ! इतना कमीना नहीं हूँ।

दारोगा चलने लगे, तो धन्नासिंह ने कहा—मियाँ, गारद-सारद बुलाई, तो तुम्हारे हक में बुरा होगा, समझाये देते हैं। हमको क्या, जीने की खुशी है न मरने का रंज ; लेकिन तुम्हारे नाम को कोई रोने वाला न रहेगा।

दारोगाजी तो यहाँ से जान बचाकर भागे ; लेकिन दफ्तर में जाते ही गारद के सिपाहियों को ललकारा, हाकिम-ज़िला को टेलीफोन किया और खुद बन्दूक लेकर समर के लिए तैयार हुए। दम-के-दम में सिपाहियों का दल संगीनें चढ़ाये आ पहुँचा और लपक कर भीतर घुस पड़ा। पीछे-पीछे दारोगाजी भी दौड़े। कैदी चारों ओर से घिर गये।

चक्रधर पर चारों ओर से बौछार पड़ने लगी।

धन्नासिंह—अब कहो भगतजी, छुड़वा तो दिया, जाकर समझाते क्यों नहीं। गोली चली तो?

एक कैदी—गोली चली तो पहले इन्हीं की चटनी की जायगी।

चक्रधर—तुम लोग अब भी शान्त रहोगे, तो गोली न चलेगी। मैं इसका ज़िम्मा लेता हूँ।

धन्नासिंह—तुम उन सबों से मिले हुए हो। हमें फँसाने के लिए यह ढोंग रचा है।

दूसरा कैदी—दगाबाज है, मार के गिरा दो।

चक्रधर—मुझे मारने से अगर तुम्हारी भलाई होती हो, तो यही सही।

तीसरा कैदी—तुम जैसे सीधे आप हो, वैसे ही सबको समझते हो; लेकिन तुम्हारे कारन हम लोग सेंत-मेंत में पिटे कि नहीं?

धन्नासिंह—सीधा नहीं, उनसे मिला हुआ है। भगत सभी दिल के मैले होते हैं। कितनों को देख चुका।

तीसरा कैदी—तुम्हारी ऐसी-तैसी। तुम्हें फाँसी दिलाकर इन्हें राज ही तो मिल जायगा। छोटा मुँह बड़ी बात!

चक्रधर ने आगे बढ़कर कहा—दारोगाजी, आखिर आप क्या चाहते हैं? इन गरीबों को क्यों घेर रक्खा है?

दारोगा ने सिपाहियों की आड़ से कहा—यही उन सब बदमाशों का सरगना है। खुदा जाने किस हिकमत से उन सबों को मिलाये हुए है।

इसे गिरफ्तार कर लो। बाकी जितने हैं, उन्हें खूब मारो, मारते-मारते हलुआ निकाल लो सूअर के बच्चों का! इनकी इतनी हिम्मत कि मेरे साथ गुस्ताख़ी करें।

चक्रधर—आपको कैदियों को मारने का कोई मजाज़ नहीं है......

दारोगा—मुझे उनकी माँओं......का मजाज़ है।

धन्नासिंह—जबान सँभाल के दारोगाजी!

दारोगा—मारो इन सूअरों को।

सिपाही कैदियों पर टूट पड़े और उन्हें बंदूकों के कुंदों से मारना शुरू किया। चक्रधर ने देखा कि मामला संगीन हुआ चाहता है, तो बोले—दारोगाजी, खुदा के वास्ते यह गज़ब न कीजिए।

कैदियों में खलबली पड़ गई। कुछ तो जान लेकर भागे, कुछ इधर-उधर से फावड़े, कुदालें, पत्थर ला-लाकर लड़ने पर तैयार हो गये। मौक़ा नाजुक था। चक्रधर ने बड़ी दीनता से कहा—मैं आपको फिर समझाता हूँ?

दारोगा—चुप रह, सूअर का बच्चा!

इतना सुनना था कि चक्रधर बाज़ की तरह लपककर दारोगाजी पर झपटे। कैदियों पर कुंदों की मार पड़नी शुरू हो गई थी। चक्रधर को बढ़ते देखकर उन सबों ने पत्थरों की वर्षा करनी शुरू की। भीषण संग्राम होने लगा।

एकाएक चक्रधर ठिठक गये। ध्यान आ गया, स्थिति और भयंकर हो जायगी, अभी सिपाही बंदूकें चलानी शुरू कर देंगे, लाशों के ढेर लग जायेंगे। अगर हिंसक भावों को दबाने का कोई मौक़ा हो सकता है, तो वह यही मौक़ा है। ललकारकर बोले—पत्थर न फेंको, पत्थर न फेंको! सिपाहियों के हाथों से बन्दूकें छीन लो।

सिपाहियों ने संगीनें चढ़ानी चाहीं; लेकिन उन्हें इसका मौक़ा न मिल सका। एक-एक सिपाही पर दस-दस कैदी टूट पड़े और दम-के-दम में

उनकी बंदूकें छीन लीं। सिपाहियों ने रोब के बल पर आक्रमण किया था। उन्हें विश्वास था कि कुंदों की मार पड़ते ही क़ैदी भाग जायेंगे। अब उन्हें मालूम हुआ कि हम धोखे में थे। फिर वे एक सफ़ में नहीं, इधर-उधर बिखरे खड़े थे। इससे उनकी शक्ति और भी कम हो गई थी। उन पर आगे-पीछे, दायें-बायें चारों तरफ़ से चोट पड़ सकती थी। संगीनें चढ़ाकर भी वे किसी तरह न बच सकते थे। क़ैदियों में पिल पड़ना उनकी सबसे बड़ी भूल थी। उनके ऐसे हाथ-पाँव फूले, होश ऐसे ग़ायब हुए कि कुछ निश्चय न कर सके, इस समय क्या करना चाहिए। क़ैदियों ने तुरंत उनकी मुश्कें चढ़ा दीं और बंदूकें ले-लेकर उनके सिर पर खड़े हो गये। यह सब कुछ पाँच मिनट में हो गया। ऐसा दाँव पड़ा कि वही लोग जो ज़रा देर पहले हेकड़ी जताते थे, क़ैदियों को पाँव की धूल समझते थे, अब उन्हीं क़ैदियों के सामने खड़े दया-प्रार्थना कर रहे थे, घिघियाते थे, मत्थे टेकते थे और रोते थे। दारोग़ाजी की सूरत तो तसवीर खींचने योग्य थी। चेहरा फ़क़, हवाइयाँ उड़ी हुई, थरथर काँप रहे थे कि देखें जान बचती है या नहीं।

क़ैदियों ने देखा, इस वक्त हमारा राज्य है, तो पुराने बदले चुकाने पर तैयार हो गये। धन्नासिंह लपका हुआ दारोग़ा के पास आया और ज़ोर से एक धक्का देकर बोला—क्यों ख़ाँ साहब, उखाड़ लूँ डाढ़ी के एक-एक बाल?

चक्रधर—धन्नासिंह, हट जाओ।

धन्नासिंह—मरना तो है ही, अब इन्हें क्यों छोड़ें!

चक्रधर—हम कहते हैं, हट जाओ नहीं अच्छा न होगा।

धन्नासिंह—अच्छा हो चाहे बुरा, हमारे साथ इन लोगों ने जो सलूक किये हैं, उसका मजा चखाये बिना न छोड़ेंगे।

एक क़ैदी—हमारी जान तो जाती ही है; पर इन लोगों को तो न छोड़ेंगे?

दूसरा क़ैदी—एक-एक की हड्डियाँ तोड़ दो। दो-दो चार-चार साल

और सही। अभी कौन सुख भोग रहे हैं, जो सजा को डरें। आखिर घूम-घाम के यहीं तो फिर आना है।

चक्रधर—मेरे देखते तो यह अनर्थ न होने पायगा, हाँ, मर जाऊँ तो जो चाहे करना!

धन्नासिंह—अगर ऐसे बड़े धर्मात्मा हो, तो इनको क्यों नहीं समझाया। देखते नहीं हो, कितनी साँसत होती है। तुम्हीं कौन बचे हुए हो। कुत्तों को मारते भी आदमी को कुछ दया आती है। क्या हम कुत्तों से भी गये-बीते हैं?

इतने में सदर फाटक पर शोर मचा। ज़िला-मैजिस्ट्रेट मिस्टर जिम सशस्त्र पुलिस के सिपाहियों और अफसरों के साथ आ पहुँचे थे। दारोगाजी ने अन्दर आते वक्त किवाड़ बन्द कर लिये थे, जिसमें कोई कैदी भागने न पाये। यह शोर सुनते ही चक्रधर समझ गये कि पुलीस आ गई। बोले—अरे भाई, क्यों अपनी जान के दुश्मन हुए हो। बंदूकें रख दो और फौरन जाकर किवाड़ खोल दो। पुलीस आ गई।

धन्नासिंह—कोई चिंता नहीं। हम भी इन लोगों का वारा-न्यारा किये डालते हैं। मरते ही हैं, तो दो-चार को मार के मरें!

कैदियों ने फ़ौरन् संगीनें चढ़ाईं और सबसे पहले धन्नासिंह दारोगाजी पर झपटा। करीब था कि संगीन की नोक उनके सीने में चुभे कि चक्रधर यह कहते हुए—धन्नासिंह, ईश्वर के लिए...दारोगाजी के सामने आकर खड़े हो गये। धन्नासिंह वार कर चुका था। चक्रधर के कंधे पर संगीन का भरपूर हाथ पड़ा। आधी संगीन धँस गई। खून का फ़ौवारा निकल पड़ा। चक्रधर के मुँह से एक चीख़ निकल गई। दाहने हाथ से कंधे को पकड़ कर बैठ गये। कैदियों ने उन्हें गिरते देखा, तो होश उड़ गये। आ-आकर उनके चारों तरफ़ खड़े हो गये। घोर अनर्थ की आशंका ने उन्हें स्तंभित कर दिया। 'भगत को चोट आ गई'—ये शब्द उनकी पशु-वृत्तियों को दबा बैठे। धन्नासिंह ने बन्दूक फेंक दी और फूट-फूटकर

रोने लगा। मैंने भगत के प्राण लिये! जिस भगत ने गरीबों की रक्षा करने के लिए सज़ा पाई, जो हमेशा उनके लिए अफ़सरों से लड़ने को तैयार रहता था, जो नित्य उन्हें अच्छे रास्ते पर ले जाने की चेष्टा करता था, जो उनके बुरे व्यवहारों को हँस-हँसकर सह लेता था, वही भगत आज धन्नासिंह के हाथों ज़ख्मी पड़ा है। धन्नासिंह को कई कैदी पकड़े हुए हैं। ग्लानि के आवेश में वह बार-बार चाहता है कि अपने को उनके हाथों से छुड़ाकर वही संगीन अपनी छाती में चुभा ले; लेकिन कैदियों ने उसे इतने ज़ोर से जकड़ रक्खा है कि उसका कुछ बस नहीं चलता।

दारोगा ने मौका पाया, तो सदर-फाटक की तरफ दौड़े कि उसे खोल दूँ। धन्नासिंह ने देखा कि यह हज़रत, जो सारे फिसाद की जड़ हैं, बेदाग बचे जाते हैं, तो उसकी हिंसक वृत्तियों ने इतना ज़ोर मारा कि एक ही झटके में वह कैदियों के हाथों से मुक्त हो गया और बन्दूक उठाकर उनके पीछे दौड़ा। चक्रधर के खून का बदला लेना जरूरी था। करीब था कि दारोगाजी पर फिर वार पड़े कि चक्रधर फिर सँभलकर उठे और एक हाथ से अपना कंधा पकड़े, लड़खड़ाते हुए चले। धन्नासिंह ने उन्हें आते देखा, तो उसके पाँव रुक गये। भगत अभी जीते हैं, इसकी उसे इतनी खुशी हुई कि वह बंदूक फेंक कर पीछे की ओर चला और उनके चरणों पर सिर रख कर रोने लगा। ऐसी सच्ची खुशी उसे अपने जीवन में कभी न हुई थी।

चक्रधर ने कहा—सिपाहियों को छोड़ दो।

धन्नासिंह—बहुत अच्छा भैया! तुम्हारा जी कैसा है?

चक्रधर—देखना चाहिए, बचता हूँ या नहीं?

धन्नासिंह—दारोगा के बच जाने का कलक रह गया।

सहसा मिस्टर जिम सशस्त्र पुलीस के साथ जेल में दाखिल हुए। उन्हें देखते ही सारे कैदी भर से भागे। केवल दो आदमी चक्रधर के पास खड़े रहे। धन्नासिंह उनमें एक था। सिपाहियों ने भी छूटते ही अपनी-अपनी बन्दूकें सँभालीं और एक कतार में खड़े हो गये।

जिम—वेल दारोगा, क्या हाल है ?

दारोगा—हुजूर के अक़बाल से फतह हो गई। कैदी भाग गये।

जिम—यह कौन आदमी पड़ा है ?

दारोगा—इसीने हम लोगों की मदद की है हुजूर। चक्रधर नाम है।

जिम—अच्छा! यह चक्रधर है, जो बगावत के मामले में हमारे इजलास से सजा पाया था।

दारोगा—जी हाँ हुजूर! अभी उसी की बदौलत हमारी जान बची। जो ज़ख्म उसके कंधे में है, वह शायद इस वक्त मेरे सीने में होता।

जिम—इसने कैदियों को भड़काया होगा ?

दारोगा—नहीं हुजूर, इसने तो कैदियों को समझा-बुझाकर ठंढा किया।

जिम—तुम कुछ नहीं समझता। यह लोग पहले कैदियों को भड़काता है, फिर उनकी तरफ से हाकिम लोगों से लड़ता है, जिसमें कैदी समझे कि यह हमारी तरफ से लड़ रहा है। यह कैदियों को मिलाने का हिकमत है। वह कैदियों को मिलाकर जेहल का काम बन्द कर देना चाहता है।

दारोगा—देखने में तो हुजूर बहुत सीधा आदमी मालूम होता है, दिल का हाल खुदा जाने।

जिम—खुदा के जानने से कुछ नहीं होगा, तुमको जानना चाहिए। तुमको हर एक कैदी पर निगाह रखनी चाहिए। यही तुम्हारा काम है। यह आदमी कैदियों से मज़हब का बातचीत तो नहीं करता ?

दारोगा—मज़हबी बातें तो बहुत करता है हुजूर। इसी से कैदियों ने उसे 'भगत' का लकब दे दिया है।

जिम—ओह! तब तो यह बहुत ही ख़तरनाक आदमी है। मज़हबवाले आदमी पर बहुत कड़ी निगाह रखना चाहिए। कोई पढ़ा-लिखा आदमी दिल से मज़हब को नहीं मानता। मज़हब पढ़े-लिखे आदमियों के लिए नहीं है। उनके लिए तो Ethics काफ़ी है। जब कोई पढ़ा-लिखा

आदमी मजहब का बातचीत करें, तो फौरन् समझ लो कि वह कोई साज़िश करना चाहता है। Religion के साथ politics बहुत खतरनाक हो जाता है। यह आदमी कैदियों से बड़ी हमदरदी करता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, हमेशा !

जिम—सरकारी हुक्म को खूब मानता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, हमेशा !

जिम—कभी कोई शिकायत न करता होगा। कड़े-से-कड़ा काम खुशी से करता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, कभी शिकायत नहीं करता। ऐसा बेज़बान आदमी तो मैंने कभी देखा ही नहीं।

जिम—ऐसा आदमी निहायत खौफनाक होता है। उस पर कभी एतबार नहीं करना चाहिए। हम इस पर मुकदमा चलायेगा। इसको बहुत कड़ी सज़ा देगा। सिपाहियों को दफ्तर में बुलाओ। हम सबका बयान लिखेगा।

दारोगा—हुजूर, पहले उसे डॉक्टर साहब को तो दिखा लूँ। ऐसा न हो मर जाय, तो गुलाम को दाग़ लगे।

जिम—वह मरेगा नहीं। ऐसा खौफ़नाक आदमी कभी नहीं मरता; और मर भी जायगा, तो हमारा कोई नुकसान नहीं।

दारोगा—जरा हुजूर उसकी हालत देखें। चेहरा जर्द हो गया है, खून से ज़मीन लाल हो गई है।

जिम—कुछ परवा नहीं !

यह कहकर साहब दफ़्तर की ओर चले। धन्नासिंह अब तक इस इन्तज़ार में खड़ा था कि डॉक्टर साहब आते होंगे। जब देखा कि जिम साहब इधर मुखातिब भी न हुए, तो उसने चक्रधर को गोद में उठाया और अस्पाल की ओर चला।

१६

ठाकुर हरिसेवकसिंह दावत खाकर घर पहुँचे, तो डर रहे थे कि लौंगी पूछेगी, तो क्या जवाब दूँगा। अगर यह कहूँ कि मुंशीजी ने मेरे साथ चाल चली, तो जिन्दा न छोड़ेगी, तानों से कलेजा चलनी कर देगी। जो कहूँ कि मनोरमा को पसंद है, तो मैं क्या करता, तो भी न बचने पाऊँगा। चुड़ैल वकीलों की तरह तो बहस करती है। बस, उसे राजी करने की एक ही तरकीब है। किसी पण्डित को फाँसना चाहिए, जो उसके सामने यह कह दे कि राजा साहब की आयु १२५ वर्ष की है। जब तक इस बात का उसे विश्वास न आ जायगा, वह किसी तरह न राजी होगी।

ज्योंही ठाकुर साहब घर में पहुँचे, लौंगी ने पूछा—वहाँ क्या बात-चीत हुई?

दीवान—शादी ठीक हो गई, और क्या?

लौंगी—और मैंने इतना समझा जो दिया था?

दीवान—भाग्य भी तो कोई चीज़ है!

लौंगी—भाग्य पर वह भरोसा करता है, जिसमें पौरुष नहीं होता। लड़की को डुबा दिया, ऊपर से शरमाते नहीं, कहते हो भाग्य भी कोई चीज़ है?

दीवान—तुम मुझे जैसा गधा समझती हो, वैसा गधा नहीं हूँ। मैंने राजा साहब की कुंडली एक बड़े विद्वान् ज्योतिषी से दिखाई और जब उसने कह दिया कि राजा साहब की उम्र बहुत बड़ी है, कोई संकट नहीं है, तब आकर मैंने मंजूर कर लिया।

लौंगी—राजा ने किसी पंडित को सिखा-पढ़ा कर खड़ा कर दिया होगा।

दीवान—क्या मुझे बिलकुल अनाड़ी ही समझ लिया है ?

लौंगी—अनाड़ी तो तुम हो ही, न-जाने किस तरह दीवानी कर लेते हो। अच्छा बताओ, वह कौन पण्डित था ?

दीवान—इसी शहर के नामी पण्डित हैं। मेरी उनसे पुरानी मुलाक़ात है। वह मुझे कभी धोखा न देंगे। अगर कोई बात गड़बड़ होती, तो वह साफ़-साफ़ कह देते। हम और वह अलग एक कमरे में बैठे थे। उन्होंने बड़ी देर तक कुंडली को देखकर कहा—कोई शंका की बात नहीं, आप भगवान् का नाम लेकर विवाह स्वीकार कर लीजिए। राजा साहब की आयु १२५ वर्ष की है।

लौंगी—तुम कल उन पंडितजी को यहाँ बुला लेना। जब तक वह मेरे सामने न कह देंगे, मुझे विश्वास न आयेगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल लौंगी ने पंडित की रट लगाई और दीवान साहब को विवश होकर मुंशी वज्रधर के पास जाना पड़ा।

वज्रधर सारी कथा सुनकर बोले—आपने यह बुरा रोग पाल रक्खा है। एक बार डाटकर कह दीजिए—चुपचाप बैठी रह, तुझे इन बातों से क्या मतलब, फिर देखूँ वह कैसे बोलती है !

दीवान—भई इतनी हिम्मत मुझ में नहीं है। वह कभी ज़रा रूठ जाती है, तो मेरे हाथ-पाँव फूल जाते हैं। मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि बिना उसके मैं ज़िन्दा कैसे रहूँगा। मैं तो उससे बिना पूछे भोजन भी नहीं कर सकता। वह मेरे घर की लक्ष्मी है। आपकी किसी ज्योतिषी से जान-पहचान है ?

मुंशी—जान-पहचान तो बहुतों से है ; लेकिन देखना तो यह है कि काम किससे निकल सकता है। कोई सच्चा आदमी तो यह स्वाँग भरने न जायगा। कोई पण्डित बनाना पड़ेगा।

दीवान—यह तो बड़ी मुश्किल हुई।

मुंशी—मुश्किल क्या हुई। मैं अभी बनाये देता हूँ। ऐसा पण्डित

बना दूँ कि कोई भाँप ही न सके। इन बातों में क्या रक्खा है?

यह कहकर मुंशीजी ने झिनकू को बुलाया। वह एक ही छँटा हुआ। फौरन् तैयार हो गया। घर जाकर माथे पर तिलक लगाया, गले में राम-नामी चादर डाली, सिर पर एक गोल टोपी रक्खी और एक बस्ता बगल में दबाये आ पहुँचा। मुंशीजी उसे देखकर बोले—यार, ज़रा-सी कसर रह गई। तोंद के बगैर पंडित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, जभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पंडित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय। उसे सब कुछ भला मालूम होता है। मैं तोंदल होता, तो अब तक न-जाने किस ओहदे पर होता। सच पूछो, तो तोंद न रहने ही के कारण अफसरों पर मेरा रोब न जमा। बहुत घी-दूध खाया, पर तक़दीर में बड़ा आदमी होना न बदा था, तोंद न निकली, न निकली। तोंद बना लो, नहीं उल्लू बनाकर निकाल दिये जाओगे, या किसी तोंदू-मल को पकड़ो।

झिनकू—सरकार, तोंद होती, तो आज मारा-मारा क्यों फिरता? मुझे भी न लोग झिनकू उस्ताद कहते? कभी तबला न होता, तो तोंद ही बजा देता; मगर तोंद न रहने में कोई हरज नहीं है, यहाँ कई पंडित बिना तोंद के भी हैं।

मुंशी—कोई बड़ा पण्डित भी है बिना तोंद का?

झिनकू—नहीं सरकार, कोई बड़ा पंडित तो नहीं है। तोंद के बिना कोई बड़ा हो ही कैसे जायगा। कहिए, कुछ कपड़े लपेटूँ?

मुंशी—तुम तो कपड़े लपेटकर पिंडरोगी-से मालूम होगे। तक़दीर पेट पर सबसे ज्यादा चमकती है, इसमें शक नहीं; लेकिन और अंगों पर भी तो कुछ-न-कुछ असर होती ही है। यह राग न चलेगा, भई, किसी और को फाँसो।

झिनकू—सरकार, अगर मालकिन को खुश न कर दूँ, तो नाक काट लीजिएगा। कोई अनाड़ी थोड़े ही हूँ!

ख़ैर, तीनों आदमी मोटर पर बैठे और एक क्षण में घर जा पहुँचे। दीवान साहब ने जाकर कहा—पंडितजी आ गये; बड़ी मुश्किल से आये हैं।

इतने में मुंशीजी भी जा पहुँचे और बोले—कोई नया आसन बिछाइएगा। कुरसी पर नहीं बैठते। आज न-जाने क्या समझकर इस वक्त आ गये, नहीं तो दोपहर के पहले कोई लाख रुपये भी दे, तो नहीं जाते।

पंडितजी बड़े गर्व के साथ मोटर से उतरे और जाकर आसन पर बैठे। लौंगी ने उनकी ओर ध्यान से देखा और तीव्र स्वर में बोली—आप जोतसी हैं? ऐसी ही सूरत होती है जोतसियों की! मुझे तो कोई भाँड़-से मालूम होते हो!

मुंशीजी ने दाँतों-तले ज़बान दबा ली, दीवान साहब ने छाती पर हाथ रक्खा और झिनकू के चेहरे पर तो मुर्दनी छा गई। कुछ जवाब ही देते न बन पड़ा। आख़िर मुंशीजी बोले—यह क्या ग़ज़ब करती हो लौंगी रानी! अपने घर बुलाकर महात्माओं की यही इज़्ज़त की जाती है?

लौंगी—लाला, तुमने बहुत दिनों तहसीलदारी की है, तो मैंने भी धूप में बाल नहीं पकाये हैं। एक बहुरूपिये को लाकर खड़ा कर दिया, ऊपर से कहते हैं जोतसी हैं! ऐसी ही सूरत होती है जोतसी की? मालूम होता है महीनों से दाने की सूरत नहीं देखी। मुझे क्रोध तो इन पर (दीवान) आता है, तुम्हें क्या कहूँ?

झिनकू—माता, तूने मेरा बड़ा अपमान किया। अब मैं यहाँ एक क्षण भी न ठहरूँगा। तुमको इसका फल मिलेगा, अवश्य मिलेगा।

लौंगी—ले बस चले ही जाओ मेरे घर से! धूर्त, पाखंडी कहीं का! बड़ा जोतसी है, तो बता मेरी उम्र कितनी है? लाला, अगर तुम्हें धन का लोभ हो, तो जितना चाहो मुझसे ले जाओ। मेरी बिटिया को कुएँ में न ढकेलो। क्यों उसके दुश्मन बने हुए हो। जो कुछ कर रहे हो, तुम्हीं कर रहे हो और सारा दोष तुम्हारे ही सिर जायगा। तुम इतना भी नहीं

समझते कि बूढ़े आदमी के साथ कोई लड़की कैसे सुख से रह सकती है ! धन से, बूढ़े जवान तो नहीं हो जाते !

झिनकू—माताजी, राजा साहब की आयु, ज्योतिषविद्या के अनुसार...

लौंगी—तू फिर बोला, चुपका खड़ा क्यों नहीं रहता !

झिनकू—दीवान साहब, अब मैं नहीं ठहर सकता ।

लौंगी—क्यों, ठहरोगे क्यों नहीं ? दच्छिना तो लेते जाओ !

यह कहते हुए लौंगी ने कोठरी में जाकर कजलौटे से काजल निकाला और तुरत बाहर आ, एक हाथ से झिनकू को पकड़, दूसरे हाथ से उसके मुँह पर काजल पोत दिया । बहुत उछले, कूदे, बहुत फड़फड़ाये ; पर लौंगी ने जौ-भर भी न हिलने दिया, मानों बाज़ ने कबूतर को दबोच लिया हो। दीवान साहब अब अपनी हँसी न रोक सके । मारे हँसी के मुँह से बात न निकलती थी । मुंशीजी अभी तक झिनकू की विद्या का राग अलाप रहे थे और लौंगी झिनकू को दबोचे हुए चिल्ला रही थी, थोड़ा चूना लाओ तो इसे पूरी दच्छिना दे दूँ । मेरे धन्य भाग्य कि आज जोतसीजी के दर्सन हुए ।

आखिर मुंशीजी को गुस्सा आ गया । उन्होंने लौंगी का हाथ पकड़ कर चाहा कि झिनकू का गला छुड़ा दें । लौंगी ने झिनकू को तो न छोड़ा; एक हाथ से तो उसकी गरदन पकड़े हुई थी, दूसरे हाथ से मुंशीजी की गरदन पकड़ ली और बोली—मुझसे जोर दिखाते हो लाला ! बड़े मर्द हो, तो छुड़ा लो गरदन ! बहुत दूध-घी बेगार में लिया होगा । देखें वह जोर कहाँ है ।

दीवान—मुंशीजी, आप खड़े क्या हैं, छुड़ा लीजिए गरदन ।

मुंशी—मेरी यह साँसत हो रही है और आप खड़े हँस रहे हैं ।

दीवान—तो मैं क्या कर सकता हूँ । आप भी तो देवनी से ज़ोर आज़माने चले । आज आपको मालूम हो जायगा, कि मैं इससे क्यों इतना दबता हूँ ।

लौंगी—जोतसीजी, अपनी विद्या का जोर क्यों नहीं लगाते। क्यों रे, अब तो कभी जोतसी न बनेगा ?

झिनकू—नहीं माताजी, बड़ा अपराध हुआ, क्षमा कीजिए।

लौंगी ने दीवान साहब की ओर सरोष नेत्रों से देखकर कहा—मुझसे यह चाल चली जाती है, क्यों। लड़की को राजा से ब्याह कर तुम्हारा मरतबा बढ़ जायगा क्यों ? धन और मरतबा संतान से भी प्यारा है, क्यों। लगा दो आग घर में। घोंट दो लड़की का गला। अभी मर जायगी; मगर जन्म-भर के दुख से तो छूट जायगी। धन और मरतबा अपने पौरुख से मिलता है। लड़की बेच कर धन नहीं कमाया जाता। यह नीचों का काम है, भलेमानसों का नहीं। मैं तुम्हें इतना स्वार्थी न समझती थी। लाला साहब, तुम्हारे मरने के दिन आ गये हैं, क्यों पाप की गठरी सिर पर लादते हो ; मगर तुम्हें समझाने से क्या होगा। इसी पाखंड में तुम्हारी उम्र कट गई, अब क्या सँभलोगे ! मरती बार यह पाप करना भी बदा था। क्या करते। और तुम भी सुन लो जोतसीजी ! अब कभी भूल-कर यह स्वाँग न भरना। धोखा देकर पेट पालने से मर जाना अच्छा है। जाओ।

यह कह कर लौंगी ने दोनों आदमियों को छोड़ दिया। झिनकू तो बगटुट भागा ; लेकिन मुंशीजी वहीं सिर झुकाये खड़े रहे। ज़रा देर के बाद बोले—दीवान साहब, अगर आपकी मरजी हो, तो मैं जाकर राजा साहब से कह दूँ कि दीवान साहब को मंजूर नहीं है।

दीवान—अब भी आप मुझसे पूछ रहे हैं ? क्या अभी कुछ और साँसत कराना चाहते हैं क्या ?

मुंशी—साँसत तो मेरी यह क्या करतीं, मैंने औरत समझकर छोड़ दिया।

दीवान—आप आज जाके साफ़-साफ़ कह दीजिएगा।

लौंगी—क्या साफ़-साफ़ कह दीजिएगा ? अब क्या साफ़-साफ़ कह-

लाते हो ? किसी को खाने का नेवता न दो, तो वह बुरा न मानेगा ; लेकिन नेवता देकर अपने द्वार से भगा दो, तो तुम्हारी जान का दुश्मन हो जायगा। अब साफ़-साफ़ कहने का अवसर नहीं रहा। जब नेवता दे चुके, तब तो खिलाना ही पड़ेगा, चाहे लोटा-थाली बेचकर ही क्यों न खिलाओ। कहके मुकरने में वैर हो जायगा।

दीवान—वैर की चिन्ता नहीं। नौकरी की मैं परवा नहीं करता।

लौंगी—हाँ, तुमने तो कारूँ का खज़ाना घर में गाड़ रक्खा है। इन बातों से अब काम न चलेगा। अब तो जो होनी थी हो चुकी। राम का नाम लेकर ब्याह करो। पुरोहित को बुलाकर साइत-सगुन पूछ-पाछ लो और लगन भेज दो। एक ही लड़की है, दिल खोलकर काम करो।

मुंशीजी को अपनी साँसत का पुरस्कार मिल गया। मारे खुशी के बग़लें बजाने लगे। विरोध की अंतिम क्रिया हो गई।

आज ही से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। दीवान साहब स्वभाव के कृपण थे, कम-से-कम खर्च में काम निकालना चाहते थे ; लेकिन लौंगी के आगे उनकी एक न चलती थी। उसके पास रुपये न-जाने कहाँ से निकलते आते थे, मानों किसी रसिक के प्रेमोद्गार हों। तीन महीने तैयारियों में गुजर गये। विवाह का मुहूर्त निकट आ गया।

सहसा एक दिन शाम को खबर मिली कि जेल में दंगा हो गया और चक्रधर के कन्धे में गहरा घाव लगा है। बचना मुश्किल है।

मनोरमा के विवाह की तैयारियाँ तो हो रही थीं और यों देखने में वह बहुत खुश नजर आती थी ; पर उसका हृदय सदैव रोता रहता था। कोई अज्ञात भय, कोई अलक्षित वेदना, कोई अतृप्त कामना, कोई गुप्त चिन्ता, हृदय को मथा करती थी। अंधों की भाँति इधर-उधर टटोलती थी ; पर न चलने का मार्ग मिलता था, न विश्राम का आधार। उसने मन में एक बात निश्चित की थी और उसी में सन्तुष्ट रहना चाहती थी ; लेकिन कभी-कभी वह जीवन इतना शून्य, इतना अँधेरा, इतना नीरस मालूम

होता कि घंटों वह मूर्च्छित-सी बैठी रहती, मानों कहीं कुछ नहीं है, अनन्त आकाश में केवल वही अकेली है ।

यह भयानक समाचार सुनते ही मनोरमा को हौलदिल-सा हो गया। आकर लौंगी से बोली—लौंगी अम्माँ, मैं क्या करूँ, बाबूजी को देखे बिना अब नहीं रहा जाता। क्यों अम्माँ, घाव अच्छा हो जायगा न ?

लौंगी ने करुण नेत्रों से देखकर कहा—अच्छा क्यों न होगा बेटी, भगवान् चाहेंगे, तो जल्द ही अच्छा हो जायगा ?

लौंगी मनोरमा के मनोभावों को जानती थी। उसने सोचा, इस अबला को कितना दुःख है! मन-ही-मन तिलमिलाकर रह गई। हाय! चारे पर गिरनेवाली चिड़िया को मोती चुगाने की चेष्टा की जा रही है! तड़प-तड़प कर पिंजड़े में प्राण देने के सिवा वह और क्या करेगी। मोती में चमक है, वह अनमोल है; लेकिन उसे कोई खा तो नहीं सकता। उसे गले में बाँध लेने से क्षुधा तो न मिटेगी!

मनोरमा ने फिर पूछा—भगवान् सज्जन लोगों को क्यों इतना कष्ट देते हैं अम्माँ? बाबूजी का-सा सज्जन दूसरा कौन होगा। उनको भगवान् इतना कष्ट दे रहे हैं! मुझे कभी कुछ नहीं होता, कभी सिर भी नहीं दुखता। मुझे क्यों कभी कुछ नहीं होता अम्माँ?

लौंगी—तुम्हारे दुश्मन को कुछ हो बेटी, तुम तो कभी घड़ी भर भी चैन न पाती थीं। तुम्हें गोद में लिये रात-भर भगवान् का नाम लिया करती थी।

सहसा मनोरमा के मन में एक बात आई। उसने बाहर आकर मोटर तैयार कराई और दम-के-दम में राज भवन की ओर चली। राजासाहब इसी तरफ आ रहे थे। मनोरमा को देखा, तो चौंके। मनोरमा घबराई हुई थी।

राजा—तुमने क्यों कष्ट किया? मैं तो आ ही रहा था?

मनोरमा—आपको जेल के दंगे की खबर मिली?

राजा—हाँ, मुन्शी वज्रधर अभी कहते थे।

मनोरमा—मेरे बाबूजी को गहरा घाव लगा है।

राजा—हाँ, यह भी सुना।

मनोरमा—तब भी आपने उन्हें जेल से बाहर अस्पताल में लाने के लिए कोई कारंवाई नहीं की? आपका हृदय बड़ा कठोर है!

राजा ने कुछ चिढ़कर कहा—तुम्हारे-जैसा उदार हृदय कहाँ से लाऊँ!

मनोरमा—मुझसे माँग क्यों नहीं लेते! बाबूजी को बहुत गहरा घाव लगा है और अगर यत्न न किया गया, तो उनका बचना कठिन है। जेल में जैसा इलाज होगा, आप जानते ही हैं। न कोई आगे, न कोई पाछे, न मित्र न बन्धु। आप, साहब को एक ख़त लिखिए कि बाबूजी को शहर के अस्पताल में लाया जाय।

राजा—साहब मानेंगे।

मनोरमा—इतनी जरा-सी बात न मानेंगे?

राजा—न-जाने दिल में क्या सोचें।

मनोरमा—आपको अगर बहुत मानसिक कष्ट हो रहा हो, तो रहने दीजिए। मैं ख़ुद साहब से मिल लूँगी।

राजा साहब यह तिरस्कार सुनकर काँप उठे। कातर होकर बोले—मुझे किस बात का कष्ट होगा। अभी जाता हूँ।

मनोरमा—लौटिएगा कब तक?

राजा—कह नहीं सकता।

यह कहकर राजा साहब मोटर पर जा बैठे और शोफर से मिस्टर जिम के बँगले पर चलने को कहा। मनोरमा की निष्ठुरता से उनका चित्त बहुत खिन्न था। मेरे आराम और तकलीफ का इसे जरा भी ख़याल नहीं! चक्रधर से न-जाने क्यों इतना स्नेह है। कहीं उससे प्रेम तो नहीं करती? नहीं यह बात नहीं। सरल हृदय बालिका है। ये कौशल क्या जाने। चक्रधर आदमी ही ऐसा है कि दूसरों को उससे मुहब्बत हो जाती

है। जवानी में सहृदयता कुछ अधिक होती ही है। कोई मायाविनी स्त्री होती, तो मुझसे अपने मनोभावों को गुप्त रखती। जो कुछ करना होता, चुपके-चुपके करती ; पर इसके निर्दय हृदय में कपट कहाँ। जो कुछ कहती है, मुझी से कहती है, जो कष्ट होता है, मुझी को सुनाती है। मुझपर पूरा विश्वास करती है। ईश्वर करे साहब से मुलाकात हो जाय और वह मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लें। जिस वक्त मैं आकर यह शुभ समाचार कहूँगा, कितनी खुश होगी !

यह सोचते हुए राजा साहब मिस्टर जिम के बँगले पर पहुँचे। शाम हो गई थी। साहब बहादुर सैर करने जा रहे थे। उनके बँगले में वह ताज़गी और सफ़ाई थी कि राजा साहब का चित्त प्रसन्न हो गया। उनके यहाँ दरजनों माली थे ; पर बाग़ इतना हरा-भरा न रहता था। यहाँ की हवा में आनन्द था। इक़बाल हाथ बाँधे हुए खड़ा मालूम होता था। नौकर-चाकर कितने सलीक़ादार थे, घोड़े कितने समझदार, पौधे कितने सुन्दर, यहाँ तक कि कुत्तों के चेहरे पर भी इक़बाल की आभा झलक रही थी।

राजा साहब को देखते ही जिम साहब ने हाथ मिलाया और पूछा—आपने जेल में दंगे का हाल सुना ?

राजा—जी हाँ ! सुनकर बड़ा अफसोस हुआ।

जिम—सब उसी की शरारत है, उसी बाग़ी नौजवान का।

राजा—हुजूर का मतलब चक्रधर से है ?

जिम—हाँ, उसी से ! बहुत ही ख़ौफ़नाक आदमी है। उसी ने क़ैदियों को भड़काया है।

राजा—लेकिन अब तो उसको अपने किये की सज़ा मिल गई। अगर बच भी गया, तो महीनों चारपाई से न उठेगा।

जिम—ऐसे आदमी के लिए इतनी सज़ा काफ़ी नहीं है। हम उस पर मुकदमा चलायेगा।

राजा—मैंने सुना है कि उसके कन्धे में गहरा ज़ख्म है, और आपके

यह अर्ज़ करना चाहता हूँ कि उसे शहर के बड़े अस्पताल में रक्खा जाय, जहाँ उसका अच्छा इलाज हो सके। आपकी इतनी कृपा हो जाय, तो उस ग़रीब की जान बच जाय, और सारे ज़िले में आपका नाम हो जाय। मैं इसका ज़िम्मा ले सकता हूँ कि अस्पताल में उसकी पूरी निगरानी रक्खी जायगी।

जिम—हम एक बाग़ी के साथ कोई रिआयत नहीं कर सकता। आप जानता है, मुग़लों या मरहठों का राज होता, तो ऐसे आदमी को क्या सज़ा मिलता? उसका खाल खींच लिया जाता, या उसके दोनों हाथ काट लिये जाते। हम अपने दुश्मनों से कोई रिआयत नहीं कर सकता।

राजा—हुजूर, दुश्मनों के साथ रिआयत करना उनको सबसे बड़ी सजा देना है। आप जिस पर दया करें, वह कभी आपसे दुश्मनी नहीं कर सकता। वह अपने किये पर लज्जित होगा और सदैव के लिए आपका भक्त हो जायगा।

जिम—राजा साहब आप समझता नहीं। ऐसा सलूक उस आदमी के साथ किया जाता है, जिसमें कुछ आदमीयत बाकी रह गया हो। बाग़ी का दिल बालू का मैदान है। उसमें पानी की एक बूँद भी नहीं होती, और न उसे पानी से सींचा जा सकता है। आदमी में जितना धर्म और शराफ़त है, उसके मिट जाने पर वह बाग़ी हो जाता है। उसे भलमनसी से आप नहीं जीत सकता।

राजा साहब को आशा थी कि साहब मेरी बात आसानी से मान लेंगे। साहब के पास वह रोज़ ही कोई-न-कोई तोहफ़ा भेजते रहते थे। उनकी ज़िद पर चिढ़कर बोले—जब मैं आपको विश्वास दिला रहा हूँ कि उस पर अस्पताल में काफ़ी निगरानी रक्खी जायगी, तो आपको मेरी अर्ज़ मानने में क्या आपत्ति है?

जिम ने मुसकिराकर कहा—यह ज़रूरी नहीं कि मैं आपसे अपनी पॉलिसी बयान करूँ।

राजा—मैं उसकी ज़मानत करने को तैयार हूँ।

जिम—(हँसकर) आप उसकी ज़बान की ज़मानत तो नहीं कर सकते ? हज़ारों आदमी उसे देखने को रोज़ आयेगा। आप उन्हें रोक तो नहीं सकते। गँवार लोग यही समझेगा कि सरकार इस आदमी पर बड़ा ज़ुल्म कर रही है। उसे देख-देख कर लोग भड़केगा। इसको आप कैसे रोक सकते हैं।

राजा साहब के जी में आया कि इसी वक्त यहाँ से चल दूँ और फिर इसका मुँह न देखूँ; पर ख़याल किया, मनोरमा बैठी मेरी राह देख रही होगी। यह खबर सुनकर उसे कितनी निराशा होगी। ईश्वर ! इस निर्दयी के हृदय में थोड़ी-सी दया डाल दो। बोले—आप यह हुक्म दे सकते हैं कि उसके निकट सम्बन्धियों के सिवा कोई पास न जाने पाये।

जिम—मेरे हुक्म में इतनी ताकत नहीं है कि वह अस्पताल को जेल बना दे।

यह कहते-कहते मिस्टर जिम फ़िटिन पर बैठे और सैर करने चल दिये।

राजा साहब को एक क्षण के लिए मनोरमा पर क्रोध आ गया। उसी के कारण मैं यह अपमान सह रहा हूँ। नहीं मुझे क्या गरज पड़ी थी कि इसकी इतनी खुशामद करता। जाकर कह देता हूँ कि साहब नहीं मानते, मैं क्या करूँ; मगर उसके आँसुओं के भय ने फिर कातर कर दिया। आह ! उसका कोमल हृदय टूट जायगा। आँखों से आँसू की झड़ी लग जायगी। नहीं, मैं अभी इसका पिंड न छोड़ूँगा। मेरा अपमान हो, इसकी चिन्ता नहीं। उसे दुःख न हो।

थोड़ी देर तक तो राजा साहब बाग में टहलते रहे। फिर मोटर पर जा बैठे और घंटे-भर इधर-उधर घूमते रहे। ८ बजे वह लौटकर आये, तो मालूम हुआ, अभी साहब नहीं आये। फिर लौटे, इसी तरह घंटे-घंटे भर के बाद वह तीन बार आये; मगर साहब बहादुर अभी तक न लौटे थे।

सोचने लगे, इतनी रात गये अगर मुलाकात हो भी गई, तो बातचीत

करने का मौका कहाँ। शराब के नशे में चूर होगा। आते-ही-आते सोने चला जायगा। मगर कम-से-कम मुझे देखकर इतना तो समझ जायगा कि यह बेचारे अभी तक खड़े हैं। शायद दया आ जाय।

एक बजे के करीब बग्गी की आवाज़ आई। राजा साहब मोटर से उतर कर खड़े हो गये। जिम भी फिटिन से उतरा। नशे से आँखें सुर्ख थीं। लड़खड़ाता हुआ चल रहा था। राजा को देखते ही बोला—ओ,ओ, तुम यहाँ क्यों खड़ा है? बाग जाओ, अभी जाओ, बागो!

राजा—हुजूर, मैं हूँ राजा विशालसिंह।

जिम—ओ! डैम राजा, अबी निकल जाओ। तुम भी बागी है। तुम बागी का सिफारिश करता है, बागी को पनाह देता है। सरकार का दोस्त बनता है! अबी निकल जाओ। राजा और रैयत सब एक है। हम किसी पर भरोसा नहीं करता। हमको अपने जोर का भरोसा है। राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है। उनका सिफारिश करना नहीं। अभी निकल जाओ।

यह कहकर वह राजा साहब की ओर झपटा। राजा साहब बहुत ही बलवान् मनुष्य थे। वह ऐसे-ऐसे दो को अकेले काफी थे; लेकिन परिणाम के भय ने उन्हें पंगु बना दिया। एक घूसा भी लगाया और ५ करोड़ रुपये की जायदाद हाथ से निकली। यह घूसा बहुत महँगा पड़ेगा। परिस्थिति भी उनके प्रतिकूल थी। इतनी रात को उसके बँगले पर आना इस बात का सबूत समझा जायगा कि उनकी नीयत अच्छी नहीं थी। दीन भाव से बोले—साहब, इतना ज़ुल्म न कीजिए, इसका जरा भी खयाल न कीजिएगा कि मैं शाम से अब तक आपके दरवाज़े पर खड़ा हूँ? कहिए आपके पैरों पड़ूँ, जो कहिए करने को हाज़िर हूँ। मेरी अर्ज कुबूल कीजिए।

जिम—कबी नहीं होगा, कबी नहीं होगा। तुम मतलब का आदमी है। हम तुम्हारी चालों को खूब समझता है।

राजा—इतना तो आप कर ही सकते हैं कि मैं उनका इलाज करने के लिए अपना डाक्टर जेल के अन्दर भेज दिया करूँ ?

जिम—ओ डेमट ! बक-बक मत करो, सूअर अबी निकल जाओ, नहीं हम ठोकर मारेगा।

अब राजा साहब से ज़ब्त न हुआ। क्रोध ने सारी चिंताओं को, सारी कमज़ोरियों को निगल लिया। राज्य रहे या जाय बला से ! जिम ने ठोकर चलाई ही थी कि राजा साहब ने उसकी कमर पकड़कर इतने ज़ोर से पटका कि चारों खाने चित ज़मीन पर गिर पड़ा। फिर उठना चाहता था कि राजा उसकी छाती पर चढ़ बैठे और उसका गला ज़ोर से दबाया। कौड़ी की-सी आँखें निकल आईं। मुँह से फिचकुर बहने लगा। सारा नशा, सारा क्रोध, सारा रोब, सारा अभिमान, रफूचक्कर हो गया।

राजा ने गला छोड़कर कहा—गला घोंट दूँगा, इस फेर में न रहना। कच्चा ही चबा जाऊँगा। चपरासी या अहलकार नहीं हूँ कि तुम्हारी ठोकरें सह लूँगा।

जिम—राजा साहब, आप सचमुच नाराज़ हो गया। मैं तो आपसे दिल्लगी करता था। खुदा जानता है, मैं आपसे दिल्लगी करता था। आप तो पहलवान हैं। आप दिल्लगी में बुरा मान गया !

राजा—बिलकुल नहीं। मैं भी दिल्लगी कर रहा हूँ। अब तो आप फिर मेरे साथ ऐसी दिल्लगी न करेंगे ?

जिम—कबी नईं, कबी नईं।

राजा—मैंने जो अर्ज़ की थी, वह आप मानेंगे या नहीं ?

जिम—मानेंगे, मानेंगे, हम सुबह होते ही हुक्म देगा।

राजा—दगा तो न करोगे ?

जिम—कबी नईं, कबी नईं। आप भी किसी से यह बात न कहना।

राजा—अगर दगा की तो इसी तरह फिर पटकूँगा, याद रखना। यह कहकर राजा साहब मिस्टर जिम को छोड़कर उठ गये। जिम भी

गर्द झाड़कर उठा और राजा साहब से बड़े तपाक के साथ हाथ मिलाकर रुख़सत किया। ज़रा भी शोर-गुल न हुआ। जिम साहब के साईस के सिवा और किसी ने यह मल्लयुद्ध नहीं देखा, और उसकी मारे डर के बोलने की हिम्मत न पड़ी।

राजा साहब दिल में सोचते जाते थे कि देखें वादा पूरा करता है या मुकर जाता है। कहीं कल कोई शरारत न करे। ऊँह, देखी जायगी। इस वक्त तो ऐसी पटकनी दी है कि बचा याद करते होंगे। यह सब वादे के तो सच्चे होते हैं। सुबह को देखूँगा। अगर हुक्म न दिया तो फिर जाऊँगा। इतना डर तो उसे भी होगा कि मैंने दग़ा की तो यह भी कलई खोल देगा। सज्जनता से तो नहीं; पर इस भय से ज़रूर वादा पूरा करेगा। मनोरमा अपने घर चली गई होगी। तड़के ही जाकर उसे यह ख़बर सुनाऊँगा। खिल उठेगी। आह! उस वक्त उसकी छवि देखने ही योग्य होगी।

राजा साहब घर पहुँचे, तो डेढ़ बज गया था; पर अभी तक 'सोता' न पड़ा था। नौकर-चाकर उनकी राह देख रहे थे। राजा साहब मोटर से उतर कर ज्यों ही बरामदे में पहुँचे, तो देखा मनोरमा खड़ी है। राजा ने विस्मित होकर पूछा—क्या तुम अभी घर नहीं गईं? तब से यहीं हो? रात तो बहुत बीत गई!

मनोरमा—एक किताब पढ़ रही थी। क्या हुआ?

राजा—कमरे में चलो बताता हूँ।

राजा साहब ने सारी कथा आदि से अन्त तक बड़े गर्व के साथ, ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर बयान की। मनोरमा तन्मय होकर सुनती रही। ज्यों ज्यों वह यह वृत्तांत सुनती थी, उसका मन राजा साहब की ओर खिंचा जाता था। मेरे लिए इन्होंने इतना कष्ट, इतना अपमान सहा। जब वृत्तांत समाप्त हुआ, तो वह प्रेम और भक्ति से गद्‌गद् होकर राजा साहब के पैरों पर गिर पड़ी और काँपती हुई आवाज़ से बोली—मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूँगी।

आज ज्ञातरूप से उसके हृदय में प्रेम का अंकुर पहली बार जमा। वह एक उपासक की भाँति अपने उपास्य देव के लिए बाग़ में फूल तोड़ने आई थी; पर बाग़ की शोभा देखकर उस पर मुग्ध हो गई। फूल लेकर चली, तो बाग़ की सुरम्य छटा उसकी आँखों में समाई हुई थी। उसके रोम-रोम से यही ध्वनि निकलती थी—आपका एहसान कभी न भूलूँगी। स्तुति के शब्द उसके मुँह तक आकर रह गये।

वह घर चली, तो चारों ओर अन्धकार और सन्नाटा था; पर उसके हृदय में प्रकाश फैला हुआ था और प्रकाश में संगीत की मधुर ध्वनि प्रवाहित हो रही थी। एक क्षण के लिए वह चक्रधर की दशा भी भूल गई, जैसे मिठाई हाथ में लेकर बालक अपने छिदे हुए कान की पीड़ा भूल जाता है।

मिस्टर जिम ने दूसरे दिन हुक्म दिया कि चक्रधर को जेल से निकाल-कर शहर के बड़े अस्पताल में रक्खा जाय। वह उन ज़िद्दी आदमियों में न थे, जो मार खाकर भी बेहयाई करते हैं। सवेरे परवाना पहुँचा। राजा साहब भी तड़के ही उठ कर जेल पहुँचे। मनोरमा वहाँ पहले ही से मौजूद थी; लेकिन चक्रधर ने साफ़ कह दिया—मैं यहीं रहना चाहता हूँ। मुझे और कहीं भेजने की ज़रूरत नहीं।

दारोग़ा—आप कुछ सिड़ी तो नहीं हो गये हैं। कितनी कोशिश से तो राजा साहब ने यह हुक्म दिलाया और आप सुनते ही नहीं। क्यों जान देने पर तुले हुए हो? यहाँ इलाज-विलाज ख़ाक न होगा।

चक्रधर—कई आदमियों को मुझसे भी ज्यादा चोट आई है। मेरा मरना-जीना उन्हीं के साथ होगा। उनके लिए ईश्वर है, तो मेरे लिए भी ईश्वर है।

दारोग़ा ने बहुत समझाया, राजा साहब ने भी समझाया, मनोरमा ने रो-रोकर मिन्नतें कीं; लेकिन चक्रधर किसी तरह राज़ी न हुए। तहसीलदार साहब को अन्दर आने की आज्ञा न मिली; लेकिन शायद उनके समझाने का भी कुछ असर न होता। दोपहर तक सिर-मग़ज़न करने के बाद लोग निराश होकर लौटे।

मुंशीजी ने कहा—दिल नहीं मानता; पर जी यही चाहता है कि इस लौंडे का मुँह न देखूँ।

राजा—इसमें बात ही क्या थी। मेरी सारी दौड़-धूप मिट्टी में मिल गई।

मनोरमा कुछ न बोली। चक्रधर जो कुछ कहते या करते थे, उसे उचित जान पड़ता था। भक्ति को आलोचना से प्रेम नहीं। चक्रधर का यह विशाल त्याग उसके हृदय में खटकता था; पर उसकी आत्मा को मुग्ध कर रहा था। उसकी आँखें गर्व से मतवाली हो रही थीं।

मिस्टर जिम को यह ख़बर मिली, तो तिलमिला उठे, मानों किसी रईस ने एक भिखारी को पैसे दिये हों और भिखारी ने पैसे ज़मीन पर फेंक कर अपनी राह ली हो। कीर्ति का इच्छुक जब दान करता है, तो चाहता है कि नाम हो, यश मिले। दान का अपमान उससे नहीं सहा जाता। जिम ने समझा था, चक्रधर की आत्मा का मैंने दमन कर दिया। अब उसे मालूम हुआ कि मैं धोखे में था। वह आत्मा अभी तक मस्तक उठाये उसकी ओर ताक रही थी। जिम ने मन में ठान लिया, मैं इसे कुचलकर छोड़ूँगा।

चक्रधर दो महीने अस्पताल में पड़े रहे। दवा-दर्पन तो जैसी हुई, वही जानते होंगे; लेकिन जनता की दुआओं में जरूर असर था। हज़ारों आदमी नित्य उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे और मनोरमा को तो दान, व्रत और तप के सिवा और कोई काम न था। जिन बातों को वह पहले ढकोसला समझती थी, उन्हीं बातों में अब उसकी आत्मा को शान्ति मिलती थी। पहली बार उसे प्रार्थना-शक्ति का विश्वास हुआ। कमज़ोरी ही में हम लकड़ी का सहारा लेते हैं।

चक्रधर तो अस्पताल में पड़े थे, इधर उन पर नया अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही थीं! ज्यों ही वह चलने-फिरने लगे, उन पर मुक़दमा चलने लगा। जेल के भीतर ही इजलास होने लगा। ठाकुर गुरुसेवकसिंह आजकल डिप्टी मैजिस्ट्रेट थे। उन्हीं को यह मुक़दमा सिपुर्द किया गया।

हमारे ठाकुर साहब बड़े जोशीले आदमी थे। पहले जितने जोश से किसानों का संगठन करते थे, अब उतने ही जोश से कैदियों को सजाएँ

देते थे। पहले उन्होंने निश्चय किया था कि सेवा-कार्य ही में अपना जीवन बिता दूँगा; लेकिन चक्रधर की दशा देखकर आँखें खुल गईं। समझ गये कि इन परिस्थितियों में सेवा-कार्य टेढ़ी खीर है। जीवन का उद्देश्य यही तो नहीं है कि हमेशा एक पैर जेल में रहे, हमेशा प्राण शूली पर रहे, खुफ़िया पुलिस हमेशा ताक में बैठी रहे, भगवद्गीता का पाठ करना मुश्किल हो जाय। यह तो स्वार्थ है, न परमार्थ, केवल आग में कूदना है, तलवार पर गरदन रखना है। सेवा-कार्य को दूर से सलाम या और सरकार के सेवक बन बैठे। ख़ानदान अच्छा था ही, सिफ़ा-रिश भी काफ़ी थी, जगह मिलने में कोई कठिनाई न हुई। अब वह बड़े ठाठ से रहते थे। रहन-सहन भी बदल डाला, खान-पान भी बदल डाला। उस समाज में घुल-मिल गये जिसकी वाणी में, वेष में, व्यवहार में परा-धीनता का चोखा रंग चढ़ा होता है; उन्हें लोग अब 'साहब' कहते हैं। 'साहब' हैं भी, पूरे 'साहब'; बल्कि 'साहबों' से भी दो अँगुल ऊँचे। किसी को छोड़ना तो जानते ही नहीं। कानून की मंशा चाहे कुछ हो, कड़ी-से-कड़ी सज़ा देना उनका काम है। उनका नाम सुनकर बदमाशों की नानी मर जाती है। विधाताओं को उन पर जितना विश्वास है, उतना और किसी हाकिम पर नहीं है; इसीलिए यह मुक़दमा उनके इजलास में भेजा गया है।

ठाकुर साहब सरकारी काम में ज़रा भी रू-रिआयत न करते थे; लेकिन यह मुक़दमा पाकर वह धर्म-संकट में पड़ गये। धन्नासिंह और अन्य अपराधियों के विषय में तो कोई चिन्ता न थी, उनकी मीयाद बढ़ा सकते थे, काल-कोठरी में डाल सकते थे, सेशन सिपुर्द कर सकते थे; पर चक्रधर को क्या करें। अगर सज़ा देते हैं, तो जनता में मुँह दिखाने लायक नहीं रहते। मनोरमा तो शायद उनका मुँह भी न देखे। छोड़ते हैं, तो अपने समाज में तिरस्कार होता है; क्योंकि वहाँ सभी चक्रधर से खार खाये बैठे थे। ठाकुर साहब के कानों में किसी ने यह बात भी डाल

दी थी कि इसी मुक़दमे पर तुम्हारे भविष्य का बहुत कुछ दारमदार है।

मुकदमें को पेश हुए आज तीसरा दिन था। गुरुसेवक बरामदे में बैठे सावन की रिम-झिम वर्षा का आनंद उठा रहे थे। आकाश में मेघों की घुड़दौड़-सी हो रही थी। घुड़दौड़ नहीं, संग्राम था। एक दल आगे-आगे वेग से भागा चला जाता था और उसके पीछे विजेताओं का काला दल तोपें दागता, भाले चमकाता, गंभीर भाव से बढ़ रहा था, मानों भगोड़ों का पीछा करना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता हो।

सहसा मनोरमा मोटर से उतर कर उनके समीप हो कुरसी पर बैठ गई!

गुरुसेवक ने पूछा—कहाँ से आ रही हो?

मनोरमा—घर ही से आ रही हूँ। जेलवाले मुक़दमे में क्या हो रहा है?

गुरुसेवक—अभी तो कुछ नहीं हुआ। गवाहों के बयान हो रहे हैं।

मनोरमा—बाबूजी पर जुर्म साबित हो गया?

गुरुसेवक—हो भी गया और नहीं भी हुआ।

मनोरमा—मैं नहीं समझी।

गुरुसेवक—इसका मतलब यह है कि जुर्म का साबित होना या न होना दोनों बराबर हैं और मुझे मुलज़िमों को सज़ा करनी पड़ेगी। अगर बरी कर दूँ, तो सरकार अपील करके उन्हें फिर सज़ा दिला देगी, हाँ मैं बदनाम हो जाऊँगा। मेरे लिए यह आत्म-बलिदान का प्रश्न है। सारी देवता-मंडली मुझ पर कुपित हो जायगी।

मनोरमा—तुम्हारी आत्मा क्या कहती है?

गुरुसेवक—मेरी आत्मा क्या कहेगी। मौन है!

मनोरमा—मैं यह न मानूँगी। आत्मा कुछ-न-कुछ जरूर कहती है, अगर उससे पूछा जाय। कोई माने या न माने, यह उसका अख़्तियार है। तुम्हारी आत्मा भी अवश्य तुम्हें सलाह दे रही होगी और उसकी सलाह

मानना तुम्हारा धर्म है। बाबूजी के लिए सज़ा का दो-एक साल बढ़ जाना कोई बात नहीं, वह निरपराध हैं और यह विश्वास उन्हें तस्कीन देने को काफ़ी है; लेकिन तुम कहीं के न रहोगे। तुम्हारे देवता तुमसे भले ही सन्तुष्ट हो जायें; पर तुम्हारी आत्मा का सर्वनाश हो जायगा।

गुरुसेवक—चक्रधर बिलकुल बेकसूर तो नहीं हैं। पहले-पहल जेल के दारोगा पर वही गर्म पड़े थे। वह उस वक्त ज़ब्त कर जाते, तो यह फ़िसाद न खड़ा होता। यह अपराध उनके सिर से कैसे दूर होगा?

मनोरमा—आपके कहने का यह मतलब है कि वह गालियाँ खाकर चुप रह जाते! क्यों?

गुरुसेवक—जब उन्हें मालूम था कि मेरे बिगड़ने से उपद्रव की संभावना है, तो मेरे ख़याल में उन्हें चुप ही रह जाना चाहिए था।

मनोरमा—और मैं कहती हूँ कि उन्होंने जो कुछ किया, वही उनका धर्म था। आत्म-सम्मान की रक्षा हमारा सबसे पहला धर्म है। आत्मा की हत्या करके अगर स्वर्ग भी मिले, तो वह नरक है। आपको अपने फैसले में साफ़-साफ़ लिखना चाहिए कि बाबूजी बेकसूर हैं। आपको सिफ़ारिश करनी चाहिए कि एक महान् संकट में, अपने प्राणों को हथेली पर लेकर जेल के कर्मचारियों की जान बचाने के बदले में उनकी मीयाद घटा दी जाय। सरकार अपील करे, इससे आपको कोई प्रयोजन नहीं! आपका कर्तव्य वही है, जो मैं कह रही हूँ।

गुरुसेवक ने अपनी नीचता को मुसकिराहट से छिपाकर कहा—आग में कूद पड़ूँ?

मनोरमा—धर्म की रक्षा के लिए आग में कूद पड़ना कोई नई बात नहीं है। आख़िर आपको किस बात का डर है? यही न कि आपसे आपके अफ़सर नाराज़ हो जायेंगे। आप शायद डरते हों कि कहीं आप अलग न कर दिये जायें। इसकी ज़रा भी चिन्ता न कीजिए। मैं आशा करती हूँ... मुझे विश्वास है, कि आपका नुक़सान न होने पायेगा।

गुरुसेवक अपनी स्वार्थपरता पर झेंपते हुए बोले—नौकरी की मुझे परवा नहीं है मनोरमा, मैं इन लोगों के कमीनापन से डरता हूँ। इनको फ़ौरन् ख़याल होगा कि मैं भी उसी टुकड़ी में मिला हुआ हूँ, और आश्चर्य नहीं कि मैं भी किसी जुर्म में फाँस दिया जाऊँ। मुझे इनके साथ मिलने-जुलने से इनकी नीचता का कई बार अनुभव हो चुका है। इनमें उदारता और सज्जनता नाम को भी नहीं होती। बस, अपने मतलब के यार हैं। इनका धर्म, इनकी राजनीति, इनका न्याय, इनकी सभ्यता केवल एक शब्द में आ जाती है और वह शब्द है—'स्वार्थ'। मैं सब कुछ सह सकता हूँ, जेल के कष्ट नहीं सह सकता। जानता हूँ, यह मेरी कमज़ोरी है; पर क्या करूँ। मुझमें तो इतना साहस नहीं।

मनोरमा—भैयाजी, आपकी यह सारी शंकाएँ निर्मूल हैं। मैं आपका ज़रा भी नुकसान न होने दूँगी। गवाहों के बयान हो गये कि नहीं?

गुरुसेवक—हाँ हो गये। अब तो केवल फैसला सुनाना है।

मनोरमा—तो लिखिए, लाऊँ कलम-दावात?

गुरुसेवक—लिख लूँगा, जल्दी क्या है।

मनोरमा—मैं बिना लिखवाये यहाँ से जाऊँगी ही नहीं। यह इरादा करके आज आई हूँ।

गुरुसेवक—ज़रा घर में जाकर लोगों से मिल आओ। शिकायत करती थीं कि बीबी अभी से हमें भूल गईं।

मनोरमा—टालमटोल न कीजिए। मैं सब सामान यहीं लाये देती हूँ। आपको इसी वक्त लिखना पड़ेगा।

गुरुसेवक—तो तुम कब तक बैठी रहोगी? फैसला लिखना कोई मुँह का कौर थोड़े ही है।

मनोरमा—आधी रात तक ख़त्म हो जायगा? आज न होगा कल होगा? मैं फैसला पढ़कर ही यहाँ से जाऊँगी। तुम दिल से चक्रधर को निर्दोष मानते हो, केवल स्वार्थ और भय तुम्हें दुविधे में डाले हुए

हूँ। मैं देखना चाहती हूँ कि तुम कहाँ तक सत्य का निर्वाह करते हो।

सहसा दूसरी मोटर आ पहुँची। इस पर राजा साहब बैठे हुए थे। गुरुसेवक बड़े तपाक से उन्हें लेने दौड़े। राजा ने उनकी ओर विशेष ध्यान न दिया। मनोरमा के पास आकर बोले—तुम्हारे घर से चला आ रहा हूँ। वहाँ पूछा तो मालूम हुआ—कहीं गई हो; पर यह किसी को न मालूम था कहाँ। वहाँ से पार्क गया, पार्क से चौक पहुँचा, सारे ज़माने की ख़ाक छानता हुआ यहाँ पहुँचा हूँ। मैं कितनी बार कह चुका कि घर से चला करो, तो बतला दिया करो।

मनोरमा—मैंने समझा था, आपके आने के वक्त तक लौट आऊँगी।

राजा—ख़ैर, अभी कुछ ऐसी देर नहीं हुई। कहिए डिप्टीसाहब मिज़ाज तो अच्छे हैं? कभी-कभी भूलकर हमारी तरफ़ भी आ जाया कीजिए। (मनोरमा से) चलो, नहीं शायद जोर से पानी आ जाय।

मनोरमा—मैं तो आज न जाऊँगी।

राजा—नहीं-नहीं, ऐसा न कहो। वह लोग हमारी राह देख रहे होंगे।

मनोरमा—मेरा तो जाने को जी नहीं चाहता।

राजा—तुम्हारे बग़ैर सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा, और मुझे बहुत लज्जित होना पड़ेगा। मैं तुम्हें ज़बरदस्ती ले जाऊँगा।

यह कहकर राजा साहब ने मनोरमा का हाथ आहिस्ता से पकड़ लिया और उसे मोटर की तरफ़ खींचा। मनोरमा ने एक झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया और त्योरियाँ बदल कर बोली—एक बार कह दिया, मैं न जाऊँगी।

राजा—आख़िर क्यों?

मनोरमा—अपनी इच्छा!

गुरुसेवक—हुज़ूर, यह मुझसे ज़बरदस्ती जेलवाले मुक़दमे का फ़ैसला लिखाने बैठी हुई हैं। कहती हैं—बिना लिखवाये न जाऊँगी।

गुरुसेवक ने तो यह बात दिल्लगी से कही थी; पर समयोचित बात उनके मुँह से कम निकलती थी। मनोरमा का मुँह लाल हो गया। समझी, यह मुझे राजा साहब के सम्मुख गिराना चाहते हैं। तनकर बोली—हाँ इसी लिए बैठी हूँ, तो फिर! आपको यह कहते हुए शर्म आनी चाहिए थी। एक निरपराध आदमी को आपके हाथों स्वार्थमय अन्याय से बचाने के लिए मेरी निगरानी की जरूरत है, क्या यह आपके लिए शर्म की बात नहीं? अगर मैं समझती कि आप निष्पक्ष होकर फैसला करेंगे, तो मेरे बैठने की क्यों जरूरत होती। आप मेरे भाई हैं, इसलिए मैं आपसे सत्याग्रह कर रही हूँ। आपकी जगह कोई दूसरा आदमी बाबूजी पर जान-बूझ कर ऐसा घोर अन्याय करता, तो शायद मेरा वश चलता तो उसके हाथ कटवा लेती। चक्रधर की मेरे दिल में जितनी इज़्ज़त है, उसका आप लोग अनुमान नहीं कर सकते।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। गुरुसेवक का मुँह नन्हा-सा हो गया और राजा साहब तो मानों रो दिये। आखिर चुप-चाप अपनी मोटर की ओर चले। जब वह मोटर पर बैठ गये, तो मनोरमा भी धीरे से उनके पास आई और स्नेह-सिंचित नेत्रों से देखकर बोली—मैं कल आपके साथ अवश्य चलूँगी।

राजा ने सड़क की ओर ताकते हुए कहा—जैसी तुम्हारी खुशी!

मनोरमा—अगर इस मामले में सच्चा फैसला करने के लिए भैयाजी पर हाकिमों की अकृपा हुई, तो आपको भैयाजी के लिए कुछ फ़िक्र करनी पड़ेगी?

राजा—देखी जायेगी।

मनोरमा तनकर बोली—क्या कहा?

राजा—कुछ तो नहीं।

मनोरमा—भैयाजी को रियासत में कोई जगह देनी होगी।

राजा—तो दे देना, मैं रोकता कब हूँ।

मनोरमा—कल चार बजे आने की कृपा कीजिएगा। मुझे आपके साथ आज न चलने का बड़ा दुःख है; पर मज़बूर हूँ। मैं चली जाऊँगी तो भैयाजी कुछ-का-कुछ कर बैठेंगे। आप नाराज़ तो नहीं हैं?

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखें सजल हो गईं। राजा ने मंत्र-मुग्ध नेत्रों से उसकी ओर ताका और गद्गद होकर बोले—तुम इसकी ज़रा भी चिंता न करो। तुम्हारा इशारा काफ़ी है। ले अब खुश होकर मुसकिरा दो। देखो, वह हँसी आई!

मनोरमा मुसकिरा पड़ी। पानी में कमल खिल गया। राजा साहब ने उससे हाथ मिलाया और चले गये। तब मनोरमा आकर अपनी कुरसी पर बैठ गई।

इस समय गुरुसेवक की दशा उस आदमी की-सी थी, जिसके सामने कोई महात्मा 'धूनी' रमाये बैठे हों, और बगल में कोई विहसित, विकसित रमणी, मधुर संगीत अलाप रही हो। उसका मन तो संगीत की ओर आकर्षित होता है; लेकिन लज्जा-वश उधर न देखकर वह जाता है और महात्मा के चरणों पर सिर झुका देता है।

मनोरमा कुरसी पर बैठी उनकी ओर इस तरह ताक रही थी, मानों किसी बालक ने अपनी कागज की नाव लहरों में डाल दी हो और उसको लहरों के साथ हिलते हुए बहते देखने में मग्न हो। नाव कभी झोंके खाती है, कभी लहरों के साथ बहती है और कभी डगमगाने लगती है। बालक का हृदय भी उसी भाँति कभी उछलता है, कभी घबराता है और कभी बैठ जाता है।

कुरसी पर बैठे-बैठे मनोरमा को एक झपकी आ गई। सावन-भादों की ठंढी हवा निद्रा-मय होती है। उसका मन स्वप्न-साम्राज्य में जा पहुँचा। क्या देखती है कि उसके बचपन के दिन हैं। वह अपने द्वार पर सहेलियों के साथ गुड़ियाँ खेल रही है। सहसा एक ज्योतिषी पगड़ी बाँधे, पोथी-पत्रे बग़ल में दबाये आता है। सब लड़कियाँ अपनी गुड़ियों का

हाथ दिखाने के लिए दौड़ी हुई ज्योतिषी के पास जाती हैं। ज्योतिषी गुड़ियों के हाथ देखने लगता है। न-जाने कैसे गुड़ियों के हाथ लड़कियों के हाथ बन जाते हैं। ज्योतिषी एक बालिका का हाथ देखकर कहता है—तेरा विवाह एक बड़े भारी अफ़सर से होगा। बालिका हँसती हुई अपने घर चली जाती है। तब ज्योतिषी दूसरी बालिका का हाथ देखकर कहता है—तेरा विवाह एक बड़े सेठ से होगा। तू पालकी में बैठकर चलेगी। यह बालिका भी खुश होकर घर चली जाती है। तब मनोरमा की बारी आती है। ज्योतिषी उसका हाथ देखकर चिन्ता में डूब जाते हैं और अन्त में संदिग्ध स्वर में कहते हैं—तेरे भाग्य में जो कुछ लिखा है, तू उसके विरुद्ध करेगी और दुःख उठायेगी। यह कहकर वह चल पड़ते हैं; पर मनोरमा उनका हाथ पकड़ कर कहती है—आपने मुझे तो कुछ नहीं बतलाया। मुझे भी उसी तरह बता दीजिए, जैसे आपने मेरी सहेलियों को बताया है। ज्योतिषीजी झुँझलाकर कहते हैं—तू प्रेम को छोड़कर धन के पीछे दौड़ेगी; पर तेरा उद्धार प्रेम ही से होगा। यह कहकर ज्योतिषीजी अन्तर्द्धान हो गये और मनोरमा खड़ी रोती रह गई।

यही विचित्र दृश्य देखते-देखते मनोरमा की आँख खुल गई। उसकी आँखों में अभी तक आँसू बह रहे थे। सामने उसकी भावज खड़ी कह रही थी—घर में चलो बीबी, मुझसे क्यों इतनी भागती हो? क्या मैं कुछ छीन लूँगी। और गुरुसेवक लैम्प के सामने बैठे तजवीज लिख रहे थे। मनोरमा ने भावज से पूछा—भाभी, क्या मैं सो गई थी? अभी तो शाम हुई है।

गुरुसेवक ने कहा—शाम नहीं हुई है, बारह बज रहे हैं।

मनोरमा—तब तो आपने तजवीज़ लिख डाली होगी?

गुरुसेवक—बस, ज़रा देर में खत्म हुई जाती है।

मनोरमा ने काँपते हुए स्वर में कहा—आप यह तजवीज़ फाड़ डालिए।

गुरुसेवक ने बड़ी-बड़ी आँखें करके पूछा—क्यों, फाड़ क्यों डालूँ?

मनोरमा—यों ही ! आपने इस मुकदमे का जिक्र ऐसे बे मौके कर दिया कि राजा साहब नाराज़ हो गये होंगे। मुझे चक्रधर से कुछ रिशवत तो लेनी नहीं है। वह तीन वर्ष की जगह तीस वर्ष क्यों न जेल में पड़े रहें। पुण्य और पाप आपके सिर। मुझे कोई मतलब नहीं।

गुरुसेवक—नहीं मनोरमा, मैं अब यह तजवीज़ नहीं फाड़ सकता। बात यह है कि मैंने पहले ही से दिल में एक बात स्थिर कर ली थी, और सारी शहादतें मुझे उसी रङ्ग में रँगी नजर आती थीं। सत्य की मैंने तलाश न की थी, तो सत्य मिलता कैसे। अब मालूम हुआ कि पक्षपात क्योंकर लोगों की आँखों पर परदा डाल देता है। अब जो सत्य की इच्छा से बयानों को देखता हूँ, तो स्पष्ट मालूम होता है कि चक्रधर बिलकुल निर्दोष है। जान-बूझकर अन्याय न करूँगा।

मनोरमा—आपने राजासाहब की त्योरियाँ देखीं ?

गुरुसेवक—हाँ, खूब देखीं ; पर उनकी अप्रसन्नता के भय से अपनी तजवीज़ नहीं फाड़ सकता। यह पहली तजवीज है, जो मैंने पक्षपात-रहित होकर लिखी है और जितना संतोष आज मुझे अपने फैसले पर है, उतना कभी न हुआ था। अब तो कोई लाख रुपये भी दे, तो इसे न फाड़ूँ।

मनोरमा—अच्छा तो लाइए मैं फाड़ दूँ।

गुरुसेवक—नहीं मनोरमा, औंघते हुए आदमी को मत ठेलो, नहीं फिर वह इतने जोर से गिरेगा कि उसकी आत्मा तक चूर-चूर हो जायगी। मुझे तो विश्वास है कि इस तजवीज़ से चक्रधर की पहली सजा भी घट जायगी। शायद सत्य कलम को भी तेज़ कर देता है। मैं इन तीन घंटों में बिना चाय का एक प्याला पिये ४० पृष्ठ लिख गया, नहीं तो हर दस मिनट में चाय पीनी पड़ती थी। बिना चाय की मदद के कलम ही न चलता था।

मनोरमा—लेकिन मेरे सिर इसका एहसान न होगा।

गुरुसेवक—सचाई आप ही अपना इनाम है, यह पुरानी कहावत है।

सत्य से आत्मा भी बलवान् हो जाती है। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, अब मुझे जरा भी भय नहीं है।

मनोरमा—अच्छा, अब मैं जाऊँगी। लालाजी घबरा रहे होंगे।

भाभी—हाँ हाँ, जरूर जाओ, वहाँ माताजी के स्तनों में दूध उतर आया होगा। यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है!

मनोरमा—भाभी, लौंगी अम्माँ को तुम जितनी नीच समझती हो, उतनी नीच नहीं है। तुम लोगों के लिए वह अब भी रोया करती है।

भाभी—अब बहुत बखान न करो, जी जलता है। वह तो मरती भी हो, तो देखने न जाऊँ। किसी दूसरे घर में होती, तो अभी तक बरतन माँजती होती। यहाँ आकर रानी बन गई। ले उठो चलो, आज तुम्हारा गाना सुनूँगी। बहुत दिनों के बाद पंजे में आई हो।

मनोरमा घर न जा सकी। भोजन करके भावज के साथ लेटी। बड़ी रात तक दोनों में बातें होती रहीं। आखिर भाभी को भी नींद आ गई; पर मनोरमा की आँखों में नींद कहाँ। वह तो पहले ही सो चुकी थी। वही स्वप्न उसके मस्तिष्क में चक्कर लगा रहा था। वह बार-बार सोचती थी, इस स्वप्न का आशय क्या है। क्या राजा साहब से विवाह करके वह सचमुच अपना भाग्य पलट रही है? क्या वह प्रेम को छोड़ कर धन के पीछे दौड़ी जा रही है? वह प्रेम कहाँ है, जिसे उसने छोड़ दिया है? उसने तो उसे पाया ही नहीं। वह जानती है, उसे कहाँ पा सकती है, पर पाये कैसे? वह वस्तु तो उसके हाथ से निकल गई। वह मन में कहने लगी—बाबूजी, तुमने कभी मेरी ओर आँख उठाकर देखा है? नहीं, मुझे इसकी लालसा ही रह गई। तुम दूसरों के लिए मरना जानते हो, अपने लिए जीना भी नहीं जानते। तुमने एक बार मुझे इशारा भी कर दिया होता, तो मैं दौड़कर तुम्हारे चरणों में चिपट जाती, इस धन-दौलत पर लात मार देती, इस बन्धन को कच्चे धागे की भाँति तोड़ देती; लेकिन तुम इतने विद्वान् होकर भी इतने सरल-हृदय हो। इतने अनुरक्त

होकर भी इतने विरक्त ! तुम समझते हो, मैं तुम्हारे मन का हाल नहीं जानती। मैं सब जानती हूँ, एक-एक अक्षर जानती हूँ ; लेकिन क्या करूँ। मैंने अपने मन के भाव उससे कहीं अधिक प्रकट कर दिये, जितना मेरे लिए उचित था। मैंने बेशर्मी तक की ; लेकिन तुमने मुझे न समझा या समझने की चेष्टा ही न की। अब तो भाग्य मुझे उसी ओर लिये जा रहा है, जिधर मेरी चिता बनी हुई है। उसी चिता पर बैठने जाती हूँ। यही हृदय-दाह मेरी चिता होगी और यही स्वप्न-संदेश, मेरे जीवन का आधार होगा। प्रेम से मैं वंचित हो गई और अब मुझे सेवा ही से अपना जीवन सफल करना होगा। यह स्वप्न नहीं, आकाश-वाणी है। अभागिनी इससे अधिक और क्या अभिलाषा रख सकती है ?

यही सोचते-सोचते वह लेटे-लेटे यह गीत गाने लगी—

करूँ क्या प्रेम-समुद्र अपार !
स्नेह-सिंधु में मग्न हुई मैं, लहरें रहीं हिलोर,
हाथ न आये तुम जीवन-धन, पाया कहीं न छोर।
करूँ क्या प्रेम-समुद्र अपार !
झूम-झूमकर जब अठिलाई सुरभित-स्निग्ध समीर,
नभ-मंडल में लगा विचरने मेरा हृदय अधीर।
करूँ क्या प्रेम-समुद्र अपार !

२१

हुक्काम के इशारों पर नाचने वाले गुरुसेवकसिंह ने जब चक्रधर को जेल के दंगे के इल्ज़ाम से बरी कर दिया, तो अधिकारी-मंडल में सनसनी-सी फैल गई। गुरुसेवक से ऐसे फैसले की किसी को आशा न थी। फैसला क्या था, मान पत्र था, जिसका एक-एक शब्द वात्सल्य के रस में सराबोर था। जनता में धूम मच गई। ऐसे न्याय-वीर, सत्यवादी, प्राणी विरले ही होते हैं, सबके मुँह से यही बात निकलती थी। शहर के कितने ही आदमी तो गुरुसेवक के दर्शनों को आये और यह कहते हुए लौटे कि यह हाकिम नहीं साक्षात् देवता हैं। अधिकारियों ने सोचा था, चक्रधर को ४-५ साल जेल में सड़ायेंगे; लेकिन अब तो खूँटा ही उखड़ गया, उछलें किस बिरते पर। चक्रधर इस इलजाम से बरी ही न हुए, उनकी पहली सजा भी एक साल घटा दी गई। मिस्टर जिम तो ऐसा जामे से बाहर हुए कि बस चलता तो गुरुसेवक को गोली मार देते। और कुछ न कर सके, चक्रधर को तीसरे ही दिन आगरे भेज दिया; लेकिन ईश्वर न करे कि किसी पर हाकिमों की टेढ़ी निगाह हो। चक्रधर की मीयाद घटा तो दी गई; लेकिन कर्मचारियों को सख्त ताकीद कर दी गई कि कोई कैदी उनसे बोलने न पाये, कोई उनके कमरे के द्वार तक भी न जाने पाये, यहाँ तक कि कोई कर्मचारी भी उनसे न बोले। साल भर में दस साल की क़ैद का मजा चखाने की हिकमत सोच निकाली गई। मजा यह कि इस धुन में चक्रधर को कोई काम भी न दिया गया। बस, आठों पहर उसी ४ हाथ लंबी ३ हाथ चौड़ी कोठरी में पड़े रहो। जेल के विधाताओं में चाहे जितने अवगुण हों; पर वे मनोविज्ञान के पंडित होते हैं। किस

दंड से आत्मा को अधिक-से-अधिक कष्ट हो सकता है, इसका उन्हें संपूर्ण ज्ञान होता है। मनुष्य के लिए बेकारी से बड़ा और कोई कष्ट नहीं है, इसे वे खूब जानते हैं। चक्रधर के कमरे का द्वार केवल दिन में दो बार खुलता था। वार्डर खाना रखकर किवाड़ बन्द कर देता था। आह! कालकोठरी! तू मानवी पशुता की सबसे क्रूर लीला, सबसे उज्ज्वल कीर्ति है। तू वह जादू है, जो मनुष्य को आँखें रहते अंधा, कान रहते बहरा, जीभ रहते गूँगा बना देती है। कहाँ हैं सूर्य की किरणें, जिन्हें देखकर आँखों को अपने होने का विश्वास हो, कहाँ है वाणी, जो कानों को जगाये! गंध है; किन्तु ज्ञान तो भिन्नता में है, जहाँ दुर्गन्ध के सिवा और कुछ नहीं, वहाँ गन्ध का ज्ञान कैसे हो। बस शून्य है, अंधकार है! वहाँ पञ्च-भूतों का अस्तित्व ही नहीं। कदाचित् ब्रह्मा ने इस अवस्था की कल्पना न की होगी, कदाचित् उनमें यह सामर्थ्य ही न थी। मनुष्य की आविष्कार-शक्ति कितनी विलक्षण है। धन्य हो देवता, धन्य हो!

चक्रधर के विचार और भाव इतनी जल्द बदलते रहते थे कि कभी-कभी उन्हें भ्रम होने लगता था, मैं पागल तो नहीं हुआ जा रहा हूँ? कभी सोचते, ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की रचना ही क्यों की, जहाँ इतना स्वार्थ और द्वेष और अन्याय है। क्या ऐसी पृथ्वी न बन सकती थी, जहाँ सभी मनुष्य, सभी जातियाँ, प्रेम और आनन्द के साथ संसार में रहतीं? यह कौनसा इन्साफ है कि कोई तो दुनिया के मजे उड़ाये, कोई धक्के खाये, एक जाति दूसरी का रक्त चूसे और मूँछों पर ताव दे, दूसरी कुचली जाय और दानें को तरसे। ऐसा अन्याय-मय संसार ईश्वर की सृष्टि नहीं हो सकता। पूर्व-संस्कार का सिद्धान्त ढोंग मालूम होता, जो लोगों ने दुखियों और दुर्बलों के आँसू पोंछने के लिए गढ़ लिये हैं। दो-चार दिन यही संशय उनके मन को मथा करता। फिर एकाएक विचार-धारा पलट जाती। अन्धकार में प्रकाश की ज्योति फैल जाती, काँटों की जगह फूल नज़र आने लगते। पराधीनता एक ईश्वरी विधान का

रूप धारण कर लेती, जिसमें विकास और जागृति का मन्त्र छिपा हुआ है। नहीं, पराधीनता दंड नहीं है, यह शिक्षालय है, जो हमें स्वराज्य के सिद्धान्त सिखाता है, हमारे पुराने कुसंस्कारों को मिटाता है, हमारी मुँदी हुई आँखें खोलता है। इसके लिए ईश्वर का गिला करने की ज़रूरत नहीं, हमें उसको धन्यवाद देना चाहिए। अन्त को इस अन्तर्द्वन्द्व में उनकी आत्मा ने विजय पाई। सारी मन की अशांति, क्रोध और हिंसात्मक वृत्तियाँ उसी विजय में मग्न हो गईं। मन पर आत्मा का राज्य हो गया। इसकी परवा न रही कि ताजी हवा मिलती है या नहीं, भोजन कैसा मिलता है, कपड़े कितने मैले हैं, उनमें कितने चिल्वे पड़े हुए हैं कि खुजाते-खुजाते देह में दिदोरे पड़ जाते हैं। इन कष्टों की ओर उनका ध्यान ही न जाता। मन अन्तर्जगत् की सैर करने लगा। यह नई दुनिया जिसका अभी तक चक्रधर को बहुत कम ज्ञान था, इस लोक से कहीं ज्यादा पवित्र, उज्ज्वल और शांतिमय थी। वहाँ रवि की मधुर प्रभात-किरणों में, इन्दु की मनोहर छटा में, वायु के कोमल संगीत में, आकाश की निर्मल नीलिमा में,एक विचित्र ही आनन्द था। वह किसी समाधिस्थ योगी की भाँति घंटों इस अंतर्लोक में विचरते रहते। शारीरिक कष्टों से अब उन्हें विराग-सा होने लगा। उनकी ओर ध्यान देना वह तुच्छ समझते थे। कभी-कभी वह गाते। मनोरञ्जन के लिए कई खेल निकाले। अँधेरे में अपनी लुटिया लुढ़का देते और उसे एक ही खोज में उठा लाने की चेष्टा करते। अगर उन्हें किसी चीज की जरूरत मालूम होती, तो वह प्रकाश था, इसलिए नहीं कि वह अंधकार से ऊब गये थे; बल्कि इसलिए कि वह अपने मन में उमड़ने वाले भावों को लिखना चाहते थे। लिखने की सामग्रियों के लिए उनका मन तड़प कर रह जाता। धीरे-धीरे उन्हें प्रकाश की भी जरूरत न रही। उन्हें ऐसा विश्वास होने लगा कि मैं अँधेरे में भी लिख सकता हूँ। यही न होगा कि पंक्तियाँ सीधी न होंगी; पर पंक्तियों को दूर-दूर रखकर और शब्दों को अलग-अलग लिखकर वह

इस मुश्किल को आसान कर सकते थे। सोचते, कभी यहाँ से बाहर निकलने पर उस लिखावट को पढ़ने में कितना आनंद आयगा, कितना मनोरञ्जन होगा! लेकिन लिखने का सामान कहाँ? बस यही एक ऐसी चीज़ थी, जिसके लिए वह कभी-कभी विकल हो जाते थे। विचार के ऐसे अथाह सागर में डूबने का मौक़ा फिर न मिलेगा और ये मोती फिर हाथ न आयेंगे; लेकिन कैसे मिले!

चक्रधर के पास कभी-कभी एक बूढ़ा वार्डर भोजन लाया करता था। वह बहुत ही हँसमुख आदमी था। चक्रधर को प्रसन्न मुख देखकर दो-चार बातें कर लेता था। आह! उससे बातें करने के लिए चक्रधर कितने लालायित रहते थे! उससे उन्हें बन्धुत्व-सा हो गया था। वह कई बार पूछ चुका था कि बाबूजी चरस-तम्बाखू की इच्छा हो, तो हमसे कहना। चक्रधर को ख़याल आया, क्यों न उससे एक पेंसिल और थोड़े-से कागज के लिए कहूँ। इस उपकार का बदला कभी मौका मिला, तो चुका दूँगा। कई दिनों तक तो वह इसी संकोच में पड़े रहे कि उससे कहूँ या नहीं। आखिर एक दिन उनसे न रहा गया, पूछ ही बैठे—क्यों जमादार, यहाँ कहीं कागज-पेंसिल तो न मिलेगी?

बूढ़ा वार्डर उनकी पूर्व-कथा सुन चुका था, कुछ लिहाज़ करता था, मालूम नहीं किस देवता के आशीर्वाद से उसमें इतनी इन्सानियत बच रही थी और जितने वार्डर भोजन लाते, वे या तो चक्रधर को अनायास दो-चार एँडी-बेंडी सुना देते, या चुपके से खाना रखकर चले जाते। चक्रधर को चरित्र-ज्ञान प्राप्त करने का यह बहुत ही अच्छा अवसर मिलता था। बूढ़े वार्डर ने सतर्क भाव से कहा—मिलने को तो मिल जायगा; पर किसी ने देख लिया तो क्या होगा?

इस वाक्य ने चक्रधर को सँभाल लिया। उनकी विवेक-बुद्धि जो क्षण-भर के लिए मोह में फँस गई थी जाग उठी। बोले—नहीं, मैं यों ही पूछता था। यह कहते-कहते लज्जा से उनकी जबान बंद हो गई। जरा-सी बात के लिए इतना पतन!

इसके बाद उस वार्डर ने फिर कई बार पूछा—कहो तो पिंसिन-कागद ला दूँ; मगर चक्रधर ने हर दफ़ा यही कहा—मुझे जरूरत नहीं।

बाबू यशोदानंदन को ज्यों ही मालूम हुआ था कि चक्रधर आगरा-जेल में आ गये हैं, वह उनसे मिलने की कई बार चेष्टा कर चुके थे; पर आज्ञा न मिलती थी। साधारणतः कैदियों को छठे महीने अपने घर के किसी प्राणी से मिलने की आज्ञा मिल जाती थी। चक्रधर के साथ इतनी रिआयत भी न की गई थी; पर यशोदानन्दन अवसर पड़ने पर खुशामद भी कर सकते थे। अपना सारा ज़ोर लगाकर अंत में उन्होंने आज्ञा प्राप्त ही कर ली—अपने लिए नहीं, अहल्या के लिए। उस विरहिणी की दशा दिन-दिन खराब होती जाती थी। जब से चक्रधर ने जेले में क़दम रक्खा, उसी दिन से वह भी कैदियों की-सी जिंदगी बसर करने लगी। चक्रधर जेल में भी स्वतन्त्र थे, वह भाग्य को अपने पैरों पर झुका सकते थे। अहल्या घर में भी कैद थी, वह भाग्य पर विजय न पा सकती थी। वह केवल एक बार बहुत थोड़ा-सा खाती और वह भी रूखा-सूखा। वह चक्रधर को अपना पति समझती थी। पति की ऐसी कठिन तपस्या देखकर उसे आप-ही-आप बनाव-शृङ्गार से, खाने-पीने, हँसने बोलने से, अरुचि होती थी। कहाँ पुस्तकों पर जान देती थी, कहाँ अब उनकी ओर आँख उठाकर न देखती। चारपाई पर सोना भी छोड़ दिया था। केवल जमीन पर एक कम्बल बिछा कर पड़ रहती। वैसाख-जेठ की गरमी का क्या पूछना। घर की दीवारें तवे की तरह तपती हैं। घर भाड़-सा मालूम होता है। रात को खुले मैदान में भी मुश्किल से नींद आती है; लेकिन अहल्या ने सारी गरमी एक छोटी-सी बन्द कोठरी में सोकर काट दी। माघ-पूस की सरदी का क्या पूछना। प्राण तक काँपते हैं। लिहाफ़ के बाहर मुँह निकालना मुश्किल होता है। पानी पीने से जूड़ी-सी चढ़ आती है। लोग आग पर पतंगों की भाँति गिरते हैं; लेकिन अहल्या के लिए वही कोठरी की ज़मीन थी और एक फटा हुआ कम्बल। सारा घर समझाता था—क्यों इस तरह

प्राण देती हो ? तुम्हारे प्राण देने से चक्रधर का कुछ उपकार होता, तो एक बात भी थी। व्यर्थ काया को क्यों कष्ट देती हो ? इसका उसके पास यही जवाब था—मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं। आप लोगों को न-जाने कैसे मैदान में गरमी लगती है, मुझे तो कोठरी में खूब नींद आती है। आप लोगों को न-जाने कैसे सरदी लगती है, मुझे तो कम्बल में ऐसी गहरी नींद आती है कि एक बार भी आँख नहीं खुलती। ईश्वर में पहले भी उसकी भक्ति कम न थी, अब तो उसकी कर्मनिष्ठा और भी बढ़ गई। प्रार्थना में इतनी शान्ति है, इसका उसे पहले अनुमान न था। जब वह हाथ जोड़कर आँखें बन्द करके ईश्वर से प्रार्थना करती, तो उसे ऐसा मालूम होता कि चक्रधर स्वयं मेरे सामने खड़े हैं। एकाग्रता और निरंतर ध्यान से उसकी आत्मा दिव्य होती जाती थी। इच्छाएँ आप-ही-आप गायब हो गईं। चित्त की वृत्ति ही बदल गई। उसे अनुभव होता था कि मेरी प्रार्थनाएँ उस मातृ-स्नेह-पूर्ण अंचल की भाँति जो बालक को ढक लेता है, चक्रधर की रक्षा करती रहती हैं।

जिस दिन अहल्या को मालूम हुआ कि चक्रधर से मिलने की आज्ञा मिल गई, उसे आनन्द के बदले भय होने लगा—वह न-जाने कितने दुर्बल हो गये होंगे, न-जाने उनकी सूरत कैसी बदल गई होगी। कौन जाने हृदय भी बदल गया हो। यह शंका भी होती थी, कहीं मुझे उनके सामने जाते ही मूर्च्छा न आ जाय, कहीं मैं चिल्ला-चिल्ला कर रोने न लगूँ। अपने दिल को बार-बार मजबूत करती थी।

प्रातःकाल उसने उठकर स्नान किया और बड़ी देर तक बैठी वन्दना करती रही। माघ का महीना था, आकाश में बादल छाये हुए थे, इतना कुहरा पड़ रहा था कि सामने की चीज़ न सूझती थी। सरदी के मारे लोगों का बुरा हाल था। घरों की महरियाँ अँगीठियाँ लिये ताप रही थीं, धंधा करने कौन जाय, मजदूरों को फ़ाक़ा करना मंजूर था; पर काम पर जाना मुश्किल। दूकानदारों को दूकान की परवा न थी, बैठे आग तापते

थे; यमुना में नित्य स्नान करनेवाले भक्तजन भी आज तट पर नज़र न आते थे। सड़कों पर, बाज़ारों में, गलियों में, सन्नाटा छाया हुआ था। ऐसा ही कोई विपत्ति का मारा दूकानदार था, जिसने दूकान खोली हो। बस, अगर चलते-फिरते नजर आते थे, तो वह दफ़्तरों के बाबू थे, जो सरदी से सिकुड़े, जेब में हाथ डाले, कमर टेढ़ी किये, लपके चले जाते थे। अहल्या इसी वक्त यशोदानंदनजी के साथ गाड़ी में बैठकर जेल चली। उसे उल्लास न था, आनन्द न था, शंका और भय से दिल काँप रहा था, मानों कोई अपने रोगी मित्र को देखने जा रहा हो।

जेल में पहुँचते ही एक औरत ने उसकी तलाशी ली और उसे पास के एक कमरे में ले गई, जहाँ एक टाट का टुकड़ा पड़ा था। उसने अहल्या को उस टाट पर बैठने का इशारा किया। तब एक कुरसी मँगवाकर आप उस पर बैठ गई और चौकीदार से कहा—अब यहाँ सब ठीक है,. कैदी को लाओ।

अहल्या का कलेजा धड़क रहा था। उस स्त्री को अपने समीप बैठे देख कर उसे कुछ ढाढ़स हो रहा था, नहीं तो शायद वह चक्रधर को देखते ही उनके पैरों से लिपट जाती। सिर झुकाये बैठी थी कि चक्रधर दो चौकीदारों के साथ कमरे में आये। उनके सिर पर कनटोप था और देह पर एक आधी आस्तीन का कुरता; पर मुख पर आत्मबल की ज्योति झलक रही थी। उनका रंग पीला पड़ गया था, डाढ़ी के बाल बढ़े हुए थे और आँखें भीतर को घुसी हुई थीं; पर मुख पर एक हलकी-सी मुसकिराहट खेल रही थी। अहल्या उन्हें देखकर चौंक पड़ी, उसकी आँखों से बेअख्तियार आँसू निकल आये। शायद कहीं और देखती तो पहचान भी न सकती। घबराई-सी उठ कर खड़ी हो गई। अब दो के दोनों खड़े हैं, दोनों के मन में हजारों बातें हैं, उद्गार-पर-उद्गार उठते हैं, दोनों एक दूसरे को कनखियों में देखते हैं, जिनमें प्रेम और आकांक्षा और उत्सुकता की लहरें-सी उठ रही हैं; पर किसी के मुँह से शब्द नहीं निकलता।

अहल्या सोचती है, क्या पूछूँ, इनका एक-एक अंग अपनी दशा आप सुना रहा है, उसकी आँखों में बार-बार आँसू उमड़ आते हैं; पर पी जाती है। चक्रधर भी यही सोचते हैं क्या पूछूँ, इसका एक-एक अंग इसकी तपस्या और वेदना की कथा सुना रहा है। बार-बार ठंडी साँसें खींचते हैं; पर मुँह नहीं खुलता। वह माधुर्य कहाँ है, जिस पर ऊषा की लालिमा बलि जाती थी? वह चपलता कहाँ है, वह सहास छवि कहाँ, जो मुख-मंडल की बलाएँ लेती थी। मालूम होता है, बरसों की रोगिणी है। आह! मेरे ही कारण इसकी यह दशा हुई है! अगर कुछ दिन और इसी तरह घुली तो शायद प्राण ही न बचें। किन शब्दों में दिलासा दूँ, क्या कहकर समझाऊँ।

इसी असमंजस और कण्ठावरोध की दशा में खड़े-खड़े दोनों को १० मिनट हो गये। शायद उन्हें खयाल ही न रहा कि मुलाक़ात का समय केवल २० मिनट है। यहाँ तक कि उस लेडी को उनकी दशा पर दया आई, घड़ी देख कर बोली—तुम लोग यों ही कब तक खड़े रहोगे, दस मिनट गुज़र गये, केवल दस मिनट और बाक़ी हैं।

चक्रधर मानों समाधि से जाग उठे। बोले—अहल्या, तुम इतनी दुबली क्यों हो, क्या बीमार हो क्या?

अहल्या ने सिसकियों को दबा कर कहा—नहीं तो, मैं तो बिलकुल अच्छी हूँ। आप अलबत्ता इतने दुबले हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते।

चक्रधर—ख़ैर, मेरे दुबले होने के तो कारण हैं; लेकिन तुम क्यों ऐसी घुली जा रही हो? कम-से-कम अपने को इतना तो बनाये रक्खो कि जब मैं छूट कर आऊँ, तो मेरी कुछ मदद कर सको। अपने लिए नहीं, तो मेरे लिए तो तुम्हें अपनी रक्षा करनी चाहिए। अगर तुमने इसी भाँति घुल-घुल कर प्राण दे दिये, तो शायद जेल से मेरी भी लाश ही निकले। तुम्हें वचन देना पड़ेगा कि तुम अब से अपनी ज्यादा फ़िक्र रक्खोगी। मेरी ओर से तुम निश्चिन्त रहो। मुझे यहाँ कोई तकलीफ़

नहीं है। बड़ी शान्ति से दिन कट रहे हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे आत्म-सुधार के लिए इस तपस्या की बड़ी ज़रूरत थी। मैंने अँधेरी कोठरी में जो कुछ पाया, वह पहले प्रकाश में रह कर न पाया था। मुझे अगर उसी कोठरी में सारा जीवन बिताना पड़े, तो भी मैं न घबराऊँगा। हमारे साधु-संत अपनी इच्छा से जीवन पर्यन्त कठिन-से-कठिन तपस्या करते हैं। मेरी तपस्या उनसे कहीं सरल और सुसाध्य है। अगर दूसरों ने मुझे इस संयम का अवसर दिया, तो मैं उनसे बुरा क्यों मानूँ। मुझे तो उनका उपकार मानना चाहिए। मुझे वास्तव में इस संयम की बड़ी ज़रूरत थी, नहीं तो मेरे मन की चंचलता मुझे-न-जाने कहाँ ले जाती। प्रकृति सदैव हमारी कमी को पूरी करती रहती है, यह बात अब तक मेरी समझ में न आई थी। अब तक मैं दूसरों का उपकार करने का स्वप्न देखा करता था। अब ज्ञात हुआ कि अपना उपकार ही दूसरों का उपकार है। जो अपना उपकार नहीं कर सकता, वह दूसरों का उपकार क्या करेगा। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, यहाँ बड़े आराम से हूँ और इस परीक्षा में पड़ने से प्रसन्न हूँ। बाबूजी तो कुशल से हैं?

अहल्या—हाँ, आपको बराबर याद किया करते हैं। मेरे साथ वह भी आये हैं; पर यहाँ न आने पाये। अम्माँ और बाबूजी में कई महीनों से खटपट है। वह कहती हैं, बहुत दिन तो समाज की चिन्ता में दुबले हुए, अब आराम से घर बैठो, क्या तुम्हीं ने समाज का ठीका ले लिया है? बाबूजी कहते हैं यह काम तो उसी दिन छोड़ूँगा, जिस दिन प्राण शरीर को छोड़ देगा। बेचारे बराबर दौड़ते रहते हैं। एक दिन भी आराम से बैठना नसीब नहीं होता। तार से बुलावे आते रहते हैं। फ़ुरसत मिलती है तो लिखते हैं। न-जाने ऐसी क्या हवा बदल गई है कि नित्य कहीं-न-कहीं से उपद्रव की ख़बर आती रहती है। आजकल स्वास्थ्य भी बिगड़ गया है; पर आराम करने की तो उन्होंने क़सम खा ली है। बूढ़े ख्वाजा महमूद से न जाने किस बात पर अनबन हो गई है। आपके

चले जाने के बाद कई महीने तक खूब मेला रहा; लेकिन अब फिर वही हाल है।

अहल्या ने यह बातें महत्व की समझ कर न कहीं; बल्कि इसलिए कि वह चक्रधर का ध्यान अपनी तरफ से हटा देना चाहती थीं। चक्रधर विरक्त-से होकर बोले—दोनों आदमी फिर धर्मान्धता के चक्कर में पड़ गये होंगे। जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा रहेगी। मुश्किल यह है कि जिन महान् पुरुषों से सच्ची धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़ कर उद्दंड हो जाते हैं। मैं तो नीति ही को धर्म समझता हूँ। और सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है। अगर अन्तर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। ये मानव-जाति के निर्माता हैं। जो इनमें से किसी का अनादर करता है, या उनकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है। बुरे हिंदू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न यह कि वह किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा। हमें अगर संसार में जीवित रहना है, तो अपने हृदय में इन्हीं भावों का संचार करना पड़ेगा। मेरे घर का तो कोई समाचार न मिला होगा?

अहल्या—मिला क्यों नहीं। बाबूजी हाल ही में काशी गये थे। जगदीशपुर के राजा साहब ने आपके पिताजी को ५०) मासिक बाँध दिया है, इससे अब उनको धन का कष्ट नहीं है। आपकी माताजी अक्सर रोया करती हैं। छोटी रानी साहब की आपके घरवालों पर विशेष कृपादृष्टि है।

चक्रधर ने विस्मित होकर पूछा—छोटी रानी साहब कौन?

अहल्या—रानी मनोरमा, जिनसे अभी थोड़े ही दिन हुए राजा साहब का विवाह हुआ है।

चक्रधर—तो मनोरमा का विवाह राजा साहब से हो गया?

अहल्या—यही तो बाबूजी कहते थे।

चक्रधर—तुम्हें खूब याद है, भूल तो नहीं रही हो?

अहल्या—खूब याद है, इतनी जल्द भूल जाऊँगी!

चक्रधर—यह तो बड़ी दिल्लगी हुई, मनोरमा का विवाह विशालसिंह के साथ! मुझे तो अब भी विश्वास नहीं आता। बाबूजी ने नाम बताने में गलती की होगी।

अहल्या—बाबूजी को स्वयं आश्चर्य हो रहा था। काशी में भी लोगों को बड़ा आश्चर्य है। मनोरमा ने अपनी खुशी से विवाह किया है, कोई दबाव न था! मनोरमा किसी से दबनेवाली हैं ही नहीं। सुनती हूँ, राजा साहब बिलकुल उनकी मुट्ठी में हैं। जो कुछ वह करती हैं वही होता है, राजा साहब तो काठ के पुतले बने हुए हैं। बाबूजी चन्दा माँगने गये थे, तो रानीजी ही ने पाँच हज़ार दिये। बहुत प्रसन्न मालूम होती थीं।

सहसा लेडी ने कहा—वक्त पूरा हो गया। वार्डर, इन्हें अन्दर ले जाओ।

चक्रधर क्षण भी और न ठहरे। अहल्या को तृष्णापूर्ण नेत्रों से देखते हुए चले गये। अहल्या ने सजल नेत्रों से उन्हें प्रणाम किया और उनके जाते ही फूट-फूट कर रोने लगी।

२२

फागुन का महीना आया, ढोल-मजीरे की आवाज़ें कानों में आने लगीं। कहीं रामायण की मण्डलियाँ बनीं, कहीं फाग और चौताल का बाज़ार गर्म हुआ। पेड़ों पर कोयल कूकी, घरों में महिलाएँ कूकने लगीं। सारा संसार मस्त है, कोई राग में, कोई साग में। मुन्शी वज्रधर की संगीत-सभा भी सजग हुई। यों तो कभी-कभी बारहों मास बैठक होती थी; पर फागुन आते ही बिला नागा मृदंग पर थाप पड़ने लगी। उदार आदमी थे, फ़िक्र को कभी पास न आने देते। इस विषय में वह बड़े-बड़े दार्शनिकों से भी दो क़दम आगे बढ़े हुए थे। अपने शरीर को वह कभी कष्ट न देते थे। कवि के आदेशानुसार बिगड़ी को बिसार देते थे, हाँ आगे की सुधि न लेते थे। लड़का जेल में है, घर में स्त्री रोती-रोती अन्धी हुई जाती है, सयानी लड़की घर में बैठी हुई है; लेकिन मुंशीजी को कोई ग़म नहीं। पहले २५) में गुज़र करते थे, अब ७५) भी पूरे नहीं पड़ते। जिससे मिलते हैं हँसकर, सबकी मदद करने को तैयार, मानों उनके मारे अब कोई प्राणी रोगी, दुखी, दरिद्र न रहने पायेगा, मानों वह ईश्वर के दरबार से लोगों के कष्ट दूर करने का ठीका लेकर आये हैं। वादे सबसे करते हैं, किसी ने झुक कर सलाम किया और प्रसन्न हो गये। दोनों हाथों से वरदान बाँटते फिरते हैं, चाहे पूरा एक भी न कर सकें। अपने मुहल्ले के कई बेफ़िक्रों को, जिन्हें कोई टके को भी न पूछता था, रियासत में नौकर करा दिया—किसी को चौकीदार, किसी को मुहर्रिर, किसी को कारिन्दा। मगर नेकी करके दरिया में डालने की उनकी आदत नहीं। जिससे मिलते हैं, अपना ही यश गाना शुरू करते हैं और उसमें

मनमानी अतिशयोक्ति भी करते हैं। मशहूर हो गया कि राजा और रानी दोनों इनकी मुट्ठी में हैं। सारा अख्तियार-मदार इन्हीं के हाथ में है। अब मुंशीजी के द्वार पर सायलों की भीड़ लगी रहती है, जैसे कार के महीने में वैद्यों के द्वार पर रोगियों की। मुंशीजी किसी को निराश नहीं करते, और न कुछ कर सकें, तो बातों से ही पेट भर देते हैं। वह लाख बुरे हों; फिर भी उनसे कहीं अच्छे हैं, जो पद पाकर अपने को भूल जाते हैं, ज़मीन पर पाँव ही नहीं रखते। यों तो कामधेनु भी सबकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती; पर मुंशीजी की शरण आकर दुखी हृदय को शांति अवश्य मिलती है, उसे आशा की झलक दिखाई देने लगती है। मुंशीजी कुछ दिनों तक तहसीलदारी कर चुके हैं, अपनी धाक जमाना जानते हैं। जो काम पहुँच से बाहर होता है, उसके लिए भी 'हाँ-हाँ' कर देना, आँखें मारना, उड़नघाइयाँ बताना, इन चालों में वह सिद्ध हैं। स्वार्थ की दुनिया है, वकील, ठीकेदार, बनिये-महाजन, गरज हर तरह के आदमी उनसे कोई-न-कोई काम निकलने की आशा रखते हैं, और किसी न-किसी हीले से कुछ-न-कुछ दे ही मरते हैं। मनोरमा का राजा साहब से विवाह होना था कि मुंशीजी का भाग्य-सूर्य चमक उठा। एक ठीके-दार को रियासत के कई मकानों का ठीका दिला कर अपना मकान पक्का करा लिया, बनिया बोरों अनाज मुफ्त में भेज देता, धोबी कपड़ों की धुलाई नहीं लेता। सारांश यह कि तहसीलदार साहब के 'पौ बारह' हैं। तहसीलदारी में जो मज़े न उड़ाये थे, वह अब उड़ा रहे हैं।

रात के ८ बज गये थे। झिनकू अपने समाजियों के साथ आ बैठा। मुंशीजी मसनद पर बैठे पेचवान पी रहे थे। गाना होने लगा।

मुंशी—वाह झिनकू वाह! क्या कहना है। अब मैं तुम्हें एक दिन दरबार में ले चलूँगा।

झिनकू—जब मर जाऊँगा, तब ले जाइएगा क्या? सौ बार कह चुके भैया हमारी भी परवरिस कर दो; मगर जब अपनी तकदीर ही खोटी

है, तो तुम क्या करोगे। नहीं तो क्या गैर-गैर तो तुम्हारी बदौलत मूँछों पर ताव देते और मैं कोरा ही रह जाता। यों तुम्हारी दुआ से साँझ तक रोटियाँ तो मिल जाती हैं; लेकिन राज-दरबार का सहारा हो जाय, तो जिंदगी का कुछ मजा मिले।

मुंशी—क्या बताऊँ जी, बार-बार इरादा करता हूँ, लेकिन ज्यों ही वहाँ पहुँचा, तो कभी राजा साहब और कभी रानी साहब कोई ऐसी बात छेड़ देते हैं कि मुझे कुछ कहने की याद ही नहीं रहती। मौक़ा ही नहीं मिलता।

झिनकू—कहो चाहे न कहो, मैं तो अब तुम्हारे दरवाजे से टलने का नहीं।

मुंशी—कहूँगा जी और बढ़कर। यह समझ लो कि तुम वहाँ हो गये, बस मौक़ा मिलने की देर है। रानी साहब इतना मानती हैं कि जिसे चाहूँ निकलवा दूँ, जिसे चाहूँ रखवा दूँ। दीवान साहब भी अब दूर ही से सलाम करते हैं। फिर मुझे अपने काम-से-काम है, किसी की शिकायत क्यों करूँ। मेरे लिए कोई रोक-टोक नहीं है; मगर दीवान साहब बाप हैं तो क्या, बिला इत्तला कराये सामने नहीं जा सकते।

झिनकू—रानीजी का क्या पूछना, सचमुच रानी हैं। आज शहर-भर में वाह-वाह हो रही है। बुढ़िया के राज में हकीम-डॉक्टर लूटते थे, अब गुनियों की क़दर है।

मुंशी—पहुँचा नहीं कि सौ काम छोड़ कर दौड़ी हुई आकर खड़ी हो जाती हैं। क्या है लालाजी, क्या है लालाजी? जब तक रहता हूँ दिमाग़ चाट जाती हैं, दूसरों से बात तक नहीं करतीं। लल्लू की बहुत याद करती हैं। खोद-खोदकर उन्हीं की बातें पूछती हैं। सब्र करो, होली के दिन तुम्हारी नजर दिला दूँगा; मगर भाई इतना याद रक्खो कि वहाँ पक्का गाना गाया और निकाले गये। 'तूम तनाना' की धुन मत बाँध देना।

इतने में महादेव नाम का एक बज़ाज सामने आया और दूर ही से

सलाम करके बोला—मुंशीजी, हजूर के मिजाज अच्छे हैं ?

मुंशीजी ने त्योरियाँ बदलकर कहा—हजूर के मिजाज की फ़िक्र न करो, अपना मतलब कहो ।

महादेव—हजूर को सलाम करने आया था ।

मुंशी—अच्छा, सलाम ।

महादेव—आप हमसे कुछ नाराज़ मालूम होते हैं । हमसे तो कोई ऐसी ख़ता......

मुंशी—बड़े आदमियों से मिलने जाया करो, तो तमीज़ से बात किया करो । मैं तुम्हें 'सेठजी' कहने के बदले अरे ओ 'बनिये' कहूँ, तो तुम्हें बुरा लगेगा या नहीं ?

महादेव—हाँ हजूर, इतनी खता तो हो गई, अब माफ़ी दी जाय। नया माल आया है, हुक्म हो तो कुछ कपड़े भेजूँ ।

मुंशी—फिर वही बनियेपन की बातें ! कभी आज तक और भी आये थे पूछने कि कपड़े चाहिए हजूर को ? मैं वही हूँ, या कोई और ? अपना मतलब कहो साफ़-साफ़ ।

महादेव—हजूर तो समझते ही हैं, मैं क्या कहूँ ?

मुंशी—अच्छा तो सुनो लालाजी, घूस नहीं लेता, रिशवत नहीं लेता, जब तहसीलदारी के ज़माने ही में न लिया, तो अब क्या लूँगा, लड़की की शादी होनेवाली है, उसमें जितना कपड़ा लगेगा, वह तुम्हारे सिर । बोलो, मंजूर हो तो आज ही नज़र दिलवा दूँ । साल-भर में एक लाख का माल बेचोगे, जो बेचने का शऊर होगा । हाँ बुढ़िया रानी का ज़माना नहीं कि एक के चार लो, दस रुपये में एक आना बहुत है । इससे ज्यादा लिया और गरदन नापी गई ।

महादेव—हजूर, खरचा छोड़ कर दो पैसे रुपये ही दिला दें । आपके वसीले से जाकर भला ऐसी दग़ा करूँगा ।

मुंशी—अच्छा तो एक आना, और दो-चार थान ऊँचे दामों के

लेते आना। याद रखना, विदेशी चीज न हो नहीं फटकार पड़ेगी। सच्चा देशी माल हो। विदेशी चीजों के नाम से चिढ़ती हैं।

बज़ाज चला गया, तो मुंशीजी झिनकू से बोले—देखा, बात करने की तमीज़ नहीं और चले हैं सौदा बेचने।

झिनकू—भैया भिड़ा देना बेचारे को, जो उसकी तकदीर में होगा वह मिल ही जायगा। सेंतमेत में जस मिले, तो लेने में क्या हरज है।

मुंशी—अच्छा, ज़रा ठेका सँभालो, कुछ भगवान् का भजन हो जाय। यह बनिया न-जाने कहाँ से कूद पड़ा।

यह कहकर मुंशीजी ने मीरा का यह पद गाना शुरू किया—

राम की दिवानी, मेरा दरद न जाने कोई।
घायल की गति घायल जाने, जो कोई घायल होई;
शेषनाग पै सेज पिया की, केहि बिधि मिलना होई।
राम की दिवानी..............।

दरद की मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिला नहिं कोई;
'मीरा' की पीर प्रभु कैसे मिटेगी, बैद सँवलिया होई।
राम की दिवानी..............।

झिनकू—वाह भैया वाह! चोला मस्त कर दिया। तुम्हारा गला तो दिन-दिन निखरता जाता है।

मुंशी—गाना ऐसा होना चाहिए कि दिल पर असर पड़े। यही नहीं कि तुम तो 'तूम ताना' का तार बाँध दो और सुनने वाले तुम्हारा मुँह ताकते रहें। जिस गाने से मन में भक्ति, वैराग्य, प्रेम और आनन्द की तरंगें न उठें, वह गाना नहीं है।

झिनकू—अच्छा, अब की मैं भी कोई ऐसी ही चीज सुनाता हूँ; मगर मज़ा जब है कि हारमोनियम तुम्हारे हाथ में हो।

मुंशीजी सितार, सारंगी,सरोद, इसराज सब कुछ बजा लेते थे ; पर हारमोनियम पर तो कमाल ही करते थे। हारमोनियम में सितार की गतों को बजाना उन्हीं का काम था। बाजा लेकर बैठ गये और झिनकू ने मधुर स्वरों में यह आसावरी गानी शुरू की—

बसी जिय में तिरछी मुसकान।

कल न परत घड़ि, पल, छिन, निसि-दिन रहत उन्हीं का ध्यान ;
भृकुटी धनु-सो देख सखी री, नयना बान-समान।

झिनकू संगीत का आचार्य था, जाति का कथक, अच्छे-अच्छे उस्तादों की आँखें देखे हुए, आवाज़ इस बुढ़ापे में भी ऐसी रसीली कि दिल पर चोट करे, इस पर उनका भाव बताना, जो कथकों की ख़ास सिफत है, और भी ग़ज़ब ढाता था ; लेकिन मुन्शी वज्रधर की अब राज-दरबार में रसाई हो गई थी, उन्हें अब झिनकू को शिक्षा देने का अधिकार हो गया था। हारमोनियम बजाते-बजाते नाक सिकोड़कर बोले—उँह, क्या बिगाड़े देते हो, बेताले हुए जाते हो, हाँ अब ठीक है।

यह कहकर आपने झिनकू के साथ स्वर मिलाकर गाया—

बसो जिय में तिरछी मुसकान।

कल न परत घड़ि, पल, छिन, निसि-दिन रहत उन्हीं का ध्यान ;
भृकुटी धनु-सी देख सखी री, नयना बान-समान।

इतने में एक युवक कोट-पतलून पहने, ऐनक लगाये, मूँछ मुड़ाये, बाल सँवारे, आकर बैठ गया। मुंशीजी ने पूछा—तुम कौन हो भाई ? मुझसे कुछ काम है ?

युवक—मैंने सुना है कि जगदीशपुर में किसी एकौंटेंट की जगह ख़ाली है, आप सिफ़ारिश कर दें, तो शायद वह जगह मुझे मिल जाय। मैं भी कायस्थ हूँ और बिरादरी के नाते आपके ऊपर मेरा बहुत बड़ा हक़

है। मेरे पिताजी कुछ दिनों आपकी मातहती में काम कर चुके हैं। आपको मुंशी सुखवासीलाल का नाम तो याद होगा।

मुंशी—तो आप बिरादरी और दोस्ती के नाते नौकरी चाहते हैं, अपनी लियाकत के नाते नहीं। यह मेरे अख्तियार के बाहर है। मैं न दीवान हूँ, न मुहाफ़िज, न मुन्सरिम। उन लोगों के पास जाइए।

युवक—जनाब, आप सब कुछ हैं। मैं तो आपको अपना मुरब्बी समझता हूँ।

मुंशी—कहाँ तक पढ़ा है आपने?

युवक—पढ़ा तो बी० ए० तक है; पर पास न कर सका।

मुंशी—कोई हरज नहीं। आपको बाजार के सौदे पटाने का कुछ तजरबा है? अगर आपसे कहा जाय कि जाकर दस हजार की इमारती लकड़ी लाइए, तो आप किफायत से लायेंगे?

युवक—जी, मैंने तो कभी लकड़ी खरीदी नहीं।

मुंशी—न सही, आप कुश्ती लड़ना जानते हैं? कुछ बिनवट-पटे के हाथ सीखे हैं? कौन जाने, कभी आपको राजा साहब के साथ सफर करना पड़े और कोई ऐसा मौका आ जाय कि आपको उनकी रक्षा करनी पड़े!

युवक—कुश्ती लड़ना तो नहीं जानता, हाँ फुटबॉल, हाकी वगैरह खूब खेल सकता हूँ।

मुंशी—कुछ गाना-बजाना जानते हो, शायद राजा साहब को सफ़र में कुछ गाना सुनने का जी चाहे, तो उन्हें खुश कर सकोगे?

युवक—जी नहीं, मैं मुसाहब नहीं होना चाहता, मैं तो एकौंटेंट की जगह चाहता हूँ।

मुंशी—यह तो आप पहले ही कह चुके। मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप हिसाब-किताब के सिवा और क्या कर सकते हैं? आप तैरना जानते हैं?

युवक—तैर सकता हूँ; पर बहुत कम।

मुंशी—आप रईसों के दिलबहलाव के लिए किस्से-कहानियाँ, चुटकले-लतीफे कह सकते हैं ?

युवक—(हँसकर) आप तो मेरे साथ मज़ाक कर रहे हैं।

मुंशी—जी नहीं, मज़ाक नहीं कर रहा हूँ, आपकी लियाक़त का इम्तहान ले रहा हूँ। तो आप सिर्फ हिसाब करना जानते हैं और शायद अँगरेजी बोल और लिख लेते होंगे। मैं ऐसे आदमी की सिफ़ारिश नहीं करता। आपकी उम्र होगी कोई २४ साल की। इतने दिनों में आपने सिर्फ हिसाब लगाना सीखा। हमारे यहाँ तो कितने ही आदमी ६ महीने में ऐसे अच्छे मुनीब हो गये हैं कि बड़ी-बड़ी दूकानें सँभाल सकते हैं। आपके लिए यहाँ जगह नहीं है।

युवक चला गया, तो फ़िनकू ने कहा—भैया, तुमने बेचारे को बहुत बनाया। मारे सरम के कट गया होगा। कुछ उसके साहबी ठाट की परवा न की ?

मुंशी—उसका साहबी ठाट देखकर ही तो मेरे बदन में आग लग गई। आता तो आपको कुछ नहीं; पर ठाट ऐसा बनाया है, मानों ख़ास विलायत से चले आ रहे हैं। मुझ पर बचा रोब जमाने चले थे। चार हरफ़ अँगरेजी पढ़ ली, तो समझ गये कि अब हम फ़ाज़िल हो गये। पूछो, जब आप बाजार से धेले का सौदा नहीं ला सकते, तो आप हिसाब-किताब क्या करेंगे।

यही बातें हो रही थीं कि रानी मनोरमा की मोटर आकर द्वार पर खड़ी हो गई। मुंशीजी नंगे सिर नंगे पाँव दौड़े। जरा भी ठोकर खा जाते, तो फिर उठने का नाम न लेते। मनोरमा ने हाथ उठाकर कहा—दौड़िए नहीं, दौड़िए नहीं। मैं आप ही के पास आई हूँ, कहीं भागी नहीं जा रही हूँ। इस वक्त क्या हो रहा है ?

मुंशी—कुछ नहीं हुजूर, कुछ ईश्वर का भजन कर रहा हूँ।

मनोरमा—बहुत अच्छी बात है, ईश्वर को ज़रूर मिलाये रहिए,

वक्त पर बहुत काम आते हैं ; कम-से-कम दुख-दर्द में उनके नाम से कुछ सहारा तो हो ही जाता है। मैं आपको इस वक्त एक बड़ी खुश-खबरी सुनाने आई हूँ। बाबूजी कल यहाँ आ जायँगे।

मुंशी—क्या लल्लू ?

मनोरमा—जी हाँ, सरकार ने उनकी मीयाद घटा दी है।

इतना सुनना था कि मुंशीजी बेतहाशा दौड़े और घर में जाकर हाँफते हुए निर्मला से बोले—सुनती हो, लल्लू कल आवेंगे। मनोरमा रानी दरवाजे पर खड़ी हैं।

यह कहकर उलटे पाँव फिर द्वार पर आ पहुँचे।

मनोरमा—अम्माँजी क्या कर रही हैं, उनसे मिलने चलूँ ?

निर्मला बैठी आटा गूँध रही थी। रसोई में केवल एक मिट्टी के तेल की कुप्पी जल रही थी, बाकी सारा घर अँधेरा पड़ा था। मुंशीजी सदा के लुटाऊ थे, जो कुछ पाते थे बाहर-ही-बाहर उड़ा देते थे। घर की दशा ज्यों-की-त्यों थी। निर्मला को रोने-धोने से फुरसत ही न मिलती थी कि घर की कुछ फिक्र करती। अब मुंशीजी बड़े असमंजस में पड़े। अगर पहले से मालूम होता कि रानीजी का शुभागमन होगा, तो कुछ तैयारी कर रखते, कम-से-कम घर की सफाई तो करवा देते, दो-चार लालटेनें माँग-जाँच कर जला रखते ; पर अब क्या हो सकता था।

मनोरमा ने उनके जवाब का इन्तजार न किया। तुरन्त मोटर से उतर पड़ी और दीवानखाने में आकर खड़ी हो गईं। मुंशीजी बदहवास अन्दर गये और निर्मला से बोले—बाहर निकल आओ, हाथ-बाथ धो डालो। रानीजी आ रही हैं। यह दुर्दशा देखेंगी, तो क्या कहेंगी। तब तक आटा लेकर क्या बैठ गईं। कोई काम वक्त से नहीं करतीं। बुढ़िया हो गईं ; मगर अभी तमीज़ न आई।

निर्मला चटपट बाहर निकली। मुंशीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बरोठे में आकर रुक गईं। इतना

अँधेरा था कि वह आगे क़दम न रख सकीं। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे, तो वह जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुंशीजी हाथ में कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले, तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छूट पड़ी। आशा का दीपक भी बुझ गया। खड़े-खड़े तक़दीर को कोसने लगे—रोज लालटेनें आती हैं और रोज़ तोड़कर फेंक दी जाती हैं। कुछ नहीं तो दस लालटेनें ला चुका हूँगा; पर एक का भी पता नहीं, मालूम होता है किसी कुली का घर है, उसके भाग्य की भाँति अँधेरा। 'राक्षस के घर ब्याही जोय, भूल-भान कलेवा होय।' किसी चीज की हिफ़ाजत करनी तो आती ही नहीं।

मुंशीजी तो अपनी मुसीबत का रोना रो रहे थे, झिनकू दौड़कर अपने घर से लालटेन लाया, और मनोरमा घर में दाखिल हुई। निर्मला आँखों में प्रेम की नदी भरे, सिर झुकाये खड़ी थी। जी चाहता था, इसके पैरों के नीचे आँखें बिछा दूँ। मेरे धन्य भाग्य!

एकाएक मनोरमा ने झुककर निर्मला के पैरों पर शीश झुका दिया और पुलकित कंठ से बोली—माताजी, धन्य भाग्य कि आपके दर्शन हुए! जीवन सफल हो गया।

निर्मला सारा शिष्टचार भूल गई। बस, खड़ी रोती रही। मनोरमा के शील और विनय ने शिष्टाचार को तृण की भाँति मातृ-स्नेह की तरंग में बहा दिया।

इतने में मंगला आकर खड़ी हो गई। मनोरमा ने उसे गले से लगा लिया और स्नेह-कोमल स्वर में बोली—आज तुम्हें अपने साथ ले चलूँगी, दो-चार दिन तुम्हें मेरे साथ रहना पड़ेगा। हम दोनों साथ-साथ गावेंगी, साथ-साथ खेलेंगी। अकेले पड़े-पड़े मेरा जी घबराता है। तुमसे मिलने की मेरी बड़ी इच्छा थी।

निर्मला—मनोरमा, तुमने हमें धरती से उठाकर आकाश पर पहुँचा दिया। तुम्हारे शील-स्वभाव का कहाँ तक बखान करूँ।

मनोरमा—माता के मुख से ये शब्द सुनकर मेरा हृदय गर्व से फूला नहीं समाता। मैं बचपन ही से मातृ-स्नेह से वंचित हो गई; पर आज मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है कि अपनी जननी ही के चरणों को स्पर्श कर रही हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए कि जब कभी जी घबराये, तो आकर आपके स्नेह-कोमल चरणों में आश्रय लिया करूँ। कल बाबूजी आ जायँगे। अव-काश मिला, तो मैं भी आऊँगी; पर मैं किसी कारण से न आ सकूँ, तो आप कह दीजिएगा कि किसी बात की चिन्ता न करें, मेरे हृदय में उनके प्रति अब भी वही श्रद्धा और अनुराग है। ईश्वर ने चाहा, तो मैं शीघ्र ही उनके लिए रियासत में कोई स्थान निकालूँगी। बड़ी दिल्लगी हुई। कई दिन हुए लखनऊ के एक ताल्लुकदार ने गवर्नर की दावत की थी। मैं भी राजा साहब के साथ दावत में गई थी। गवर्नर साहब शतरंज खेल रहे थे। मुझसे भी खेलने के लिए आग्रह किया। मुझे शतरंज खेलना तो आता नहीं; पर उनके आग्रह से बैठ गई। ऐसा संयोग हुआ कि मैंने ताबड़तोड़ उनको दो मात दिये। तब आप झल्लाकर बोले—अब की कुछ बाज़ी लगाकर खेलेंगे। क्या बदती हो? मैंने कहा—इसका निश्चय बाज़ी पूरी होने के बाद होगा। तीसरी बाज़ी शुरू हुई। अब की वह खूब सँभल-कर खेल रहे थे और मेरे कई मुहरे पीट लिये। मैंने समझा, अब की मात हुई; लेकिन सहसा मुझे एक ऐसी चाल सूझ गई कि हाथ से जाती बाज़ी लौट पड़ी। मैं तो समझती हूँ कि ईश्वर ने मेरी सहायता की। फिर तो उन्होंने लाख-लाख सिर पटका, उनके सारे मित्र जोर मारते रहे; पर मात न रोक सके। सारे मुहरे घरे ही रह गये। मैंने हँसकर कहा—बाज़ी मेरी हुई, अब जो कुछ मैं माँगूँ वह आपको देना पड़ेगा।

उन्हें क्या ख़बर थी कि मैं क्या मागूँगी, हँसकर बोले—हाँ, हाँ, मैं कब फिरता हूँ।

मैंने तीन वचन लेकर कहा—आप मेरे मास्टर साहब को बेकुसूर जेल में डाले हुए हैं। उन्हें छोड़ दीजिए।

यह सुनकर सभी सन्नाटे में आ गये ; मगर क़ौल हार चुके थे, और स्त्रियों के सामने ये सब ज़रा सज्जनता का स्वाँग भरते हैं, मजबूर होकर गवर्नर साहब को वादा करना पड़ा ; पर बार-बार पछताते थे और कहते थे, आपकी जिम्मेदारी पर छोड़ रहा हूँ। खैर, मुझे कल मालूम हुआ कि रिहाई का हुक्म हो गया है, और मुझे आशा है कि कल किसी वक्त वह यहाँ आ जायँगे।

निर्मला—आपने बड़ी दया की, नहीं तो मैं रोते-रोते मर जाती।

मनोरमा—रोने की क्या बात थी। माताओं को तो चाहिए कि अपने पुत्रों को साहसी और वीर बनायें। एक तो यहाँ लोग यों ही डरपोक होते हैं, उस पर घरवालों का प्रेम उनकी रही-सही हिम्मत भी हर लेता है। तो क्यों बहन मेरे यहाँ चलती हो ? मगर नहीं, कल तो बाबू जी आयँगे, मैं किसी दूसरे दिन तुम्हारे लिए सवारी भेजूँगी।

निर्मला—जब आपकी इच्छा होगी तभी भेज दूँगी।

मनोरमा—तुम क्यों नहीं बोलती बहन ? समझती होगी कि यह रानी हैं, बड़ी बुद्धिमान और तेजस्वी होंगी। पहले रानी देवप्रिया को देखकर मैं भी यही सोचा करती थी ; पर मालूम हुआ कि ऐश्वर्य से न बुद्धि बढ़ती है, न तेज। रानी और बाँदी में कोई अन्तर नहीं होता।

यह कहकर उसने मंगला के गले में बाहें डाल दीं और प्रेम से सने हुए शब्दों में बोली—देख लेना, हम तुम कैसे मज़े से गाती-बजाती हैं। बोलो, आओगी न ?

मंगला ने माता की ओर देखा और इशारा पाकर बोली—जब आपकी इतनी कृपा है, तो क्यों न आऊँगी ?

मनोरमा—कृपा और दया की बात करने के लिए मैं तुम्हें नहीं बुला रही हूँ। ऐसी बातें सुनते-सुनते ऊब गई हूँ। सहेलियों की भाँति गाने-बजाने, हँसने-बोलने के लिए बुलाती हूँ। वहाँ सारा घर आदमियों से भरा हुआ है ; पर एक भी ऐसा नहीं, जिनके साथ बैठकर एक घड़ी हँसूँ-बोलूँ।

यह कहते-कहते उसने अपने गले से मोतियों का हार निकाल कर मंगला के गले में डाल दिया और मुसकिराकर बोली—देखो अम्माँजी, यह हार इसे अच्छा लगता है न ?

मुंशीजी बोले—ले मंगला, तूने तो पहली ही मुलाकात में मोतियों का हार मार लिया, लोग मुँह ही ताकते रह गये।

मनोरमा—माता-पिता लड़कियों को देते हैं, मुझे तो आप से कुछ मिलना चाहिए। मंगला तो मेरी छोटी बहन है। जी चाहता है, इसी वक्त लेती चलूँ। इसकी सूरत बाबूजी से बिलकुल मिलती है, मरदों के कपड़े पहना दिये जायँ, तो पहचानना मुश्किल हो जाय। चलो मंगला, कल हम दोनों आ जायँगी।

निर्मला—कल ही लेते जाइएगा।

मनोरमा—मैं समझ गई। आप सोचती होंगी, ये कपड़े पहने क्या जायगी। तो क्या वहाँ किसी बेगाने घर जा रही है ? क्या वहाँ साड़ियाँ न मिलेंगी ?

उसने मंगला का हाथ पकड़ लिया और उसे लिये हुए द्वार की ओर चली। मंगला हिचकिचा रही थी; पर कुछ कह न सकती थी।

जब मोटर चली गई, तो निर्मला ने कहा—साक्षात् देवी है।

मुंशी—लल्लू पर इतना प्रेम करती है कि वह चाहता, तो इससे विवाह कर लेता। धर्म ही खोना था, तो कुछ स्वार्थ से खोता। मीठा हो, तो जूठा भी अच्छा, नहीं तो कहाँ जाकर गिरा उस कँगली लड़की पर, जिसके माँ-बाप का भी पता नहीं।

निर्मला—(व्यंग से) वाह-वाह ! क्या लाख रुपये की बात कही है। ऐसी बहू घर में आ जाय लाला, तो एक दिन न चले। फूल सूँघने ही में अच्छा लगता है, खाने में नहीं। ग़रीबों का निवाह ग़रीबों ही में होता है।

मुंशी—प्रेम बड़े बड़ों का सिर नीचा कर देता है।

निर्मला—न जी जलाओ। बेबात की बात करते हो। तुम्हारे लल्लू ऐसे ही तो बड़े खूबसूरत हैं। सिर में एक बाल न रहता। ऐसी औरतों को प्रसन्न रखने के लिए धन चाहिए। प्रभुता पर मरनेवाली औरत है।

दस बज रहे थे। मुंशीजी भोजन करने बैठे। मारे खुशी के फूले न समाते थे। लल्लू को रियासत में कोई अच्छी जगह मिल जायगी, फिर पाँचों घी में हैं। अब मुसीबत के दिन गये। मारे खुशी के खाया भी न गया। जल्दी से दो-चार कौर खाकर बाहर भागे और अपने इष्ट मित्रों से चक्रधर के स्वागत के विषय में आधी रात तक बातें करते रहे। निश्चय किया गया कि प्रातःकाल शहर में नोटिस बाँटा जाय और सेवा-समिति के सेवक स्टेशन पर बैंड बजाते हुए उनका स्वागत करें।

लेकिन निर्मला उदास थी। मनोरमा से उसे न-जाने क्यों एक प्रकार का भय हो रहा था।

२३
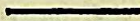
राजा विशालसिंह की सारी मनोवृत्तियाँ अब एक ही लक्ष्य पर केंद्रित हो गईं थीं और वह लक्ष्य था—मनोरमा। वह उपासक थे, मनोरमा उपास्य थी; वह सैनिक थे, मनोरमा सेनापति थी; वह गेंद थे, मनोरमा खिलाड़ी थी। मनोरमा का उनके मन पर, उनकी आत्मा पर, संपूर्ण आधिपत्य था। वह अब मनोरमा ही की आँखों से देखते, मनोरमा ही के कानों से सुनते और मनोरमा ही के विचार से सोचते थे। उनका प्रेम संपूर्ण आत्मसमर्पण था। मनोरमा ही की इच्छा अब उनकी इच्छा है, मनोरमा ही के विचार अब उनके विचार हैं। उनके राज्य-विस्तार के मंसूबे गायब हो गये। धन से उनको कितना प्रेम था। वह इतनी किफ़ायत से राज्य का प्रबंध करना चाहते थे कि थोड़े दिनों में रियासत के पास एक विराट् कोष हो जाय। अब वह हौसला नहीं रहा। मनोरमा के हाथों जो कुछ ख़र्च होता है वह श्रेय है। अनुराग चित्त की वृत्तियों की कितनी काया-पलट कर सकता है।

अब तक राजा विशालसिंह का जिन स्त्रियों से साबिक़ा पड़ा था, वे ईर्ष्या-द्वेष, माया-मोह और राग-रंग में लिप्त थीं। मनोरमा उन सबों से भिन्न थी। उसमें सांसारिकता का लेश भी न था। न उसे वस्त्राभूषणों से प्रेम, न किसी से ईर्ष्या या द्वेष। ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वर्ग-लोक की देवी है। परोपकार में उसका ऐसा सच्चा अनुराग था कि पग-पग पर राजा साहब को अपनी लघुता और क्षुद्रता का अनुभव होता था और उस पर उनकी श्रद्धा और भी दृढ़ होती थी। रियासत के मामलों या निज के व्यवहारों में जब वह कोई ऐसी बात कर बैठते जिसमें स्वार्थ,

और अधिकार के दुरुपयोग या अनम्रता की गंध आती हो, तो उन्हें यह जानने में देर न लगती थी कि मनोरमा की भृकुटी चढ़ी हुई है और उसने भोजन नहीं किया है। फिर उन्हें उस बात के दुहराने का साहस न होता था। मनोरमा की निर्मल कीर्ति अज्ञात-रूप से उन्हें परलोक की ओर खींचे लिये जाती थी। उसके समीप आते ही उनकी वासना लुप्त और धार्मिक कल्पना सजग हो जाती थी। उसकी बुद्धि-प्रतिभा पर उन्हें इतना अटल विश्वास होता जाता था कि वह जो कुछ करती थी, उन्हें सर्वोचित और श्रेयस्कर जान पड़ता था। वह अगर उनके देखते हुए घर में आग लगा देती, तो भी वह उसे निर्दोष ही समझते। उसमें भी उन्हें शुभ और कल्याण ही की सुवर्ण-रेखा दिखाई देती। रियासत में असामियों से कर के नाम पर न-जाने कितनी बेगार ली जाती थी, वह सब रानीजी के हुक्म से बन्द कर दी गई और रियासत को लाखों रुपये की क्षति हुई; पर राजा साहब ने ज़रा भी हस्तक्षेप नहीं किया। पहले ज़िले के हुक्काम रियासत में तशरीफ लाते, तो रियासत में खलबली मच जाती थी, कर्मचारी सारे काम छोड़ कर हुक्काम को रसद पहुँचाने में मुस्तैद हो जाते थे। हाकिम की निगाह तिरछी देख कर राजा तक काँप जाते थे। पर अब किसी की, चाहे वह सूबे का लाट ही क्यों न हो, नियमों के विरुद्ध एक कदम रखने की भी हिम्मत न पड़ती थी। जितनी धाँधलियाँ राज्य-प्रथा के नाम पर सदैव से होती आती थीं, वह एक-एक करके उठती जाती थीं; पर राजा साहब को कोई शंका न थी।

राजा साहब की चिर-संचित पुत्र-लालसा भी इस प्रेम-तरङ्ग में मग्न हो गई। मनोरमा पर उन्होंने अपनी यह महान् अभिलाषा भी अर्पित कर दी। मनोरमा को पाकर उन्हें किसी वस्तु की इच्छा न रही। उसके सामने और सभी चीज़ें तुच्छ हो गईं। एक दिन—केवल एक दिन उन्होंने मनोरमा से कहा था—मुझे अब केवल एक इच्छा और है। ईश्वर मुझे एक पुत्र प्रदान कर देता, तो मेरे सारे मनोरथ पूरे हो जाते। मनोरमा

ने उस समय जिन कोमल शब्दों में उन्हें सांत्वना दी थी, वे अब तक उनके कानों में गूँज रहे थे—नाथ, मनुष्य का उद्धार पुत्र से नहीं, अपने कर्मों से होता है। यश और कीर्ति भी कर्मों ही से प्राप्त होती है। संतान वह सबसे कठिन परीक्षा है, जो ईश्वर ने मनुष्य को परखने के लिए गढ़ी है। बड़ी-बड़ी आत्माएँ जो और सभी परीक्षाओं में सफल हो जाती हैं, यहाँ ठोकर खाकर गिर पड़ती हैं। सुख के मार्ग में इससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है। जब इच्छा दुःख का मूल है, तो सबसे बड़ी इच्छा सबसे बड़े दुःख का मूल क्यों न होगी ? ये वचन मनोरमा के मुख से निकलकर अमर हो गये थे।

सब से विचित्र बात यह थी कि राजा साहब की विषय-वासना संपूर्णतः लोप हो गई थी। एकांत में बैठे हुए वह मन में भाँति-भाँति की मृदु-कल्पनाएँ किया करते; लेकिन मनोरमा के सम्मुख आते ही उन पर श्रद्धा का अनुराग छा जाता, मानों किसी देव-मंदिर में आ गये हों। मनोरमा उनका सम्मान करती, उन्हें देखते ही खिल जाती, उनसे मीठी-मीठी बातें करती, उन्हें अपने हाथों से स्वादिष्ट पदार्थ बना-कर खिलाती, उन्हें पंखा झलती। उनकी तृप्ति के लिए वह इतना ही काफ़ी समझती थी। कविता में और सब रस थे, केवल शृंगार-रस न था। वह बाँकी चितवन जो मन को हर लेती है, वह हाव-भाव, जो चित्त को उद्दीप्त कर देता है, यहाँ कहाँ ? सागर के स्वच्छ निर्मल जल में तारे नाचते हैं, चाँद थिरकता है, लहरें गाती हैं। वहाँ देवता सन्ध्योपासन करते हैं, देवियाँ स्नान करती हैं; पर कोई मैले कपड़े नहीं धोता। संगमरमर की ज़मीन पर थूकने की कुरुचि किसमें होगी ? आत्मा को स्वयं ऐसे घृणास्पद व्यवहार से संकोच होता है।

इस भाँति ६ महीने गुज़र गये।

प्रभात का समय था। प्रकृति फागुन के शीतल, उल्लासमय, समीर-सागर में निमग्न हो रही थी। बाग़ में नव-विकसित पुष्प, किरणों

के सुनहरे हार पहने मुसकिरा रहे थे, आम के सुगंधित नव पल्लवों में कोयल अपनी मधुर तान अलाप रही थी। और मनोरमा आईने के सामने खड़ी अपनी केश-राशि का जाल सजा रही थी। आज बहुत दिनों के बाद उसने अपने दिव्य, रत्न-जटित आभूषण निकाले हैं, बहुत दिनों के बाद अपने वस्त्रों में इत्र बसाये हैं। आज उसका एक-एक अंग मनोल्लास से खिला हुआ है। आज चक्रधर जेल से छूटकर आयेंगे और वह उनका स्वागत करने जा रही है।

यों बन-ठनकर मनोरमा ने बगलवाले कमरे का परदा उठाया और दबे पाँव अन्दर गई। मंगला अभी तक पलंग पर पड़ी मीठी नींद ले रही थी। उसके लंबेलंबे केश तकिये पर बिखरे पड़े थे। दोनों सखियाँ आधी रात तक बातें करती रही थीं। जब मंगला ऊँघ-ऊँघकर गिरने लगी थी, तो मनोरमा उसे सुलाकर अपने कमरे में चली गई थी। मंगला अभी तक पड़ी सो रही थी, मनोरमा की पलकें तक न झपकीं, अपने कल्पनाकुंज में विचरते हुए रात काट दी। मंगला को इतनी देर तक सोते देखकर उसने आहिस्ता से पुकारा—मंगला, कब तक सोयेगी, देख तो, कितना दिन चढ़ आया ? जब पुकारने से मंगला न जागी, तो उसने उसका कन्धा हिलाकर कहा—क्या दिन-भर सोती ही रहेगी ?

मंगला ने पड़े-पड़े कहा—सोने दो, सोने दो, अभी तो सोई हूँ, फिर सिर पर सवार हो गईं।

मनोरमा—तो फिर मैं जाती हूँ, यह न कहना, मुझे क्यों नहीं जगाया !

मंगला—(आँखें खोलकर) अरे ! इतना दिन चढ़ आया ! मुझे पहले ही क्यों न जगा दिया ?

मनोरमा—जगा तो रही हूँ, जब तेरी नींद भी टूटे ! स्टेशन चलेगी न ?

मंगला—मैं ! मैं स्टेशन कैसे जाऊँगी !

मनोरमा—जैसे मैं जाऊँगी, वैसे ही तू भी चलना। चल कपड़े पहन ले !

मंगला—ना भैया, मैं न जाऊँगी। लोग क्या कहेंगे।

मनोरमा—मुझे जो कहेंगे, वही तुझे भी कहेंगे, मेरी ख़ातिर से सुन लेना।

मंगला—आपकी बात और है, मेरी बात और। आपको कोई नहीं हँसता, मुझे सब हँसेंगे। मगर मैं डरती हूँ, कहीं तुम्हें नज़र न लग जाय।

मनोरमा—चल-चल, उठ, बहुत बातें न बना। मैं तुझे खींच कर ले जाऊँगी, मोटर में परदा करा दूँगी, बस अब राज़ी हुई।

मंगला—हाँ, यह तो अच्छा उपाय है; लेकिन मैं नहीं जाऊँगी, अम्माँजी सुनेंगी, तो बहुत नाराज़ होंगी।

मनोरमा—और जो उन्हें भी ले चलूँ तब तो तुझे कोई आपत्ति न होगी?

मंगला—हाँ, वह चलें तो मैं भी चलूँगी; लेकिन नहीं, वह बड़ी-बूढ़ी हैं, जहाँ चाहें जा-आ सकती हैं। मैं तो लोगों को अपनी ओर घूरते देख कर कट ही जाऊँगी।

मनोरमा—अच्छा तो पड़ी-पड़ी सो, मैं जाती हूँ। अभी बहुत-सी तैयारियाँ करनी हैं।

मनोरमा—अपने कमरे में आई और मेज़ पर बैठ कर बड़ी उतावली में कुछ लिखने लगी कि दीवान साहब के आने की इत्तला हुई और एक क्षण में आकर वह एक कुरसी पर बैठ गये। मनोरमा ने पूछा—रियासत का बैंड तैयार है न?

हरिसेवक—हाँ, उसे पहले ही हुक्म दिया जा चुका है।

मनोरमा—जुलूस का प्रबंध ठीक है न? मैं डरती हूँ, कहीं भद न हो जाय।

हरिसेवक—प्रबंध तो मैंने सब कर दिया है; पर इस विषय में रियासत की ओर से जो उत्साह प्रकट हो रहा है, वह शायद इसके लिए हानिकर हो। रियासतों पर हुक्काम की कितनी कड़ी निगाह होती है, यह

आपको खूब मालूम है। मैं पहले कह चुका हूँ और अब भी कहता हूँ कि आपको इस मामले में खूब सोच-विचार कर काम करना चाहिए।

मनोरमा—क्या आप समझते हैं कि मैं बिना सोचे-विचारे ही कोई काम कर बैठती हूँ। मैंने खूब सोच लिया है, बाबू चक्रधर चोर नहीं, डाकू नहीं, खूनी नहीं, एक सच्चे आदमी हैं। उनका स्वागत करने के लिए अगर हुक्काम हमसे बुरा मानते हैं, तो मानें, हमें इसकी कोई परवा नहीं। जाकर संपूर्ण दल को तैयार कीजिए।

हरिसेवक—श्रीमान् राजा साहब की तो राय है कि शहरवालों को जुलूस निकालने दिया जाय, हमारे सम्मिलित होने की ज़रूरत नहीं।

मनोरमा ने रुष्ट होकर कहा—राजा साहब से मैंने पूछ लिया है, उनकी राय वही है, जो मेरी है। अगर सद्‌मार्ग पर चलने में रियासत ज़ब्त भी हो जाय, तो भी मैं उस मार्ग से विचलित न हूँगी। आपको रियासत के विषय में इतना चिंतित होने की क्या ज़रूरत!

दीवान साहब ने सजल नेत्रों से मनोरमा को देख कर कहा—बेटी, मैं तुम्हारे ही भले को कहता हूँ। तुम नहीं जानतीं, ज़माना कितना नाज़ुक है।

मनोरमा उत्तेजित होकर बोली—पिताजी, इस सदुपदेश के लिए मैं आपकी बहुत अनुगृहीत हूँ; लेकिन मेरी आत्मा उसे ग्रहण नहीं करती। मैंने सर्प की भाँति धन-राशि पर बैठ कर उसकी रक्षा करने के लिए यह पद नहीं स्वीकार किया; बल्कि अपनी आत्मोन्नति और दूसरों के उपकार के लिए। अगर रियासत इन दो में एक काम भी न आये, तो उसका रहना ही व्यर्थ है। अभी ७ बजे हैं। ८ बजते-बजते आपको स्टेशन पर पहुँच जाना चाहिए। मैं ठीक वक्त पर पहुँच जाऊँगी। जाइए।

दीवान साहब के जाने के बाद मनोरमा फिर मेज पर बैठ कर लिखने लगी। यह वह भाषण था, जो वह चक्रधर के स्वागत के अवसर पर देना चाहती थी। वह लिखने में इतनी तल्लीन हो गई कि उसे राजा साहब

के आकर बैठ जाने की उस वक्त तक ख़बर न हुई, जब तक उन्हें उनके फेफड़ों ने खाँसने पर मजबूर न किया। कुछ देर तक तो बेचारे खाँसी को दबाते रहे; लेकिन नैसर्गिक क्रियाओं को कौन रोक सकता है? खाँसी दब कर उत्तरोत्तर प्रचंड होती जाती थी, यहाँ तक कि अन्त में वह निकल ही पड़ी—कुछ छींक थी, कुछ खाँसी और कुछ इन दोनों का सम्मिश्रण, मानों कोई बन्दर गुर्रा रहा हो। मनोरमा ने चौंक कर आँखें उठाईं, तो देखा—राजा साहब बैठे उसकी ओर प्रेम-विह्वल नेत्रों से ताक रहे हैं। बोली—क्षमा कीजिएगा, मुझे आपकी आहट ही न मिली। क्या आप देर से बैठे हैं?

राजा—नहीं तो अभी-अभी आया हूँ। तुम लिख रही थीं, मैंने छेड़ना उचित न समझा।

मनोरमा—आपकी खाँसी बढ़ती जाती है और आप इसकी कुछ दवा नहीं करते!

राजा—आप-ही-आप अच्छी हो जायगी। बाबू चक्रधर तो १० बजे की डाक से आ रहे हैं न? उनके स्वागत की तैयारियाँ पूरी हो गईं?

मनोरमा—जी हाँ, बहुत कुछ पूरी हो गईं।

राजा—मैं चाहता हूँ, जुलूस इतनी धूमधाम से निकले कि कम-से-कम इस शहर के इतिहास में अमर हो जाय।

मनोरमा—यही तो मैं भी चाहती हूँ।

राजा—मैं सैनिकों के आगे फ़ौजी वर्दी में रहना चाहता हूँ।

मनोरमा ने चिंतित होकर कहा—आपका जाना उचित नहीं जान पड़ता। आप यहीं उनका स्वागत कीजिएगा। अपनी मर्यादा का निर्वाह तो करना ही पड़ेगा। सरकार यों भी हम लोगों पर सन्देह करती है, तब तो वह सत्तू बाँध कर हमारे पीछे ही पड़ जायगी।

राजा—कोई चिंता नहीं। संसार में सभी प्राणी राजा ही तो नहीं हैं। शांति, राज्य में नहीं, संतोष में है। मैं अवश्य चलूँगा। अगर रिया-

सत ऐसे महात्माओं के दर्शन में बाधक होती है, तो उससे इस्तीफ़ा दे देना ही अच्छा।

मनोरमा ने राजा की ओर बड़ी करुण-दृष्टि से देख कर कहा— यह ठीक है; लेकिन जब मैं जा रही हूँ, तो आपके जाने की जरूरत नहीं।

राजा—ख़ैर न जाऊँगा; लेकिन यहाँ मैं अपनी ज़बान को न रोकूँगा। उनके गुज़ारे की भी तो कुछ फ़िक्र करनी होगी।

मनोरमा—मुझे भय है कि वह कुछ लेना स्वीकार न करेंगे। बड़े त्यागी पुरुष हैं।

राजा—यह तो मैं जानता हूँ। उनके त्याग का क्या कहना! चाहते तो अच्छी नौकरी कर के आराम से रहते; पर दूसरों के उपकार के लिए प्राणों को हथेली पर लिये रहते हैं। उन्हें धन्य है; लेकिन उनका किसी तरह गुजर-बसर तो होना चाहिए। तुम्हें संकोच होता हो, तो मैं कह दूँ।

मनोरमा—नहीं, आप न कहिएगा, मैं ही कहूँगी? मान लें तो है।

राजा—मेरी और उनकी तो बहुत पुरानी मुलाक़ात है। मैं भी उनकी समिति का मेम्बर था। अब फिर नाम लिखाऊँगा। कितने रुपये तुम्हारे विचार में काफ़ी होंगे। रक़म ऐसी होनी चाहिए, जिसमें उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पाये।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ ५०) बहुत होंगे। उन्हें और जरूरत ही क्या है?

राजा—नहीं जी, उनके लिए एक दस रुपये काफ़ी हैं। ५०) की थैली लेकर भला वह क्या करेंगे। तुम्हें कहते भी शर्म न आई? ५०) में आजकल रोटियाँ भी नहीं चल सकतीं, और बातों का ज़िक्र ही क्या। एक भले आदमी के निर्वाह के लिए इस ज़माने में ५००) से कम नहीं खर्च होते।

मनोरमा—पाँच सौ! कभी न लेंगे। ५०) ले लें, मैं इसी को गनीमत समझती हूँ। पाँच सौ का तो नाम ही सुनकर वह भाग खड़े होंगे।

राजा—हमारा जो धर्म है वह हम कर देंगे, लेने या न लेने का उनको अख़्तियार है।

मनोरमा फिर लिखने लगी, और यह राजा साहब को वहाँ से चले जाने का संकेत था; पर राजा साहब ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। उनकी दृष्टि मकरन्द के प्यासे भ्रमर की भाँति मनोरमा के मुख-कमल का माधुर्य-रस-पान कर रही थी। उसकी बाँकी अदा आज उनकी आँखों में खुबी जाती थी। मनोरमा का शृंगार-रूप आज तक उन्होंने न देखा था। इस समय उनके हृदय में जो गुदगुदी हो रही थी, वह उन्हें कभी न हुई थी। दिल थाम-थामकर रह जाते थे। मन में बार-बार एक प्रश्न उठता था; पर जल में उछलनेवाली मछलियों की भाँति फिर मन ही में विलीन हो जाता था। प्रश्न था, इसका वास्तविक स्वरूप यह है या वह?

सहसा घड़ी में ९ बजे। मनोरमा कुरसी से उठ खड़ी हुई। राजा साहब भी किसी वृक्ष की छाया में विश्राम करनेवाले पथिक की भाँति उठे और धीरे-धीरे द्वार की ओर चले। द्वार पर पहुँचकर वह फिर मुड़कर मनोरमा से बोले—मैं भी चला चलूँ तो क्या हरज़?

मनोरमा ने करुणा-कोमल नेत्रों से देखकर कहा—अच्छी बात है, चलिए; लेकिन पिताजी के पास किसी अच्छे डाक्टर को बिठाते जाइएगा, नहीं तो शायद उनके प्राण न बचें!

राजा—दीवान साहब रियासत के सच्चे शुभचिंतक हैं।

२४

रेलवे-स्टेशन पर कहीं तिल रखने की जगह न थी। अंदर का चबूतरा और बाहर का सहन सब आदमियों से खचाखच भरे थे। चबूतरे पर पर विद्यालयों के छात्र थे, रंग-विरंग की वर्दियाँ पहने हुऐ, और सेवा-समितियों के सेवक, रंग-विरंग की झण्डियाँ लिये हुए। मनोरमा नगर की कई महिलाओं के साथ अंचल में फूल भरे सेवकों के बीच में खड़ी थी। उसका एक-एक अंग आनन्द से पुलकित हो रहा था। बरामदे में राजा विशालसिंह, उनके मुख्य कर्मचारी और शहर के रईस और नेता जमा थे। मुंशी वज्रधर इधर-उधर पैतरे बदलते और लोगों को सावधान रहने की ताक़ीद करते फिरते थे—कोई घबराहट की बात नहीं, कोई तमाशा नहीं, वह भी तुम्हारे ही जैसा दो हाथ और दो पैर का आदमी है। आयेगा, देख लेना धक्कमधक्का करने की जरूरत नहीं। दीवान हरिसेवकसिंह सशंक नेत्रों से सरकारी सिपाहियों को देख रहे थे और बार-बार राजा साहब के कान में कुछ कहते थे। अनिष्ट-भय से उनके प्राण सूखे हुए थे। स्टेशन के बाहर हाथी, घोड़े, बग्गियाँ, मोटर, परा जमाये खड़ी थीं। जगदीशपुर का बैंड बड़े मनोहर स्वरों में विजयगान कर रहा था। बार-बार सहस्रों कंठों से हर्ष-ध्वनि निकलती थी, जिससे स्टेशन की दीवारें हिल जाती थीं। थोड़ी देर के लिए लोग व्यक्तिगत चिंताओं और कठिनाइयों को भूल कर राष्ट्रीयता के नशे में झूम रहे थे।

ठीक दस बजे गाड़ी दूर से धुआँ उड़ाती दिखाई दी। अब तक लोग अपनी-अपनी जगह पर क़ायदे के साथ खड़े थे; लेकिन गाड़ी के आते ही सारी व्यवस्था हवा हो गई। पीछेवाले आगे आ पहुँचे, आगे-

वाले पीछे पड़ गये, झंडियाँ रक्षास्त्र का काम करने लगीं और फूलों की टोकरियाँ ढालों का। मुंशी वज्रधर बहुत चीखे-चिल्लाये ; लेकिन कौन सुनता है। हाँ मनोरमा के सामने मैदान साफ़ था। दीवान साहब ने तुरन्त सैनिकों को उसके सामने से भीड़ हटाते रहने के लिए बुला लिया था। गाड़ी आकर रुकी और चक्रधर उतर पड़े। स्त्री और पुरुष चारों ओर से उनके दर्शनों को दौड़े, मनोरमा भी अनुराग से उन्मत्त होकर चली ; लेकिन तीन-चार पग चली थी कि एक बात ध्यान में आई। ठिठक गई, और एक स्त्री की आड़ से चक्रधर को देखा, एक रक्तहीन, मलिन-मुख, क्षीण मूर्ति सिर झुकाये खड़ी थी, मानों ज़मीन पर पैर रखते डर रही है कि कहीं गिर न पड़े। मनोरमा का हृदय मसोस उठा ; आँखों से आँसू की धारा बहने लगी, अंचल के फूल अंचल ही में रह गये। उधर चक्रधर पर फूलों की वर्षा हो रही थी, इधर मनोरमा की आँखों से मोतियों की। सेवा-समिति का मंगल-गान समाप्त हुआ, तो राजा साहब ने आगे बढ़ कर नगर के नेताओं की ओर से उनका स्वागत किया, सब लोग उनसे गले मिले और जुलूस सजाया जाने लगा। मुंशी वज्रधर जुलूस के प्रबंध में इतने व्यस्त थे कि चक्रधर की उन्हें सुधि ही न थी। चक्रधर स्टेशन के बाहर आये और यह तैयारियाँ देखीं तो बोले—आप लोग मेरा इतना सम्मान कर के मुझे लज्जित कर रहे हैं। राष्ट्रीय सम्मान किसी महान् राष्ट्रीय उद्योग का पुरस्कार होना चाहिए। मैं इसके सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे सम्मानित कर के आप लोग सम्मान का महत्त्व खो रहे हैं! मुझ-जैसों के लिए इस धूम-धाम की ज़रूरत नहीं। मुझे तमाशा न बनाइए।

संयोग से मुंशीजी वहीं खड़े थे। ये बातें सुनी, तो बिगड़ कर बोले—तमाशा नहीं बनना था, तो दूसरों के लिए प्राण देने को क्यों तैयार हुए थे? लोग दस-पाँच हज़ार ख़र्च करके जन्म-भर के लिए 'राय-बहादुर' और 'ख़ाँ बहादुर' हो जाते हैं, तुम दूसरों के लिए इतनी मुसीबतें

झेलकर यह सम्मान पा रहे हो, तो इसमें झेंपने की क्या बात है भली! देखता तो हूँ कि कोई एक छोटा-मोटा व्याख्यान दे देता है, तो पत्रों में देखता है कि मेरी तारीफ़ हो रही है या नहीं। अगर दुर्भाग्य से कहीं संपादक ने उसकी प्रशंसा न की, तो जामे से बाहर हो जाता है; और तुम दस-पाँच हाथी-घोड़े देखकर घबड़ा गये। आदमी की इज़्ज़त अपने हाथ है। तुम्हीं अपनी इज़्ज़त न करोगे, तो दूसरे क्यों करने लगे। आदमी कोई काम करता है, तो रुपये के लिए या नाम के लिए। अगर दो में से एक भी हाथ न आये, तो वह काम करना ही व्यर्थ है।

यह कहकर उन्होंने चक्रधर को छाती से लगा लिया। चक्रधर का रक्तहीन मुख लज्जा से आरक्त हो गया। यह सोचकर शरमाये कि यह लोग अपने मन में पिताजी की हँसी उड़ा रहे होंगे। और कुछ आपत्ति करने का साहस न हुआ। चुपके से राजा साहब की टुकड़ी पर आ बैठे जुलूस चला। आगे-आगे पाँच हाथी थे, जिन पर नौबत बज रही थी। उनके पीछे कोतल घोड़ों की लम्बी क़तार थी। फिर बैंड का दल था। बैंड के पीछे जगदीशपुर के सैनिक चार-चार की क़तार में क़दम मिलाये चल रहे थे। फिर क्रम से आर्य-महिला-मण्डल, ख़िलाफ़त, सेवा-समिति और स्काउटों के दल थे। उसके पीछे चक्रधर की जोड़ी थी, जिसमें राजा साहब मनोरमा के साथ बैठे हुए थे। इसके बाद तरह-तरह की चौकियाँ थीं, जिनके द्वारा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया गया था। फिर भाँति-भाँति की गायन-मण्डलियाँ थीं, जिनमें कोई ढोल-मजीरे पर राजनीतिक गीत गाती थीं, कोई डण्डे बजा-बजा कर राष्ट्रीय 'हर गंगा' सुना रही थी, और दो-चार सज्जन 'चने जोर गरम और चूरन अमलबेत' की वाणियों का पाठ कर रहे थे। सबके पीछे बग्गियों, मोटरों और बसों की क़तार थी। अन्त में जनता का समूह था।

जुलूस नदेसर, चेतगंज, दशाश्वमेध, चौक होता हुआ दोपहर होते-होते कबीरचौरे पर पहुँचा। यहाँ मुंशीजी के मकान के सामने एक बहुत

बड़ा शामियाना तना हुआ था। निश्चय हुआ था कि यहीं सभा हो और उसमें चक्रधर को अभिनन्दन-पत्र दिया जाय। मनोरमा स्वयं पत्र पढ़कर सुनानेवाली थी; लेकिन जब सब लोग आ-आकर पंडाल में बैठे और मनोरमा अभिनंदन पढ़ने को खड़ी हुई, तो उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला। आज एक सप्ताह से उसने जी तोड़ कर स्वागत की तैयारियाँ की थीं, दिन को दिन और रात को रात न समझा, रियासत के कर्मचारी दौड़ते-दौड़ते तङ्ग आ गये, काशी-जैसे उत्साह-हीन नगर में ऐसे जुलूस का प्रबन्ध करना आसान काम न था, विशेष करके चौकियों और गायन-मण्डलियों की आयोजना करने में उसे बहुत कष्ट उठाने पड़े और कई मण्डलियों को दूसरे शहरों से बुलाना पड़ा। उसकी श्रमशीलता और उत्साह देख-देखकर लोगों को आश्चर्य होता था; लेकिन जब वह शुभ अवसर आया कि वह अपनी दौड़-धूप का मनमाना पुरस्कार ले, तो उसकी वाणी धोखा दे गई। फ़िटन में वह चक्रधर के सम्मुख बैठी थी। राजा साहब चक्रधर से जेल के सम्बन्ध में बातें करते रहे; पर मनोरमा वहाँ भी चुप ही रही। चक्रधर ने उसकी आशा के प्रतिकूल उससे कुछ न पूछा। यह अगर उसका तिरस्कार नहीं तो क्या था। हाँ, यह मेरा तिरस्कार है। यह समझते हैं मैंने विलास के लिए विवाह किया है। इन्हें कैसे अपने मन की व्यथा समझाऊँ! कैसे समझा दूँ कि यह विवाह नहीं, प्रेम की बलि-वेदी है।

मनोरमा को असमञ्जस में देखकर राजा साहब ऊपर आ खड़े हुए और उसे धीरे से कुरसी पर बिठाकर बोले—सज्जनों, रानीजी के भाषण में आपको जो रस मिलता, वह मेरी बातों में कहाँ। कोयल के स्थान पर कौआ खड़ा हो गया है, शहनाई की जगह नृसिंहे ने ले ली है। आप लोगों को ज्ञात न होगा कि पूज्यवर बाबू चक्रधरजी रानी साहब के गुरु रह चुके हैं, और वह उन्हें अब भी उसी भाव से देखती हैं। अपने गुरु का सम्मान करना शिष्य का धर्म है; किन्तु रानी साहब का कोमल

हृदय इस समय नाना प्रकार के आवेगों से इतना भरा हुआ है कि वाणी के लिए, जगह ही नहीं रही। इसके लिए वह क्षम्य हैं। बाबू साहब ने जिस धैर्य और साहस से दीनों की रक्षा की, वह आप लोग जानते ही हैं। जेल में भी आपने निर्भीकता से अपने कर्तव्य का पालन किया। आपका मन दया और प्रेम का सागर है। जिस अवस्था में और युवक धन की उपासना करते हैं, आपने धर्म और जाति-प्रेम की उपासना की है। मैं भी आपका पुराना भक्त हूँ।

एक सज्जन ने टोका—आप ही ने तो उन्हें सज़ा दिलाई थी?

राजा—हाँ, मैं इसे स्वीकार करता हूँ। राज्य के मद में कुछ दिनों के लिए मैं अपने को भूल गया था। कौन है, जो प्रभुता पाकर फूल न उठा हो। यह मानवीय स्वभाव है और आशा है आप लोग मुझे क्षमा करेंगे—

राजा साहब बोल ही रहे थे कि मनोरमा पंडाल से निकल आई और मोटर पर बैठकर राज-भवन चली गई। रास्ते-भर वह रोती रही। उसका मन चक्रधर से एकांत में बातें करने के लिए विकल हो रहा था। वह उन्हें समझाना चाहती थी कि मैं तिरस्कार-योग्य नहीं, दया के योग्य हूँ। तुम मुझे विलासिनी समझ रहे हो, यह तुम्हारा अन्याय है। और किस प्रकार मैं तुम्हारी सेवा करती। मुझमें बुद्धि-बल न था, धन-बल न था, विद्या-बल न था, केवल रूप-बल था, और वह मैंने तुम्हें अर्पण कर दिया। फिर भी तुम मेरा तिरस्कार करते हो!

मनोरमा ने दिन तो किसी तरह काटा; पर शाम को वह अधीर हो गई। तुरत चक्रधर के मकान पर जा पहुँची। देखा, तो वह अकेले द्वार पर टहल रहे थे। शामियाना उखाड़ लिया गया था। कुरसियाँ, मेजें, दरियाँ, गमले, सब वापस किये जा चुके थे। मिलने वालों का ताँता भी टूट चुका था। मनोरमा को इस समय बड़ी लज्जा आई। नजाने वह अपने मन में क्या समझ रहे होंगे। अगर छिपकर लौटना संभव होता,

तो वह अवश्य लौट पड़ती। मुझे अभी न आना चाहिए था। दो-चार दिन में मुलाकात हो ही जाती। नाहक इतनी जल्दी की; पर अब पछ-ताने से क्या होता था। चक्रधर ने उसे देख लिया और समीप आकर प्रसन्न भाव से बोले—मैं तो स्वयं आपकी सेवा में आने वाला था। आपने व्यर्थ कष्ट किया।

मनोरमा—मैंने सोचा, चलकर देख लूँ यहाँ का सामान भेज दिया गया या नहीं ? आइए सैर कर आवें। अकेले जाने का जी नहीं चाहता। आप बहुत दुबले हो रहे हैं। कोई शिकायत तो नहीं है न ?

चक्रधर—नहीं, मैं बिलकुल अच्छा हूँ, कोई शिकायत नहीं है। जेल में कोई कष्ट न था; बल्कि सच पूछिए तो मुझे वहाँ बहुत आराम था। मुझे अपनी कोठरी से इतना प्रेम हो गया था कि उसे छोड़ते हुए दुःख होता था। आपकी तबीयत अब कैसी है ? उस वक्त तो आपकी तबीयत अच्छी न थी।

मनोरमा—वह कोई बात न थी। यों ही ज़रा सिर में चक्कर आ गया था।

यों बातें करते-करते दोनों छावनी की ओर जा पहुँचे। मैदान में हरी घास का फ़र्श बिछा हुआ था। बनारस के रँगीले आदमियों को यहाँ आने की कहाँ फ़ुरसत ? उनके लिए तो दालमण्डी की सैर ही काफ़ी है। यहाँ बिलकुल सन्नाटा छाया हुआ था। बहुत दूर पर कुछ लड़के गेंद खेल रहे थे। दोनों आदमी मोटर से उतर कर घास पर जा बैठे। एक क्षण तो दोनों चुप रहे। अन्त में चक्रधर बोले—आपको मेरी ख़ातिर बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े। यहाँ मालूम हुआ कि आप ही ने मेरी सजा पहले कम करवाई थी और आप ही ने अब की मुझे जेल से निकाला। आपको कहाँ तक धन्यवाद दूँ।

मनोरमा—आप मुझे 'आप' क्यों कह रहे हैं ? क्या अब मैं कुछ और और हो गई हूँ ? मैं अब भी अपने को आपकी दासी समझती हूँ। मेरा

२०

जीवन आपके किसी काम आये, इससे बड़ी मेरे लिए सौभाग्य की और कोई बात नहीं। मुझसे उसी तरह बोलिए, जैसे तब बोलते थे। मैं आपके कष्टों को याद कर-करके बराबर रोया करती थी। सोचती थी, न-जाने वह कौनसा दिन होगा कि आपके दर्शन पाऊँगी। अब आप फिर मुझे पढ़ाने आया कीजिए। राजा साहब भी अब आप से कुछ पढ़ना चाहते हैं। बोलिए स्वीकार करते हैं ?

मनोरमा के इन सरल भावों ने चक्रधर की आँखें खोल दीं। उन्होंने उसे विलासिनी, मायाविनी, छलिनी समझ रक्खा था। अब ज्ञात हुआ कि यह वही सरल बालिका है, जो निस्संकोच भाव से उनके सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया करती थी। चक्रधर स्वार्थान्ध न थे, विवेक-शून्य भी न थे, कारावास में उन्होंने आत्मचिंतन भी बहुत किया था। परोपकार के लिए वह अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकते थे; पर मन की लीला विचित्र है, वह विश्व-प्रेम से भरे होने पर भी अपने भाई की हत्या कर सकता है, नीति और धर्म के शिखर पर बैठकर भी कुटिल प्रेम में रत हो सकता है। कुबेर का धन रखने पर भी उसे प्रेम का गुप्त दान लेने में सङ्कोच नहीं होता। मनोरमा के ये शब्द सुनकर चक्रधर का मन पुलकित हो उठा; लेकिन संयम-वह मित्र है, जो ज़रा देर के लिए चाहे आँखों से ओझल हो जाय, कभी साथ नहीं छोड़ता। संयत आत्मा चाहे पानी में फिसल जाय; पर धार के साथ बह नहीं सकती। संयम अजेय है, अमर है। चक्रधर सँभल गये, बोले—नहीं मनोरमा, अब मैं तुम्हें न पढ़ा सकूँगा। मुझे क्षमा करो। मुझे देहातों में बहुत घूमना है। महीनों शहर न आ सकूँगा। तुम्हारे पढ़ने में हरज होगा।

मनोरमा—यहाँ बैठे-बैठे अपने स्वयं-सेवकों द्वारा क्या आप काम नहीं करा सकते ?

चक्रधर—नहीं, यह सम्भव नहीं है। हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे

देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती, न उन्हें वह शक्ति हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव पड़ता है, जिसके बग़ैर राजनीतिक सफलता हो ही नहीं सकती। मैं उस ग़लती में न पड़ूँगा।

मनोरमा—आप बहाने बताकर मुझे टालना चाहते हैं, नहीं तो मोटर पर तो आदमी एक सौ मील रोज़ाना आ-जा सकता है। कोई मुश्किल बात नहीं।

चक्रधर—उड़न-खटोले पर बैठकर सङ्गठन नहीं किया जा सकता। ज़रूरत है जनता में जागृति फैलाने की, उनमें उत्साह और आत्म-बल का सञ्चार करने की। चलती गाड़ी से यह उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकता?

मनोरमा—अच्छा, तो मैं भी आपके साथ देहातों में घूमूँगी। इसमें तो आपको कोई आपत्ति नहीं है?

चक्रधर—नहीं मनोरमा, तुम्हारा कोमल शरीर उन कठिनाइयों को न सह सकेगा। तुम्हारे हाथ में ईश्वर ने एक बड़ी रियासत की बागडोर दे दी है। तुम्हारे लिए इतना ही काफी है कि अपनी प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करो। यह छोटा काम नहीं है।

मनोरमा—मैं अकेली कुछ न कर सकूँगी। आपके इशारे पर सब कुछ कर सकती हूँ! आपसे अलग रहकर मेरे किये कुछ भी न होगा। कम-से-कम आप इतना तो कर ही सकते हैं कि अपने कामों में मुझसे धन की सहायता लेते रहें। ज्यादा तो नहीं, पाँच हजार रुपये मैं प्रतिमास आपकी भेंट कर सकती हूँ, आप जैसे चाहें उसका उपयोग करें। मेरे संतोष के लिए इतना ही काफ़ी है कि वे आपके हाथों खर्च हों। मैं कीर्ति की भूखी नहीं। केवल आपकी सेवा करना चाहती हूँ। इससे मुझे वंचित न कीजिए। आप में न-जाने वह कौन-सी शक्ति है, जिसने मुझे वशीभूत कर लिया है। मैं न कुछ सोच सकती हूँ, न समझ सकती हूँ, केवल आपकी अनुगामिनी बन सकती हूँ।

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखें सजल हो गईं। उसने मुँह फेर कर आँसू पोछ डाले और फिर बोली—आप मुझे दिल में जो चाहें समझें, मैं इस समय आपसे सब कुछ कह दूँगी। मैं हृदय में आप ही की उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है यह मैं स्वयं नहीं जानती; अगर कुछ-कुछ जानती भी हूँ, तो कह नहीं सकती। हाँ, इतना कह सकती हूँ कि जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार-कामनाएँ धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, यही आपके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, तो मैंने उस बाधा को हटाने के लिए यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कह रही हूँ, इसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नहीं कहती कि मुझे धन से घृणा है। नहीं, मैं दरिद्रता को संसार की विपत्तियों में सबसे दुःखदायी समझती हूँ; लेकिन मेरी सुख-लालसा किसी भले घर में शान्त हो सकती थी। उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की ज़रूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है और मेरे जीवन को सफल करना अब आपके हाथ है।

चक्रधर ये बातें सुनकर मर्माहत-से हो गये। उफ़! यहाँ तक नौबत पहुँच गई। मैंने इसका सर्वनाश कर दिया! हा विधि! तेरी लीला कितनी विषम है! वह इसलिए उससे दूर भागे थे कि वह उसे अपने साथ दरिद्रता के काँटों में नहीं घसीटना चाहते थे। उन्होंने समझा था, उनके हट जाने से मनोरमा उन्हें भूल जायगी और अपने इच्छानुकूल विवाह करके सुख से जीवन व्यतीत करेगी।

उन्हें क्या मालूम था कि उनके हट जाने का यह भीषण परिणाम होगा और वह राजा विशालसिंह के हाथ जा पड़ेगी। उन्हें वह बात याद आई, जो एक बार उन्होंने विनोद-भाव से कही थी—तुम रानी होकर मुझे भूल जाओगी। उसका जो उत्तर मनोरमा ने दिया था, उसे याद करके चक्रधर एक बार काँप उठे! उन शब्दों में इतना दृढ़ संकल्प था! इसकी वह उस समय कल्पना भी न कर सकते थे। चक्रधर मन में

बहुत ही क्षुब्ध हुए। उनके हृदय में एक साथ ही करुणा, भक्ति, विस्मय और शोक के भाव उत्पन्न हो गये। प्रबल उत्कंठा हुई कि इसी क्षण इसके चरणों पर सिर रख दें और रोयें। वह अपने को धिक्कारने लगे। मनोरमा को इस दशा में लाने का, उसके जीवन की अभिलाषाओं के नष्ट करने का भार उनके सिवा और किस पर था ?

सहसा मनोरमा ने फिर कहा—आप मन में मेरा तिरस्कार तो नहीं कर रहे हैं ?

चक्रधर लज्जित होकर बोले—नहीं, मनोरमा, तुमने मेरे हित के लिए जो त्याग किया है, उसका दुनिया चाहे तिरस्कार करे, मेरी दृष्टि में तो वह आत्म-बलिदान से कम नहीं ; लेकिन क्षमा करना, तुमने पात्र का विचार नहीं किया। तुमने कुत्ते के गले मोतियों की माला डाल दी। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ मनोरमा, मैं बहुत ही नीच प्रकृति का आदमी हूँ। अभी तुमने मेरा असली रूप नहीं देखा। देखकर शायद घृणा करने लगो। तुमने मेरा जीवन सफल करने के लिए अपने ऊपर जो अन्याय किया है, उसका अनुमान करके ही मेरा मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। इससे तो यह कहीं अच्छा था कि मेरा जीवन नष्ट हो जाता, मेरे सारे मंसूबे धूल में मिल जाते। मुझ जैसे क्षुद्र प्राणी के लिए तुम्हें अपने ऊपर यह अत्याचार न करना चाहिए था। अब तो मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मुझे अपने व्रत पर दृढ़ रहने की शक्ति प्रदान करें। वह अवसर कभी न आये कि तुम्हें अपने इस असीम विश्वास और असाधारण त्याग पर पछताना पड़े। अगर वह अवसर आने-वाला हो, तो मैं वह दिन देखने के लिए जीवित न रहूँ। तुमसे भी मैं एक अनुरोध करने की क्षमा चाहता हूँ। तुमने अपनी इच्छा से त्याग का जीवन स्वीकार किया है। इस ऊँचे आदर्श का सदैव पालन करना। राजा साहब के प्रति एक पल के लिए भी तुम्हारे मन में अश्रद्धा का भाव न आने पाये। अगर ऐसा हुआ, तो तुम्हारा यह त्याग निष्फल हो जायगा।

मनोरमा कुछ देर तक मौन रहने के बाद बोली—बाबूजी, तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है।

चक्रधर ने विस्मित होकर मनोरमा की ओर देखा, मानों इसका आशय उनकी समझ में न आया हो।

मनोरमा बोली—मैंने इतना सब कुछ किया, फिर भी तुम्हें मुझसे सहायता लेने में संकोच हो रहा है।

चक्रधर ने दृढ़ भाव से कहा—मनोरमा, मैं नहीं चाहता कि किसी को तुम्हारे विषय में कुछ आक्षेप करने का अवसर मिले।

मनोरमा फिर कुछ देर तक मौन रहकर बोली—आपको मेरे विवाह की ख़बर कहाँ मिली?

चक्रधर—जेल में अहल्या ने कही थी।

मनोरमा—क्या जेल में आपकी भेंट अहल्या से हुई थी?

चक्रधर—हाँ, एक बार वह आई थी।

मनोरमा—यह ख़बर सुनकर आपके मन में क्या विचार आये थे? सच कहिएगा।

चक्रधर—मुझे तो आश्चर्य हुआ था।

मनोरमा—केवल आश्चर्य! सच कहिएगा।

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा—नहीं मनोरमा, दुःख भी हुआ और कुछ क्रोध भी।

मनोरमा—का मुख विकसित हो उठा। ऐसा ज्ञात हुआ कि उसके पहलू से कोई काँटा निकल गया। एक ऐसी बात, जिसे जानने के लिए वह विकल हो रही थी, अनायास इस प्रश्न द्वारा-चक्रधर के मुँह से निकल गई।

मनोरमा वहाँ से लौटी तो उसका चित्त प्रसन्न था। उसके कान में ये शब्द गूँज रहे थे—हाँ मनोरमा, दुःख भी हुआ और कुछ क्रोध भी!

२५

आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थीं। ज़रा ज़रा-सी बात पर दोनों दलों के सिर-फिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग-भंग हो जाते। कहीं बनिये ने डण्डी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया, कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिंदू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फ़ौजदारी हो गई। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कंकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिंदुओं के घर लुट गये, दूसरे मुहल्लेमें दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए; क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। मुसलमानों ने क़ज़ाले खोले, हिन्दू नैचे बाँधने लगे। सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम-जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानंदन। दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। देवताओं के भाग्य जागे, जहाँ कुत्ते निद्रोपासन किया करते थे, वहाँ पुजारीजी की भंग घुटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल कर दिया। जहाँ साँड़ जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हँड़िया चढ़ी। हिन्दुओं ने 'महावीर-दल' बनाया, मुसलमानों ने 'अली-गोल' सजाया। ठाकुर-द्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी, मसजिदों में वाज़ की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया—जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानंदन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौ-दानों से श्रेष्ठ है।

होली के दिन थे। गलियों में गुलाल के छींटे उड़ रहे थे। इतने जोश से कभी होली न मनाई गई थी। वह नई रोशनी के हिन्दू-भक्त जो रंग को भूखा भेड़िया समझते थे, या पागल गीदड़, आज जीते-जागते इन्द्र-धनुष बने हुए थे। संयोग से एक मियाँ साहब मुर्गी हाथ में लटकाये कहीं से चले जा रहे थे। उनके कपड़ों पर दो-चार छींटे पड़ गये। बस, गज़ब ही तो हो गया, आफ़त ही तो आ गई। सीधे जामे मसजिद पहुँचे और मीनार पर चढ़कर बाँग दी—ऐ उम्मते रसूल! आज एक काफ़िर के हाथों मेरे दीन का खून हुआ है। उसके छींटे मेरे कपड़ों पर पड़े हुए हैं। या तो काफ़िरों से इस खून का बदला लो, या मैं मीनार से गिरकर नबी की ख़िदमत में फ़रियाद सुनाने जाऊँ। बोलो, क्या मंज़ूर है? शाम तक मुझे इसका जवाब न मिला, तो तुम्हें मेरी लाश मसजिद के नीचे नज़र आयेगी।

मुसल्मानों ने यह ललकार सुनी और उनकी त्योरियाँ बदल गईं। दीन का जोश सिर पर सवार हो गया। शाम होते-होते दस हज़ार आदमी सिरों में कफ़न लपेटे, तलवारें लिये, जामे मसजिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिए जमा हो गये।

सारे शहर में तहलका मच गया। हिन्दुओं के होश उड़ गये। होली का नशा हिरन हो गया। पिचकारियाँ छोड़-छोड़ लोगों ने लाठियाँ सँभाली; लेकिन यहाँ कोई जामे मसजिद न थी, न वह ललकार, न वह दीन का जोश। सबको अपनी अपनी पड़ी हुई थी।

बाबू यशोदानंदन कभी इस अफ़सर के पास जाते, कभी उस अफ़सर के। लखनऊ तार भेजे, दिल्ली तार भेजे, मुसलिम नेताओं के नाम तार भेजे; लेकिन कोई फल न निकला। इतनी जल्द कोई इंतज़ाम न हो सकता था। अगर वह यही समय हिन्दुओं को सङ्गठित करने में लगाते, तो शायद बराबर का जोड़ हो जाता; लेकिन वह हुक्काम पर आशा लगाये बैठे रहे। और अंत में जब वह निराश होकर उठे, तो मुसलिम वीर धावा

बोल चुके थे। वे 'अली ! अली !' का शोर मचाते चले जाते थे कि बाबू साहब सामने नज़र आ गये। फिर क्या था। सैकड़ों आदमी, 'मारो ! मारो !' कहते हुए लपके। बाबू साहब ने पिस्तौल निकाली और शत्रुओं के सामने खड़े हो गये। सवाल-जवाब कौन करता। उन पर चारों तरफ़ से वार होने लगे, पिस्तौल चलाने की नौबत भी न आई, यही सोचते खड़े रह गये कि समझाने से ये लोग शांत हो जायँ, तो क्यों किसी की जान लूँ। अहिंसा के आदर्श ने हिंसा का हथियार हाथ में होने पर भी उन का दामन न छोड़ा।

यह आहुति पाकर अग्नि और भी भड़की। खून का मज़ा पाकर लोगों का जोश दूना हो गया। अब फतह का दरवाज़ा खुला हुआ था। हिन्दू मुहल्लों में द्वार बन्द हो गये। बेचारे कोठरियों में बैठे जान की ख़ैर मना रहे थे, देवताओं से विनती कर रहे थे कि यह सङ्कट हरो। रास्ते में जो हिन्दू मिला वह पिटा, घर लुटने लगे, 'हाय-हाय' का शोर मच गया। दीन के नाम पर ऐसे-ऐसे कर्म होने लगे, जिन पर पशुओं को भी लज्जा आती, पिशाचों के भी रोएँ खड़े हो जाते।

लेकिन बाबू यशोदानन्दन के मरने की ख़बर पाते ही सेवा-दल के युवकों का खून खौल उठा। आसन पर चोट पहुँचते ही अड़ियल टट्टू और गरियार बैल भी सँभल जाते हैं। घोड़ा कनौतियाँ खड़ी करता है, बैल उठ बैठता है। यशोदानन्दन का खून हिन्दुओं के लिए आसन की चोट थी। सेवा-दल के दो सौ युवक तलवारें लेकर निकल पड़े और मुसल्मान-मुहल्लों में घुसे। दो-चार पिस्तौल और बन्दूकें भी खोज निकाली गईं। हिन्दू मुहल्लों में जो कुछ मुसल्मान कर रहे थे, मुसल्मान-मुहल्लों में वही हिन्दू करने लगे। अहिंसा ने हिंसा के आगे सिर झुका दिया। वे ही सेवा-व्रतधारी युवक जो दीनों पर जान देते थे, अनाथों को गले लगाते थे और रोगियों की शुश्रुषा करते थे, इस समय निर्दयता के पुतले बने हुए थे। पाशविक वृत्तियों ने कोमल वृत्तियों का संहार कर

दिया था। उन्हें तो न दीनों पर दया आती थी, न अनाथों पर। हँस-हँसकर भाले और छुरे चलाते थे, मानों लड़के गुड़ियाँ पीट रहे हों। उचित तो यह था कि दोनों दलों के योद्धा आमने-सामने खड़े हो जाते और खूब दिल के अरमान निकालते; लेकिन कायरों की वीरता और वीरों की वीरता में बड़ा अंतर है।

सहसा ख़बर उड़ी कि यशोदानन्दन के घर में आग लगा दी गई और दूसरे घरों में भी लगाई जा रही है। सेवा-दलवालों के कान खड़े हुए। यहाँ उन की पैशाचिकता ने भी हार मान ली। तय हो गया कि अब या तो वे ही रहेंगे, या हमीं रहेंगे। दोनों अब इस शहर में नहीं रह सकते। अब निपट ही लेना चाहिए, जिसमें हमेशा के लिए बाधा दूर हो जाय। दो-ढाई हज़ार आदमियों का दल डबल मार्च करता हुआ उस स्थान को चला, जहाँ यह बड़वानल दहक रहा था। मिनटों की राह पलों में कटी। रास्ते में सन्नाटा था। दूर ही से ज्वाला-शिखर आसमान से बातें करता दिखाई दिया। चाल और भी तेज़ की और एक क्षण में लोग अग्नि-कुंड के सामने जा पहुँचे। देखा, तो वहाँ किसी मुसलमान का पता नहीं, आग लगी है; लेकिन बाहर की ओर। अन्दर जाकर देखा, तो घर खाली पड़ा हुआ था। वागेश्वरी एक कोठरी में द्वार बन्द किये बैठी थी। इन्हें देखते ही वह रोती हुई बाहर निकल आई और बोली—हाय मेरी अहल्या! अरे दौड़ो, उसे ढूँढ़ो, पापियों ने न-जाने उसकी क्या दुर्गति की। हाय! मेरी बच्ची!

एक युवक ने पूछा—क्या अहल्या को उठा ले गये?

वागेश्वरी—हाँ भैया, उठा ले गये। मना कर रही थी कि ए री बाहर मत निकल, अगर मरेंगे, तो साथ ही मरेंगे; लेकिन न मानी। ज्यों ही दुष्टों ने घर में कदम रक्खा, बाहर निकल कर उन्हें समझाने लगी। हाय! उसकी बातें कभी न भूलेंगी। आप तो गये ही थे, उसका भी सर्व-नाश किया। नित्य समझाती रही, इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों

के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़े मरते हो, क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो; न तुम्हारे निगले वे निगले जायँगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे। मिल-जुल कर रहो, उन्हें बड़े होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो; मगर मेरी कौन सुनता है। स्त्रियाँ तो पागल होती हैं, यों ही भूँका करती हैं। मान गये होते, तो आज क्यों यह उपद्रव होता। आप जान से गये, बच्ची भी हर ली गई, और अभी और न-जाने क्या होना है। जलने दो घर, घर लेकर क्या करना है, तुम जाकर मेरी बच्ची को तलाश करो। जाकर ख्वाजा महमूद से कहो, उसका पता लगावें। हाय! एक दिन वह था कि दोनों आदमियों में दाँत-काटी रोटी थी। ख्वाजा साहब उनके साथ प्रयाग गये थे और अहल्या को उन्होंने पाया था। आज यह हाल है! कहना तुम्हें लाज नहीं आती! जिस लड़की को बेटी बनाकर मेरी गोद में सौंपा था, जिसके विवाह में पाँच हज़ार खर्च करनेवाले थे, उसकी उन्हीं के पिछ-लग्गुओं के हाथों यह दुर्गति। हमसे अब उनकी क्या दुश्मनी। उनका दुश्मन तो परलोक सिधारा! हाय भगवान्! बहुत से आदमी मत जाओ। दो आदमी काफ़ी हैं। उनकी लाश भी ढूँढो। कहीं आस ही पास होगी। घर से निकलते ही तो दुष्टों से उनका सामना हो गया था।

वागेश्वरी तो यह विलाप कर रही थी, बाहर अग्नि को शांत करने का यत्न किया जा रहा था; लेकिन पानी के छींटे उस पर तेल का काम करते थे। बारे फायर-इंजन समय पर आ पहुँचा और अग्नि का वेग कम हुआ। फिर भी लपटें किसी साँप की तरह ज़रा देर के लिए छिपकर फिर किसी दूसरी जगह जा पहुँचती थी। संध्या समय कहीं जाकर आग बुझी।

उधर लोग ख्वाजा साहब के पास पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि मुंशी यशोदानंदन की लाश रक्खी हुई है और ख्वाजा साहब बैठे रो रहे हैं।

इन लोगों को देखते ही बोले—तुम समझते होगे यह मेरा दुश्मन था! खुदा जानता है, मुझे अपना भाई और बेटा भी इससे ज्यादा अज़ीज़ नहीं। अगर मुझ पर किसी क़ातिल का हाथ उठता, तो जसोदा उस वार को अपनी गरदन पर रोक लेता। शायद मैं भी उसे खतरे में देखकर अपनी जान की परवा न करता। फिर भी हम दोनों की ज़िन्दगी के आख़री साल मैदानबाजी में गुज़रे और आज उसका यह अंजाम हुआ। खुदा गवाह है, मैंने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद ही से इस बदनसीब क़ौम की नजात होगी। जसोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था, जितना मैं, शायद मुझसे ज्यादा; लेकिन खुदा जाने, वह कौन-सी ताक़त थी, जो हम दोनों को बर-सरेजंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे; पर हमारी मरज़ी के ख़िलाफ़ कोई गैबी ताकत हमको लड़ाती रहती थी। आप लोग नहीं जानते, मेरी इससे कितनी गहरी दोस्ती थी। हम दोनों एक ही मकतब में पढ़े, एक ही स्कूल में तालीम पाई, एक ही मैदान में खेले। यह मेरे घर पर आता था, मैं इसके घर जाता था। मेरी अम्माँजान इसको मुझसे ज्यादा चाहती थीं, इसकी अम्माँजान मुझे इससे ज्यादा। उस जमाने की तसवीर आज आँखों के सामने फिर रही है। कौन जानता था, उस दोस्ती का यह अंजाम होगा। यह मेरा प्यारा जसोदा है, जिसकी गरदन में बाहें डाल कर मैं बागों की सैर किया करता था। हमारी सारी दुशमनी पसे-पुश्त होती थी। दूबदू मारे शर्म के हमारी आँखें ही न उठती थीं। आह! काश मालूम हो जाता, किस बेरहम ने मुझ पर यह कातिल वार किया। खुदा जानता है, इन कमज़ोर हाथों से उसकी गरदन मरोड़ देता।

एक युवक—हम लोग लाश को क्रिया-कर्म के लिए ले जाना चाहते हैं।

ख्वाजा—ले जाओ भई, ले जाओ, मैं भी साथ चलूँगा। मेरे कन्धा

देने में कोई हरज है ! इतनी रिआयत तो मेरे साथ करनी ही पड़ेगी। मैं पहले मरता, तो जसोदा सिर पर ख़ाक उड़ाता हुआ मेरी मज़ार तक ज़रूर जाता।

युवक—अहल्या को भी लोग उठा ले गये। माताजी ने आपसे......

ख्वाजा—क्या अहल्या ! मेरी अहल्या को ! कब ?

युवक—आज ही। घर में आग लगाने से पहले।

ख्वाजा—कलामे-मजीद की क़सम, जब तक अहल्या का पता न लगा लूँगा, मुझे दाना-पानी हराम है। तुम लोग लाश ले जाओ, मैं अभी आता हूँ। सारे शहर की खाक छान डालूँगा, एक-एक घर में जाकर देखूँगा ; अगर किसी बेदीन बदमाश ने मार नहीं डाला है, तो जरूर खोज निकालूँगा। हाय मेरी बच्ची ! उसे मैंने मेले में पाया था। खड़ी रो रही थी ! कैसी भोली-भोली, प्यारी-प्यारी बच्ची थी। मैंने उसे छाती से लगा लिया था और लाकर भाभी की गोद में डाल दिया था। कितनी बातमीज़, बाशऊर, हसीन लड़की थी। तुम लोग लाश को ले जाओ, मैं शहर का चक्कर लगाता हुआ यमुना-किनारे आ जाऊँगा। भाभी से मेरी तरफ़ से अर्ज कर देना, मुझसे मलाल न रक्खें। जसोदा नहीं है ; लेकिन महमूद मौजूद है। जब तक उसके दम-में-दम है, उन्हें कोई तकलीफ़ न होगी। कह देना, महमूद या तो अहल्या को खोज निकालेगा, या मुँह में कालिख लगा कर डूब मरेगा।

यह कह कर ख़्वाजा साहब उठ खड़े हुए, लकड़ी उठाई और बाहर निकल गये।

चक्रधर ने उस दिन लौटते ही पिता से आगरे जाने की अनुमति माँगी। मनोरमा ने उनके मर्मस्थल में जो आग लगा दी थी, वह आगरे ही में, अहल्या के सरल, स्निग्ध स्नेह की शीतल छाया ही में, शांत हो सकती थी। उन्हें अपने ऊपर विश्वास न था। यों वह ज़िंदगी-भर मनोरमा को देखा करते और मन में कोई बात न आती; लेकिन मनोरमा ने पुरानी स्मृतियों को जगा कर उनके अन्तस्तल में तृष्णा, उत्सुकता और लालसा को जागृत कर दिया था; इसलिए अब वह मन को ऐसी दृढ़ रस्सी से बाँधना चाहते थे कि वह हिल भी न सके। वह अहल्या की शरण लेना चाहते थे।

मुंशीजी ने ज़रा त्योरी चढ़ा कर कहा—तुम्हारे सिर अब तक वह नशा सवार है? यों तुम्हारी इच्छा सैर करने की हो, तो जाओ, रुपये-पैसे की तो अब कोई कमी नहीं है; लेकिन तुम्हें वादा करना पड़ेगा कि तुम मुंशी यशोदानन्दन से न मिलोगे।

चक्रधर—मैं उनसे मिलने ही तो जा रहा हूँ।

वज्रधर—मैं कहे देता हूँ; अगर तुमने वहाँ शादी की बातचीत की, तो बुरा होगा, तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी।

चक्रधर और कुछ न बोल सके। आते-ही-आते माता-पिता को कैसे अप्रसन्न कर देते!

लेकिन जब होली के तीसरे दिन बाद उन्हें आगरे के उपद्रव, बाबू यशोदानन्दन की हत्या और अहल्या के अपहरण का शोक-समाचार मिला, तो उन्होंने व्यग्रता की दशा में आकर पिता को वह पत्र सुना दिया और बोले—मेरा जाना वहाँ बहुत ज़रूरी है।

वज्रधर ने निर्मला की ओर ताकते हुए कहा—क्या अभी जेल से जी नहीं भरा, जो फिर चलने की तैयारी करने लगे! वहाँ गये और पकड़े गये, इतना समझ लो। वहाँ इस वक्त अनीति का राज्य है, अपराध कोई न देखेगा। हथकड़ी पड़ जायगी। और फिर जाकर करोगे ही क्या। जो कुछ होना था हो चुका, अब जाना व्यर्थ है।

चक्रधर—कम-से-कम अहल्या का पता तो लगाना ही होगा।

वज्रधर—यह भी व्यर्थ है। पहले तो उसका पता लगाना ही मुश्किल, और लग भी गया, तो तुम्हारा अब उससे क्या संबंध। जब वह मुसलमानों के साथ रह चुकी, तो कौन हिन्दू उसे पूछेगा?

चक्रधर—इसीलिए तो मेरा जाना और भी ज़रूरी है।

निर्मला—लड़की को मर्यादा की कुछ लाज होगी, तो वह अब तक जीती ही न होगी; अगर जीती है, तो समझ लो कि भ्रष्ट हो गई।

चक्रधर—अम्माँ, कभी-कभी आप ऐसी बात कह देती हैं, जिस पर हँसी आती है! प्राण-भय से बड़े-बड़े शूर-वीर भूमि पर मस्तक रगड़ते हैं, एक अबला की हस्ती क्या। भ्रष्ट वह होता है, जो दुर्वासना से कोई कर्म करे। जो काम हम प्राण-भय से करें, वह हमें भ्रष्ट नहीं कर सकता।

वज्रधर—मैं तुम्हारा मतलब समझ रहा हूँ; लेकिन तुम उसे चाहे सती समझो, हम उसे भ्रष्ट ही समझेंगे। ऐसी बहू के लिए हमारे घर में स्थान नहीं है।

चक्रधर ने निश्चयात्मक भाव से कहा—वह आपके घर में न आयेगी।

वज्रधर ने भी उतने ही निर्दय शब्दों में उत्तर दिया—अगर तुम्हारा ख़याल हो कि पुत्र-स्नेह के वश होकर मैं उसे अंगीकार कर लूँगा, तो तुम्हारी भूल है। अहल्या मेरी कुल-देवी नहीं हो सकती, चाहे इसके लिए मुझे पुत्र-वियोग ही सहना पड़े। मैं भी ज़िद्दी हूँ।

चक्रधर पीछे घूमे ही थे कि निर्मला ने उनका हाथ पकड़ लिया और

स्नेह-पूर्ण तिरस्कार करती हुई बोली—बच्चा, तुमसे ऐसी आशा न थी। अब भी हमारा कहना मानों, हमारे कुल के मुँह में कालिख न लगाओ।

चक्रधर ने हाथ छुड़ा कर कहा—मैंने आपकी आज्ञा कभी भंग नहीं की; लेकिन इस विषय में मजबूर हूँ।

वज्रधर ने क्लेष के भाव से कहा—साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देते कि हम आप लोगों से अलग रहना चाहते हैं।

चक्रधर—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो मैं क्या करूँ।

वज्रधर—यह तुम्हारा अन्तिम निश्चय है?

चक्रधर—जी हाँ, अन्तिम!

यह कहते हुए चक्रधर बाहर निकल आये और कुछ कपड़े साथ लेकर स्टेशन की ओर चल दिये।

थोड़ी देर के बाद निर्मला ने कहा—लल्लू किसी भ्रष्ट स्त्री को खुद ही न लायेगा। तुमने व्यर्थ उसे चिढ़ा दिया।

वज्रधर ने कठोर स्वर में कहा—अहल्या के भ्रष्ट होने में अभी कुछ कसर है?

निर्मला—यह तो मैं नहीं जानती; पर इतना जानती हूँ कि लल्लू को अपने धर्म-अधर्म का ज्ञान है। वह कोई ऐसी बात न करेगा, जिसमें निन्दा हो।

वज्रधर—तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। बेटे का प्यार खींच रहा हो, तो जाकर उसी के साथ रहो। मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता। मैं अकेले भी रह सकता हूँ।

निर्मला—तुम तो जैसे म्यान से तलवार निकाले बैठे हो। वह विमन होकर कहीं चला गया तो?

वज्रधर—तो मेरा क्या बिगड़ेगा। ऐसा लड़का मर जाय, तो भी मुझे ग़म न हो।

निर्मला—अच्छा बस, मुँह बन्द करो, बड़े धर्मात्मा बनकर आये हो।

रिश्वतें ले-लेकर हड़पते हो, तो धर्म नहीं जाता ; शराबें उड़ाते हो, तो मुँह में कालिख नहीं लगती ; झूठ के पहाड़ खड़े करते हो, तो पाप नहीं लगता। लड़का एक अनाथिनी की रक्षा करने जाता है, तो नाक कटती है। तुमने कौन-सा कुकर्म नहीं किया? आज देवता बनने चले हो!

निर्मला के मुख से मुंशीजी ने ऐसे कठोर शब्द कभी न सुने थे। वह जो शील-स्नेह और पतिभक्ति की मूर्ति थी, आज कोप और तिरस्कार का रूप धारण किये हुए थी। उनकी शासक वृत्तियाँ उत्तेजित हो गईं। डाँटकर बोले—सुनाजी, मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। बातें तो नहीं सुनीं मैंने अपने अफ़सरों की, जो मेरे भाग्य के विधाता थे। तुम किस खेत की मूली हो। ज़बान तालू से खींच लूँगा, समझ गईं। समझती हो न कि बेटा जवान हुआ। अब इस बुड्ढे की क्यों परवा करने लगीं। तो जाकर उसी भ्रष्टा के साथ रहो। इस घर में तुम्हारी ज़रूरत नहीं।

यह कहकर मुंशीजी बाहर चले गये और सितार पर एक गत छेड़ दी।

चक्रधर आगरे पहुँचे, तो सवेरा हो गया था। प्रभात के रक्त-रंजित मर्मस्थल में सूर्य यों मुँह छिपाये बैठे थे, जैसे शोक-मंडित नेत्र में अश्रु-बिंदु। चक्रधर का हृदय भाँति-भाँति की दुर्भावनाओं से पीड़ित हो रहा था। एक क्षण तक वह खड़े सोचते रहे, कहाँ जाऊँ? बाबू यशोदानंदन के घर जाना व्यर्थ था। अंत को उन्होंने ख्वाजा महमूद के घर चलना निश्चय किया। ख्वाजा साहब पर अब भी उनकी असीम श्रद्धा थी। ताँगे पर बैठकर चले, तो शहर में सैनिक चक्कर लगाते दिखाई दिये। दूकानें सब-की-सब बंद थीं।

ख्वाजा साहब के द्वार पहुँचे, तो देखा—हजारों आदमी एक लाश को घेरे खड़े हैं और उसे क़ब्रिस्तान ले चलने की तैयारियाँ हो रही हैं। चक्रधर तुरत ताँगे से उतर पड़े और लाश के पास जाकर खड़े हो गये। कहीं ख्वाजा साहब तो नहीं क़त्ल कर दिये गये! वह किसी से पूछने ही

जाते थे कि सहसा ख्वाजा साहब ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया और आँखों में आँसू भरकर बोले—खूब आये बेटा, तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। अभी-अभी तुम्हारा ही जिक्र था, खुदा तुम्हारी उम्र दराज़ करे। मातम के बाद खुशी का दौर आयेगा। जानते हो यह किसकी लाश है? यह मेरी आँखों का नूर, मेरे दिल का सुरूर, मेरा लख्ते-जिगर, मेरा इकलौता बेटा है, जिस पर जिंदगी की सारी उम्मीदें कायम थीं। अब तुम्हें उसकी सूरत याद आ गई होगी। कितना खुशरू जवान था, कितना दिलेर; लेकिन खुदा जानता है, उसकी मौत पर मेरी आँखों से एक बूँद आँसू भी न निकला। तुम्हें हैरत हो रही होगी; मगर मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ। एक घंटा पहले तक मैं उस पर निसार होता था। अब. उसके नाम से नफ़रत हो रही है। उसने वह फेल किया, जो इंसानियत के दरजे से गिरा हुआ था। तुम्हें अहल्या के बारे में तो खबर मिली होगी?

चक्रधर—जी हाँ, शायद बदमाश लोग पकड़ ले गये।

ख्वाजा—यह वही बदमाश है, जिसकी लाश तुम्हारे सामने पड़ी हुई है। वह इसी की हरकत थी। मैं तो सारे शहर में अहल्या को तलाश करता फिरता था और वह मेरे ही घर में कैद थी। यह जालिम उस पर जब्र करना चाहता था। जरूर किसी ऊँचे खानदान की लड़की है। काश इस मुल्क में ऐसी और लड़कियाँ होतीं! आज उसने मौक़ा पाकर इसे जहन्नुम का रास्ता दिखा दिया—छुरी सीने में भोंक दी। जालिम तड़प-तड़प कर मर गया। कम्बख्त जानता था, अहल्या मेरी लड़की है। फिर भी अपनी हरकत से बाज़ न आया। ऐसे लड़के की मौत पर कौन बाप रोयेगा। तुम बड़े खुशनसीब हो, जो ऐसी पारसा बीबी पाओगे।

चक्रधर—मुझे यह सुन कर बहुत अफ़सोस हुआ। मुझे आपके साथ कमाल हमदर्दी है, आपका-सा इंसाफ़परवर, हक़परस्त आदमी इस वक्त दुनिया में न होगा। अहल्या अब कहाँ है?

ख्वाजा—इसी घर में। सुबह से कई बार कह चुका हूँ कि चक

तुझे तेरे घर पहुँचा आऊँ, पर जाती ही नहीं। बस, बैठी रो रही है।

चक्रधर का हृदय भय से काँप उठा। अहल्या पर अवश्य ही हत्या का अभियोग चलाया जायगा और न-जाने क्या फैसला हो। चिंतित स्वर से पूछा—अहल्या पर तो अदालत में......

ख्वाजा—हरगिज़ नहीं। उसने हरएक लड़की के लिए नमूना पेश कर दिया। खुदा और रसूल दोनों उसे दुआ दे रहे हैं। फरिश्ते उसके क़दमों का बोसा ले रहे हैं। उसने खून नहीं किया, क़त्ल नहीं किया। अपनी असमत की हिफ़ाज़त की, जो उसका फ़र्ज़ था। यह खुदाई कहर था, जो छुरी बन कर इसके सीने में चुभा। मुझे ज़रा भी मलाल नहीं है, ज़रा भी गम नहीं है। खुदा की मरज़ी में इंसान को क्या दखल?

लाश उठाई गई। शोक-समाज पीछे-पीछे चला। चक्रधर भी ख्वाजा साहब के साथ क़ब्रिस्तान तक गये। रास्ते में किसी ने बातचीत न की। जिस वक्त लाश कब्र में उतारी गई, ख्वाजा साहब रो पड़े। हाथों से मिट्टी दे रहे थे और आँखों से आँसू की बूँदें मरनेवाले की लाश पर गिर रही थीं। यह क्षमा के आँसू थे। पिता ने पुत्र को क्षमा कर दिया था। चक्रधर भी आँसुओं को न रोक सके। आह! इस देवता-स्वरूप मनुष्य पर इतनी घोर विपत्ति!

दोपहर होते-होते लोग घर लौटे। ख्वाजा साहब ज़रा दम लेकर बोले—आओ बेटा, तुम्हें अहल्या के पास ले चलूँ। उसे ज़रा तस्कीन दो, मैंने जिस दिन से उसे भाभी को सौंपा, यह अहद किया था कि इसकी शादी मैं करूँगा। मुझे मौका दो कि अपना अहद पूरा करूँ।

यह कहकर ख्वाजा साहब ने चक्रधर का हाथ पकड़ लिया और अंदर चले। चक्रधर का हृदय बाँसों उछल रहा था। अहल्या के दर्शनों के लिए वह इतने उत्सुक कभी न थे! उन्हें ऐसा अनुमान हो रहा था कि अब उसके मुख पर माधुर्य की जगह तेजस्विता का आभास होगा, कोमल नेत्र कठोर हो गये होंगे; मगर जब उस पर निगाह पड़ी, तो देखा—वही

सरल, मधुर छवि थी, वही करुणा-कोमल नेत्र, वही शील-मधुर वाणी। वह एक खिड़की के सामने खड़ी बागीचे की ओर ताक रही थी। सहसा चक्रधर को देख कर वह चौंक पड़ी और घूँघट में मुँह छिपा लिया। फिर एक ही क्षण के बाद वह उनके पैरों को पकड़ कर अश्रु-धारों से धोने लगी। उन चरणों पर सिर रक्खे हुए उसे एक स्वर्गीय सांत्वना, एक दैवी शक्ति, एक धैर्य-मय तृप्ति का अनुभव हो रहा था।

चक्रधर ने कहा—अहल्या, तुमने जिस वीरता से आत्म-रक्षा की, उसके लिए तुम्हें बधाई देता हूँ। तुमने वीर क्षत्राणियों की कीर्ति को नया जीवन प्रदान कर दिया। दुःख है, तो इतना ही कि ख्वाजा साहब का सर्वनाश हो गया।

अहल्या ने उत्तर न दिया। चक्रधर के चरणों पर सिर झुकाये बैठी रही। चक्रधर फिर बोले—मुझे लज्जित न करो अहल्या, मुझे तुम्हारे चरणों पर सिर झुकाना चाहिए, तुम बिल्कुल उलटी बात कर रही हो। कहाँ है वह छुरी, ज़रा उसके दर्शन कर लूँ।

अहल्या ने उठ कर काँपते हुए हाथों से फ़र्श का कोना उठाया और नीचे से छुरी निकाल कर चक्रधर के सामने रख दी। उस पर रुधिर जम कर काला हो गया था।

चक्रधर ने पूछा—यह छुरी यहाँ तुम्हें कैसे मिल गई अहल्या? क्या साथ लेती आई थीं?

अहल्या ने सिर झुकाये हुए जवाब दिया—उसी की है।

चक्रधर—तुम्हें कैसे मिल गई?

अहल्या ने सिर झुकाये हुए जवाब दिया—यह न पूछिए। अबला के पास कौशल से सिवा आत्म-रक्षा का और कौन-सा साधन है?

चक्रधर—यही तो सुनना चाहता हूँ अहल्या।

अहल्या ने सिर उठा कर चक्रधर की ओर भावपूर्ण नेत्रों से देखा और बोली—सुन कर क्या कीजिएगा?

चक्रधर—कुछ नहीं, यों ही पूछ रहा था।

अहल्या—नहीं, आप यों ही नहीं पूछ रहे हैं, आपका इससे कोई प्रयोजन अवश्य है। अगर भ्रम है, तो मेरी अग्नि-परीक्षा ले लीजिए।

चक्रधर ने देखा, बात बिगड़ रही है। इस एक असामयिक प्रश्न ने इसके हृदय के टूटे हुए तार को चोट पहुँचा दी। यह समझ रही है, मैं इस पर सन्देह कर रहा हूँ। इस संभावना की कल्पना ने इसे सशंक बना दिया है। बोले—तुम्हारी अग्नि-परीक्षा तो हो चुकी अहल्या, और तुम उसमें खरी निकलीं। अब भी अगर किसी के मन में सन्देह हो, तो यही कहना चाहिए कि वह अपनी बुद्धि खो बैठा है। तुम नव-कुसुमित पुष्प की भाँति स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो, तुम पहाड़ों की चोटी पर जमी हुई हिम की भाँति उज्ज्वल हो। मेरे मन में सन्देह का लेश भी होता, तो तुम मुझे यहाँ न खड़ा देखतीं! वह प्रेम और अखण्ड विश्वास जो अब तक मेरे मन में था, कल प्रत्यक्ष हो जायगा। अहल्या, मैं कब का तुम्हें अपने हृदय में बिठा चुका। वहाँ तुम सुरक्षित बैठी हुई हो, संदेह और कलंक का घातक हाथ वहाँ उसी वक्त पहुँचेगा, जब (छाती पर हाथ रखकर) यह अस्थि-दुर्ग विध्वंस हो जायगा। चलो, घर चलें। माताजी घबरा रही होंगी।

यह कह.कर उन्होंने अहल्या का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि हृदय से लगा लें; लेकिन वह हाथ छुड़ाकर हट गई और काँपते हुए स्वर में बोली—नहीं-नहीं, मेरे अंग को मत स्पर्श कीजिए। सूँघा हुआ फूल देवताओं पर नहीं चढ़ाया जाता। मेरी आत्मा निष्कलङ्क है; लेकिन मैं अब वहाँ न जाऊँगी, कहीं न जाऊँगी, आपकी सेवा करना मेरे भाग्य में न था, मैं जन्म ही से अभागिन हूँ......आप जाकर अम्माँ को समझा दीजिए। मेरे लिए अब दुख न करें...मैं निर्दोष हूँ; लेकिन इस योग्य नहीं कि आपकी प्रेमपात्री बन सकूँ।

चक्रधर से अब न रहा गया। उन्होंने फिर अहल्या का हाथ पकड़

लिया और उसे ज़बरदस्ती छाती से लगाकर बोले—अहल्या, जिस देह में पवित्र और निष्कलङ्क आत्मा रहती है, वह देह भी पवित्र और निष्कलङ्क रहती है। मेरी आँखों में तुम आज उससे कहीं निर्मल और पवित्र हो, जितनी पहले थीं। तुम्हारी अग्नि-परीक्षा हो चुकी है। अब विलम्ब न करो। ईश्वर ने चाहा, तो कल हम उस प्रेम-सूत्र में बँध जायँगे, जिसे काल भी नहीं तोड़ सकता, जो अमर और अभेद्य है।

अहल्या कई मिनट तक चक्रधर के कन्धे पर सिर रक्खे रोती रही। फिर बोली—एक बात पूछना चाहती हूँ, बताओगे? सच्चे दिल से कहना।

चक्रधर—क्या पूछती हो, पूछो?

अहल्या—तुम केवल दया-भाव से और मेरा उद्धार करने के लिए यह कालिमा सिर चढ़ा रहे हो, या प्रेम-भाव से?

इस प्रश्न से स्वयं लज्जित होकर उसने फिर कहा—बात बेढंगी-सी है; लेकिन मैं मूर्ख हूँ, क्षमा करना, यह शंका मुझे बार-बार होती है। पहले भी हुई थी और आज और भी बढ़ गई है।

चक्रधर का दिल बैठ गया। अहल्या की सरलता पर उन्हें दया आ गई। वह अपने को ऐसी अभागिनी और दीन समझ रही है कि इसे विश्वास ही नहीं आता, मैं इससे शुद्ध प्रेम कर रहा हूँ। बोले—तुम्हें क्या जान पड़ता है अहल्या?

अहल्या—मैं जानती, तो आपसे क्यों पूछती!

चक्रधर—अहल्या, तुम इन बातों से मुझे धोखा नहीं दे सकतीं। चील को चाहे मांस की बोटी न दिखाई दे, चिउँटी को चाहे शकर की सुगंध न मिले; लेकिन रमणी का एक-एक रोआँ पंचेन्द्रियों की भाँति प्रेम के रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श का अनुभव किये बिना नहीं रहता। मैं एक ग़रीब आदमी हूँ। दया और धर्म और उद्धार के भावों का मुझमें लेश भी नहीं। केवल इतना ही कह सकता हूँ कि तुम्हें पाकर मेरा जीवन सफल हो जायगा।

अहल्या ने मुसकिराकर कहा—तो आपके कथन के अनुसार मैं आपके हृदय का हाल जानती हूँ।

चक्रधर—अवश्य, उससे ज्यादा, जितना मैं स्वयं जानता हूँ।

अहल्या—तो साफ़ कह दूँ?

चक्रधर ने कातर भाव से कहा—कहो, सुनूँ।

अहल्या—तुम्हारे मन में प्रेम से अधिक दया का भाव है।

चक्रधर—अहल्या, तुम मुझ पर अन्याय कर रही हो।

अहल्या—जिस वस्तु को लेने की सामर्थ्य ही मुझमें नहीं है, उस पर हाथ न बढ़ाऊँगी। मेरे लिए वही बहुत है, जो आप दे रहे हैं। मैं इसे भी अपना धन्य भाग्य समझती हूँ।

चक्रधर—अगर यही प्रश्न मैं तुमसे करता, तो तुम क्या जवाब देतीं अहल्या?

अहल्या—तो साफ़-साफ़ कह देती कि मैं प्रेम से अधिक आपका आदर करती हूँ, आप में श्रद्धा रखती हूँ।

चक्रधर का मुख मलिन हो गया। सारा प्रेमोत्साह, जो उनके हृदय में लहरें मार रहा था, एकाएक लुप्त हो गया। वन-वृक्षों से लहलहाता हुआ हृदय मरु-भूमि-सा दिखाई दिया। निराश भाव से बोले—मैं तो कुछ और ही सोच रहा था अहल्या!

अहल्या—तो आप भूल कर रहे थे। मैंने किसी पुस्तक में देखा था कि प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शांत, स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार, सभी मिले होते हैं। संभव है, आज के दस वर्ष बाद मैं आपकी प्रेम-पात्री बन जाऊँ; किन्तु इतनी जल्द संभव नहीं। इनमें से कोई एक भाव प्रेम को अंकुरित कर सकता है; पर उसका विकास अन्य भावों के मिलने ही से होता है। आपके हृदय में अभी केवल दया का भाव अंकुरित हुआ है, मेरे हृदय में सम्मान

और भक्ति का। हाँ, सम्मान और भक्ति दया की अपेक्षा प्रेम से कहीं निकटतर है; बल्कि यों कहिए कि ये ही भाव सरस होकर प्रेम का बाल-रूप धारण कर लेते हैं।

अहल्या के मुख से प्रेम की यह दार्शनिक व्याख्या सुन कर चक्रधर दंग हो गये। उन्होंने कभी यह अनुमान ही न किया था कि उसके विचार इतने उन्नत और उदार हैं। उन्हें यह सोच कर आनन्द हुआ कि इसके साथ जीवन कितना सुखमय हो जायगा; किन्तु अहल्या का हाथ उनके हाथ से आप-ही-आप छूट गया, और उन्हें उसकी ओर ताकने का साहस न हुआ। इसके प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है! इसकी दृष्टि में यह व्यवहार वासनामय जान पड़ता होगा। इस विचार ने उनके प्रेमोद्गारों को शिथिल कर दिया। अवाक्-से खड़े रह गये।

सहसा अहल्या ने कहा—मुझे भय है कि मुझे आश्रय देकर आप बदनाम हो जायँगे। कदाचित् आपके माता-पिता आपका तिरस्कार करें। मेरे लिए इससे बड़ी सौभाग्य की बात नहीं हो सकती कि आपकी दासी बनूँ; लेकिन आपके तिरस्कार और अपमान का ख़याल कर के जी में यही आता है कि क्यों न इस जीवन का अन्त कर दूँ। केवल आपके दर्शनों की अभिलाषा ने मुझे अब तक जीवित रक्खा है। मैं आपको अपनी कालिमा से कलुषित करने के पहले मर जाना ही अच्छा समझती हूँ।

चक्रधर की आँखें करुणार्द्र हो गईं। बोले—अहल्या, ऐसी बातें न करो। अगर संसार में अब भी कोई ऐसा क्षुद्र प्राणी है, जो तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति के सामने सिर न झुकाये, तो वह स्वयं नीच है। वह मेरा अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा की अनुमति के सामने मैं माता-पिता के विरोध की परवा नहीं करता। तुम इन बातों को भूल जाओ। हम और तुम प्रेम का आनन्द भोग करते हुए संसार के सब कष्टों और संकटों का सामना कर सकते हैं। ऐसी कोई विपत्ति नहीं है, जिसे प्रेम न टाल सके। मैं तुमसे विनती करता हूँ अहल्या कि ये बातें फिर ज़बान पर न लाना।

अहल्या ने अबकी स्नेह-सजल नेत्रों से चक्रधर को देखा। शंका की वह दाह, जो उसके मर्मस्थल को जलाये डालती थी इन शीतल, आर्द्र शब्दों से शांत हो गई। शंका की ज्वाला शांत होते ही उसकी दाह-चंचल दृष्टि स्थिर हो गई और चक्रधर के सौम्य मूर्ति, प्रेम की आभा से प्रकाशमान्, आँखों के सामने खड़ी दिखाई दी। उसने अपना सिर उनके कंधे पर रख दिया, उस आलिङ्गन में उसकी सारी दुर्भावनाएँ और चिंताएँ विलीन हो गईं, जैसे कोई आर्त्त-ध्वनि सरिता के शांत, मंद प्रवाह में विलीन हो जाती है।

सन्ध्या-समय अहल्या वागीश्वरी के चरणों पर सिर झुकाये रो रही थी और चक्रधर खड़े, सजल नेत्रों से उस घर को देख रहे थे, जिसकी आत्मा निकल गई थी। दीपक वही थे; पर उनका प्रकाश मंद था। घर वही था; पर उनकी दीवारेंनीची मालूम होती थीं। वागीश्वरी वही थी; पर लुटी हुई, जैसे किसी ने उसके प्राण हर लिये हों।

२७

बाबू यशोदानंदन का क्रिया-कर्म हो गया ; पर धूमधाम से नहीं। बाबू साहब ने मरते-मरते ताकीद कर दी थी कि मृतक संस्कारों में धन का अपव्यय न किया जाय। यदि कुछ धन जमा हो, तो वह हिन्दू सभा को दान दे दिया जाय। ऐसा ही किया गया।

इसके तीसरे ही दिन चक्रधर का अहल्या से विवाह हो गया। चक्रधर तो अभी कुछ दिन और टालना चाहते थे ; लेकिन वागीश्वरी ने बड़ा आग्रह किया। पति-रक्षा से वंचित होकर वह पराई कन्या की रक्षा का भार लेते हुए डरती थी। इस उपद्रव ने उसे सशंक कर दिया था। विवाह में कुछ धूमधाम नहीं हुई। हाँ, शहर के कई रईसों ने कन्यादान में बड़ी-बड़ी रकमें दीं और सबसे बड़ी रकम ख्वाजा साहब की थी। अहल्या के विवाह के लिए उन्होंने ५०००) अलग कर रक्खे थे। यह सब कन्यादान में दे दिये। कई संस्थाओं ने भी इस पुण्य-कार्य में अपनी उदारता का परिचय दिया। वैमनस्य का भूत दो नेताओं का बलिदान पाकर शान्त हो गया।

जिस दिन चक्रधर अहल्या को विदा कराके काशी चले, हजारों आदमी उन्हें स्टेशन पर पहुँचाने आये। वागीश्वरी का रोते-रोते बुरा हाल था। जब अहल्या पालकी पर आकर बैठी, तो वह दुखिया पछाड़ खाकर गिर पड़ी। संसार उसकी आँखों में सूना हो गया। पति-शोक में भी उसके जीवन का एक आधार रह गया था। अहल्या के जाने से वह सर्वथा निराधार हो गई। जी में आता था, अहल्या को पकड़ लूँ। उसे कोई क्यों लिये जाता है? उस पर किसका अधिकार है, वह जाती ही क्यों है? उसे

मुझ पर ज़रा भी दया नहीं आती ? क्या वह इतनी निष्ठुर हो गई है ? वह इस शोक के आवेश में लपककर द्वार पर आई; पर पालकी का पता नहीं था। तब वह द्वार पर बैठ गई। ऐसा जान पड़ा, मानों चारों ओर शून्य, निस्तब्ध, अन्धकारमय श्मशान है ! मानों कहीं कुछ रहा ही नहीं !

अहल्या भी रो रही थी; लेकिन शोक से नहीं, वियोग से। वह घर छोड़ते हुए उसका हृदय फटा जाता था। प्राण देह से निकल कर घर से चिमट जाते और फिर छोड़ने का नाम न लेते थे। एक-एक वस्तु को देख-कर मधुर स्मृतियों के समूह आँखों के सामने आ खड़े होते थे। वागीश्वरी की गरदन में तो उसके कर-पाश इतने सुदृढ़ हो गये कि दूसरी स्त्रियों ने बड़ी मुश्किल से छुड़ाया, मानों जीव देह से चिमटा हो। मरणासन्न रोगी भी अपनी विलास की सामग्रियों को इतने तृषित, इतने नैराश्य-पूर्ण नेत्रों से न देखता होगा। घर से निकल कर उसकी वही दशा हो रही थी, जो किसी नवजात पक्षी की घोंसले से निकल कर होती है।

लेकिन चक्रधर के सामने एक दूसरी ही समस्या उपस्थित हो रही थी। वह घर तो जा रहे थे; पर उस घर के द्वार बन्द थे, उस द्वार में हृदय की गाँठ से भी सुदृढ़ ताले पड़े हुए थे, जिसके खुलने की तो क्या, टूटने की भी आशा न थी। नव-वधू को लिये हुए वर के हृदय में जो अभिलाषाएँ, जो मृदु-कल्पनाएँ प्रदीप्त होती हैं, उनका यहाँ नाम भी न था। उनकी जगह चिन्ताओं का अंधकार छाया हुआ था। घर जाते थे; पर न जानते थे कि कहाँ जा रहा हूँ। पिता का क्रोध, माता का तिरस्कार, संबन्धियों की अवहेलना, इन सभी शंकाओं से चित्त उद्विग्न हो रहा था। सबसे विकट समस्या यह थी कि गाड़ी से उतरकर जाऊँगा कहाँ। मित्रों की कमी न थी; लेकिन स्त्री को लिये हुए किसी मित्र के घर जाने के ख़याल ही से लज्जा आती थी। अपनी तो ज्यादा चिन्ता न थी। वह इन सभी बाधाओं को सह सकते थे; लेकिन अहल्या उनको कैसे सहन करेगी। उसका कोमल हृदय इन आघातों से टूट न जायगा ? उन्होंने सोचा—मैं घर जाऊँ ही

क्यों ? क्यों न प्रयाग ही उतर पड़ूँ और कोई मकान लेकर सबसे अलग रहूँ। कुछ दिनों के बाद यदि घर वालों का क्रोध शांत हो गया, तो चला जाऊँगा, नहीं तो प्रयाग ही सही। बेचारी अहल्या जिस वक्त गाड़ी से उतरेगी, और मेरे साथ शहर की गलियों में मकान ढूँढ़ती फिरेगी, उस वक्त उसे कितना दुःख होगा। इन चिन्ताओं से उनकी मुख-मुद्रा इतनी मलीन हो गई कि अहल्या ने उनसे कुछ कहने के लिए उनकी ओर देखा तो चौंक पड़ी। उसकी वियोग-व्यथा अब शान्त हो गई थी और हृदय में उल्लास का प्रवाह होने लगा था; लेकिन पति की उदास मुद्रा देखकर वह घबरा गई। बोली—आप इतने उदास क्यों हैं ? क्या अभी से मेरी फ़िक्र सवार हो गई ?

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—नहीं तो, उदास क्यों होने लगा ? यह उदास होने का समय है या आनन्द मनाने का !

अहल्या—यह तो आप अपने मुख से पूछो, जो उदास हो रहा है।

चक्रधर ने हँसने की विफल चेष्टा करके कहा—यह तुम्हारा भ्रम है। मैं तो इतना खुश हूँ कि डरता हूँ, लोग मुझे ओछा न समझने लगें।

मगर चक्रधर जितना ही अपनी चिन्ता को छिपाने का प्रयत्न करते थे, उतना ही वह और भी प्रत्यक्ष होती जाती थी, जैसे दरिद्र प्राणी अपनी साख बनाये रखने की चेष्टा में और भी दरिद्र हो जाता है।

अहल्या ने गम्भीर भाव से कहा—तुम्हारी इच्छा है न बताओ; लेकिन यही इसका आशय है कि तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं।

यह कहते-कहते अहल्या की आँखें सजल हो गईं। चक्रधर से अब जब्त न हो सका। उन्होंने संक्षेप में सारी बातें कह सुनाईं और अंत में प्रयाग उतर जाने का प्रस्ताव किया।

अहल्या ने गर्व से कहा—अपना घर रहते प्रयाग क्यों उतरें। मैं घर चलूँगी। माता-पिता की अप्रसन्नता के भय से कोई अपना घर नहीं छोड़

देता। वे कितने ही नाराज हों, हैं तो हमारे माता-पिता! हम लोगों ने कितना ही अनुचित किया हो, हैं तो उन्हीं के बालक। इस नाते को कौन तोड़ सकता है? आप इन चिन्ताओं को दिल से निकाल डालिए।

चक्रधर—निकालना तो चाहता हूँ; पर नहीं निकलतीं। बाबूजी यों तो आदर्श पिता हैं; लेकिन उनके सामाजिक विचार इतने संकीर्ण हैं कि उनमें धर्म का स्थान भी नहीं। मुझे भय है कि वह मुझे घर में जाने ही न देंगे। इसमें हरज ही क्या है कि हम लोग प्रयाग उतर पड़ें और जब तक घर के लोग हमारा स्वागत करने को तैयार न हों, यहीं पड़े रहें।

अहल्या—आपको कोई हरज न मालूम होता हो, मुझे तो माता-पिता से अलग स्वर्ग में रहना भी अच्छा न लगेगा। आखिर हमें उनकी सेवा करने का और कौन अवसर मिलेगा। वे कितना ही रूठें, हमारा यही धर्म है कि उनका दामन न छोड़ें। बचपन में अपने स्वार्थ के लिए तो हम कभी माता-पिता की अप्रसन्नता की परवा नहीं करते। मचल-मचलकर उनकी गोद में बैठते हैं, मार खाते हैं, घुड़के जाते हैं; पर उनका गला नहीं छोड़ते। तो अब उनकी सेवा करने के समय उनकी अप्रसन्नता से मुँह फुला लेना हमें शोभा नहीं देता। आप उनको प्रसन्न करने का भार मुझपर छोड़ दें, मुझे विश्वास है कि मैं उन्हें मना लूँगी।

चक्रधर ने अहल्या को गद्गद नेत्रों से देखा और चुप हो रहे।

रात को दस बजते-बजते गाड़ी बनारस पहुँची। अहल्या के आश्वासन देने पर भी चक्रधर बहुत चिंतित हो रहे थे कि कैसे क्या होगा, कहीं पिताजी ने जाते-ही-जाते घुड़कियाँ देनी शुरू कीं, और अहल्या को घर में न जाने दिया, तो डूब मारने की बात होगी; लेकिन उन्हें कितना आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने मुंशीजी को दो आदमियों के साथ स्टेशन पर उनकी राह देखते हुए पाया। पिता के इस असीम, अपार, अलौकिक वात्सल्य ने उन्हें इतना पुलकित किया कि वह जाकर पिता के पैरों पर गिर पड़े। मुंशीजी ने दौड़कर छाती से लगा लिया और उनके अश्रुओं

को रूमाल से पोंछते हुए स्नेह-कोमल शब्दों में बोले—कम-से-कम एक तार तो दे देते कि मैं किस गाड़ी से आ रहा हूँ। ख़त तक न लिखा। यहाँ बराबर दस दिन से दो बार स्टेशन पर दौड़ा आता हूँ और एक आदमी हर-दम तुम्हारे इन्तजार में बिठाये रहता हूँ कि न-जाने कब किस गाड़ी से आ जाओ। कहाँ है बहू? चलो उतार लावें। बहू के साथ यहीं ठहरो। स्टेशन मास्टर से कहकर वेटिंग रूम खुलवाये देता हूँ। मैं दौड़कर ज़रा बाजे-गाजे, रोशनी, सवारी की फिक्र करूँ। बहू का स्वागत तो करना ही होगा। यहाँ लोग क्या जानेंगे कि बहू आई है। वहाँ की बात और थी, यहाँ की बात और है। भाई-बंदों के साथ रस्म-रिवाज मानना ही पड़ता है।

यह कहकर मुंशीजी चक्रधर के साथ अहल्या के कमरे के द्वार पर खड़े हो गये। अहल्या ने धीरे से उतर कर उनके चरणों पर सिर रख दिया। उसकी आँखों से श्रद्धा और आनन्द के आँसू बहने लगे। मुन्शीजी ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और दोनों प्राणियों को वेटिंग रूम में बैठाकर बोले—किसी को अंदर मत आने देना। मैंने साहब से कह दिया है। मैं कोई घण्टे-भर में आ जाऊँगा। तुमसे बड़ी भूल हुई कि मुझे एक तार न दे दिया। अब बेचारी यहाँ परदेसियों की तरह घंटों बैठी रहेगी। तुम्हारा कोई काम लड़कपन से ख़ाली नहीं होता। रानीजी कई बार आ चुकी हैं। आज चलते-चलते ताकीद कर गई थीं कि बाबूजी आ जायें, तो मुझे खबर दीजिएगा। मैं स्टेशन पर उनका स्वागत करूँगी और बहूजी को साथ लाऊँगी। सोचो, उन्हें कितनी तकलीफ होगी।

चक्रधर ने दबी ज़बान से कहा—उन्हें तो आप इस वक्त तकलीफ न दीजिए, और आपको भी धूम-धाम करने के लिए तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं। सवेरे तो सबको मालूम हो ही जायगा।

मुंशीजी ने लकड़ी सँभालते हुए कहा—सुनती हो बहूजी, इनकी

बातें ! सबेरे लोग जान कर क्या करेंगे। दुनिया क्या जानेगी की बहू कब आई।

मुंशीजी चले गये, तो अहल्या ने चक्रधर को आड़े हाथों लिया। ऐसे देवता पुरुष के साथ तुम अकारण ही कितना अनर्थ कर रहे थे। मेरा तो जी चाहता था कि घंटों उनके चरणों पर पड़ी हुई रोया करूँ।

चक्रधर लज्जित हो गये। इसका प्रतिवाद तो न किया ; पर उनका मन कह रहा था कि इस वक्त दुनिया को दिखाने के लिए पिताजी कितना ही धूम-धाम क्यों न कर लें, घर में कोई-न-कोई गुल खिलेगा जरूर। उन्हें यहाँ बैठते अंकुश मालूम होता था। सारी रात का बखेड़ा हो गया। शहर का चक्कर लगाना पड़ेगा, घर पहुँचकर न-जाने कितनी रस्में अदा करनी पड़ेंगी, तब जाके कहीं गला छूटेगा। सबसे ज्यादा उलझन की बात यह थी कि कहीं मनोरमा भी राजसी ठाठ-बाट से न आ पहुँचे। इस शोर-गुल से फ़ायदा ही क्या।

मुंशीजी को गये अभी आध घंटा भी न हुआ था कि मनोरमा कमरे के द्वार पर आकर खड़ी दिखाई दी। चक्रधर सहसा चौंक पड़े और कुरसी से उठकर खड़े हो गये। मनोरमा के सामने ताकने को उनकी हिम्मत न पड़ी, मानों कोई अपराध किया हो। मनोरमा ने उन्हें देखते ही कहा—वाह बाबूजी, आप चुपके-चुपके बहू को उड़ा लाये और मुझे खबर तक न दी ! मुंशीजी न कहते, तो मुझे मालूम ही न होता। आपने तो अपना घर बसाया, मेरे लिए भी कोई सौगात लाये ?

चक्रधर ने मनोरमा की ओर लज्जित होकर देखा, तो उसका मुख उड़ा हुआ था। वह मुस्किरा रही थी ; पर आँखों में आँसू छलक रहे थे। उन नेत्रों में कितनी विनय थी, कितना नैराश्य, कितनी तृष्णा, कितना तिरस्कार ! चक्रधर को उसका जवाब देने को शब्द न मिले। मनोरमा ने सिर झुका कर फिर कहा—आपको मेरी सुधि ही न रही होगी, सौग़ात कौन लाता। बहू से बातें करने में दूसरों की सुधि क्यों आती ! बहन, आप

इतनी दूर क्यों खड़ी हैं। आइए आपसे गले तो मिल लूँ। आपसे तो मुझे कोई शिकायत नहीं।

यह कहकर वह अहल्या के पास गई और दोनों गले मिलीं। मनोरमा ने रूमाल से एक जड़ाऊ कंगन निकाल कर अहल्या के हाथ में पहना दिया और छत की ओर ताकने लगी, जैसे उसे एकाएक कोई बात याद आ गई हो, सहसा उसकी दृष्टि आइने पर जा पड़ी। अहल्या का रूपचन्द्र अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ उसमें प्रतिविम्बित हो रहा था। मनोरमा उसे देखकर अवाक् रह गई। मालूम हो रहा था, किसी देवता का आशीर्वाद मूर्तिमान् होकर आकाश से उतर आया है। उसकी सरल, शांत, शीतल छवि के सामने उसका विशाल सौंदर्य ऐसा मालूम होता था, मानों किसी कुटी के सामने कोई भव्यभवन खड़ा हो। वह उन्नत भवन इस समय इस शांति-कुटी के सामने झुक गया। भवन सूना था, कुटी में एक आत्मा शयन कर रही थी।

इतने में अहल्या ने उसे कुरसी पर बिठा दिया और पान-इलायची देते हुए बोली—आपको मेरे कारण बड़ी तकलीफ़ हुई। यह आपके आराम करने का समय था। मैं जानती कि आप आयेंगी, तो यहाँ किसी दूसरे वक्त.........

चक्रधर मौका देखकर बाहर चले गये थे। उनके रहने से दोनों ही को संकोच होता; बल्कि तीनों चुप रहते।

मनोरमा ने क्षुधित नेत्रों से अहल्या को देखकर कहा—नहीं बहन, मुझे ज़रा भी तकलीफ़ नहीं हुई। मैं तो यों भी बारह-एक के पहले नहीं सोती। तुमसे मिलने की बहुत दिनों से इच्छा थी। मैंने अपने मन में तुम्हारी जो कल्पना की थी, तुम ठीक वैसी ही निकलीं। तुम ऐसी न होतीं, तो बाबूजी तुम पर रीझते ही क्यों। अहल्या, तुम बड़ी भाग्यवान् हो। तुम्हारी-जैसी भाग्यशाली स्त्रियाँ बहुत कम होंगी। तुम्हारा पति मनुष्यों में रत्न है, सर्वथा निर्दोष, सर्वथा निष्कलंक।

अहल्या पति-प्रशंसा से गर्वोन्नत होकर बोली—आपके लिए कोई सौगात तो नहीं लाये !

मनोरमा—मेरे लिए तुमसे बढ़कर और क्या सौगात लाते । मैं संसार में अकेली थी । तुम्हें पाकर दुकेली हो जाऊँगी । मंगला से मैंने प्रेम नहीं बढ़ाया । कल को वह पराये घर चली जायगी । कौन उसके नाम को बैठ-कर रोता । तुम कहीं न जाओगी , तुम्हें सहेली बनाने में कोई खटका नहीं । आज से तुम मेरी सहेली हो । ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि हम और तुम चिरकाल तक स्नेह के बन्धन में बँधे रहें ।

अहल्या—मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी । आपके शील-स्वभाव की चरचा करते कभी उनकी जबान नहीं थकती ।

मनोरमा ने उत्सुक होकर पूछा—सच ! मेरी चरचा कभी करते हैं ?

अहल्या—बराबर । बात-बात पर आपका ज़िक्र करने लगते हैं । मैं नहीं जानती कि आपकी वह कौन-सी आज्ञा है, जिसे वह टाल सकें ।

इतने में बाजों की धौंधों-पोपों सुनाई दी । मुंशीजी बरात सजाये चले आ रहे थे । सामान तो पहले ही से जमा कर रक्खे थे । जाकर ले आना था । पंखाखें, बाजों की तीन-चार चौकियाँ, कई सवारी गाड़ियाँ, दो हाथी, दर्जनों घोड़े, एक सुन्दर सुखपाल, यह सब स्टेशन के सामने आ पहुँचे ।

अहल्या के हृदय में आनन्द की तरंगे उठ रही थीं । उसने जिन बातों की स्वप्न में भी आशा न की थी, वह सब पूरी हुई जाती थीं । कभी उसका स्वागत इस ठाठ से होगा, कभी एक बड़ी रानी उसकी सहेली बनेगी, कभी उसका इतना आदर-सम्मान होगा, इसकी उसने कल्पना भी न की थी ।

मनोरमा ने उसे धीरे-धीरे ले जाकर सुखपाल में बिठा दिया । बरात चली । चक्रधर एक सुरंग घोड़े पर सवार थे ।

एक क्षण में सन्नाटा हो गया ; लेकिन मनोरमा अभी तक अपनी मोटर के पास खड़ी थी, मानों रास्ता भूल गई हो ।

२८

ठाकुर गुरुसेवकसिंह जगदीशपुर के नाज़िम होगये थे। इस इलाके का सारा प्रबंध उनके हाथ में था। तीनों पहली रानियाँ वहीं राज-भवन में रहती थीं। उनका देख-भाल करते रहना, उनके लिए ज़रूरी चीजों का प्रबंध करना भी नाज़िम का काम था। यों कहिये कि मुख्य काम यही था। नज़ामत तो केवल नाम का पद था। पहले यह पद न था। राजा साहब ने रानियों को आराम से रखने के लिए इस नये पद की सृष्टि की थी। ठाकुर साहब जगदीशपुर में राजा साहब के प्रतिनिधि-स्वरूप थे।

तीनों रानियों में अब वैर-विरोध बहुत कम होता था। अब हरएक को अख्तियार था, जितने नौकर चाहें रक्खें, जितना चाहें ख़र्च करें, जितने गहने चाहें बनवायें, जितने धर्मोत्सव चाहें मनायें, फिर कलह होता ही क्यों। यदि राजा साहब किसी एक रानी पर विशेष प्रेम रखते और अन्य रानियों की परवा न करते, तो ईर्ष्यावश लड़ाई होती; पर राजा साहब ने जगदीशपुर में आने की कसम-सी खा ली थी। फिर किस बात पर लड़ाई होती।

ठाकुर साहब ने दीवानख़ाने में अपना दफ्तर बना लिया था। जब कोई ज़रूरत होती, तुरत रनिवास में पहुँच जाते। रानियाँ उनसे परदा तो करती थीं; पर परदे की ओट से बातचीत कर लेती थीं। रानी वसुमती इस ओट को भी अनावश्यक समझती थीं। कहतीं—जब बातें ही कीं, तो परदा कैसा? ओट क्यों, गुड़ खाय गुलगुले से परहेज! उन्हें अब संसार से विराग-सा होगया था। सारा समय भगवत्-पूजन और भजन में काटती

थीं। हाँ, आभूषणों से अभी उनका जी न भरा था। और अन्य स्त्रियों की भाँति वह गहने बनवाकर जमा न करती थीं, उनका नित्य व्यवहार करती थीं। रोहिणी से अब उनका खूब मेल-जोल था। दोनों बहुधा साथ-साथ रहतीं! रोहिणी को आभूषणों से घृणा हो गई थी, माँग-चोटी की भी परवा न करती। यहाँ तक कि उसने माँग में सेंदुर डालना छोड़ दिया था। कहती, मुझमें और विधवा में क्या अंतर है; बल्कि विधवा मुझसे हजार दर्जे अच्छी, उसे एक यही रोना है कि पुरुष नहीं। जलन तो नहीं! यहाँ तो ज़िन्दगी रोने और कुढ़ने में ही कट रही है। मेरे लिए पति का होना न होना दोनों बराबर, सोहाग लेकर चाटूँ। रहीं रानी रामप्रिया, उनका विद्या-व्यसन अब बहुत कुछ शिथिल हो गया था, गाने की धुन सवार थी, भाँति-भाँति के बाजे मँगाती रहती थीं। ठाकुर साहब को भी गाने का कुछ शौक था, या अब हो गया हो। किसी-न-किसी तरह समय निकाल कर जा बैठते और उठने का नाम न लेते। रात को अक्सर भोजन भी वहीं कर लिया करते। रामप्रिया उनके लिए स्वयं थाली परस कर लाती थीं। ठाकुर साहब की जो इतनी ख़ातिर होने लगी, तो मिज़ाज आसमान पर चढ़ गया। नये-नये स्वप्न देखने लगे। समझे, सौभाग्य-सूर्य उदय हो गया। नौकरों पर अब ज्यादा रोब जमाने लगे। सो कर देर में उठते और इलाके का दौरा भी बहुत कम करते। ऐसा जान पड़ता था, मानों इस इलाके के राजा वही हैं। दिन-दिन यह विश्वास होता जाता था कि रामप्रिया मेरे नयन-बाणों का शिकार हो गई, उसके हृदय-पट पर मेरी तसवीर खिंच गई। रोज कोई-न-कोई ऐसा प्रमाण मिल जाता था, जिससे यह भावना और भी दृढ़ हो जाती थी।

एक दिन आपने रामप्रिया की प्रेम-परीक्षा लेने की ठानी। कमरे में लिहाफ़ ओढ़ कर पड़ रहे। रामप्रिया ने किसी काम के लिए बुलाया, तो कहला भेजा, मुझे रात से ज़ोरों का बुख़ार है, मारे दर्द के सिर फटा पड़ता है। रामप्रिया यह सुनते ही दीवानख़ाने में आ पहुँची और

उनके सिर पर हाथ रखकर देखा, माथा ठंडा था । नाड़ी भी ठीक चल रही थी । समझी, कुछ सिर भारी हो गया होगा, कुछ परवा न की । हाँ, अन्दर जाकर कोई तेल सिर में लगाने को भेजवा दिया ।

ठाकुर साहब को इस परीक्षा से संतोष न हुआ । उसे प्रेम है, यह तो सिद्ध था, नहीं तो वह देखने दौड़ी आती ही क्यों ; लेकिन प्रेम कितना है, इसका कुछ अनुमान न हुआ । कहीं वह केवल शिष्टाचार के अन्तर्गत न हो । वह केवल शिष्टाचार कर रही हो और मैं प्रेम के भ्रम में पड़ा रहूँ । रामप्रिया के अधरों पर, नेत्रों में, बातों में, तो उन्हें प्रेम की झलक नज़र आती थी ; पर डरते थे कि कहीं मुझे भ्रम न हो । अब की उन्होंने कड़ी परीक्षा लेने की ठानी । क्वार का महीना था । धूप तेज होती थी । मलेरिया फैला हुआ था । आप एक दिन दिनभर पैदल खेतों में घूमते रहे, कई बार तालाब का पानी भी पिया । ज्वर का पूरा सामान कर के आप घर लौटे । नतीजा उनकी इच्छानुकूल ही हुआ । दूसरे दिन प्रातःकाल उन्हें ज्वर चढ़ आया और ऐसे ज़ोर से आया कि दोपहर तक बक-झक करने लगे । मारे दर्द के सिर फटने लगा । सारी देह टूट रही थी, और सिर में चक्कर आ रहा था । अब तो बेचारों को लेने के देने पड़े । प्रेम-परीक्षा में उनकी धैर्य-परीक्षा होने लगी और इस में वह कच्चे निकले । कभी रोते कि बाबूजी को बुला दो । कभी कहते, स्त्री को बुला दो, इतना चीखे-चिल्लाये कि नौकरों का नाकोंदम हो गया । राम-प्रिया ने आकर देखा, तो होश उड़ गये । देह तवा हो रही थी और नाड़ी घोड़े की भाँति सरपट दौड़ रही थी । बेचारी घबरा उठी । तुरन्त डॉक्टर को लाने के लिए एक आदमी को शहर दौड़ाया और आप ठाकुर साहब के सिरहाने बैठ कर पंखा झलने लगी । द्वार पर चिक डाल दी और एक आदमी को द्वार पर बिठा दिया कि किसी अपरिचित मनुष्य को अन्दर न जाने दे । ठाकुर साहब को सुधि होती और रामप्रिया की विकलता देखते, तो फूले न समाते ; पर वहाँ तो जान के लाले पड़े हुए थे ।

एक सप्ताह तक गुरुसेवक का ज्वर न उतरा। डॉक्टर रोज आते और देख-भाल कर चले जाते। कोई दवा देने की हिम्मत न पड़ती। रामप्रिया को सोना और खाना हराम हो गया। दिन-के-दिन और रात-की-रात रोगी के पास बैठी रहती। पानी पिलाना होता, तो खुद पिलाती, सिर में तेल डालना होता, तो खुद डालती, पथ्य देना होता, तो खुद बनाकर देती। किसी नौकर पर उसे विश्वास न था।

अब लोगों को चिंता होने लगी। रोगी को यहाँ से उठाकर ले जाने में जोखिम था। सारा परिवार यहीं आ पहुँचा। हरिसेवक ने बेटे की सूरत देखी, तो रो पड़े। देह सूखकर काँटा हो गई थी। पहचानना कठिन था। राजा साहब भी दिन में दो बार मनोरमा के साथ रोगी को देखने आते; पर इस तरह भागते, मानों किसी शत्रु के घर आये हों। रामप्रिया तो रोगी की सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती, उसे इसकी परवा न थी कि कौन आता है और कौन जाता है; लेकिन रोहिणी को राजा साहब की यह निष्ठुरता असह्य मालूम होती थी। वह उन पर दिल का गुबार निकालने के लिए अवसर ढूँढ़ती रहती थी; पर राजा साहब भूलकर भी अन्दर न आते थे। आखिर एक दिन वह मोरमा ही पर पिल पड़ी। बात कोई न थी। मनोरमा ने सरल भाव से कहा था—यहाँ आप लोगों का जीवन बड़ी शांति से कटता होगा। शहर में तो रोज एक-न-एक झंझट सिर पर सवार रहता है। कभी इनकी दावत करो, कभी उनकी दावत में जाओ, आज क्लब में जलसा है, आज अमुक विद्वान् का व्याख्यान है। नाकोंदम रहता है।

रोहिणी तो भरी बैठी ही थी। ऐंठ कर बोली—हाँ बहन, क्यों न हो! ऐसे प्राणी भी होते हैं, जिन्हें पड़ोसी के घर उपवास देख कर जलन होती है। तुम्हें पकवान बुरे मालूम होते हैं, हम अभागिनों के लिए सत्तू में भी बाधा! किसी को भोग, किसी को जोग, यह पुराना दस्तूर चला आता है, तुम क्या करोगी।

मनोरमा ने फिर उसी सरल भाव से कहा—अगर तुम्हें वहाँ सुख-ही-सुख मालूम होता है, तो चली क्यों नहीं आतीं। क्या तुम्हें किसी ने मना किया है। अकेले मेरा भी जी घबराया करता है। तुम रहोगी, तो मजे से दिन कट जायगा।

रोहिणी नाक सिकोड़ कर बोली—भला मुझमें वह हाव-भाव कहाँ है कि इधर राजा साहब को मुट्ठी में लिये रहूँ, उधर हाकिमों को मिलाये रक्खूँ। यह तो कुछ लिखी-पढ़ी, शहरवालियों ही को आता है, हम गँवा-रिनें यह त्रिया-चरित्र क्या जानें। यहाँ तो एक ही की होकर रहना जानती हैं।

मनोरमा खड़ी सन्न रह गई। ऐसा मालूम हुआ कि ज्वाला पैरों से उठी और सिर से निकल गई। ऐसी भीषण मर्म-वेदना हुई, मानों किसी ने सहस्र शूलों वाला भाला उसके कलेजे में चुभा दिया। संज्ञा-शून्य-सी हो गई। आँखें खुली थीं; पर कुछ दिखाई न देता था, कानों में कोई आवाज़ न आती थी, इसका ज्ञान ही नहीं रहा कि कहाँ आई हूँ, क्या कर रही हूँ, रात है या दिन। वह दस-बारह मिनट तक इसी भाँति स्तंभित खड़ी रही। राजा साहब मोटर के पास खड़े उसकी राह देख रहे थे। जब उसे देर हुई तो बुला भेजा। लौंडी ने आकर मनोरमा से सन्देशा कहा; पर मनोरमा ने सुना ही नहीं। लौंडी ने एक मिनट के बाद फिर कहा। फिर भी मनोरमा ने कोई उत्तर न दिया। तब लौंडी चली गई। उसे तीसरी बार कुछ कहने का साहस न हुआ। राजा साहब ने दो-तीन मिनट और इंतज़ार किया। तब स्वयं अन्दर आये। देखा, मनो-रमा चुपचाप मूर्ति की भाँति खड़ी है। दूर ही से पुकारा—नोरा, क्या कर रही हो? चलो देर हो रही है, सात बजे लेडी काक ने आने का वादा किया है, और छः यहीं बज गये। मनोरमा ने इसका भी कुछ जवाब न दिया। तब राजा साहब ने मनोरमा के पास आकर उसका हाथ पकड़ लिया और कुछ कहना ही चाहते थे कि उसका चेहरा देख कर चौंक पड़े।

वह सर्प-दंशित मनुष्य की भाँति निर्निमेष नेत्रों से दीवार की ओर टक-टकी लगाये ताक रही थी, मानों आँखों की राह प्राण निकल रहे हों।

राजा साहब ने घबराकर पूछा—नोरा, कैसी तबीयत है ?

अब मनोरमा को होश आया। उसने राजा साहब के कन्धे पर सिर रख दिया और इस तरह फूट-फूट कर रोने लगी, मानों पानी का बाँध टूट गया हो। यह पहला अवसर था कि राजा साहब ने मनोरमा को रोते देखा। व्यग्र होकर बोले—बात क्या है मनोरमा, किसी ने कुछ कहा है ? इस घर में किसकी ऐसी मजाल है कि तुम्हारी ओर टेढ़ी निगाह से देख सके। उसका खून पी जाऊँ। बताओ किसने क्या कहा है ? तुमने कुछ कहा है रोहिणी, साफ़-साफ़ बता दो।

रोहिणी पहले तो मनोरमा की दशा देख कर सहम उठी थी; पर राजा साहब के खून पी जाने की धमकी ने उसे उत्तेजित कर दिया। जी में तो आया कह दूँ, हाँ मैंने ही कहा है, और जो बात यथार्थ थी, वही कही है, जो कुछ करना हो कर लो, खून पीके यों न खड़े रहोगे; लेकिन राजा साहब का विकराल रौद्र रूप देख कर बोली—उन्हीं से क्यों नहीं पूछते, मेरी बात का विश्वास ही क्या।

राजा—नहीं, मैं तुमसे पूछता हूँ!

रोहिणी—उनसे पूछते क्या डर लगता है ?

मनोरमा ने सिसकते हुए कहा—अब मैं यहीं रहूँगी। आप जाइए। मेरी चीज़ें यहीं भिजवा दीजिएगा।

राजा साहब ने अधीर होकर पूछा—आख़िर बात क्या है, कुछ मालूम भी तो हो।

मनोरमा—बात कुछ भी नहीं है। मैं अब यहीं रहूँगी। आप जायँ।

राजा—मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता। अकेले मैं एक दिन भी ज़िन्दा नहीं रह सकता।

मनोरमा—मैंने तो निश्चय कर लिया है कि इस घर के बाहर न जाऊँगी।

राजा साहब समझ गये कि रोहिणी ने अवश्य कोई व्यंग-शर चलाया है। उसकी ओर लाल आँखें करके बोले—तुम्हारे कारण यहाँ से जान लेकर भागा, फिर भी तुम पीछे पड़ी हुई हो। यहाँ भी शान्त नहीं रहने देतीं; मेरी खुशी है जिससे जी चाहता है, बोलता हूँ, जिससे जी नहीं चाहता नहीं बोलता। तुम्हें इसकी जलन क्यों होती है?

रोहिणी—जलन होगी मेरी बला को। तुम यहाँ ही थे, तो कौन-सा फूलों के सेज पर सुला दिया था। यहाँ तो जैसे कंता घर रहे वैसे रहे बिदेस। भाग्य में रोना बदा था, रोती हूँ।

राजा—अभी तो नहीं रोईं; मगर शौक है तो रोओगी।

रोहिणी—तो इस भरोसे भी न रहिएगा। यहाँ ऐसी रोनेवाली नहीं हूँ कि सेंत-मेंत आँखें फोड़ूँ। पहले दूसरों को रुलाकर तब रोऊँगी।

राजा साहब ने दाँत पीसकर कहा—शर्म और हया छू नहीं गई। कुँजड़िनों को भी मात कर दिया।

रोहिणी—शर्म और हयावाली तो एक वह है, जिन्हें छाती से लगाये खड़े हो, हम गँवारिनें भला शर्म और हया क्या जानें!

राजा साहब ने ज़मीन पर पैर पटककर कहा—उसकी चरचा मत करो। इतना बतलाये देता हूँ। तुम एक लाख जन्म लो, तब भी उसको नहीं पा सकतीं। भूलकर भी उसकी चरचा मत करो।

रोहिणी—तुम तो ऐसी डाँट बता रहे हो, मानों मैं कोई लौंडी हूँ। क्यों न उनकी चरचा करूँ? वह सीता और सावित्री होंगी, तो तुम्हारे लिए होंगी, यहाँ क्यों परदा डालने लगी। जो बात देखूँ-सुनूँगी, वह कहूँगी भी, किसी को अच्छा लगे या बुरा।

राजा—अच्छा! तो तुम अपने को रानी समझे बैठी हो। रानी बनने के लिए जिन गुणों की ज़रूरत है, वह तुम्हें छू भी नहीं गये। तुम विशाल-सिंह ठाकुर से ब्याही गई थीं और अब भी वही हो।

रोहिणी—यहाँ रानी बनने की साध ही नहीं। मैं तो ऐसी रानियों

का मुँह देखना भी पाप समझती हूँ, जो दूसरों से हाथ मिलाती और आँखें मटकाती फिरें।

राजा साहब का क्रोध बढ़ता जाता था; पर मनोरमा के सामने वह अपना पैशाचिक रूप दिखाते हुए शर्माते थे। वह कोई लगती हुई बात कहना चाहते थे, जो रोहिणी की ज़बान बंद कर दे, वह अवाक् रह जाय। मनोरमा को कटु वचन सुनाने के दण्ड-स्वरूप रोहिणी को कितनी ही कड़ी बात क्यों न कही जाय, वह क्षम्य थी। बोले—तुम्हें तो ज़हर खाकर मर जाना चाहिए। कम-से-कम तुम्हारी ये जली-कटी बातें तो न सुनने में आयेंगी।

रोहिणी ने आग्नेय नेत्रों से राजा साहब की ओर देखा, मानों वह उसकी ज्वाला से उन्हें भस्म कर देगी, मानों उसके शरों से उन्हें बेध डालेगी, और लपककर पानदान को ठुकराती, लोटे का पानी गिराती, वहाँ से चली गई।

मनोरमा ने सहृदय-भाव से कहा—आप व्यर्थ ही इनके मुँह लगे। मैं आपके साथ न जाऊँगी।

राजा—नोरा, कभी-कभी मुझे तुम्हारे ऊपर भी क्रोध आता है। भला इन गँवारिनों के साथ रहने में क्या आनंद आयेगा। यह सब मिल-कर तुम्हारा जीना दूभर कर देंगी।

राजा साहब बहुत देर तक समझाया किये; पर मनोरमा ने एक न मानी। रोहिणी की बातें अभी तक उसके हृदय के एक-एक परमाणु में व्याप्त थीं। उसे शंका हुई कि ये भाव केवल रोहिणी के नहीं हैं, यहाँ सभी लोगों के मन में यही भाव होंगे। रोहिणी केवल उन भावों को प्रकट कर देने की अपराधिनी है। इस संदेह और लांछन का निवारण यहाँ सबके सम्मुख रहने ही से हो सकता था और यही उसके संकल्प का कारण था। अंत में राजा साहब ने हताश होकर कहा—तो फिर मैं भी काशी छोड़ देता हूँ। तुम जानती हो कि मुझसे अकेले वहाँ एक दिन भी न रहा जायगा।

मनोरमा ने निश्चयात्मक भाव से कहा—जैसी आपकी इच्छा।

एकाएक मुंशी वज्रधर लाठी टेकते आते दिखाई दिये। चेहरा उतरा हुआ था, पाजामे का इज़ारबन्द नीचे लटकता हुआ। आँगन में खड़े होकर बोले—रानीजी, आप कहाँ हैं, ज़रा कृपा करके यहाँ आइएगा या, हुक्म हो, तो मैं ही आऊँ।

राजा साहब ने कुछ चिढ़कर कहा—क्या है, यहीं चले आइए, आपको इस वक्त आने की क्या ज़रूरत थी। सब लोग यहीं चले आये, कोई वहाँ भी तो चाहिए।

मुंशीजी कमरे में आकर बड़े दीन भाव से बोले—क्या करूँ हुज़ूर, घर तबाह हुआ जा रहा है। हुज़ूर से न रोऊँ, तो किससे रोऊँ। घर तबाह हुआ जाता है। लल्लू न जाने क्या करने पर तुला हुआ है।

मनोरमा ने सशंक होकर पूछा—क्या बात है मुंशीजी, अभी तो आज बाबूजी यहाँ मेरे पास आये थे, कोई नई बात नहीं कही।

मुंशी—वह अपनी बात किसी से कहता है, कि आपसे कहेगा। मुझसे भी कभी कुछ नहीं कहा; लेकिन आज प्रयाग जाने को तैयार बैठा हुआ है। बहू को भी लिये जाता है। कहता है, अब यहाँ न रहूँगा।

मनोरमा—आपने पूछा नहीं क्यों जा रहे हो? ज़रूर उन्हें किसी बात से रंज पहुँचा होगा, नहीं तो वह बहू को लेकर न जाते। बहू ने तो कहीं उनके कान नहीं भर दिये?

मुंशी—नहीं हुज़ूर, वह तो साक्षात् लक्ष्मी है। मैंने तो अपनी ज़िन्दगी-भर में ऐसी औरत ही नहीं देखी। एक महीने से ज़्यादा हो गये; पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि अपनी सास की देह दबाये बग़ैर सोई हो। सबसे पहले उठती है, और सबके पीछे सोती है। उसको तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता। यह सब लल्लू की शरारत है। जो उसके मन में आता है, वही करता है। मुझे तो कुछ समझता ही नहीं। आगरे में जाकर शादी की। कितना समझाया, न माना। मैंने दर-गुज़र किया। बहू को

धूमधाम से घर लाया। सोचा, जब लड़के से इसका संबंध हो गया, तो अब बिगड़ने और रूठने से नहीं टूट सकता। लड़की का दिल क्यों दुखाऊँ; लेकिन लल्लू का मुँह फिर भी सीधा नहीं होता। अब न-जाने मुझसे क्या करवाना चाहता है।

मनोरमा—जरूर कोई-न-कोई बात होगी। घर में किसी ने ताना तो नहीं मारा?

मुंशी—इस्म की क़सम खाकर कहता हूँ हुजूर, जो किसी ने चूँ तक की हो। ताना उसे दिया जाता है, जो टर्राये। वह तो सेवा और शील की देवी है; उसे कौन ताना दे सकता है। हाँ, इतना जरूर है कि हम दोनों आदमी उसका छुआ खाते नहीं।

मनोरमा ने सिर हिलाकर कहा—अच्छा, यह बात है! भला बाबूजी यह कब बर्दाश्त करने लगे। मैं अहल्या की जगह होती, तो उस घर में एक क्षण भी न रहती। वह न-जाने कैसे इतने दिन रह गई।

मुंशी—उसने तो कभी इस बात की चरचा तक नहीं की हुजूर। (आप बार-बार मना करती हैं कि मुझे हुजूर न कहा करो; पर ज़बान से निकल ही आता है) इसीलिए तो मैंने उसके आते-ही-आते एक महराजिन रख ली, जिसमें खाने-पीने का सवाल ही न पैदा हो। संयोग की बात है कल महराजिन ने बहू से तरकारी बघारने के लिए घी माँगा। बहू घी लिये हुए चौके में चली गई। चौका छूत हो गया। लल्लू ने तो खाना खाया और सबके लिए बाज़ार से पूरियाँ आईं। बहू तभी से पड़ रही है और लल्लू घर छोड़कर उसे लिए चला जा रहा है।

मनोरमा ने विरक्त भाव से कहा—तो मैं क्या कर सकती हूँ?

मुंशी—आप सब कुछ कर सकती हैं। आप जो कर सकती हैं, दूसरा नहीं कर सकता। आप ज़रा चलकर उसे समझा दें। मुझ पर इतनी दया करें। सनातन से जिन बातों को मानते आये हैं, वे अब नहीं छोड़ी जातीं।

मनोरमा—तो न छोड़िए, आपको कोई मजबूर नहीं करता। आपको

अपना धर्म प्यारा है और होना चाहिए, तो उन्हें भी अपना सम्मान प्यारा है और होना चाहिए। मैं जैसे आपको बहू के हाथ का भोजन ग्रहण करने को मजबूर नहीं कर सकती, उसी भाँति उन्हें भी यह अपमान सहने के लिए नहीं दबा सकती। आप जानें और वह जानें, मुझे बीच में न डालिए।

मुंशी—हुजूर, इतना निराश न करें, बच्चा चले गये तो हम दोनों प्राणी रोते-रोते मर ज़ायँगे।

मनोरमा—तो इसकी क्या चिन्ता। एक दिन तो सभी को मरना है, यहाँ अमर कौन है। इतने दिन तो जी लिये, दो-चार साल और जिये तो क्या?

मुंशी—रानीजी, आप जले पर नमक छिड़क रही हैं। इतना तो नहीं होता कि चलकर समझा दें, ऊपर से और ताने देती हैं। बहू का आदर-सत्कार करने में कोई बात उठा नहीं रखते, एक उसका छुआ न खाया तो इसमें रूठने की क्या बात है। हम कितनी बातों में दब गये, तो क्या उन्हें एक बात में भी न दबना चाहिए।

मनोरमा—तो जाकर दबाइए न, मेरे पास क्या दौड़े आये हैं। मेरी राय अगर पूछते हो, तो जाकर चुपके से बहू के हाथ से खाना पकवा-कर खाइए। दिल से वह भाव बिलकुल निकाल डालिए कि वह नीची है और आप ऊँचे हैं। इस भाव का लेश भी दिल में न रहने दीजिए। जब वह आपकी बहू हो गई, तो बहू समझिए। अगर यह छूतछात का बखेड़ा करना था, तो बहू को लाना ही न चाहिए था। आपकी बहू रूप-रंग में शील-गुण में किसी से कम नहीं। मैं तो कहती हूँ कि आपकी बिरादरी-भर में ऐसी एक भी स्त्री न होगी। अपने भाग्य को सराहिए कि ऐसी बहू पाई। और अगर खान-पान का ढोंग करना है, तो जाकर कीजिए। मैं इस विषय में बाबूजी से कुछ नहीं कह सकती। कुछ कहनाही नहीं चाहती। वह वही कर रहे हैं, जो इस दशा में उन्हें करना चाहिए।

मुंशीजी बड़ी आशा बाँधकर यहाँ दौड़े आये थे। यह फैसला सुना, तो कमर-सी टूट गई। फर्श पर बैठ गये और अनाथ-भाव से माथे पर हाथ रखकर सोचने लगे, अब क्या करूँ। राजा साहब अभी तक चुपचाप इन दोनों आदमियों की बातें सुन रहे थे। अब उन्हें अपनी विपत्ति-कथा कहने का अवसर मिला। बोले—आपकी बात तो तय हो गई। अब ज़रा मेरी भी सुनिए। मैं तो गुरुसेवक के पास बैठा हुआ था, वहाँ नोरा और रोहिणी में किसी बात पर झड़प हो गई। रोहिणी का स्वभाव तो आप जानते ही हैं। क्रोध उसकी नाक पर रहता है। न-जाने इन्हें क्या कहा कि अब यह कह रही हैं, मैं काशी जाऊँगी ही नहीं। कितना समझा रहा हूँ, मानती ही नहीं।

मुंशीजी ने मनोरमा की ओर देखकर कहा—इन्हें भी तो उसी लल्लू ने शिक्षा दी है। न वह किसी की मानता है, न यह किसी की मानती हैं।

मनोरमा ने मुस्किरा कर कहा—आपको एक देवी के अपमान करने का दंड मिल रहा है।

राजा साहब ने कहा—और मुझे?

मनोरमा ने मुँह फेरकर कहा—आपको बहुत से विवाह करने का।

मनोरमा यह कहती हुई वहाँ से चली गई। उसे अभी अपने लिए कोई स्थान ठीक करना था, शहर से अपनी आवश्यक वस्तुएँ मँगवानी थीं। राजा साहब मुंशीजी को लिये हुए बाहर आये और सामने वाले बाग़ में बेंच पर जा बैठे। मुन्शीजी घर जाना चाहते थे, जी घबरा रहा था; पर राजा साहब से आज्ञा माँगते हुए डरते थे। राजा साहब बहुत ही चिंतित दिखाई देते थे। कुछ देर तक तो वह सिर झुकाये बैठे रहे, तब गंभीर भाव से बोले—मुन्शीजी, आपने नोरा की बातें सुनीं? कितनी मीठी चुटकियाँ लेती है। सचमुच बहुत से विवाह करना अपनी जान आफ़त में डालना है। मैंने समझा था, अब दिन आनन्द से कटेंगे।

इन चुड़ैलों से पिंड छूट जायगा ; पर नोरा ने मुझे फिर उसी विपत्ति में डाल दिया। यहाँ रहकर मैं बहुत दिन जी नहीं सकता। रोहिणी मुझे जीता न छोड़ेगी। आज उसने जिस दृष्टि से मेरी ओर देखा, वह साफ कहे देती थी कि वह ईर्ष्या के आवेश में जो कुछ न कर बैठे वह थोड़ा है। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। शायद उसका बस होता, तो मुझे खा जाती। कोई ऐसी तरकीब नहीं सूझती, जिससे नोरा का विचार पलट सकूँ।

मुंशी—हुजूर, वह खुद यहाँ बहुत दिनों तक न रहेंगी। आप देख लीजिएगा। उनका जी यहाँ से बहुत जल्द ऊब जायगा।

राजा—ईश्वर करे आपकी बात सच निकले। आपको देर हो रही हो, तो जाइए। मेरी डाक वहाँ से बराबर भेजवाते रहिएगा, मैं शायद वहाँ रोज न आ सकूँ। यहाँ तो अब नये सिर से सारा प्रबन्ध करना है।

आधी रात से ज्यादा बीत चुकी थी ; पर मनोरमा की आँखों में नींद न आई थी। उस विशाल भवन में, जहाँ सुख और विलास की सामग्रियाँ भरी हुई थीं, उसे अपना जीवन शून्य जान पड़ता था। एक निर्जन, निर्मम वन में वह अकेली खड़ी थी। एक दीपक सामने बहुत दूर पर अवश्य जल रहा था ; पर वह जितना ही चलती थी, उतना ही वह दीपक भी उससे दूर होता जाता था। उसने मुन्शी के सामने तो चक्रधर को समझाने से इंकार कर दिया था ; पर अब ज्यों-ज्यों रात बीतती थी उनसे मिलने के लिए, उन्हें रोकने के लिए, उसका मन अधीर हो रहा था। उसने सोचा—क्या अहल्या के साथ विवाह होने से वह उसके हो जायँगे ? क्या मेरा उन पर कोई अधिकार नहीं ? वह जायँगे कैसे ! मैं उनका हाथ पकड़ लूँगी। खींच लाऊँगी। अगर अपने घर में नहीं रह सकते, तो मेरे यहाँ रहने में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती है। मैं उनके लिए अपने यहाँ प्रबंध कर दूँगी ; मगर बड़े निष्ठुर प्रकृति के मनुष्य हैं। आज मेरे

पास इतनी देर बैठे अपनी समिति'का रोना रोते रहे, फूटे मुँह से भी न कहा कि मैं प्रयाग जा रहा हूँ, मानों मेरा उनसे कोई नाता ही नहीं। मुझसे मिलने के लिए उत्सुक तो वह होंगे; पर कुछ कर न सकते होंगे। वह भी बहुत मजबूर होकर जा रहे होंगे। अहल्या सचमुच बड़ी भाग्य-वती है। उसके लिए वह कितना कष्ट झेलने को तैयार हैं। प्रयाग में न कोई अपना, न पराया, सारी गृहस्थी जुटानी पड़ेगी।

यह सोचते ही उसे ख़याल आया कि चक्रधर बिलकुल खाली हाथ हैं। पत्नी साथ, खाली हाथ, नई जगह, न किसी से राह न रस्म, संकोची प्रकृति, उदार हृदय, उन्हें प्रयाग में कितना कष्ट होगा! मैंने बड़ी भूल की। मुंशीजी के साथ मुझे चला जाना चाहिए था। बाबूजी मेरा इंतजार कर रहे होंगे।

उसने घड़ी की ओर देखा। एक बज गया था। चैत की चाँदनी खिली हुई थी। चारपाई से उठकर आँगन में आई! उसके मन में प्रश्न उठा—क्यों न इसी वक्त चलूँ? घंटे-भर में पहुँच जाऊँगी। चाँदनी छिटकी हुई है, डर किस बात का? राजा साहब नींद में हैं। उन्हें जगाना व्यर्थ है। सवेरे तक तो मैं लौट ही आऊँगी।

लेकिन फिर ख़याल आया, इस वक्त जाऊँगी, तो लोग क्या कहेंगे। जाकर इतनी रात गये सबको जगाना कितना अनुचित होगा। वह फिर आकर लेट रही और सो जाने की चेष्टा करने लगी। पाँच घण्टे इसी प्रतीक्षा में जागते रहना, कठिन परीक्षा थी। उसने चक्रधर को रोक लेने का निश्चय कर लिया था।

मारे अब की उसे नींद आ गई। पिछले पहर चिंता भी थककर सो जाती है। सारी रात करवटें बदलनेवाला प्राणी भी इस समय निद्रा में मग्न हो जाता है; लेकिन देर को सोकर भी मनोरमा को उठने में देर नहीं लगी। अभी सब लोग सोते ही थे कि वह उठ बैठी और तुरत मोटर तैयार करने का हुक्म दिया। फिर अपने हैंडबेग में कुछ चीजें रखकर वह रवाना हो गई।

चक्रधर भी प्रातःकाल उठे और चलने की तैयारियाँ करने लगे। उन्हें माता-पिता को छोड़कर जाने का दुःख हो रहा था; पर उस घर में अहल्या की जो दशा थी, वह उनके लिए असह्य थी। अहल्या ने कभी शिकायत न की थी, वह चक्रधर के साथ सब कुछ झेलने को तैयार थी; लेकिन चक्रधर को यह किसी तरह गवारा न था कि अहल्या मेरे घर में पराई बनकर रहे। माता-पिता से भी कुछ कहना-सुनना उन्हें व्यर्थ मालूम होता था; मगर केवल यही एक कारण उनके यहाँ से प्रस्थान करने का न था। एक कारण और भी था, जिसे वह गुप्त रखना चाहते थे, जिसकी अहल्या को भी खबर न थी। यह कारण मनोरमा थी। जैसे कोई रोगी रुचि रहते हुए भी स्वादिष्ट वस्तुओं से बचता है कि कहीं उनसे रोग और न बढ़ जाय, उसी भाँति चक्रधर मनोरमा से भागते थे। आजकल मनोरमा दिन में एक बार उनके घर जरूर आ जाती, अगर खुद न आ सकती, तो उन्हीं को बुला भेजती। उसके सम्मुख आकर चक्रधर को अपना संयम, विचार और मानसिक स्थिरता बालू की मेंड़ की भाँति पैर पड़ते ही खिसकते मालूम होते। उसके सौन्दर्य से कहीं अधिक उसका आत्म-समर्पण घातक था। उन्हें प्राण लेकर भाग जाने ही में अपनी कुशल दिखाई देती थी। गाड़ी ७ बजे छूटती थी। वह अपना बिस्तर और पुस्तकें बाहर निकाल रहे थे। भीतर अहल्या अपनी सास और ननद के गले मिलकर रो रही थी, कि इतने में मनोरमा की मोटर आती हुई दिखाई दी। चक्रधर मारे शर्म के गड़ गये। उन्हें मालूम था कि पिताजी ने मनोरमा को मेरे जाने की खबर दे दी है, और वह जरूर आयेगी; पर वह उसके आने के पहले ही रवाना हो जाना चाहते थे। उन्हें भय था कि मैं उसके आग्रह को न टाल सकूँगा, घर छोड़ने का कोई कारण न बता सकूँगा और विवश होकर मुझे फिर यहीं रहना पड़ेगा। मनोरमा को देखकर वह सहम उठे; पर मन में निश्चय कर लिया कि इस समय निष्ठुरता का स्वाँग भरूँगा, चाहे वह अप्रसन्न ही क्यों न हो जाय।

मनोरमा ने मोटर से उतरते हुए कहा—बाबूजी, अभी ज़रा ठहर जाइए। यह उतावली क्यों। आप तो ऐसा भागे जा रहे हैं, मानों घर से रूठे जाते हों। बात क्या है, कुछ मालूम तो हो।

चक्रधर ने पुस्तकों का गट्ठर सँभालते हुए कहा—बात कुछ नहीं है। भला कोई बात होती, तो आपसे कहता न। यों ही ज़रा इलाहाबाद रहने का विचार है। जन्म-भर पिता की कमाई खाना तो उचित नहीं।

मनोरमा—तो प्रयाग में कोई अच्छी नौकरी मिल गई है?

चक्रधर—नहीं, अभी मिली तो नहीं; पर तलाश कर लूँगा।

मनोरमा—आप ज्यादा-से-ज्यादा कितने की नौकरी पाने की आशा रखते हैं?

चक्रधर को मालूम हुआ कि मुझसे बहाना न करते बना। इस काम में बहुत सावधान रहने की ज़रूरत है। बोले—कुछ नौकरी ही का ख़याल नहीं है, और भी बहुत से कारण हैं। गाड़ी सात ही बजे जाती है और मैंने वहाँ मित्रों को सूचना दे दी है। नहीं तो मैं आपसे सारी राम-कथा कह सुनाता।

मनोरमा—आप इस गाड़ी से नहीं जा सकते। जब तक मुझे मालूम न हो जायगा कि आप किस कारण, और वहाँ क्या करने के इरादे से जाते हैं, मैं आपको न जाने दूँगी।

चक्रधर—मैं दस-पाँच दिन में एक दिन के लिए आकर आपसे सब कुछ बता दूँगा; पर इस वक्त गाड़ी छूट जायगी। मेरे मित्र स्टेशन पर मुझे लेने आवेंगे। सोचिए, उन्हें कितना कष्ट होगा।

मनोरमा—मैंने कह दिया, आप इस गाड़ी से नहीं जा सकते।

चक्रधर—आपको सारी स्थिति मालूम होती, तो आप कभी मुझे रोकने की चेष्टा न करतीं। आदमी विवश होकर ही अपना घर छोड़ता है। मेरे लिए अब यहाँ रहना असंभव हो गया है।

मनोरमा—तो क्या यहाँ कोई दूसरा मकान नहीं मिल सकता?

चक्रधर—मगर एक ही जगह घर से अलग रहना कितना भद्दा मालूम होता है। लोग यही समझेंगे कि बाप-बेटे या सास-बहू में नहीं बनती।

मनोरमा—आप तो दूसरों के कहने की बहुत परवा न करते थे।

चक्रधर—केवल सिद्धान्त के विषय में। माता-पिता से अलग रहना तो मेरा सिद्धान्त नहीं।

मनोरमा—तो क्या अकारण घर से भाग जाना आपका सिद्धान्त है? सुनिए, मुझे आपके घर की दशा थोड़ी-बहुत मालूम है। वह लोग अपने संस्कारों से मजबूर हैं। न आप उन्हें दबाना पसंद करेंगे। क्यों न अहल्या को कुछ दिनों के लिए मेरे साथ रहने दीजिए। मैंने अब जगदीशपुर ही में रहने का निश्चय किया है। आप वहाँ रह सकते हैं। मेरी बहुत दिनों से इच्छा है कि कुछ दिन आप मेरे मेहमान हों। मेहमान क्यों हों। वह भी तो आप ही का घर है। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी। मैंने आपसे कभी कुछ नहीं माँगा। आज मेरी इतनी बात मान लीजिए। देखिए, वह कोई आदमी आता है। मैं ज़रा घर में जाती हूँ। यह बिस्तर वगैरह खोलकर रख दीजिए। यह सब सामान देखकर मेरा हृदय जाने कैसा हुआ जाता है।

चक्रधर—नहीं मनोरमा, मुझे जाने दो।

मनोरमा—आप न मानेंगे?

चक्रधर—यह बात न मानूँगा।

मनोरमा—मुझे रोते देखकर भी नहीं?

मनोरमा की आँखों से आँसू गिरने लगे। चक्रधर की आँखें भी डबडबा गईं। बोले—मनोरमा, मुझे जाने दो। मैं वादा करता हूँ कि बहुत जल्द लौट आऊँगा।

मनोरमा—अच्छी बात है, जाइए; लेकिन एक बात आपको माननी पड़ेगी। मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिए।

यह कहकर उसने अपना हैंडबेग चक्रधर की तरफ़ बढ़ाया।

चक्रधर ने पूछा—इसमें क्या है ?

मनोरमा—कुछ भी हो ।

चक्रधर—अगर न लूँ तो ?

मनोरमा—तो मैं अपने हाथों से आपका बोरिया-बधना उठाकर घर में रख आऊँगी ।

चक्रधर—आपको इतना कष्ट न उठाना पड़ेगा । मैं इसे लिये लेता हूँ । शायद वहाँ भी मुझे कोई काम करने की ज़रूरत न पड़ेगी । इस बेग का वज़न ही बतला रहा है ।

मनोरमा घर में गई, तो निर्मला बोली—माना कि नहीं बेटी ?

मनोरमा—नहीं मानते । मनाकर हार गई ।

मुंशी—जब आपके कहने से न माना, तो फिर किसके कहने से मानेगा !

ताँगा आ गया । चक्रधर और अहल्या उस पर जा बैठे, तो मनोरमा भी अपनी मोटर पर बैठकर चली गई । घर के बाक़ी तीनों प्राणी द्वार पर खड़े रोते रह गये ।

सार्वजनिक काम करने के लिए कहीं भी क्षेत्र की कमी नहीं, केवल मन में निस्स्वार्थ सेवा का भाव होना चाहिए। चक्रधर प्रयाग में अभी अच्छी तरह जमने भी न पाये थे कि चारों ओर से उनके लिए खींच-तान होने लगी। थोड़े ही दिनों में वह नेताओं की श्रेणी में आ गये। उनमें देश का अनुराग था, काम करने का उत्साह था और संगठन करने की योग्यता थी। सारे शहर में एक भी ऐसा प्राणी न था, जो उनकी भाँति निस्पृह हो। और लोग अपना फालतू समय ही सेवा-कार्य के लिए दे सकते थे। द्रव्योपार्जन उनका मुख्य उद्देश्य था। चक्रधर के लिए इस काम के सिवा और कोई फिक्र न थी। यह कोई न पूछता था कि आपको कोई तकलीफ तो नहीं है? काम लेने वाले बहुतेरे थे। सवारी करने-वाले सब थे, घास-चारा देने वाला कोई भी न था। उन्होंने शहर के निकास पर एक छोटा-सा मकान केराये पर ले लिया था और बड़ी किफ़ायत से गुजर करते थे। आगरे में उन्हें जितने रुपये मिले थे, वे सब मुंशी वज्रधर की भेंट कर दिये गये थे! वहाँ रुपये का नित्य अभाव रहता था। कम मिलने पर कम तङ्गी रहती थी; क्योंकि जरूरतें घटा ली जाती थीं। अधिक मिलने पर तङ्गी भी अधिक हो जाती थी; क्योंकि जरूरतें बढ़ा ली जाती थीं। चक्रधर को अब ज्ञात होने लगा था कि गृहस्थी में पड़कर कुछ-न-कुछ स्थायी आमदनी होनी चाहिए। अपने लिए उन्हें कोई चिन्ता न थी; लेकिन अहल्या को वह दरिद्रता की परीक्षा में न डालना चाहते थे। वह अब बहुधा चिंतित दिखाई देती, यों वह कभी शिकायत न करती थी; पर यह देखना कठिन न था कि वह अपनी

दशा में सन्तुष्ट नहीं है। वह गहने-कपड़े की भूखी न थी, न सैर-तमाशे का उसे चस्का ही था ; पर खाने-पीने की तकलीफ उससे न सही जाती थी। वह खुद सब कुछ सह सकती थी, उसकी सहन-शक्ति का वारापार न था ; पर चक्रधर को इस दशा में देखकर उसे दुःख होता था। जब और लोग पहले अपने घर में चिराग जलाकर मसजिद में जलाते हैं, तो वही क्यों अपने घर को अँधेरा छोड़कर मसजिद में चिराग जलाने जायँ। औरों को अगर मोटर और फ़िटन चाहिए, तो क्या यहाँ पैरगाड़ी भी न हो ? दूसरों को पक्की हवेलियाँ चाहिए, तो क्या यहाँ साफ़-सुथरा मकान भी न हो ? दूसरे जायदाद पैदा करते हैं, तो क्या यहाँ भोजन भी नहीं। आख़िर प्राण देकर तो सेवा नहीं की जाती। अगर इस उत्सर्ग के बदले चक्रधर को यश का बड़ा भाग मिलता, तो शायद अहल्या को संतोष हो जाता, आँसू पुँछ जाते ; लेकिन जब वह औरों को बिना इतने कष्ट उठाये चक्रधर के बराबर या उनसे अधिक यश पाते देखती थी, तो उसे धैर्य न रहता था। जब खाली ढोल पीटकर भी, अपना घर भरकर भी, यश कमाया जा सकता है, तो इस त्याग और विराग की जरूरत क्या ? जनता धनियों का जितना मान-सम्मान करती है, उतना सेवकों का नहीं। सेवा-भाव के साथ धन भी आवश्यक है। दरिद्र सेवक, चाहे वह कितने ही सच्चे भाव से क्यों न काम करे, चाहे वह जनता के लिए प्राण ही क्यों न दे दे, उतना यश नहीं पा सकता, जितना एक धनी आदमी अल्प सेवा करके पा जाता है। अहल्या को चक्रधर का आत्म-दमन इसीलिए बुरा लगता था और वह मुँह से कुछ न कहकर भी दुखी रहती थी। सेवा स्वयं अपना बदला है, यह आदर्श उसकी समझ में न आता था।

अगर चक्रधर को अपना ही ख़र्च सँभालना होता, तो शायद उन्हें बहुत कष्ट न होता ; क्योंकि उनके लेख बहुत अच्छे होते थे और दो-तीन समाचार-पत्रों में लिखकर वह अपनी जरूरत-भर को पैदा कर लेते थे। पर मुंशी वज्रधर के तकाज़ों के मारे उनकी नाक में दम था। मनोरमा

जगदीशपुर जाकर संसार से विरक्त-सी हो गई थी। न कहीं आती न जाती, न रियासत के किसी मामले में बोलती? धन ही से उसे घृणा हो गई थी। सब कुछ छोड़कर वह अपनी कुटी में जा बैठी थी, मानों कोई संन्यासिनी हो; इसलिए अब मुंशीजी को केवल वेतन मिलता था और उसमें उनका गुजर न होता। चक्रधर को बार-बार तङ्ग करते। और उन्हें विवश होकर पिता की सहायता करनी पड़ती।

अगहन का महीना था। खासी सरदी पड़ रही थी; मगर अभी तक चक्रधर ने जाड़े के कपड़े न बनवा पाये थे। अहल्या के पास तो पुराने कपड़े थे; पर चक्रधर के पुराने कपड़े मुंशीजी के मारे बचने ही न पाते थे। या तो खुद पहन डालते, या किसी को दे देते। वह इसी फ़िक्र में थे कि कहीं से रुपये आ जायँ, तो एक कम्बल ले लूँ। आज बड़ी इन्तजार के बाद लखनऊ के एक मासिक-पत्र के कार्यालय से २५) का मनीआर्डर आया था और वह अहल्या के पास बैठे हुए कपड़ों का प्रोग्राम बना रहे थे।

अहल्या ने कहा—मुझे अभी कपड़ों की जरूरत नहीं है। तुम अपने लिए एक अच्छा-सा कम्बल कोई १५) में ले लो। बाकी रुपयों में अपने लिए एक ऊनी कुरता और एक जूता ले लो। जूता बिलकुल फट गया है।

चक्रधर—१५) का कम्बल क्या होगा। मेरे लायक ३–४) में अच्छा कम्बल मिल जायगा। बाकी रुपयों के तुम्हारे लिए एक अलवान ला देता हूँ। सवेरे-सवेरे उठकर तुम्हें काम-काज करना पड़ता है, कहीं सरदी खा जाओ, तो मुश्किल पड़े। ऊनी कुरते की कोई जरूरत नहीं। हाँ, तुम एक सलूका बनवा लो। मैं तगड़ा आदमी हूँ, ठण्ढ सह सकता हूँ।

अहल्या—खूब तगड़े हो, क्या कहना है, जरा आईने में जाकर सूरत तो देखो! जब से यहाँ आये हो, आधी देह भी नहीं रही। मैं जानती कि यहाँ आकर तुम्हारी यह दशा हो जायगी, तो कभी घर से कदम न निकालती। मुझसे लोग छूत माना करते, क्या परवा थी। तुम तो आराम से रहते। मैं अलवान-सलवान न लूँगी, तुम आज एक कम्बल

लाओ, नहीं मैं सच कहती हूँ, मुझे बहुत दिक़ करोगे, तो मैं आगरे की जाऊँगी।

चक्रधर—तुम्हारी यही ज़िद तो मुझे अच्छी नहीं लगती। मैं कई साल से अपने को इसी ढंग के जीवन के लिए साध रहा हूँ। मैं दुबला हूँ तो क्या, गरमी-सरदी खूब सह सकता हूँ। तुम्हें यहाँ ९-१० महीने हुए, बताओ मेरे सिर में एक दिन भी दर्द हुआ। हाँ, तुम्हें कपड़े की जरूरत है। तुम अभी ले लो, अबकी रुपये आवेंगे, तो मैं भी बनवा लूँगा।

इतने में डाकिये ने पुकारा। चक्रधर ने जाकर खत ले लिया और उसे पढ़ते हुए अन्दर आये! अहल्या ने पूछा—लालाजी का खत है न? लोग अच्छी तरह हैं न?

चक्रधर—मेरे आते ही न-जाने उन लोगों पर क्या साढ़ेसाती सवार हो गई है कि जब देखो एक-न-एक विपत्ति सवार ही रहती है। अभी मंगला बीमार थी। अब अम्माँ बीमार हैं। बाबूजी को भी खाँसी आ रही है। रानी साहब के यहाँ से अब वसीका नहीं मिलता। लिखा है कि इस वक्त ५०) अवश्य भेजो।

अहल्या—क्या अम्माँजी बहुत बीमार हैं?

चक्रधर—हाँ, लिखा तो है।

अहल्या—तो जाकर देख ही क्यों न आओ।

चक्रधर—तुम्हें अकेली छोड़कर?

अहल्या—डर क्या है।

चक्रधर—चलो। रात को कोई आकर लूट ले तो, चिल्ला भी न सको। कितनी बार सोचा कि चलकर अम्माँ को देख आऊँ; पर कभी इतने रुपये ही नहीं मिलते। अब बताओ इन्हें रुपये कहाँ से भेजूँ।

अहल्या—तुम्हीं सोचो, जो वैरागी बनकर बैठे हो। तुम्हें वैरागी बनना था, तो नाहक गृहस्थी के जंजाल में फँसे। मुझसे विवाह करके तुम सचमुच बला में फँस गये। मैं न होती, तो क्यों तुम यहाँ आते और क्यों

यह दशा होती ! अब से अच्छा है तुम मुझे अम्माँ के पास पहुँचा दो। वह बेचारी अकेली रो-रोकर दिन काट रही होंगी। मेरे जाने से निहाल हो जायँगी !

चक्रधर—हम और तुम दोनों क्यों न चले चलें।

अहल्या—जी नहीं, दया कीजिए। आप वहाँ भी मेरे प्राण खायँगे और बेचारी अम्माँजी को रुलायँगे। मैं झूठों भी लिख दूँ कि अम्माँजी मैं तकलीफ़ में हूँ, तो तुरत किसी को भेजकर मुझे बुला लें।

चक्रधर—मुझे बाबूजी पर बड़ा क्रोध आता है। व्यर्थ मुझे तंग करते हैं। अम्माँ की बीमारी बहाना है, सरासर बहाना।

अहल्या—वह बहाना हो या सच हो, ये पचीसों रुपये भेज दो। बाक़ी के लिए लिख दो, कोई फ़िक्र करके जल्द ही भेज दूँगा। तुम्हारी तक़दीर में इस साल जड़ावल नहीं लिखा है।

चक्रधर—लिखे देता हूँ मैं खुद तंग हूँ, आपके पास कहाँ से भेजूँ !

अहल्या—ऐ हटो भी, इतने रुपयों के लिए मुँह चुराते हो। भला वह अपने दिल में क्या कहेंगे। ये रुपये चुपके से भेज दो।

चक्रधर कुछ देर तक तो मौन धारण किये बैठे रहे, मानों किसी गहरी चिन्ता में हैं। एक क्षण के बाद बोले—किसी से क़र्ज़ लेना पड़ेगा, और क्या।

अहल्या—नहीं, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, क़र्ज़ मत लेना। इससे तो इंकार कर देना ही अच्छा है।

चक्रधर—किसी ऐसे महाजन से लूँगा, जो तक़ाज़े न करेगा। अदा करना बिलकुल मेरी इच्छा पर होगा।

अहल्या—ऐसा कौन महाजन है भई ? यहीं रहता है ? कोई दोस्त होगा। दोस्त से तो क़र्ज़ लेना ही न चाहिए। इससे तो महाजन कहीं अच्छा। कौन है, ज़रा उसका नाम सुनूँ ?

चक्रधर—अजी, एक पुराना दोस्त है, जिसने मुझसे कह रक्खा है कि

तुम्हें जब रुपये की कोई ऐसी ज़रूरत आ पड़े, जो टाले न टल सके, तो तुम हमसे माँग लिया करना, फिर जब जी चाहे दे देना।

अहल्या—कौन है, बताओ, तुम्हें मेरी क़सम।

चक्रधर—तुमने क़सम रखा दी, यह बड़ी मुश्किल आ पड़ी। वह मित्र रानी मनोरमा हैं। उन्होंने मुझे घर से चलते समय एक छोटा-सा बेग दिया था। मैंने उस वक्त तो खोला नहीं; गाड़ी में बैठकर खोला, तो उसमें पाँच हज़ार रुपयों के नोट निकले। सब रुपये ज्यों-के-त्यों रक्खे हुए हैं।

अहल्या—और तो कभी नहीं निकाला?

चक्रधर—कभी नहीं, यह पहला मौक़ा है।

अहल्या—तो भूलकर भी न निकालना।

चक्रधर—लालाजी ज़िंदा न छोड़ेंगे। समझ लो।

अहल्या—साफ़ कह दो मैं ख़ाली हाथ हूँ बस। रानीजी की अमानत किसी मौक़े से लौटानी होगी। अमीरों का एहसान कभी न लेना चाहिए, कभी-कभी उसके बदले में अपनी आत्मा बेचनी पड़ती है। रानीजी तो हमें बिल्कुल भूल ही गईं। एक ख़त भी न लिखा।

चक्रधर—आजकल उनको अपने घर के झगड़ों ही से फ़ुरसत न मिलती होगी। राजा साहब से विवाह करके उन्होंने अपना जीवन ही नष्ट कर दिया।

अहल्या—हृदय बड़ा उदार है।

चक्रधर—उदार! यह क्यों नहीं कहतीं कि अगर उनकी मदद न हो, तो प्रांत की कितनी ही सेवा-संस्थाओं का अंत हो जाय। प्रांत में ऐसे एक दस प्राणी और हो जायँ, तो बड़ा काम हो जाय।

अहल्या—ये रुपये लालाजी के पास भेज दो, तब तक और सरदी का मज़ा उठा लो।

अहल्या उस दिन बड़ी रात तक चिंता में पड़ी रही कि जड़ावल का

क्या प्रबंध हो। चक्रधर ने सेवा-कार्य का इतना भारी बोझ अपने सिर ले लिया था कि उनसे अधिक धन कमाने की आशा न की जा सकती थी। बड़ी मुश्किलों से रात को थोड़ा-सा समय निकालकर बेचारे कुछ लिख-पढ़ लेते थे। धन की उन्हें चेष्टा ही न थी। इसे वह केवल जीवन का उपाय समझते थे। अधिक धन कमाने के लिए उन्हें मजबूर करना, उन पर अत्याचार करना था। उसने सोचना शुरू किया, मैं कुछ काम कर सकती हूँ या नहीं। सिलाई और बूटे-कसीदे का काम वह खूब कर सकती थी; पर चक्रधर को यह कब मंजूर हो सकता था कि वह पैसे के लिए यह काम करे? एक दिन उसने एक मासिक-पत्रिका में अपनी एक सहेली का लेख देखा। दोनों आगरे में साथ-साथ पढ़ती थीं। अहल्या हमेशा उससे अच्छे नंबर पाती थी। यह लेख पढ़ते ही अहल्या की वह दशा हुई, जो किसी असील घोड़े की चाबुक पड़ने पर होती है। वह कलम लेकर बैठ गई और उसी विषय की आलोचना करने लगी, जिस पर उसकी सहेली का लेख था। वह इतनी तेजी से लिख रही थी, मानों भागते हुए विचारों को समेट रही हो। शब्द और वाक्य आप-ही-आप निकलते चले आते थे। आध घण्टे में उसने चार-पाँच पृष्ठ लिख डाले। जब उसने उसे दुहराया, तो उसे ऐसा जान पड़ा कि मेरा लेख सहेली के लेख से अच्छा है। फिर भी उसे संपादक के पास भेजते हुए उसका जी डरता था कि कहीं अस्वीकृत न हो जाय। उसने दोनों लेखों को दो-तीन बार मिलाया और अन्त को तीसरे दिन भेज ही दिया। तीसरे दिन जवाब आया। लेख स्वीकृत हो गया था, फिर कुछ भेजने की प्रार्थना की गई थी और शीघ्र ही पुरस्कार भेजने का वादा था। तीसरे दिन डाकिये ने एक रजिस्ट्री चिट्ठी लाकर दी। अहल्या ने खोला, तो १०) का नोट था। अहल्या फूली न समाई। उसे इस बात का संतोषमय गर्व हुआ कि गृहस्थी में मैं भी मदद कर सकती हूँ। उसी दिन उसने एक दूसरा लेख लिखना शुरू किया; पर अबकी जरा देर लगी। तीसरे दिन लेख भेज दिया गया।

पूस का महीना लग गया। ज़ोरों की सरदी पड़ने लगी। स्नान करते समय ऐसा मालूम होता था कि पानी काट खायगा; पर अभी तक चक्रधर जड़ावल न बनवा सके। एक दिन बादल हो आये और ठंडी हवा चलने लगी। चक्रधर १० बजे रात को अछूतों की किसी सभा से लौट रहे थे, तो मारे सरदी के कलेजा काँप उठा। चाल तेज की; पर सरदी कम न हुई। तब दौड़ने लगे। घर के समीप पहुँच कर थम गये। सोचने लगे—अभी से यह हाल है, भगवान् रात कैसे कटेगी। और मैं तो किसी तरह काट भी लूँगा, अहल्या का क्या हाल होगा। कोयला भी तो इतना ज्यादा नहीं है कि ताप कर ही रात काट लें। इस बेचारी को मेरे कारण बड़ा कष्ट हो रहा है। सच पूछो, तो मेरे साथ विवाह करना इसके लिए कठिन तपस्या हो गई। कल सबसे पहले कपड़ों की फ़िक्र करूँगा। यह सोचते हुए वह घर आये, तो देखा कि अहल्या अँगीठी में कोयला भरे बैठी ताप रही है। आज वह बहुत प्रसन्न दिखाई देती थी। रात को रोज़ रोटी और कोई साग खाया करते थे। आज अहल्या ने पूरियाँ पकाई थीं, और सालन भी कई प्रकार का था। खाने में बड़ा मज़ा आया। भोजन कर के लेटे, तो दिखाई दिया, चारपाई पर एक बहुत अच्छा कम्बल पड़ा हुआ है। विस्मित होकर पूछा—यह कंबल कहाँ था?

अहल्या ने मुसकिराकर कहा—मेरे पास ही रक्खा था। अच्छा है कि नहीं?

चक्रधर—तुम्हारे पास कंबल कहाँ था? सच बताओ कहाँ मिला? २०) से कम का न होगा।

अहल्या—तुम मानते ही नहीं, तो क्या करूँ। अच्छा, तुम्हीं बताओ कहाँ था?

चक्रधर—मोल लिया होगा। सच बताओ रुपये कहाँ थे?

अहल्या—तुम्हें आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से?

चक्रधर—जब तक यह न मालूम हो जाय कि आम कहाँ से आये, तब तक मैं उनमें हाथ भी न लगाऊँ।

अहल्या—मैंने कुछ रुपये बचा रक्खे थे। आज कम्बल मँगवा लिया।

चक्रधर—मैंने तुम्हें इतने रुपये कब दिये कि खर्च कर के बच जाते। कितने का है?

अहल्या—२५) का। मैं थोड़ा-थोड़ा बचाती गई थी।

चक्रधर—मैं यह मानने का नहीं। बताओ रुपये कहाँ मिले?

अहल्या—बता ही दूँ। अब की मैंने 'आर्य-जगत्' को दो लेख भेजे थे। उसी के पुरस्कार के ३०) मिले थे। आजकल एक और लिख रही हूँ।

अहल्या ने समझा था, चक्रधर यह सुनते ही खुशी से उछल पड़ेंगे और प्रेम से मुझे गले लगा लेंगे; लेकिन यह आशा न पूरी हुई। चक्रधर ने उदासीन भाव से पूछा—कहाँ हैं लेख, ज़रा 'आर्य-जगत्' देखूँ।

अहल्या ने दोनों 'अंक' लाकर उनको दे दिये और लजाते हुए बोली—कुछ है नहीं, ऊट-पटाँग जो जी में आया लिख डाला।

चक्रधर ने सरसरी निगाह से लेखों को देखा। ऐसी सुन्दर भाषा वह खुद न लिख सकते थे। विचार भी बहुत गंभीर और गहरे थे। अगर अहल्या ने खुद न कहा होता, तो वह लेखों पर उसका नाम देख कर भी यही समझते कि इस नाम की कोई दूसरी महिला होंगी। उन्हें कभी ख़याल ही न हो सकता था कि अहल्या इतनी विचारशील है; मगर यह जान कर भी वह खुश नहीं हुए। उनके अहंकार को धक्का-सा लगा। उनके मन में गृह-स्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप से बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वह अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में, व्यावहारिक ज्ञान में, अपने को अहल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया। विमन होकर बोले—तुम्हारे लेख बहुत अच्छे हैं, और पहली ही कोशिश में तुम्हें पुरस्कार भी मिल गया, यह और भी खुशी की बात है; लेकिन मुझे तो कंबल की

ज़रूरत न थी। कम-से-कम मैं इतना कीमती कंबल न चाहता था। इसे तुम्हीं ओढ़ो। आख़िर तुम्हारे पास तो वही एक पुरानी चादर है। मैं अपने लिए दूसरा कंबल ले लूँगा।

अहल्या समझ गई कि यह बात इन्हें बुरी लगी। बोली—मैंने पुरस्कार के इरादे से तो लेख न लिखे थे। अपनी एक सहेली का लेख पढ़कर मुझे भी दो-चार बातें सूझ गईं। लिख डालीं। अगर तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो अब न लिखूँगी।

चक्रधर—नहीं-नहीं, मैं तुम्हें लिखने को मना नहीं करता। तुम शौक़ से लिखो; मगर मेरे लिए तुम्हें यह कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं। मुझे ऐश करना होता, तो सेवा-क्षेत्र में आता ही क्यों? मैं सब कुछ सोच-समझ कर इधर आया हूँ; मगर अब देख रहा हूँ कि 'माया और राम' दोनों साथ नहीं मिलते। मुझे राम को त्याग कर माया की उपासना करनी पड़ेगी।

अहल्या ने कातर भाव से कहा—मैंने तो तुमसे किसी बात की शिकायत नहीं की। अगर तुम जो हो वह न होकर धनी होते, तो शायद मैं अब तक क्वाँरी ही रहती। धन की मुझे लालसा न तब थी, न अब है। तुम-जैसा रत्न पाकर अगर मैं धन के लिए रोऊँ, तो मुझसे बढ़ कर अभागिनी कोई संसार में न होगी। तुम्हारी तपस्या में योग देना मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। मैंने केवल यह सोचा कि जब मैंने मेहनत की है, तो उसकी मजूरी ले लेने में क्या हरज है। यह कंबल तो कोई शाल नहीं है, जिसे ओढ़ने में संकोच हो। मेरे लिए चादर काफ़ी है। तुम्हें जब रुपये मिलें, तो मेरे लिए एक लिहाफ़ बनवा देना।

कंबल रात-भर ज्यों-का-त्यों तह किया हुआ पड़ा रहा। सरदी के मारे चक्रधर को नींद न आती थी; पर कंबल को छुआ तक नहीं। उसका एक एक रोआँ सर्प की भाँति उन्हें काटने दौड़ता था। एक बार उन्होंने अहल्या की ओर देखा। वह हाँथ-पाँव सिकोड़े, चादर सिर से ओढ़े एक गठरी

की तरह पड़ी हुई थी; पर उन्होंने उसे भी वह कंबल न ओढ़ाया। उनका स्नेह-करुण हृदय रो पड़ा। ऐसा मालूम होता था, मानों कोई फूल तुषार से मुरझा गया हो। उनकी अन्तरात्मा सहस्रों जिह्वाओं से उनका तिरस्कार करने लगीं। समस्त संसार उन्हें धिक्कारता हुआ जान पड़ा—तेरी लोक-सेवा केवल भ्रम है, कोरा प्रमाद। जब तू उस रमणी की रक्षा नहीं कर सकता, जो तुझ पर अपने प्राण तक अर्पण कर सकती है, तो तू जनता का उपकार क्या करेगा? त्याग और भोग में दिशाओं का अन्तर है। चक्रधर उन्मत्तों की भाँति चारों ओर देखने लगे कि कोई ऐसी चीज मिले जो इसे ओढ़ा सकूँ; लेकिन पुरानी धोतियों के सिवा उन्हें और कोई चीज न नज़र आई। उन्हें इस समय भीषण मर्म-वेदना हो रही थी। अपना व्रत और संयम, अपना समस्त जीवन, शुष्क और निरर्थक जान पड़ता था। जिस दरिद्रता का उन्होंने सदैव आह्वान किया था, वह इस समय भयंकर शाप की भाँति उन्हें भयभीत कर रही थी। जिस रमणी-रत्न की ज्योति से रनिवास में उजाला हो जाता, उसको मेरे हाथों यह यन्त्रणा मिल रही है! सहसा अहल्या ने आँखें खोल दीं और बोली—तुम खड़े क्या कर रहे हो? मैं अभी स्वप्न देख रही थी कि कोई पिशाच मुझे नदी के शीतल जल में डुबाये देता है। अभी तक छाती धड़क रही है!

चक्रधर ने ग्लानित होकर कहा—वह पिशाच मैं ही हूँ, अहल्या! मेरे ही हाथों तुम्हें यह कष्ट मिल रहा है।

अहल्या ने पति का हाथ पकड़कर चारपाई पर सुला दिया और वही कंबल ओढ़ाकर बोली—तुम मेरे देवता हो, जिसने मुझे मझधार से निकाला है। पिशाच मेरा मन है, जो मुझे डुबाने की चेष्टा कर रहा है।

इतने में पड़ोस के एक मुर्गे ने बाँग दी। अहल्या ने किवाड़ खोलकर देखा, तो प्रभात-कुसुम खिल रहा था। चक्रधर को आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्द रात कैसे कट गई।

आज वह नाश्ता करते ही कहीं बाहर न गये ; बल्कि अपने कमरे में जाकर कुछ लिखते-पढ़ते रहे। शाम को उन्हें कुमार-सभा में एक वक्तृता देनी थी। विषय था 'समाज-सेवा'। इस विषय को छोड़कर वह पूरे घण्टे-भर तक ब्रह्मचर्य की महिमा गाते रहे। सात बजते-बजते वह फिर लौट आये और दस बजे तक कुछ लिखते रहे। आज से यही उनका नियम हो गया। नौकरी तो वह कर न सकते थे। चित्त को इससे घृणा होती थी ; लेकिन अधिकांश समय पुस्तकें और लेख लिखने में बिताते। उनकी विद्या और बुद्धि अब सेवा के अधीन नहीं, स्वार्थ के अधीन हो गई। भाव के साथ उनके जीवन-सिद्धान्त भी बदल गये। बुद्धि का उद्देश्य केवल तत्त्व-निरूपण और विद्या-प्रसार न रहा। वह धनोपार्जन का मंत्र बन गई। उस मकान में अब उन्हें कष्ट होने लगा। दूसरा मकान लिया, जिसमें बिजली के पंखे और रोशनी थी। इन नये साधनों से उन्हें लिखने-पढ़ने में और भी आसानी हो गई। बरसात में मच्छरों के मारे कोई मानसिक काम न कर सकते थे। गरमी में तो उस नन्हें से आँगन में बैठना भी मुश्किल था, काम करने का जिक्र ही क्या। अब वह खुली हुई छत पर बिजली के पंखे के सामने शाम ही से बैठकर काम करने लगते थे। अहल्या खुद तो कुछ न लिखती ; पर चक्रधर की सहायता करती रहती थी। लेखों को साफ करना, अन्य पुस्तकों और पत्रों से अवतरणों को नकल करना उसका काम था। पहले ऊसर की खेती करते थे, जहाँ न धन था, न कीर्ति। अब धन भी मिलता था और कीर्ति भी। पत्रों के सम्पादक उनसे आग्रह करके लेख लिखवाते थे। लोग इन लेखों को बड़े चाव से पढ़ते थे। भाषा भी अलंकृत होती थी, भाव भी सुन्दर, विषय भी उपयोगी। दर्शन से उन्हें विशेष रुचि थी। उनके लेख भी अधिकांश दार्शनिक होते थे।

पर चक्रधर को अब अपने कृत्यों पर गर्व न था। उन्हें काफी धन मिलता था। यूरोप और अमेरिका के पत्रों में भी उनके लेख छपते थे।

समाज में उनका आदर भी कम न था ; लेकिन सेवा-कार्य में उन्हें जो संतोष और शांति मिलती थी, वह अब मयस्सर न थी। अपने दीन, दुखी, पीड़ित बन्धुओं की सेवा करने में जो गौरव-युक्त आनन्द मिलता था, वह अब सभ्य समाज की दावतों में न प्राप्त होता था। मगर अहल्या सुखी थी। वह अब सरल बालिका नहीं, गौरवशील युवती थी, गृह-प्रबंध में कुशल, पति-सेवा में प्रवीण, उदार, दयालु और नीति-चतुर। मजाल न थी कि कोई नौकर उसकी आँख बचा कर एक पैसा भी खा जाय। उसकी सभी अभिलाषाएँ पूरी होती जाती थीं। ईश्वर ने एक सुन्दर बालक भी दे दिया। रही-सही कसर पूरी हो गई।

इस प्रकार पाँच साल गुजर गये।

एक दिन काशी से राजा विशालसिंह का तार आया। लिखा था—रानी मनोरमा बहुत बीमार हैं। तुरन्त आइए। बचने की कम आशा है। चक्रधर के हाथ से कागज़ छूटकर गिर पड़ा। अहल्या सँभाल न लेती, तो शायद वह खुद गिर पड़ते। ऐसा मालूम हुआ, मानों मस्तक पर किसी ने लाठी मार दी हो। आँखों के सामने तितलियाँ-सी उड़ने लगीं। एक क्षण के बाद वह सँभलकर बोले—मेरे कपड़े बेग में रख दो, मैं इसी गाड़ी से जाऊँगा।

अहल्या—यह हो क्या गया? अभी तो लालाजी ने लिखा था कि वहाँ सब कुशल है।

चक्रधर—क्या कहा जाय। कुछ नहीं, यह सब गृह-कलह का फल है। मनोरमा ने राजा साहब से विवाह करके बड़ी भूल की। सौतों ने तानों से छेद-छेदकर उसकी जान ली। राजा साहब उस पर जान देते थे। यही सारे उपद्रव की जड़ है। अहल्या! वह स्त्री नहीं है, देवी है।

अहल्या—हम लोगों के यहाँ चले आने से शायद नाराज़ हो गईं। इतने दिनों में केवल मुन्नू के जन्मोत्सव पर एक पत्र लिखा था।

चक्रधर—हाँ, उनकी यही इच्छा थी कि हम सब उनके साथ रहें।

अहल्या—कहो तो मैं भी चलूँ ? देखने को जी चाहता है। उनका शील और स्नेह कभी न भूलेगा।

चक्रधर—योगेन्द्र बाबू को साथ लेते चलें। इनसे अच्छा तो यहाँ और कोई डाक्टर नहीं हैं।

अहल्या—अच्छा तो होगा। डॉक्टर साहब से तुम्हारी दोस्ती है, खूब दिल लगाकर दवा करेंगे।

चक्रधर—मगर तुम मेरे साथ लौट न सकोगी, यह समझ लो। मनोरमा तुम्हें इतनी जल्द न आने देंगी।

अहल्या—वह अच्छी तो हो जायँ। लौटने की बात पीछे देखी जायगी। तो तुम जाकर डॉक्टर साहब को तैयार करो। मैं यहाँ सब सामान कर रही हूँ।

दस बजते-बजते ये लोग यहाँ से डाक पर चले। अहल्या खिड़की से पावस का मनोहर दृश्य देखती थी, चक्रधर व्यग्र हो-होकर घड़ी देखते थे कि पहुँचने में कितनी देर है और मुन्नू खिड़की से बाहर कूद पड़ने के लिए ज़ोर लगा रहा था।

३०

चक्रधर जगदीशपुर पहुँचे, तो रात के आठ बज गये थे। राज-भवन के द्वार पर हज़ारों आदमियों की भीड़ थी। अन्न-दान दिया जा रहा था और कँगले एक-पर-एक टूटे पड़ते थे। सिपाही धक्के-पर-धक्के देते थे; पर कँगलों का रेला कम न होता था। शायद वे समझते थे कि कहीं हमारी बारी आने से पहले ही सारा अन्न समाप्त न हो जाय, या अन्न कम हो जाने पर थोड़ा-थोड़ा देकर ही न टरका दें। मुंशी वज्रधर बार-बार चिल्ला रहे थे—क्यों एक दूसरे पर गिरे पड़ते हो, सबको मिलेगा, कोई ख़ाली न जायगा, सैकड़ों बोरे भरे हुए हैं; लेकिन उनके आश्वासन का कोई असर न दिखाई देता था। उस छोटी-सी बस्ती में इतने आदमी भी मुश्किल से होंगे! इतने कँगले न-जाने कहाँ से फट पड़े थे।

सहसा मोटर की आवाज़ सुनकर सामने देखा, तो भीड़ को हटा कर दौड़े और चक्रधर को गले लगा लिया। पिता और पुत्र दोनों रो रहे थे, पिता में पुत्र-स्नेह था, पुत्र में पितृ-भक्ति थी; किसी के दिल में ज़रा भी मैल न था, फिर भी वे आज पाँच साल के बाद मिल रहे हैं। कितना घोर अनर्थ है!

अहल्या पति के पीछे खड़ी थी। मुन्नू उसकी गोद में बैठा बड़े कुतूहल से दोनों आदमियों का रोना देख रहा था। उसने समझा, इन दोनों में अवश्य मार-पीट हुई है, शायद दोनों ने एक दूसरे का गला पकड़ कर दबाया है, तभी तो यों रो रहे हैं। बाबूजी का गला दुख रहा होगा। यह सोच कर उसने भी रोना शुरू किया। मुंशीजी उसे रोते देख कर प्रेम से बढ़े कि उसको गोद में लेकर प्यार करूँ, तो बालक ने मुँह फेर लिया।

जिसने अभी-अभी बाबूजी को मार कर रुलाया है, वह क्या मुझे न मारेगा। कैसा विकराल रूप है! अवश्य मारेगा।

अभी दोनों आदमियों में कोई बात न होने पाई थी कि राजा साहब दौड़ते हुए भीतर से आते दिखाई दिये। सूरत से नैराश्य और चिन्ता झलक रही थी। शरीर भी दुर्बल था। आते-ही-आते उन्होंने चक्रधर को गले लगा कर पूछा—मेरा तार कब मिल गया था?

चक्रधर—कोई आठ बजे मिला होगा। पढ़ते ही मेरे होश उड़ गये। रानीजी की क्या हालत है?

राजा—वह तो अपनी आँखों देखोगे, मैं क्या कहूँ। अब भगवान् ही का भरोसा है। अहा! यह शंखधर महाशय हैं!

यह कहकर उन्होंने बालक को गोद में ले लिया और स्नेह-पूर्ण नेत्रों से देख कर बोले—मेरी सुखदा बिलकुल ऐसी ही थी। ऐसा जान पड़ता है, यह उसका छोटा भाई है। उसकी सूरत अभी तक मेरी आँखों में है। मुख से बिलकुल ऐसी ही थी।

अन्दर जाकर चक्रधर ने मनोरमा को देखा। वह मोटे गद्दों में ऐसी समा गई थी कि मालूम होता था पलंग ख़ाली है, केवल चादर पड़ी हुई है। चक्रधर की आहट पाकर उसने मुँह चादर से बाहर निकाला। दीपक के क्षीण प्रकाश में किसी दुर्बल की आह असहाय नेत्रों से आकाश की ओर ताक रही थी!

राजा साहब ने आहिस्ता से कहा—मोरा, तुम्हारे बाबूजी आ गये!

मनोरमा ने तकिये का सहारा लेकर कहा—मेरे धन्य भाग्य! आइए बाबूजी, आपके दर्शन भी हो गये। तार न जाता, तो आप क्यों आते?

चक्रधर—मुझे तो बिलकुल ख़बर ही न थी। तार पहुँचने पर हाल मालूम हुआ।

मनोरमा—ख़ैर, आपने बड़ी कृपा की। मुझे तो आपके आने की आशा न थी।

राजा—बार-बार कहती थीं वह न आयेंगे, उन्हें इतनी फ़ुरसत कहाँ; पर मेरा मन कहता था, आप यह समाचार पाकर रुक ही नहीं सकते। शहर के सब चिकित्सकों को देख चुका। किसी से कुछ न हो सका। अब तो ईश्वर ही का भरोसा है।

चक्रधर—मैं भी एक डाक्टर को साथ लाया हूँ। बहुत ही होशियार आदमी हैं।

मनोरमा—(बालक को देखकर) अच्छा! अहल्या देवी भी आई हैं। ज़रा यहाँ तो लाना अहल्या! इसे छाती से लगा लूँ।

राजा—इसकी सूरत सुखदा से बहुत मिलती है नोरा! बिलकुल उसका छोटा भाई मालूम होता है।

'सुखदा' का नाम सुनकर अहल्या पहले भी चौंकी थी। अब की वही शब्द सुनकर फिर चौंकी। बाल-स्मृति किसी भूले हुए स्वप्न की भाँति चेतना-क्षेत्र में आ गई। उसने घूँघट की आड़ से राजा साहब की ओर देखा। उसे अपने स्मृति-पट पर ऐसा ही आकार खिंचा हुआ। मालूम पड़ा।

बालक को स्पर्श करते ही मनोरमा के जर्जर शरीर में एक स्फूर्ति-सी दौड़ गई, मानों किसी ने बुझते हुए दीपक की बत्ती उकसा दी हो। बालक को छाती से लगाये हुए उसे अपूर्व आनन्द मिल रहा था, मानों बरसों के तृषित कंठ को शीतल जल मिल गया हो, और उसकी प्यास न बुझती हो। वह बालक को लिये हुए उठ बैठी और बोली—अहल्या, मैं अब यह लाल तुम्हें न दूँगी। यह मेरा है। तुमने इतने दिनों तक मेरी सुधि न ली, यह उसी की सज़ा है।

राजा साहब ने मनोरमा को सँभालकर कहा—लेट जाओ, लेट जाओ। देह में हवा लग रही है, क्या करती हो......।

किन्तु मनोरमा बालक को लिये हुए कमरे के बाहर निकल गई। राजा साहब भी उसके पीछे-पीछे दौड़े कि कहीं वह गिर न पड़े। कमरे में केवल चक्रधर और अहल्या रह गये। तब अहल्या धीरे से बोली—मुझे

अब याद आ रहा है कि मेरा भी नाम सुखदा था। जब मैं बहुत छोटी थी, तो मुझे लोग सुखदा कहते थे।

चक्रधर ने बेपरवाई से कहा—हाँ, यह कोई नया नाम नहीं।

अहल्या—मेरे बाबूजी की सूरत राजा साहब से बहुत मिलती थी।

चक्रधर ने उसी लापरवाई से कहा—हाँ, बहुत से आदमियों की सूरत मिलती है।

अहल्या—नहीं, बिल्कुल ऐसे ही थे।

चक्रधर—हो सकता है। २० वर्ष की सूरत अच्छी तरह ध्यान में भी तो नहीं रहती।

अहल्या—ज़रा तुम राजा साहब से पूछो तो कि आप की सुखदा कब खोई थी।

चक्रधर ने झुँझलाकर कहा—चुपचाप बैठो, तुम इतनी भाग्यवान् नहीं हो। राजा साहब की सुखदा कहीं खोई नहीं, मर गई होगी।

राजा साहब इसी वक्त बालक को गोद में लिये मनोरमा के साथ कमरे में आये। चक्रधर के अन्तिम शब्द उनके कान में पड़ गये। बोले—नहीं बाबूजी, मेरी सुखदा मरी नहीं, त्रिवेणी के मेले में खो गई थी। आज बीस साल हुए, जब मैं पत्नी के साथ त्रिवेणी का स्नान करने प्रयाग गया था। वहीं सुखदा खो गई। उसकी उम्र कोई चार साल की रही होगी। बहुत ढूँढा; पर कुछ पता न चला। उसकी माता उसके वियोग में स्वर्ग सिधारीं। मैं भी बरसों तक पागल बना रहा। अंत में सब्र करके बैठ रहा।

अहल्या ने सामने आकर निस्संकोच भाव से कहा—मैं भी तो त्रिवेणी के स्नान में खो गई थी। आगरा की सेवा-समितिवालों ने मुझे कहीं रोते पाया और मुझे आगरे ले गये। बाबू यशोदानंदन ने मेरा पालन-पोषन किया।

राजा—तुम्हारी क्या उम्र होगी बेटी?

अहल्या—चौबीसवाँ लगा है।

राजा—तुम्हें अपने घर की कुछ याद है ? तुम्हारे द्वार पर किस चीज़ का पेड़ था ?

अहल्या—शायद बरगद का पेड़ था। मुझे याद आता है कि मैं उसके गोदे चुन कर खाया करती थी।

राजा—अच्छा, तुम्हारी माता कैसी थीं, कुछ याद आता है ?

अहल्या—हाँ, याद क्यों नहीं आता। उनका साँवला रंग था, दुबली-पतली; लेकिन बहुत लंबी थीं। दिन-भर पान खाती रहती थीं।

राजा—घर में कौन-कौन लोग थे ?

अहल्या—मेरी एक बुढ़िया दादी थीं, जो मुझे गोद में लेकर कहानी सुनाया करती थीं। एक बूढ़ा नौकर था, जिसके कंधे पर मैं रोज़ सवार हुआ करती थी। द्वार पर एक बड़ा-सा घोड़ा बँधा रहता था। मेरे द्वार पर एक कुआँ था, पिछवाड़े एक बुढ़िया चमारिन का मकान था।

राजा ने सजल नेत्र होकर कहा—बस-बस, बेटी आ, तुझे छाती से लगा लूँ। तू ही मेरी सुखदा है। मैं बालक को देखते ही ताड़ गया था। मेरी सुखदा मिल गई! मेरी सुखदा मिल गई!

चक्रधर—अभी शोर न कीजिए। संभव है, आपको भ्रम हो रहा हो।

राजा—ज़रा भी नहीं, जौ-भर भी नहीं, मेरी सुखदा यही है। इसने जितनी बातें बताईं सब ठीक हैं। मुझे लेश-मात्र भी संदेह नहीं। आह! आज तेरी माता होती, तो उसे कितना आनन्द होता। क्या लीला है भगवान् की! मेरी सुखदा घर-बैठे मेरी गोद में आ गई। ज़रा-सी गई थी, बड़ी-सी आई, और मेरा शोक-संताप हरने को एक नन्हा-मुन्ना बालक भी लाई। आओ भैया चक्रधर, तुम्हें भी छाती से लगा लूँ। अब तक तुम मेरे मित्र थे, अब मेरे पुत्र हो। याद है, मैंने तुम्हें जेल भिजवाया था। मोरा, ईश्वर की लीला देखो। सुखदा घर में थी और मैं उसके नाम को रो बैठा था। अब मेरी सारी अभिलाषा पूरी हो गई, जिस बात की आशा तक मिट गई थी, वह पूरी हो गई।

चक्रधर विमन भाव से खड़े थे, मनोरमा अंगों फूली न समाती थी, अहल्या अभी तक खड़ी रो रही थीं। सहसा रोहिणी कमरे के द्वार से जाती हुई दिखाई दी। राजा साहब उसे देखते ही बाहर निकल आये और बोले—कहाँ जाती हो रोहिणी, मेरी सुखदा मिल गई, आओ देखो, यह उसका लड़का है।

रोहिणी वहीं ठिठक गई और संदेहात्मक भाव से बोली—क्या स्वर्ग से लौट आई है क्या?

राजा—नहीं-नहीं, आगरे में थी। देखो यह उसका लड़का है। मेरी सूरत इससे कितनी मिलती है। आओ, सुखदा को देखो। मेरी सुखदा खड़ी है।

रोहिणी ने वहीं खड़े-खड़े उत्तर दिया—यह आपकी सुखदा नहीं, रानी मनोरमा की माया-मूर्ति है, जिसके हाथों में आप कठपुतली की भाँति नाच रहे हैं।

राजा ने विस्मित होकर कहा—क्या यह मेरी सुखदा नहीं है, कैसी बात कहती हो। मैंने खूब परीक्षा करके देख लिया।

रोहिणी—ऐसे मदारी के खेल बहुत देख चुकी हूँ। भड़री भी आपको ऐसी बातें बता देता है, जो आपको आश्चर्य में डाल देती हैं। यह सब माया-लीला है।

राजा—क्यों व्यर्थ किसी पर आक्षेप करती हो रोहिणी! मनोरमा को भी तो वे बातें नहीं मालूम हैं, जो सुखदा ने मुझसे बता दीं। भला किसी गैर की लड़की को मनोरमा क्यों मेरी लड़की बनायेगी। इसमें उसका क्या स्वार्थ हो सकता है।

रोहिणी—वह हमारी जड़ खोदना चाहती है। क्या आप इतना भी नहीं समझते? चक्रधर को राजा बनाकर वह आपको कोने में बिठा देगी। यही बालक जो आपकी गोद में है, एक दिन आपका शत्रु होगा। यह सब सधी हुई बातें हैं। जिसे आप मिट्टी की गऊ समझते हैं, वह आप-जैसों को बाजार में बेच सकती है। किसकी बुद्धि इतनी ऊँची उड़ेगी!

राजा ने व्यग्र होकर कहा—अच्छा, अब चुप रहो रोहिणी ! मुझे मालूम हो गया कि तुम्हारे हृदय में मेरे अमंगल के सिवा और किसी भाव के लिए स्थान नहीं । आज न-जाने किसके पुण्य-प्रताप से ईश्वर ने मुझे यह शुभ दिन दिखाया है और तुम मुँह से ऐसे कुवचन निकाल रही हो । ईश्वर ने मुझे वह सब कुछ दे दिया, जिसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी । यह बाल-रत्न मेरी गोद में खेलेगा, इसकी किसे आशा थी। और ऐसे शुभ अवसर पर तुम यह विष उगल रही हो । मनोरमा के पैर की धूल की बराबरी भी तुम नहीं कर सकतीं । जाओ, मुझे तुम्हारा मुख देखते हुए रोमाञ्च होता है । तुम स्त्री के रूप में पिशाचिनी हो ।

यह कहते हुए राजा साहब उसी आवेश में दीवानखाने में आ पहुँचे । द्वार पर अभी तक कँगलों की भीड़ लगी हुई थी । दो-चार अमले अभी तक बैठे दफ़्तर में काम कर रहे थे । राजा साहब ने बालक को कंधे पर बिठाकर उच्च स्वर से कहा—मित्रो ! यह देखो, ईश्वर की असीम कृपा से मेरा नेवासा घर बैठे मेरे पास आ गया । तुम लोग जानते हो कि बीस साल हुए मेरी पुत्री सुखदा त्रिवेणी के स्नान में खो गई थी । वही सुखदा आज मुझे मिल गई है और यह बालक उसी का पुत्र है । आज से तुम लोग इसे अपना युवराज समझो । मेरे बाद यही मेरी रियासत का स्वामी होगा । गारद से कह दो, अपने युवराज की सलामी दे । नौबतखाने में कह दो, नौबत बजे । आज के सातवें दिन राजकुमार का अभिषेक होगा । अभी से उसकी तैयारी शुरू करो ।

यह हुक्म देकर राजा साहब बालक को गोद में लिये ठाकुरद्वारे में जा पहुँचे । वहाँ इस समय ठाकुरजी के भोग की तैयारियाँ हो रही थीं । साधु-संतों की मंडली जमा थी । एक पंडित कोई कथा कह रहे थे ; लेकिन श्रोता के कान उस घंटी की ओर लगे थे, जो ठाकुरजी की पूजा की सूचना देगी और जिसके बाद तर माल के दर्शन होंगे । सहसा राजा साहब ने आकर ठाकुरजी के सामने बालक को बैठा दिया और खुद साष्टांग दण्ड-

व्रत करने लगे। इतनी श्रद्धा से उन्होंने अपने जीवन में कभी ईश्वर की प्रार्थना न की थी। आज उन्हें ईश्वर से साक्षात्कार हुआ। उस अनुराग में उन्हें समस्त संसार आनन्द से नाचता हुआ मालूम हुआ। मालूम हुआ, ठाकुरजी स्वयं अपने सिंहासन से उतरकर बालक को गोद में लिये हुए हैं। आज उनकी चिर-संचित कामना पूरी हुई, और इस तरह पूरी हुई, जिसकी उन्हें कभी आशा न थी। यह ईश्वर की दया नहीं तो और क्या है? पुत्र-रत्न के सामने संसार की सम्पदा क्या चीज़ है! अगर पुत्र रत्न न हो, तो संसार की संपदा का मूल्य ही क्या है, जीवन की सार्थकता ही क्या है, कर्म का उद्देश्य ही क्या है? अपने लिए कौन दुनिया के मंसूबे बाँधता है? अपना जीवन तो मंसूबों में ही व्यतीत हो जाता है, यहाँ तक कि जब मंसूबे पूरे होने के दिन आते हैं, तो हमारी संसार-यात्रा समाप्त हो चुकी होती है। पुत्र ही आकांक्षाओं का स्रोत, चिन्ताओं का आगार, प्रेम का बंधन और जीवन का सर्वस्व है। वही पुत्र आज विशाल-सिंह को मिल गया था। उसे देख-देखकर उनकी आँखें आनंद से उमड़ी आती थीं, हृदय पुलकित हो रहा था। इस अबोध बालक को छाती से लगाकर उन्हें अपना बल शतगुण होता हुआ ज्ञात होता था। अब उनके लिए संसार ही स्वर्ग था।

पुजारीजी ने कहा—भगवान् राजकुँवर को चिरंजीव करें।

राजा ने अपनी हीरे की अँगूठी उसे दे दी। एक बाबाजी को इसी आशीर्वाद के लिए १०० बीघे माफ़ी ज़मीन मिल गई।

ठाकुरद्वारे से जब वह घर में आये, तो देखा, चक्रधर आसन पर बैठे भोजन कर रहे हैं और मनोरमा सामने खड़ी खाना परस रही है। उसके मुख-मंडल पर हार्दिक उल्लास की कान्ति झलक रही थी। कोई यह अनुमान ही न कर सकता था कि यह वही रोगिणी हैं, जो अभी दस मिनट पहले मृत्युशय्या पर पड़ी हुई थी।

३१

यौवन-काल जीवन का स्वर्ग है। बाल्य-काल में यदि हम कल्पनाओं के राग गाते हैं, तो यौवन-काल में हम उन्हीं कल्पनाओं का प्रत्यक्ष स्वरूप देखते हैं, और वृद्धावस्था में उसी स्वरूप का स्वप्न। कल्पना अपंग होती है, स्वप्न मिथ्या, जीवन का सार केवल प्रत्यक्ष में है। हमारी समस्त दैहिक और मानसिक शक्ति का विकास यौवन है, कली को कौन पूछे, अगर उसके फूल होने की आशा न हो और मुरझाया हुआ फूल जल में विसर्जित होने के सिवा और किस काम आता है? यदि समस्त संसार की सम्पदा एक ओर रख दी जाय, यौवन दूसरी ओर, तो ऐसा कौन प्राणी है, जो उस विपुल धन-राशि की ओर आँख उठाकर भी देखे। वास्तव में यौवन ही जीवन का स्वर्ग है, और रानी देवप्रिया की-सी सौभाग्यवती और कौन होगी, जिसके लिए यौवन के द्वार फिर खुल गये थे।

संध्या का समय था। देवप्रिया एक पर्वत की गुफ़ा में एक शिला पर अचेत पड़ी हुई थी। महेन्द्र उसके समीप बैठे हुए उसके मुख की ओर आशा-पूर्ण नेत्रों से देख रहे थे। उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है, मुख पीला पड़ गया है और आँखें भीतर घुस गई हैं, जैसे कोई यक्ष्मा का रोगी हो, यहाँ तक कि उन्हें साँस लेने में भी कष्ट होता है। जीवन का कोई चिन्ह है, तो उनके नेत्रों में आशा की झलक है। आज उनकी तपस्या का अंतिम दिन है, आज देवप्रिया का पुनर्जन्म होगा, सूखा हुआ वृक्ष नव-पल्लवों से लहरायेगा, आज फिर उसके यौवन-सरोवर में लहरें उठेंगी। आकाश में कुसुम खिलेंगे। वह बार-बार उसके चेतना-शून्य हृदय पर हाथ रखकर देखते हैं कि अभी रक्त का संचार होने में कितनी देर है,

और जीवन का कोई लक्षण न देखकर व्यग्र हो उठते हैं। इन्हें भय हो रहा है, मेरी तपस्या निष्फल तो न हो जायगी।

एकाएक महेन्द्र चौंककर उठ खड़े हुए। आत्मोल्लास से मुख चमक उठा। देवप्रिया की हृत्तन्त्रियों में जीवन के कोमल संगीत का कम्पन हो रहा था। जैसे वीणा के अस्फुट स्वरों से शनैः-शनैः गान का स्वरूप प्रस्फुटित होता है, जैसे मेघमण्डल से शनैः-शनैः इंदु की उज्ज्वल छवि प्रकट होती हुई दिखाई देती है, उसी भाँति देवप्रिया के श्रीहीन, संज्ञाहीन, प्राणहीन मुख-मंडल पर जीवन का स्वरूप अंकित होने लगा। एक क्षण में उसके नीले अधरों पर लालिमा छा गई, आँखें खुल गईं, मुख पर जीवन-श्री का विकास हो गया। उसने एक अँगड़ाई ली और विस्मित नेत्रों से इधर-उधर देखकर शिला-शय्या से उठ बैठी! कौन कह सकता था कि वह महानिद्रा की गोद से निकल कर आई है? उसका मुख-चन्द्र अपनी सोलहों कलाओं से आलोकित हो रहा था। यह वही देवप्रिया थी, जो आशा और भय से काँपता हुआ हृदय लिये आज से चालीस वर्ष पहले पति-गृह में आई थी। वही यौवन का माधुर्य था, वही नेत्रों को मुग्ध करनेवाली छवि थी, वही सुधामय मुसकान, वही सुकोमल गात! उसे अपने पोर-पोर में नये जीवन का अनुभव हो रहा था; लेकिन कायाकल्प हो जाने पर भी उसे अपने पूर्व-जीवन की सारी बातें याद थीं। वैधव्य-काल की विलासिता, भीषण रूप धारण करके उसके सामने खड़ी थी। एक क्षण तक लज्जा और ग्लानि के कारण वह कुछ बोल न सकी। अपने पति की इस प्रेम-मय तपस्या के सामने उसका विलास-मय जीवन कितना घृणित, कितना लज्जास्पद था।

महेन्द्र ने मुसकिराकर कहा—प्रिये, आज मेरा जीवन सफल हो गया। अभी एक क्षण पहले तुम्हारी दशा देखकर मैं अपने दुस्साहस पर पछता रहा था।

देवप्रिया ने महेन्द्र को प्रेम-मुग्ध नेत्रों से देखकर कहा—प्राणनाथ,

तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसका धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

देवप्रिया को प्रबल इच्छा हुई कि स्वामी के चरणों पर सिर रख दूँ और कहूँ, तुमने मेरा उद्धार कर दिया, मुझे वह अलभ्य वस्तु प्रदान कर दी, जो आज तक किसी ने न पाई थी, जो सर्वदा से मानव-कल्पना का स्वर्ण-स्वप्न रही है ; पर संकोच ने जबान बंद कर दी।

महेन्द्र—सच कहना, तुम्हें विश्वास था कि मैं तुम्हारी कायाकल्प कर सकूँगा ?

देवप्रिया—प्रियतम, यह तुम क्यों पूछते हो ? मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास न होता, तो आती ही क्यों ?

देवप्रिया को अपनी मुख-छवि देखने की बड़ी तीव्र इच्छा हो रही थी। एक शीशे के टुकड़े के लिए इस समय वह क्या कुछ न दे डालती !

सहसा महेन्द्र फिर बोले—तुम्हें मालूम है, इस क्रिया में कितने दिन लगे ?

देवप्रिया—मैं क्या जानूँ, कितने दिन लगे ?

महेन्द्र—पूरे तीन साल।

देवप्रिया—तीन साल ! तीन साल से तुम मेरे लिए यह तपस्या कर रहे हो ?

महेन्द्र—तीन क्या अगर तीस साल भी यह तपस्या करनी पड़ती, तो मैं न घबराता।

देवप्रिया ने सकुचाते हुए पूछा—ऐसा तो न होगा कि कुछ ही दिनों में यह चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरा पाख हो जाय ?

महेन्द्र—नहीं प्रिये, इसकी कोई शंका नहीं।

देवप्रिया—और हम इस वक्त हैं कहाँ ?

महेन्द्र—एक पर्वत की गुफा में। मैंने अपने राज्याधिकार मन्त्री को

सौंप दिये और तुम्हें लेकर यहाँ चला आया। राज्य की चिन्ताओं में पड़कर मैं यह सिद्धि कभी न प्राप्त कर सकता। तुम्हारे लिए मैं ऐसे-ऐसे कई राज्य त्याग सकता था।

देवप्रिया को अब ऐसी वस्तु मिल गई थी, जिसके सामने राज्य-वैभव की कोई हस्ती न थी। वन्य जीवन की कल्पना उसे अत्यन्त सुखद जान पड़ी। प्रेम का आनन्द भोगने के लिए, स्वामी के प्रति अपनी भक्ति दिखाने के लिए, यहाँ जितने मौके थे, उतने राजभवन में कहाँ मिल सकते थे? उसे विलास की लेशमात्र भी आकांक्षा न थी। वह पति-प्रेम का आनन्द उठाना चाहती थी। प्रसन्न होकर बोली—यह तो मेरे मन की बात हुई।

महेन्द्र ने चकित होकर पूछा—मुझे खुश करने के लिए यह बात कह रही हो या दिल से? मुझे तो इस विषय में बड़ी शंका थी।

देवप्रिया—नहीं प्राणनाथ, दिल से कह रही हूँ। मेरे लिए जहाँ तुम हो, वहीं सब कुछ है।

महेन्द्र ने मुसकिराकर कहा—अभी तुमने इस जीवन के कष्टों का विचार नहीं किया। ज्येष्ठ-वैशाख की लू और लपट, शीतकाल की हड्डियों में चुभनेवाली हवा और वर्षा की मूसलधार वृष्टि की कल्पना तुमने नहीं की। मुझे भय है कि शायद तुम्हारा कोमल शरीर उन कष्टों को न सह सकेगा।

देवप्रिया ने निश्शंक भाव से कहा—तुम्हारे साथ मैं सब कुछ आनन्द से सह सकती हूँ।

उसी वक्त देवप्रिया ने गुफा से बाहर निकलकर देखा, तो चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था; लेकिन एक ही क्षण में उसे वहाँ की सब चीजें दिखाई देने लगीं। अन्धकार वही था; पर उसकी आँखें उसमें प्रवेश कर गई थीं। सामने ऊँची पहाड़ियों की श्रेणियाँ अप्सराओं के विशाल भवनों की-सी मालूम होती थीं। दाहिने ओर वृक्षों के समूह साधुओं की कुटियों

के समान दीख पड़ते थे और बाईं ओर एक रत्न-जटित नदी किसी चञ्चल पनिहारिन की भाँति मीठे राग गाती, अठिलाती चली जाती थी। फिर उसे गुफा से नीचे उतरने का मार्ग साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। अन्धकार वही था; पर उसमें कितना प्रकाश आ गया था!

उसी क्षण देवप्रिया के मन में एक विचित्र शंका उत्पन्न हुई—मेरा वह निकृष्ट जीवन कहीं फिर तो मेरा सर्वनाश न कर देगा!

३२

राजा विशालसिंह ने इधर कई साल से राज-काज छोड़-सा रक्खा था। मुंशी वज्रधर और दीवान साहब की चढ़ बनी थी। गुरुसेवकसिंह भी अपने राग-रंग में मस्त थे। सेवा और प्रेम का आवरण उतारकर अब वह पक्के विलासी हो गये थे। प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता अगर किसी को थी, तो वह मनोरमा थी। राजा साहब के सत्य और न्याय का उत्साह ठंडा पड़ गया था। मनोरमा को पाकर उन्हें किसी चीज की सुधि न थी। उन्हें एक क्षण के लिए भी मनोरमा से अलग होना असह्य था। जैसे कोई दरिद्र प्राणी कहीं से विपुल धन पा जाय और रात-दिन उसी की चिन्ता में पड़ा रहे, वही दशा राजा साहब की थी। मनोरमा उनका जीवन-धन थी। उनकी दृष्टि में मनोरमा फूल की पँखड़ी से भी कोमल थी; उसे कुछ हो न जाय, यही भय उन्हें बना रहता था। अन्य रानियों की अब वह खुशामद करते रहते थे, जिसमें वे मनोरमा को कुछ कह न बैठें। मनोरमा को बात कितनी लगती है, इसका अनुभव उन्हें हो चुका था। रोहिणी के एक व्यंग्य ने उसे काशी छोड़कर इस गाँव में ला बिठाया था। वैसा ही दूसरा व्यंग्य उसके प्राण ले सकता था! इसलिए वह रानियों को खुश रखना चाहते थे, विशेषकर रोहिणी को, हालाँकि वह मनोरमा को जलाने का कोई अवसर हाथ से न जाने देती थी।

लेकिन इस बालक ने आकर राजा साहब के जीवन में एक नवीन उत्साह का संचार कर दिया। अब तक उनके जीवन का कोई लक्ष्य न था। मन में प्रश्न होता था, किसके लिए मरूँ? कौन रोनेवाला बैठा हुआ है? प्रतिमा ही न थी, तो मन्दिर की रचना कैसे होती। अब वह

प्रतिमा आ गई थीं, जीवन का लक्ष्य मिल गया था। अब वह राज-काज से क्यों विरक्त रहते ? मुंशीजी अब तक तो दीवान साहब से मिलकर अपना स्वार्थ साधते रहते थे ; पर अब वह कब किसी को गिनने लगे थे! ऐसा मालूम होता था कि अब वही राजा हैं। दीवान साहब से एक दिन किसी बात पर तकरार हो गई। वैमनस्य हो गया। दीवान साहब अगर मनोरमा के पिता थे, तो मुंशीजी राजकुमार के दादा थे। फिर दोनों में कौन दबता ? कर्मचारियों पर कभी ऐसी फटकारें न पड़ी थीं। मुंशीजी को देखते ही बेचारे थरथर काँपने लगते थे। भाग्य किसी का चमके, तो ऐसे चमके ! कहाँ पेंशन के पच्चीस रुपयों पर गुजर-बसर होती थी, कहाँ अब रियासत के मालिक थे। राजा साहब भी उनका अदब करते थे। अगर कोई अमला उनके हुक्म की तामील करने में देर करता, तो जामे से बाहर हो जाते। बात पीछे करते, निकालने की धमकी पहले देते। यहाँ तुम्हारे हथकण्डे एक न चलेंगे, याद रखना। जो तुम आज कर रहे हो, वह सब किये बैठा हूँ। एक-एक को निगल जाऊँगा। अब वह मुंशीजी नहीं हैं, जिनकी बात इस कान से सुनकर उस कान से उड़ा दिया करते थे। अब मुंशीजी रियासत के मालिक हैं।

इसमें किसको आपत्ति करने का कब साहस हो सकता था ? हाँ, सुननेवालों को ये बातें बुरी जरूर मालूम होती थीं। चक्रधर के कानों में कभी ये बातें पड़ जातीं, तो वह ज़मीन में गड़-से जाते थे। मारे लज्जा के उनकी गरदन झुक जाती थी। वह आजकल मुंशीजी से बहुत कम बोलते। अपने घर भी केवल एक बार गये थे। वहाँ माता की बातें सुनकर उनको फिर जाने की इच्छा न होती थी। मित्रों से मिलना-जुलना उन्होंने बहुत कम कर दिया था ; हालाँकि अब उनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। वास्तव में यहाँ का जीवन उनके लिए असह्य हो गया था। वह फिर अपनी शांति-कुटीर को लौट जाना चाहते थे। यहाँ आये दिन कोई-न-कोई बात हो जाती थी, जो दिन-भर उनके चित्त को व्यग्र रखने को

काफी होती थी। कहीं कर्मचारियों में जूती-पैजार होती थी, कहीं ग़रीब असामियों पर डाँट-फटकार, कहीं रनिवास में रगड़-झगड़ होती थी, तो कहीं इलाके में दंगा-फिसाद। उन्हें स्वयं कभी-कभी कर्मचारियों की तम्बीह करनी पड़ती, कई बार उन्हें विवश होकर नौकरों को मारना भी पड़ा था। सबसे कठिन समस्या यही थी कि यहाँ उनके पुराने सिद्धांत भङ्ग होते चले जाते थे। वह बहुत चेष्टा करते थे कि मुँह से एक भी अशिष्ट शब्द न निकले; पर प्रायः नित्य ही ऐसे अवसर आ पड़ते कि उन्हें विवश होकर दण्डनीति का आश्रय लेना पड़ता था।

लेकिन अहल्या इस जीवन का चरम सुख भोग कर रही थी। बहुत दिनों तक दुःख झेलने के बाद उसे यह सुख मिला था और वह उसमें मग्न थी। अपने पुराने दिन उसे बहुत जल्द भूल गये थे और उनकी याद दिलाने से उसे दुःख होता था। उसका रहन-सहन बिलकुल बदल गया था। वह अच्छी खासी अमीरज़ादी बन गई थी। सारे दिन आमोद-प्रमोद के सिवा उसे दूसरा काम न था। पति के दिल पर क्या गुज़र रही है, यह सोचने का कष्ट वह क्यों उठाती? जब वह खुश थी, तब उसके स्वामी भी अवश्य खुश होंगे। राज्य पाकर कौन रोता है? उसकी मुख-छवि अब पूर्ण-चन्द्र की भाँति तेजमय हो गई थी। उसकी वह सरलता, वह नम्रता, वह कर्मशीलता गायब हो गई थी। चतुर गृहिणी अब एक सगर्वा, विशाल यौवनवाली कामिनी थी, जिसकी आँखों से मद छलका पड़ता था। चक्रधर ने जब उसे पहली बार देखा था, तब वह एक मुरझाई हुई कली थी और मनोरमा एक खिला हुआ, प्रभात की स्वर्णमयी किरणों से विहसित फूल। अब मनोरमा अहल्या हो गई थी और अहल्या मनोरमा। अहल्या पहर दिन चढ़े अँगड़ाइयाँ लेती हुई शयनागार से निकलती। मनोरमा पहर रात ही से घर या राज्य का कोई-न-कोई काम करने लगती थी। शंखधर अब मनोरमा ही के पास रहता था, वही उसका लालन-पालन करती थी। अहल्या केवल कभी-कभी उसे गोद में लेकर प्यार कर लेती, मानों किसी

दूसरे का बालक हो। बालक भी अब उसकी गोद में आते हुए झिझकता था। मनोरमा ही अब उसकी माता थी। मनोरमा की जान अब उसमें थी और उसकी मनोरमा में। कभी-कभी एकान्त में मनोरमा बालक को गोद में लिये घंटों मुँह छिपाकर रोती। उसके अंतस्तल में अहर्निश एक शूल-सा होता रहता था, हृदय में नित्य एक अग्नि-शिखा प्रज्वलित रहती थी, और जब किसी कारण से वेदना और जलन बढ़ जाती, तो उसके मुख से एक आह, और आँखों से आँसू की चार बूँदें निकल पड़ती थीं। बालक भी उसे रोते देखकर रोने लगता। तब मनोरमा आँसुओं को पी जाती और हँसने की चेष्टा करके बालक को छाती से लगा लेती। उसकी तेजस्विता गहन चिंता और गंभीर विचार में रूपान्तरित हो गई थी। वह अहल्या से दबती थी; पर अहल्या उससे खिंची-सी रहती। कदाचित् वह मनोरमा के अधिकारों को छीनना चाहती थी, उसके प्रबन्ध में दोष निकालती रहती थी; पर रानी अपने अधिकारों से जी-जान से चिमटी हुई थी, उनका अल्पांश भी न त्यागना चाहती थी; बल्कि दिन-दिन उन्हें और बढ़ाती जाती थी। यही उसके जीवन का आधार था।

अब चक्रधर अहल्या से अपने मन की बातें कभी न कहते थे। यह सम्पदा उनका सर्वनाश किये डालती थी। क्या अहल्या यह सुख-विलास छोड़कर मेरे साथ चलने पर राज़ी होगी? उन्हें शंका होती थी, कहीं वह इस प्रस्ताव को हँसी में न उड़ा दे, या मुझे रुकने के लिए मजबूर न करे। अगर वह दृढ़ भाव से एक बार कह देगी, तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते, तो वह कैसे जायँगे? उन्हें इसका क्या अधिकार है कि उसे अपने साथ विपत्ति झेलने के लिए कहें। अगर उन्होंने कहा, और वह धर्म-संकट में पड़कर उनके साथ चलने पर तैयार भी हो गई, तो मनोरमा शंखधर को कब छोड़ेगी? क्या शंखधर को छोड़कर अहल्या उनके साथ जायगी? जाकर प्रसन्न रहेगी? अगर बालक को मनोरमा ने दे भी दिया, तो क्या वह इस वियोग की वेदना सह सकेगी? इसी प्रकार

के कितने ही प्रश्न चक्रधर के मन में उठते रहते थे और वह किसी भाँति अपने कर्तव्य का निश्चय न कर सकते थे। केवल एक बात निश्चित थी—वह इन बन्धनों में पड़कर अपना जीवन नष्ट न करना चाहते थे, संपत्ति पर अपने सिद्धान्तों को भेंट न कर सकते थे।

एक दिन चक्रधर बैठे कुछ पढ़ रहे थे कि मुंशीजी ने आकर कहा—बेटा, ज़रा एक बार रियासत का दौरा क्यों नहीं कर आते, आखिर दिन-भर पड़े ही तो रहते हो? मेरी समझ में ही नहीं आता, तुम किस रंग के आदमी हो। बेचारे राजा साहब अकेले कहाँ-कहाँ देखेंगे और क्या-क्या देखेंगे? रहा मैं, सो किसी मसरफ का नहीं। मुझसे किसी दावत या बरात या मजलिस का प्रबन्ध करने के सिवा अब और क्या हो सकता है। गाँव-गाँव दौड़ना अब मुझसे नहीं हो सकता। अब तो ईश्वर की दया से रियासत अपनी है। तुम्हीं इतनी लापरवाई करोगे, तो कैसे काम चलेगा? हाथी, घोड़े, मोटरें सब कुछ मौजूद हैं। कभी-कभी इधर-उधर चक्कर लगा आया करो। इसी तरह धाक बैठेगी। घर में बैठे-बैठे तुम्हें कौन जानता है?

चक्रधर ने उदासीन भाव से कहा—मैं इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता। मैं तो यहाँ से जाने को तैयार बैठा हुआ हूँ।

मुंशीजी चक्रधर का मुँह ताकने लगे। बात इतनी अश्रुत-पूर्व थी कि उनकी समझ ही में न आई। पूछा—क्या अब भी वही सनक सवार है?

चक्रधर—आप उसे सनक—पागलपन—जो चाहें समझें; पर मुझे तो उसमें जितना आनन्द आता है, उतना इस हरबोंग में नहीं आता। आपको तो मेरी यही सलाह है, आराम से घर में बैठकर भगवान् का भजन कीजिए। मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा, आपकी मदद करता रहूँगा।

मुंशी—बेटा, मुझे मालूम होता है, तुम अपने होश में नहीं हो। बिस्वे-बिस्वे के लिए तो खून की नदियाँ बह जाती हैं और तुम इतनी बड़ी

रियासत पाकर ऐसी बातें करते हो। तुम्हें हो क्या गया है? बेटा, इन बातों में कुछ नहीं रक्खा है। अब तुम समझदार हुए, उन पुरानी बातों को दिल से निकाल डालो। भगवान् ने तुम्हारे ऊपर कृपादृष्टि फेरी है। उसको धन्यवाद दो और राज्य का इंतजाम अपने हाथ में लो। तुम्हें करना ही क्या है, करनेवाले तो कर्मचारी हैं, बस ज़रा डाँट-फटकार करते रहो, नहीं कर्मचारी लोग शेर हो जायँगे, तो फिर काबू में न आयँगे।

चक्रधर को अब मालूम हुआ कि मैं शान्त बैठने भी न पाऊँगा, आज लालाजी ने यह उपदेश दिया है, सम्भव है कल अहल्या को भी मेरा एकांत-वास बुरा मालूम हो। वह भी मुझे उपदेश करे, राजा साहब भी कोई काम गले मढ़ दें। अब जल्द ही यहाँ से बोरिया-बँधना सँभालना चाहिए; मगर इसी सोच-विचार में एक महीना और गुजर गया और वह कुछ निश्चय न कर सके। उस हलचल की कल्पना करके उनकी हिम्मत छूट जाती थी, जो उनका प्रस्ताव सुनकर अन्दर से बाहर तक मच जायगी, अहल्या रोयेगी, मनोरमा कुढ़ेगी; पर मुँह से कुछ न कहेगी, लालाजी जामे से बाहर हो जायँगे, और राजा साहब एक ठंडी साँस लेकर सिर झुका लेंगे।

एक दिन चक्रधर मोटर पर हवा खाने निकले। गरमी के दिन थे। जी बेचैन था। हवा लगी, तो देहात की तरफ़ जाने का जी चाहा। बढ़ते ही गये, यहाँ तक कि अँधेरा हो गया। शोफर को साथ न लिया था। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, सड़क खराब आती जाती थी। सहसा उन्हें रास्ते में एक बड़ा साँड़ दिखाई दिया। उन्होंने बहुत शोर मचाया; पर साँड़ न हटा? जब समीप आने पर भी साँड़ राह में खड़ा ही रहा, तो उन्होंने कतराकर निकल जाना चाहा; पर साँड़ सिर झुकाये फोंफों करता, फिर सामने आ खड़ा हुआ। चक्रधर छड़ी हाथ में लेरक नीचे उतरे कि उसे भगा दें; पर वह भागने के बदले उनके पीछे दौड़ा। कुशल यह हुई कि सड़क के किनारे एक पेड़ मिल गया, नहीं तो उनकी जान जाने में कोई

संदेह ही न था। जी छोड़कर भागे और छड़ी फेंक पेड़ की एक शाख पकड़कर लटक गये। साँड़ एक मिनट तक तो पेड़ से टक्कर लेता रहा; पर जब चक्रधर न मिले, तो वह मोटर के पास लौट गया और उसे सींगों से पीछे को ठेलता हुआ दौड़ा। कुछ दूर के बाद मोटर सड़क से हटकर एक वृक्ष से टकरा गई। अब साँड़ पूँछ उठा-उठाकर कितना ही ज़ोर लगाता है, पीछे हट-हटकर उसमें टक्करें मारता है; पर वह जगह से नहीं हिलती। तब उसने बगल में जाकर इतनी ज़ोर से टक्कर लगाई कि मोटर उलट गई। फिर भी साँड़ ने उसका पिंड न छोड़ा, कभी उसके पहियों से टक्कर लेता, कभी पीछे की तरफ़ ज़ोर लगाता। मोटर के पहिये फट गये, कई पुरजे टूट गये; पर साँड़ बराबर उस पर आघात किये जाता था। चक्रधर शाख पर बैठे तमाशा देख रहे थे। मोटर की तो फ़िक्र न थी, फ़िक्र यह थी कि घर कैसे लौटेंगे। चारों ओर सन्नाटा था। कोई आदमी न आता-जाता था। अभी मालूम नहीं, साँड़ कितनी देर तक मोटर से लड़ेगा और कितनी देर तक उन्हें वृक्ष पर टँगे रहना पड़ेगा। अगर उनके पास इस वक्त बन्दूक होती; तो साँड़ को मार ही डालते। दिल में साँड़ छोड़ने की प्रथा पर झुँझला रहे थे। अगर मालूम हो जाय, किसका साँड़ है, तो सारी जायदाद बिकवा लूँ। पाजी ने साँड़ छोड़ रक्खा है!

साँड़ ने जब देखा कि शत्रु की धज्जियाँ उड़ गईं और अब वह शायद फिर न उठे, तो डँकारता हुआ एक तरफ़ को चला गया। तब चक्रधर नीचे उतरे और मोटर के समीप जाकर देखा, तो वह उलटी पड़ी हुई थी। जब तक सीधी न हो जाय, यह पता कैसे चले कि क्या-क्या चीज़ें टूट गई हैं और अब वह चलने योग्य है, या नहीं। अकेले मोटर को सीधा करना एक आदमी का काम न था। सोचने लगे, आदमियों को कहाँ से लाऊँ। इधर से तो शायद अब रात-भर कोई न निकलेगा। पूर्व की ओर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव था। चक्रधर उसी तरफ़ चले। रास्ते में इधर-उधर ताकते जाते थे कि कहीं साँड़ न आता हो, नहीं तो यहाँ सपाट मैदान में

कहीं वृक्ष भी नहीं हैं; मगर साँड़ न मिला और वह गाँव में जा पहुँचे। बहुत छोटा-सा 'पुरवा' था। किसान लोग अभी थोड़ी ही देर पहले ऊख की सिंचाई करके आये थे। कोई बैलों को सानी-पानी दे रहा था, कोई खाने जा रहा था, कोई गाय दुह रहा था। सहसा चक्रधर ने जाकर पूछा—यह कौन गाँव है?

एक आदमी ने जवाब दिया—भैंसौर।

चक्रधर—किसका गाँव है?

किसान—महाराज का। कहाँ से आते हो?

चक्रधर—हम महाराज ही के यहाँ से आते हैं। वह बदमाश साँड़ किसका है, जो इस वक्त सड़क पर घूमा करता है?

किसान—यह तो नहीं जानते साहब; पर उसके मारे नाकोंदम है। उधर से किसी को निकलने ही नहीं देता। जिस गाँव में चला आता है, दो-एक बैलों को मार डालता है। बहुत तंग कर रहा है सरकार!

चक्रधर ने साँड़ के आक्रमण का जिक्र करके कहा—तुम लोग मेरे साथ चलकर मोटर को उठा दो।

इस पर एक दूसरा किसान अपने द्वार पर से बोला—सरकार, भला रात को मोटर को उठवाकर क्या कीजिएगा। वह चलने लायक तो होगी नहीं।

चक्रधर—तो तुम लोगों को उसे ठेलकर ले चलना पड़ेगा।

पहला किसान—सरकार, रात-भर यहीं ठहरें, सबेरे चलेंगे। न चलने लायक होगी, तो गाड़ी पर लादकर पहुँचा देंगे।

चक्रधर ने झल्लाकर कहा—कैसी बातें करते हो जी! मैं रात-भर यहाँ पड़ा रहूँगा! तुम लोगों को इसी वक्त चलना होगा।

चक्रधर को उन आदमियों में कोई न पहचानता था। समझे, राजाओं के यहाँ सभी तरह के लोग आते-जाते रहते हैं, होंगे कोई। फिर वे सभी जाति के ठाकुर थे, और ठाकुर से सहायता के नाम से जो काम चाहे ले लो, बेगार के नाम से उनकी त्योरियाँ बदल जाती हैं। किसान ने कहा—

साहब, इस वखत तो हमारा जाना न होगा। मगर बेगार चाहते हों, तो वह उत्तर की ओर दूसरा गाँव है, वहाँ चले जाइए। बहुत्त चमार मिल जायँगे।

चक्रधर ने गुस्से में आकर कहा—मैं कहता हूँ तुमको चलना पड़ेगा।

किसान ने दृढ़ता से कहा—तो साहब इस ताव पर तो हम न जायँगे। पासी-चमार नहीं हैं, हम भी ठाकुर हैं।

यह कहकर वह घर में जाने लगा।

चक्रधर को ऐसा क्रोध आया कि उसका हाथ पकड़कर घसीट लूँ और ठोकर मारते हुए ले चलूँ; मगर उन्होंने जब्त करके कहा—मैं सीधे से कहता हूँ, तो तुम लोग उड़नघाइयाँ बताते हो, अभी कोई चपरासी आकर दो घुड़कियाँ जमा देता, तो सारा गाँव भेड़ की भाँति उसके पीछे चला जाता।

किसान वहीं खड़ा हो गया और बोला—सिपाही क्यों घुड़कियाँ जमावेगा, कोई चोर हैं। हमारी खुशी, नहीं जाते। आपको जो करना हो कर लीजिएगा!

चक्रधर से जब्त न हो सका। छड़ी हाथ में थी ही। वह बाज की तरह किसान पर टूट पड़े और एक धक्का देकर कहा—चलता है या जमाऊँ दो-चार हाथ। तुम लात के आदमी बात से क्यों मानने लगे!

चक्रधर कसरती आदमी थे। किसान धक्का खाकर गिर पड़ा। यों वह भी करारा आदमी था। उलझ पड़ता, तो चक्रधर आसानी से उसे न गिरा सकते; पर वह रोब में आ गया। सोचा कोई हाकिम हैं, नहीं तो इसकी इतनी हिम्मत न पड़ती कि हाथ उठाये। सँभलकर उठने लगा। चक्रधर ने समझा, शायद यह उठकर मुझपर वार करेगा। लपककर फिर एक धक्का दिया। सहसा सामने वाले घर में से एक आदमी लालटेन लिये हुए बाहर निकल आया और चक्रधर को देखकर बोला—अरे भगतजी! तुमने यह भेष कब से धारन किया। मुझे पहचानते हो? हम भी तुम्हारे साथ जेहल में थे।

चक्रधर उसे तुरत पहचान गये। यह उनका जेल का साथी धन्नासिंह था। चक्रधर का सारा क्रोध हवा हो गया। लजाते हुए बोले—क्या तुम्हारा घर इसी गाँव में है, क्या धन्ना ?

धन्नासिंह—हाँ साहब, यह आदमी जिसे आप ठोकरें मार रहे हैं, मेरा सगा भाई है। खाना खा रहा था। खाना छोड़कर जब तक उठूँ, तब तक तो तुम गरमा ही गये। तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया? जेहल में तो तुम दया और धरम के देवता बने हुए थे। क्या वह दिखावा-ही-दिखावा था ? निकला तो था कुछ और ही सोचकर; मगर तुम अपने पुराने साथी निकले। कहाँ तो दरोगा को बचाने के लिए अपनी छाती पर संगीन रोक ली थी, कहाँ आज जरा-सी बात पर इतने तेज पड़ गये।

चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया। मुँह से बात न निकली। वह अपनी सफाई में एक शब्द भी न बोल सके। उनके जीवन की सारी कमाई, जो उन्होंने न-जाने कौन-कौन से कष्ट सहकर बटोरी थी, यहाँ लुट गई। उनके मन की सारी सद्वृत्तियाँ आहत होकर तड़पने लगीं। एक ओर उनकी न्याय-बुद्धि मर्दित होकर किसी अनाथ बालक की भाँति दामन में मुँह छिपाये रो रही थी, दूसरी ओर लज्जा किसी पिशाचिनी की भाँति उनपर आग्नेय बाणों का प्रहार कर रही थी।

धन्नासिंह ने अपने भाई का हाथ पकड़ कर बैठाना चाहा, तो वह ज़ोर से 'हाय ! हाय !' करके चिल्ला उठा। दूसरी बार गिरते समय उसका दाहना हाथ उखड़ गया था। धन्नासिंह ने समझा उसका हाथ टूट गया। चक्रधर के प्रति उसकी रही-सही भक्ति भी गायब हो गई। उनकी ओर आरक्त नेत्रों से देखकर बोला—सरकार, आपने तो इसका हाथ ही तोड़ दिया। (ओठ चबाकर) क्या कहूँ, अपने द्वार पर आये हो और कुछ पुरानी बातों का खयाल है, नहीं इस समय क्रोध तो ऐसा आ रहा है कि इस तरह तुम्हारे हाथ भी तोड़ दूँ। यह तुम इतने बदल कैसे गये ! अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास न

आता। जरूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गई है ; मगर यह न समझो कि हम अनाथ हैं। अभी जाकर महाराज के द्वार पर फरियाद करें, तो तुम खड़े-खड़े बँध जाओ। बाबू चक्रधरसिंह का नाम तो तुमने सुना ही होगा। अब किसी सरकारी आदमी की मजाल नहीं कि बेगार ले सके, तुम बेचारे किस गिनती में हो। ओहदा पाकर अपने दिन भूल न जाना चाहिए। तुम्हें मैं अपना गुरु और देवता समझता था। तुम्हारे ही उपदेश से मेरी वह पुरानी आदतें छूट गईं। गाँजा और चरस तभी से छोड़ दिया, जुए के नगीच नहीं जाता, जिस लाठी से सैकड़ों सिर फोड़ डाले होंगे, वह अब टूटी पड़ी है। मुझे तो तुमने यह उपदेश दिया और आप लगे गरीबों को कुचलने। मन्नासिंह ने इतना ही न कहा था कि रात को यहीं ठहर जाओ, सवेरे हम चलकर तुम्हारी मोटर पहुँचा देंगे। इसमें क्या बुराई थी। अगर मैं उसकी जगह होता, तो कह देता तुम्हारा गुलाम नहीं हूँ, जैसे चाहो अपनी मोटर ले जाओ, मुझसे मतलब नहीं ; मगर उसने तो तुम्हारे साथ भलमनसी की और तुम उसे मारने लगे। अब बताओ, इसके हाथ की क्या दवा की जाय? सच है, पद पाकर सबको मद हो जाता है।

चक्रधर ने ग्लानि-वेदना से व्यथित स्वर में कहा—धन्नासिंह, मैं बहुत लज्जित हूँ, मुझे क्षमा करो। जो दंड चाहो दो, सिर झुकाए हुए हूँ, जरा भी सिर न हटाऊँगा, एक शब्द भी मुँह से न निकालूँगा।

यह कहते-कहते उनका गला फँस गया। धन्नासिंह भी गद्गद हो गया। बोला—अरे भगतजी, ऐसी बातें न कहो। तुम मेरे गुरु हो, तुम्हें मैं अपना देवता समझता हूँ। क्रोध में आदमी के मुँह से दो-चार कड़ी बातें निकल ही जाती हैं, उनका खयाल न करो। भैया, भाई का नाता बड़ा गहरा होता है। भाई चाहे अपना शत्रु भी हो ; लेकिन कौन आदमी है, जो भाई को मार खाते देखकर क्रोध को रोक सके। मुझे अपना वैसा ही दास समझो, जैसे जेहल में समझते थे। तुम्हारी मोटर कहाँ है, चलो मैं उसे उठाये देता हूँ ; या हुक्म हो तो गाड़ी जोत लूँ?

चक्रधर ने रोकर कहा—जब तक इनका हाथ अच्छा न हो जायगा, तब तक मैं कहीं न जाऊँगा धन्नासिंह । हाँ, कोई आदमी ऐसा मिले, जो यहाँ से जगदीशपुर जा सके, तो उसे मेरी एक चिट्ठी दे दो ।

धन्नासिंह—जगदीशपुर में तुम्हारा कौन है भैया ? क्या रियासत में नौकर हो गये हो ?

चक्रधर—नौकर नहीं हूँ । मैं मुंशी वज्रधर का लड़का हूँ ।

धन्नासिंह ने विस्मित होकर कहा—सरकार ही बाबू चक्रधरसिंह हैं ! धन्य भाग्य थे कि सरकार के आज दरसन हुए ।

यह कहते हुए वह दौड़कर घर में गया और एक चारपाई लाकर द्वार पर डाल दी । फिर लपक कर गाँव में खबर दे आया । एक क्षण में गाँव के सब आदमी आकर चक्रधर को नज़रें देने लगे । चारों ओर हलचल-सी मच गई । सब-के-सब उनके यश गाने लगे । जब से सरकार आये हैं, हमारे दिन फिर गये हैं, आपका शील-स्वभाव जैसा सुनते थे, वैसा ही पाया । आप साक्षात् भगवान् हैं ।

धन्नासिंह ने कहा—मैंने तो पहचाना ही नहीं । क्रोध में न-जाने क्या-क्या बक गया ।

दूसरा ठाकुर बोला—सरकार अपने को खोल देते, तो हम मोटर को कन्धों पर लादकर ले चलते । हजूर के लिए जान हाजिर है । मन्नासिंह मरदे आदमी, हाथ झटक कर उठ खड़े हो, तुम्हारे तो भाग्य खुल गये ।

मन्नासिंह ने कराहकर मुसकिराते हुए कहा—सरकार देखने में तो दुबले-पतले हैं ; पर आपके हाथ-पाँव लोहे के हैं । मैंने सरकार से भिड़ना चाहा ; पर आपने एक ही अड़ंगे में मुझे दे पटका ।

धन्नासिंह—अरे पागल, भाग्यवानों के हाथ-पाँव में ताकत नहीं होती, अकबाल में ताकत होती है । उनसे देवता तक काँपते हैं ।

चक्रधर को इन ठकुरसुहाती बातों में जरा भी आनन्द न आता था । उन्हें उन पर दया आ रही थी । वही प्राणी, जिसे उन्होंने अपने

कोप का लक्ष्य बनाया था, उनके शौर्य और शक्ति की प्रशंसा कर रहा था। अपमान को निगल जाना चरित्र-पतन की अंतिम सीमा है। और यही खुशामद सुनकर हम लट्टू हो जाते हैं। जिस वस्तु से घृणा होनी चाहिए, उस पर फूले नहीं समाते। चक्रधर को अब आश्चर्य हो रहा था कि मुझे इतना क्रोध आया कैसे? आज से साल-भर पहले भी मुझे कभी किसी पर इतना क्रोध आया? साल-भर पहले कदाचित् वह मन्नासिंह के पास आकर सहायता के लिए मिन्नत-समाजत करते; अगर रातभर रहना ही पड़ता, तो रह जाते, इसमें उनकी हानि ही क्या थी; शायद उन्हें देहातियों के साथ एक रात काटने का अवसर पाकर खुशी होती! आज उन्हें अनुभव हुआ कि रियासत की बू कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है। कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता का, चरित्र का, सिद्धांत का ह्रास हो रहा है।

सहसा सड़क की ओर प्रकाश दिखाई दिया। ज़रा देर में दो मोटरें सड़क पर से धीरे-धीरे जाती हुई दिखाई दीं, जैसे किसी को खोज रही हों। एकाएक दोनों उसी स्थान पर पहुँचकर रुक गईं, जहाँ चक्रधर की मोटर टूटी पड़ी थी। फिर कई आदमी मोटर से उतरते दिखाई दिये। चक्रधर समझ गये कि मेरी तलाश हो रही है। तुरन्त उठ खड़े हुए। उनके साथ गाँव के लोग भी चले। समीप आकर देखा, तो सड़क की तरफ से भी लोग इसी गाँव की तरफ चले आ रहे थे। उनके पास बिजली की बत्तियाँ थीं। समीप आने पर मालूम हुआ, रानी मनोरमा पाँच सशस्त्र सिपाहियों के साथ चली आ रही हैं। चक्रधर उसे देखते ही लपककर आगे बढ़ गये। रानी उन्हें देखते ही ठिठक गई और घबराई हुई आवाज में बोली—बाबूजी, आपके चोट तो नहीं आई। मोटर टूटी देखी, तो जैसे मेरे तो प्राण ही सन्न हो गये। अब मैं आपको अकेले कभी न घूमने दिया करूँगी।

३३

देवप्रिया को उस गुफा में रहते कई महीने गुज़र गये। वह तन-मन से पति-सेवा में रत रहती। प्रातःकाल नीचे जाकर नदी से पानी लाती, पहाड़ी वृक्षों से लकड़ियाँ तोड़ती और जंगली फलों को उबालती। बीच-बीच में महेंद्रकुमार कई-कई दिनों के लिए कहीं चले जाते थे। देवप्रिया अकेले गुफा में बैठी उनकी राह देखा करती, पर महेंद्र को वन-वन घूमने से इतना अवकाश ही न मिलता कि दो-चार पल के लिए उसके पास भी बैठ जायँ। रात को वह योगाभ्यास किया करते थे। न-जाने कब कहाँ चले जाते; न-जाने कब कैसे चले आते, इसका देवप्रिया को कुछ भी पता न चलता। उनके जीवन का रहस्य उसकी समझ में न आता था। उस गुफा में भी उन्होंने न-जाने कहाँ से वैज्ञानिक यंत्र जमा कर लिये थे और दिन को जब घर पर रहते, तो उन्हीं यंत्रों से कोई-न-कोई प्रयोग किया करते। उनके पास सभी कामों के लिए समय था। अगर समय न था, तो केवल देवप्रिया से बात-चीत करने का! देवप्रिया की समझ में कुछ न आता कि इनका हृदय इतना कठोर क्यों हो गया है। वह प्रेम-भाव कहाँ गया? अब तो उससे सीधे मुँह बोलते तक नहीं। उससे कौन-सा अपराध हुआ है?

देवप्रिया पति को वन के पक्षियों के साथ विहार करते, हिरणों के साथ खेलते, सर्पों को नचाते, नदी में जल-क्रीड़ा करते देखती। प्रेम की इस अमोघ-राशि से उसके लिए एक मुट्ठी भी नहीं! उसने कौन-सा अपराध किया है! उससे तो वह बोलते तक नहीं।

ऐसी अनिन्द्य सुन्दरी उसने स्वयं न देखी थी। उसने एक-से-एक

रूपवती रमणियाँ देखी थीं ; पर अपने सामने कोई उसकी निगाह में न जँचती थी। वह जंगली फूलों के गहने बना-बनाकर पहनती, आँखों से हँसती, हाव-भाव, कटाक्ष सब कुछ करती ; पर पति के हृदय में प्रवेश न कर सकती थी। तब वह झुँझला पड़ती कि अगर यों जलाना था, तो मुझे यौवनदान क्यों दिया, यह बला क्यों मेरे सिर मढ़ी ? जिस यौवन को पाकर उसने एक दिन अपने को संसार में सबसे सुखी समझा था, उसी यौवन से अब उसका जी जलता था। यदि वह रूप-विहीन होकर स्वामी के चरणों में आश्रय पा सकती, तो इस अनुपम सौंदर्य को बासी हार की भाँति उतार कर फेंक देती ; पर कौन इसका विश्वास दिलायेगा ?

एक दिन देवप्रिया ने महेन्द्र से कहा—तुमने मेरी काया तो बदल दी ; पर मेरा मन क्यों न बदल दिया ?

महेन्द्र ने गंभीर भाव से उत्तर दिया—जब तक पूर्व-संस्कारों का प्रायश्चित्त न हो जाय, मन की भावनाएँ नहीं बदल सकतीं।

इन शब्दों का आशय जो कुछ हो ; पर देवप्रिया ने यह समझा कि यह मुझसे केवल मेरे पूर्व-संस्कारों के कारण घृणा करते हैं। उसका पीड़ित हृदय इस अन्याय से विकल हो उठा। आह ! यह इतने कठोर हैं ! इनमें क्षमा का नाम तक नहीं, तो क्या इन्होंने मुझे उन संस्कारों का दण्ड देने के लिए मेरी कायाकल्प की ? प्रलोभनों में घिरी हुई अबला के प्रति इन्हें ज़रा भी सहानुभूति नहीं ! यह वाक्य शर के समान उसके हृदय में चुभने लगा। पति में वह श्रद्धा न रही। जीवन से विरक्त हो गई। पति-प्रेम का सुख भोगने के लिए ही उसने अपना राज्य त्याग किया था ; पूर्व-संस्कारों का दण्ड भोगने के लिए नहीं। उसने समझा था, स्वामी मुझ पर दया करके मेरा उद्धार करने ले जा रहे हैं। उनके हाथों यह दण्ड सहना उसे स्वीकार न था। अपने पूर्व जीवन पर उसे लज्जा थी, पश्चा-त्ताप था ; पर पति के मुख से यह व्यंग्य न सुनना चाहती थी। वह संसार की सारी विपत्ति सह सकती थी, केवल पति-प्रेम से वंचित रहना उसे

असह्य था। उसने सोचना शुरू किया, क्यों न यहाँ से चली जाऊँ? पति से दूर रहकर कदाचित् वह शांत रह सकती थी। दुखती हुई आँखों की अपेक्षा फूटी आँखें ही अच्छी; पर इस वियोग की कल्पना ही से उसका मन भयभीत हो जाता था।

आख़िर उसने यहाँ से प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। रात का समय था। महेन्द्र गुफा के बाहर एक शिला पर पड़े हुए थे। देवप्रिया आकर बोली—आप सो रहे हैं क्या?

महेन्द्र उठकर बैठ गये और बोले—नहीं, सो तो नहीं रहा हूँ। मैं एक ऐसे यन्त्र की कल्पना कर रहा हूँ, जिससे मनुष्य अपनी इन्द्रियों का दमन कर सके। संयम, साधना और विराग पर मुझे अब विश्वास नहीं रहा।

देवप्रिया—ईश्वर आपकी कल्पना सफल करें। मैं आप से यह कहने आई हूँ कि जब आप मुझे त्याज्य समझते हैं, तो क्यों हर्षपुर या कहीं और नहीं भेज देते?

महेन्द्र ने पीड़ित होकर कहा—मैं तुम्हें त्याज्य नहीं समझ रहा हूँ। प्रिये, तुम मेरी चिरसंगिनी हो और सदा रहोगी। अनन्त में दस-बीस या सौ-पचास वर्ष का वियोग 'नहीं' के बराबर है। तुम अपने को उतना नहीं जानतीं, जितना मैं जानता हूँ। मेरी दृष्टि में तुम पवित्र, निर्दोष और धवल के समान उज्ज्वल हो। इस विश्वप्रेम के साम्राज्य में त्याज्य कोई वस्तु नहीं है, न कि तुम, जिसने मेरे जीवन को सार्थक बनाया है। मैं तुम्हारी प्रेम-शक्ति का विकास-मात्र हूँ।

देवप्रिया ये प्रेम से भरे हुए शब्द सुनकर गद्गद हो गई। उसका सारा संताप, सारा क्रोध, सारी वेदना इस भाँति शांत हो गई, जैसे पानी पड़ते ही धूल बैठ जाती है। वह उसी शिला पर बैठ गई और महेन्द्र के गले में बाँहें डालकर बोली—फिर आप मुझसे बोलते क्यों नहीं? मुझसे क्यों भागे-भागे फिरते हैं? मुझे इतने दिन यहाँ रहते हो

गये, आपने कभी मेरी ओर प्रेम की दृष्टि से देखा भी नहीं। आप जानते हैं, पति-प्रेम नारि-जीवन का आधार है। इससे वंचित होकर अबला निराधार हो जाती है!

महेन्द्र ने करुण स्वर में कहा—प्रिये, बहुत अच्छा होता कि तुम मुझसे यह प्रश्न न करतीं। मैं जो कुछ कहूँगा, उससे तुम्हारा चित्त और भी दुखी होगा। मेरे अंदर की आग बाहर नहीं निकलती। इससे यह न समझो कि उसमें ज्वाला नहीं है। आह! उस अनंत प्रेम की स्मृतियाँ अभी हरी हैं, जिनका आनन्द उठाने का सौभाग्य बहुत थोड़े दिनों के लिए मुझे प्राप्त हुआ था। उसी सुख की लालसा मुझे तुम्हारे द्वार का भिक्षुक बनाकर ले गई थी। उसी लालसा ने मुझसे ऐसी कठिन तपस्याएँ कराईं, जहाँ प्रति क्षण प्राणों का भय था। क्या जानता था कि कौशल-मयी विधि मेरी साधनाओं का उपहास कर रही है। जिस वक्त मैं तुम्हारी ओर लालसा-पूर्ण नेत्रों से ताकता हूँ, तो मेरी आँखें जलने लगती हैं, जब तुम्हें प्रातःकाल अंचल में फूल भरे उषा की भाँति स्वर्ण-छटा की वर्षा करते आते देखता हूँ, तो मेरे मन में अनुराग का जो भीषण विप्लव होने लगता है, उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं; लेकिन तुम्हारे समीप जाते ही मेरे समस्त शरीर में ऐसी जलन होने लगती है, मानों अग्नि-कुंड में घुसा जा रहा हूँ। तुम्हें याद है, एक दिन मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ लिया था। मुझे ऐसा जान पड़ा कि जलते तवे पर हाथ पड़ गया। इसका क्या कारण है! विधि क्यों हमारे प्रेम-मिलन में बाधक हो रही है। यह मैं नहीं जानता; पर ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह मेरी लालसा का दंड है।

नारि-बुद्धि तीक्ष्ण होती है। महेन्द्र की समझ में जो बात न आई थी, वह देवप्रिया समझ गई। उस दिन से वह तपस्विनी बन गई। पति के साये से भी भागती। अगर वह उसके कमरे में आ जाते, तो उनकी ओर आँखें उठाकर भी न देखती; पर वह इस दशा में भी प्रसन्न थी। रमणी का हृदय सेवा के सूक्ष्म परमाणुओं से बना होता है। उसका

प्रेम भी सेवा है, उसका अधिकार भी सेवा है, यहाँ तक कि उसका क्रोध भी सेवा है। विडंबना तो यह थी कि यहाँ सेवा-क्षेत्र में भी वह स्वाधीन न थी। उसके लिए सेवा की सीमा वहीं तक थी, जहाँ अनुराग का आरंभ होता है। उसकी सेवा में पत्नी-भाव का अल्पांश भी न आने पाये, यही चेष्टा वह करती रहती थी। अगर विधि को उसके सौभाग्य से आपत्ति है, अगर वह इस अपराध के लिए उसके पति को दण्ड देना चाहती है, तो देवप्रिया यह साक्षी देने को तैयार थी कि उसने पति-प्रेम का उतना ही आनंद उठाया है, जितना एक विधवा भी उठा सकती है।

एक दिन महेन्द्र ने आकर कहा—प्रिये, चलो आज तुम्हें आकाश की सैर करा लाऊँ। मेरा हवाई जहाज़ तैयार हो गया।

महेन्द्र ने सात वर्ष के अनवरत परिश्रम से यह वायु-यान बनाया था। इसमें विशेषता यह थी कि तूफ़ान और मेंह में भी स्थिर रूप से चला जाता था, मानों नैसर्गिक शक्तियों पर विजय का डंका बजा रहा हो। उसमें ज़रा भी शोर न होता था। गति घंटे में एक हज़ार मील की थी। इस पर बैठकर वह पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देख सकते थे, दूर-से-दूर देशों के विद्वानों के भाषण और गाने-वालों के गीत सुन सकते थे। उस पर बैठते ही मानसिक शक्तियाँ दिव्य और नेत्रों की ज्योति सहस्रगुण हो जाती थी। यह एक अद्भुत यंत्र था। महेन्द्र ने अब तक कभी देवप्रिया से उस पर बैठने का अनुरोध न किया था। उनके मुँह से उसके गुण सुनकर उसका जी तो चाहता था कि उसमें एक बार बैठूँ, इसकी बड़ी तीव्र उत्कंठा होती थी; पर वह सम्वरण कर जाती थी। आज यह प्रस्ताव करने पर भी उसने अपनी उत्सुकता को दबाते हुए कहा—आप जाइए आकाश की सैर कीजिए, मैं अपनी कुटिया में ही मगन हूँ।

महेन्द्र—मानव-बुद्धि ने अब तक जितने आविष्कार किये हैं, उनका पूर्ण विकास देख लोगी।

देवप्रिया—आप जाइए, मैं नहीं जाती।

महेन्द्र—मैं तो आज तुम्हें जबरदस्ती ले चलूँगा।

यह कहकर उन्होंने देवप्रिया का हाथ पकड़ लिया और अपनी ओर खींचा। देवप्रिया का चित्त डाँवाडोल हो गया। जैसे किसी नटखट बालक के बुलाने पर कुत्ता डरता-डरता जाता है कि मालूम नहीं भोजन मिलेगा या डंडे, उसी भाँति देवप्रिया भी महेन्द्र के साथ चली गई।

गुफा के बाहर स्वर्ण की वर्षा हो रही थी। आकाश, पर्वत और उन पर विहार करनेवाले पक्षी और पशु सोने में रँगे थे। विश्व स्वर्ण-मय हो रहा था। शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। पृथ्वी विश्राम करने जा रही थी।

यान एक पल में दोनों आरोहियों को लेकर अनन्त आकाश में विचरने लगा। वह सीधा चन्द्रमा की ओर चला जाता था, ऊपर—ऊपर, और भी ऊपर, यहाँ, तक कि चन्द्रमा का दिव्य प्रकाश देखकर देवप्रिया भयभीत हो गई।

सहसा देवप्रिया संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर चौंक पड़ी और बोली—यहाँ कौन गा रहा है?

महेन्द्र ने मुसकिराकर कहा—हमारे स्वामीजी ईश्वर की स्तुति कर रहे हैं। मैं अभी उनसे बातें करता हूँ। सुनो—स्वामीजी, क्या हो रहा है?

'बच्चा, भगवान् की स्तुति कर रहा हूँ। अच्छा! तुम्हारे साथ तो देवप्रियाजी भी हैं। उन्हें जापानी सिनेमा की सैर नहीं कराई?'

सहसा देवप्रिया को एक जापानी नौका डूबती हुई दिखाई दी। एक क्षण में एक जापानी युवक कगार पर से समुद्र में कूद पड़ा और लहरों को चीरता हुआ नौका की ओर चला।

देवप्रिया ने काँपते हुए कहा—कहीं यह बेचारा भी न डूब जाय!

महेन्द्र ने कहा—यह किसी प्रेम-कथा का अंतिम दृश्य है।

यान और भी ऊपर उड़ता चला जाता था, पृथ्वी पर से जो तारे

टिमटिमाते हुए नज़र आते थे, अब चन्द्रमा की भाँति ज्योतिर्मय हो गये थे और चन्द्रमा अपने आकार से दसगुना बड़ा दिखाई देता था। विश्व पर अखंड शान्ति छाई हुई थी। केवल देवप्रिया का हृदय धकधक कर रहा था। वह किसी अज्ञात शंका से विकल हो रही थी। जापानी सिनेमा का अन्तिम दृश्य उसकी आँखों में नाच रहा था।

तब महेन्द्र ने वीणा उठा ली और देवप्रिया से बोले—प्रिये, तुम्हारा मधुर गान सुने बहुत दिन बीत गये। याद है, तुमने कब गाया था? वही गीत आज फिर गाओ। देखो तारागण कान लगाये बैठे हैं।

देवप्रिया स्वामी की बात न टाल सकी। उसे ऐसा भासित हुआ कि वह स्वामी का अन्तिम आदेश है, मैं इन कानों से स्वामी की बातें फिर न सुनूँगी। सने काँपते हुए, हाथों से वीणा ले ली और काँपते हुए स्वरों में गाने लगी—

'पिया मिलन है कठिन बावरी!'

प्रेम, करुणा और नैराश्य में डूबी हुई यह ध्वनि सुनते ही महेन्द्र की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। आह! वियोग-व्यथा से पीड़ित यह हृदय-स्वर उनके अन्तस्तल पर शर-जैसी चोटें करने लगा। बार-बार हृदय थाम कर रह जाते थे। सहसा उनका मन एक अत्यंत प्रबल आवेग से आन्दोलित हो उठा। लालसा-विह्वल मन ने कहा—यह संयम कब तक? यह विराग कब तक? यह प्रतीक्षा कब तक? इस जीवन का भरोसा ही क्या? न-जाने कब इसका अन्त हो जाय और ये चिरसंचित अभिलाषाएँ धूल में मिल जायँ। अब जो होना है सो हो!

अनन्त शान्ति का साम्राज्य था, यान प्रतिक्षण ऊपर और ऊपर, चढ़ता जाता था। महेन्द्र ने देवप्रिया का कोमल हाथ पकड़ कर कहा—प्रिये, अनन्त वियोग से तो अनंत विश्राम ही अच्छा!

वीणा देवप्रिया के हाथ से छूट कर गिर पड़ी। उसने देखा, महेन्द्र के काम-प्रदीप्त अधर उसके मुख के पास आ गये हैं और उनके दोनों

हाथ उससे आलिङ्गित होने के लिए खुले हुए हैं। देवप्रिया एक क्षण, केवल एक क्षण के लिए सब कुछ भूल गई। उसके दोनों हाथ महेन्द्र के गले में जा पड़े।

एकाएक धमाके की आवाज़ हुई। देवप्रिया चौंक पड़ी। उसे मालूम हुआ, यान बड़े वेग से नीचे चला जा रहा है। उसने अपने को महेन्द्र के कर-पाश से मुक्त कर लिया और घबरा कर बोली—प्राणनाथ, यान नीचे चला जा रहा है।

महेन्द्र ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

देवप्रिया ने फिर कहा—ईश्वर के लिए इसे रोकिए, देखो कितने वेग से नीचे गिर रहा है।

महेन्द्र ने व्यथित-कंठ से कहा—प्रिये! अब इसे मैं नहीं रोक सकता, मेरे पैर काँप रहे हैं, मालूम होता है, जीवन का अन्त हो रहा है। आह! आह! प्रिये मैं गिर रहा हूँ।

देवप्रिया उन्हें सँभालने चली थी कि महेन्द्र गिर पड़े। उनके मुँह से केवल ये शब्द निकले—डरो मत, यान भूमि से टक्कर न खायगा, तुम हर्षपुर जाकर राज्याधिकार अपने हाथ में ले लेना। मैं फिर आऊँगा, हम और तुम फिर मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे, यह अतृप्त तृष्णा फिर मुझे तुम्हारे पास लावेगी, विधि का निर्दय हाथ भी उसमें बाधक नहीं हो सकता। इस प्रेम की स्मृति देवलोक में भी मुझे विकल करती रहेगी। आह! इस अनंत विश्राम की अपेक्षा अनंत वियोग कितना सुखकर था।

देवप्रिया खड़ी रो रही थी और यान वेग से नीचे उतरता जाता था।

३४

चक्रधर को रात-भर नींद न आई। उन्हें बार-बार पश्चात्ताप होता था कि मैं क्रोध के आवेश में क्यों आ गया। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्होंने एक निर्बल प्राणी पर हाथ उठाया था। जिसका समस्त जीवन दीनजनों की सहायता में गुज़रा हो, उसमें यह कायापलट नैतिक पतन से कम न था। आह! मुझ पर भी प्रभुता का जादू चल गया। इतने संयत रहने पर भी मैं उस के जाल में फँस गया। कितना चतुर शिकारी है! अब मुझे अनुभव हो गया कि इस वातावरण में रह कर मेरे लिए अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है। धन में धर्म है, दया है, उदारता है; लेकिन इनके साथ ही गर्व भी है, जो इन गुणों को मटिया-मेट कर देता है।

चक्रधर तो इस विचार में पड़े हुए थे, और अहल्या अपने सजे हुए शयनागार में मखमली गद्दों पर लेटी अँगड़ाइयाँ ले रही थी। चारपाई के सामने ही दीवार में एक बड़ा-सा आईना लगा हुआ था। वह उस आईने में अपना स्वरूप देख-देखकर मुग्ध हो रही थी। सहसा शंखधर एक रेशमी कुरता पहने लुढ़कता हुआ आकर उसके पास खड़ा हो गया। अहल्या ने हाथ फैलाकर कहा—बेटा ज़रा मेरी गोद में आ जाओ।

शंखधर अपना खोया हुआ घोड़ा ढूँढ़ रहा था। बोला—अम नईं...

अहल्या—देखो मैं तुम्हारी अम्माँ हूँ न?

शंखधर—तुम अम्माँ नईं। अम्माँ लानी है।

अहल्या—क्या मैं रानी नहीं हूँ?

शंखधर ने उसे कुतूहल से देखकर कहा—तुम लानी नहीं। अम्माँ लानी है।

अहल्या ने चाहा कि बालक को पकड़ ले; पर वह 'तुम लानी नहीं', तुम लानी नहीं !' कहता हुआ कमरे से निकल गया। बात कुछ न थी; लेकिन अहल्या ने इसका कुछ और ही आशय समझा। यह भी उसकी समझ में मनोरमा की कूटनीति थी। वह उससे राज-माता का अधिकार भी छीनना चाहती है। वह बालक को पकड़ लाने के लिए उठी ही थी कि चक्रधर ने कमरे में क़दम रक्खा। उन्हें देखते ही अहल्या ठिठक गई और त्यौरियाँ चढ़ाकर बोली—अब तो रात-रात-भर आपके दर्शन ही नहीं होते।

चक्रधर—कुछ तुम्हें ख़बर भी है। आध घंटे तक जगाता रहा, जब तुम न जागीं, तो चला गया। यहाँ आकर तुम सोने में कुशल हो गई !

अहल्या—बातें बनाते हो। तुम रात को यहाँ थे ही नहीं। १२ बजे तक जागती रही। मालूम होता है, तुम्हें भी सैर-सपाटे की सूझने लगी। अब मुझे यह एक और चिन्ता हुई।

चक्रधर—अब तक जितनी चिन्ताएँ हैं, उनमें तो तुम्हारी नींद का यह हाल है, यह चिन्ता और हुई, तो शायद तुम्हारी कभी आँख ही न खुले !

अहल्या—क्या मैं सचमुच बहुत सोती हूँ ?

चक्रधर—अच्छा अभी तुम्हें इसमें सन्देह भी है। घड़ी में देखो ! ८ बज गये हैं। तुम पाँच बजे उठकर घर का धन्धा करने लगती थीं।

अहल्या—तब की बातें जाने दो। अब उतने सबेरे उठने की जरूरत ही क्या ?

चक्रधर—तो क्या तुम उम्र-भर यहाँ मेहमानी खाओगी ?

अहल्या ने विस्मित होकर कहा—इसका क्या मतलब ?

चक्रधर—इसका मतलब यही है कि हमें यहाँ आये हुए बहुत दिन गुज़र गये। अब अपने घर चलना चाहिए।

अहल्या—अपना घर कहाँ है?

चक्रधर—अपना घर वही है, जहाँ अपने हाथों की कमाई है।

अहल्या ने एक मिनट सोचकर कहा—लल्लू कहाँ रहेगा?

चक्रधर—लल्लू को यहीं छोड़ सकती हो। वह रानी मनोरमा से खूब हिल गया है। तुम्हारी तो शायद उसे याद भी न आये।

अहल्या—अच्छा, तो अब समझ में आया। इसीलिए रानीजी उससे इतना प्रेम करती हैं। यह बात तुमने स्वयं सोची है, या रानी ने कुछ कहा है?

चक्रधर—भला वह क्या कहेंगी। मैं खुद यहाँ रहना नहीं चाहता। ससुराल की रोटियाँ बहुत खा चुका। खाने में तो वह बहुत मीठी मालूम होती हैं; पर उनसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। औरों को हज़म होती होंगी; पर मुझे तो नहीं पचतीं, और शायद तुम्हें भी नहीं पचतीं। इतने ही दिनों में हम दोनों कुछ-के-कुछ हो गये। यहाँ कुछ दिन और रहा, तो कम-से-कम मैं तो कहीं का न रहूँगा। कल मैंने एक ग़रीब किसान को मारते-मारते अधमुआ कर दिया। उसका कसूर केवल यह था कि वह मेरे साथ आने पर राज़ी न होता था।

अहल्या—यह कोई बात नहीं। गँवारों के उजड्डपन पर कभी-कभी क्रोध आ ही जाता है। मैं ही यहाँ दिन-भर लौंडियों पर झल्लाती रहती हूँ; मगर मुझे तो कभी यह ख़याल नहीं आया कि घर छोड़कर भाग जाऊँ।

चक्रधर—तुम्हारा घर है, तुम रह सकती हो; लेकिन मैंने तो जाने का निश्चय कर लिया है।

अहल्या ने अभिमान से सिर उठाकर कहा—तुम न रहोगे, तो मुझे यहाँ रहकर क्या लेना है? मेरे राज-पाट तो तुम हो, जब तुम्हीं न रहोगे,

तो मैं अकेली पड़ी-पड़ी क्या करूँगी। जब चाहे चलो। हाँ, पिताजी से पूछ लो। उनसे बिना पूछे तो जाना उचित नहीं; मगर एक बात अवश्य कहूँगी। हम लोगों के जाते ही यहाँ का सारा कारोबार चौपट हो जायगा। रानी मनोरमा का हाल देख ही रहे हो। रुपये को ठीकरा समझती हैं। दादाजी उनसे कुछ कह ही नहीं सकते। थोड़े दिनों में रियासत ज़ेरबार हो जायगी और एक दिन बेचारे लल्लू को ये सब पापड़ बेलने पड़ेंगे।

अहल्या के मनोभाव इन शब्दों से साफ़ टपकते थे। कुछ पूछने की ज़रूरत न थी। चक्रधर समझ गये कि अगर मैं आग्रह करूँ, तो यह मेरे साथ जाने पर राज़ी हो जायगी। जब ऐश्वर्य और पति-प्रेम, दो में से एक को लेने और दूसरे को त्याग करने की समस्या पड़ जायगी, तो अहल्या किस ओर झुकेगी, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं था; लेकिन वह उसे इस कठोर धर्म-संकट में डालना उचित न समझते थे। आग्रह से विवश होकर वह उनके साथ चली ही गई, तो क्या जब उसे कोई कष्ट होगा, मन-ही-मन झुँझलायगी और बात-बात पर कुढ़ेगी। लल्लू को यहाँ छोड़ना ही पड़ेगा। मनोरमा उसे एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ सकती। राजा साहब तो शायद उसके वियोग में प्राण ही त्याग दें। पुत्र को छोड़ कर अहल्या कभी जाने पर तैयार न होगी और गई भी, तो बहुत जल्द लौट आवेगी।

चक्रधर बड़ी देर तक इन्हीं विचारों में मग्न बैठे रहे। अहल्या पति के साथ जाने पर सहमत तो हो गई थी; पर दिल में डर रही थी कि कहीं सचमुच न जाना पड़े। वह राजा साहब को पहले ही से सचेत कर देना चाहती थी, जिसमें वह चक्रधर की नीति और धर्म की बातों में न आ जायँ। उसे इसका पूरा विश्वास था कि चक्रधर राजा साहब से बिना पूछे कदापि न जायँगे। वह क्या जानती थी जिन बातों से उसके दिल पर ज़रा भी असर नहीं होता, वही बातें चक्रधर के दिल पर तीर की भाँति लगती हैं। चक्रधर ने अकेले, बिना किसी से कुछ कहे-सुने, चले जाने का

संकल्प कर लिया। इसके सिवा उन्हें गला छुड़ाने का कोई उपाय न सूझता था।

इस वक्त वह उस मनहूस घड़ी को कोस रहे थे, जब मनोरमा की बीमारी की खबर पाकर अहल्या के साथ वह यहाँ आये थे। वह अहल्या को यहाँ लाये ही क्यों थे? अहल्या ने आने के लिए आग्रह न किया था। उन्होंने खुद गलती की थी। उसी का यह भीषण परिणाम था कि आज उनको अपनी स्त्री और पुत्र दोनों ही से हाथ धोना पड़ता था। उन्होंने लाठी के सहारे से दीपक का काम लिया था; लेकिन हा दुर्भाग्य! आज वह लाठी भी उनके हाथ से छिनी जाती थी। पत्नी और पुत्र के वियोग की कल्पना ही से उनका जी घबराने लगा। कोई समय था, जब दाम्पत्य-जीवन से उन्हें उलझन होती थी। मृदुल-हास्य और तोतले शब्दों का आनंद उठाने के बाद अब एकान्त-वास असह्य प्रतीत होता था। कदाचित् अकेले घर में वह कदम ही न रख सकेंगे, कदाचित् उस निर्जन वन को देख कर वह रो पड़ेंगे!

मनोरमा इस वक्त शंखधर को लिये बाग़ीचे की ओर जाती हुई इधर से निकली। चक्रधर को देख कर वह एक क्षण के लिए ठिठक गई। शायद वह देखना चाहती थी कि अहल्या है या नहीं। अहल्या होती, तो वह यहाँ दम-भर भी न ठहरती, अपनी राह चली जाती। अहल्या को न पाकर वह कमरे के द्वार पर आ खड़ी हुई और बोली—बाबूजी, रात को सोये नहीं क्या? आँखें चढ़ी हुई हैं!

चक्रधर—नींद ही नहीं आई। इसी उधेड़-बुन में पड़ा था कि रहूँ या जाऊँ? अन्त में यही निश्चय किया कि यहाँ और रहना अपना जीवन नष्ट करना है।

मनोरमा—क्यों लल्लू! यह कौन हैं?

शंखधर ने शरमाते हुए कहा—बाबूजी!

मनोरमा—इनके साथ जायगा?

बालक ने आँचल में मुँह छिपा कर कहा—रानी अम्माँ साथ !

चक्रधर हँस कर बोले—मतलब की बात समझता है। रानी अम्माँ को छोड़ कर किसी के साथ न जायगा।

शंखधर ने अपनी बात का अनुमोदन किया—अम्माँ रानी !

चक्रधर—जभी तो चिमटे हो। बैठे-बिठाये मुफ्त का राज्य पा गये। घाटे में तो हमीं रहे कि अपनी सारी पूँजी खो बैठे।

मनोरमा ने कहा—कब तक लौटिएगा ?

चक्रधर—कह नहीं सकता; लेकिन बहुत जल्द लौटने का विचार नहीं है। इस प्रलोभन से बचने के लिए मुझे बहुत दूर जाना पड़ेगा।

रानी ने मुसकिरा कर कहा—मुझे भी लेते चलिए।

यह कहते-कहते रानी की आँखें सजल हो गईं।

चक्रधर ने गंभीर भाव से कहा—यह तो होना ही नहीं था मनोरमा रानी ! जब तुम बालिका थीं, तब भी मेरे लिए देवी की प्रतिमा थीं; अब भी देवी की प्रतिमा हो।

मनोरमा—बातें न बनाओ बाबूजी, तुम मुझे हमेशा धोखा देते आये हो और अब भी वही नीति निभा रहे हो। सच कहती हूँ, मुझे भी लेते चलिए। अच्छा, अगर मैं राजा साहब को राजी कर लूँ, तब तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी ?

चक्रधर—मनोरमा, दिल्लगी कर रही हो, या दिल से कहती हो ?

मनोरमा—दिल से कहती हूँ, दिल्लगी नहीं।

चक्रधर—मैं आपको अपने साथ न ले जाऊँगा।

मनोरमा—क्यों ?

चक्रधर—बहुत-सी बातों का अर्थ बिना कहे ही स्पष्ट होता है।

मनोरमा—तो आपने मुझे अब भी नहीं समझा। मुझे भी बहुत दिनों से कुछ सेवा करने की इच्छा है। मैं भोग-विलास करने के लिए

यहाँ नहीं आई थी। ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ, मैं कभी भोग में लिप्त नहीं हुई। धन से मुझे प्रेम है; लेकिन केवल इसीलिए कि उससे मैं कुछ सेवा कर सकती हूँ, और सेवा करनेवालों की कुछ मदद कर सकती हूँ। सच कहा है, पुरुष कितना ही विद्वान्, बुद्धिमान्, और अनुभवी हो, स्त्री को समझने में असमर्थ ही रहता है। ख़ैर न ले जाइए। अहल्या देवी ने क्या तय किया है?

चक्रधर—वह तो मेरे साथ जाने को कहती हैं।

मनोरमा—कौन? अहल्या! वह आपके साथ नहीं जा सकतीं, और आप ले गये, तो आज के तीसरे दिन यहाँ पहुँचाना पड़ेगा। मैं वही हूँ जो थी, वह अपने दिन भूल गईं।

यह कहते हुए मनोरमा ने बालक को गोद में उठा लिया और मन्द गति से बग़ीचे की ओर चली गई। चक्रधर खड़े सोच रहे थे, क्या वास्तव में मैं इसे नहीं समझा? अवश्य ही मेरा इसे विलासिनी समझना भ्रम था। हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जन्म केवल भोग-विलास के लिए होता है? क्या उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है? हमने उन्हें कामिनी, रमणी, सुन्दरी आदि विलास-सूचक नाम दे-देकर वास्तव में उन्हें वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासना-प्रिय नहीं होते, तो सभी स्त्रियाँ क्यों वासना-प्रिय होने लगीं! अगर मनोरमा जो कुछ कहती है सत्य है, तो मैंने उसे हक़ीक़त में नहीं समझा! हा मन्द बुद्धि!

सहसा चक्रधर को एक बात याद आ गई! तुरत मनोरमा के पास जाकर बोले—मैं आपसे एक विनय करने आया हूँ। धन्नासिंह के साथ मैंने जो अत्याचार किया है, उसका कुछ प्रायश्चित्त करना आवश्यक है।

मनोरमा ने मुसकिराकर कहा—बहुत देर में इसकी सुधि आई! मैंने उसकी कुल जोत मुआफ़ी कर दी है।

चक्रधर ने चकित होकर कहा—आप सचमुच देवी हैं। तो मैं जाकर उन सबों को इसकी इत्तला दे दूँ?

मनोरमा—आपका जाना आपकी शान के खिलाफ़ है। इस ज़रा-सी बात की सूचना देने के लिए भला आप क्या जाइएगा। तो आपने कब जाने का विचार किया है?

चक्रधर—आज ही रात को।

मनोरमा ने मुसकिराते हुए कहा—हाँ, उस वक्त अहल्या देवी सोती भी होंगी।

एक क्षण के बाद फिर बोली—मैं अहल्या होती, तो सब कुछ छोड़कर आपके साथ चलती।

यह कहते-कहते मनोरमा ने लज्जा से सिर झुका लिया। जो बात वह ध्यान में भी न लाना चाहती थी, वह उसके मुँह से निकल गई। उसने उसी वक्त शंखधर को उठा लिया और बाग के दूसरी तरफ चली गई, मानों उनसे पीछा छुड़ाना चाहती है, या शायद डरती है कि कहीं मेरे मुँह से कोई और असंगत बात न निकल जाय।

चक्रधर कुछ देर तक वहीं खड़े रहे, फिर बाहर चले गये। किसी काम में जी न लगा। सोचने लगे, ज़रा शहर चलकर अम्माँजी से मिलता आऊँ; मगर डरे कि कहीं अम्माँ शिकायतों का दफ़्तर न खोल दें। निर्मला एक बार यहाँ आई थीं; मगर एकही सप्ताह में ऊबकर चली गई थीं। अहल्या की रुखाई से उनका दिल खट्टा हो गया था। जो अहल्या शील और विनय की पुतली थी, वह यहाँ सीधे मुँह बात भी न करती थी।

ज्यों-ज्यों संध्या निकट आती थी, उनका जी उचाट होता जाता था। पहले कहीं बाहर जाने में जो उत्साह होता था, उसका अब नाम भी न था। जानते थे कि फलके हुए दूध पर आँसू बहाना व्यर्थ है; किन्तु इस वक़्त बार-बार स्वर्गवासी मुन्शी यशोदानंदन पर क्रोध आ रहा था। अगर

उन्होंने मेरे गले में यह फंदा न डाला होता, तो आज मुझे क्यों यह विपत्ति झेलनी पड़ती। मैं तो राजा की लड़की से विवाह न करना चाहता था। मुझे तो धनी कुल की कन्या से भी डर लगता था। विधाता को मेरे ही साथ यह क्रीड़ा करनी थी!

संध्या-समय वह राजा साहब से पूछने गये। राजा साहब ने आँखों में आँसू भर कर कहा—बाबूजी, आप धुन के पक्के आदमी हैं, मेरी बात आप क्यों मानने लगे; मगर मैं इतना कहता हूँ कि अहल्या रो-रोकर प्राण दे देगी और आपको बहुत जल्द लौटकर आना पड़ेगा। अगर आप उसे ले गये, तो शंखधर भी जायगा और मेरी सोने की लंका धूल में मिल जायगी। आखिर आपको यहाँ क्या कष्ट है?

चक्रधर को बार-बार एक ही बात का दुहराना बुरा मालूम होता था। कुछ झुँझलाकर बोले—इसी से तो मैं जाना चाहता हूँ कि यहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं है। विलास में पड़कर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता!

राजा—और इस राज्य को कौन सँभालेगा?

चक्रधर—राज्य सँभालना मेरे जीवन का आदर्श नहीं है। फिर आप तो हैं ही।

राजा—तुम समझते हो, मैं बहुत दिन जीऊँगा? सुखी आदमी बहुत दिन नहीं जीता बेटा। यह सब मेरे मरने के सामान हैं। मैं मिथ्या नहीं कहता। मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि मेरे दिन निकट आ गये हैं। शंखधर मेरा शत्रु बनकर आया है। यह लो, तलवार लिये दौड़ा आ रहा है। क्यों शंखधर, तलवार क्यों लाये हो?

शंखधर—तुमको मालेंगे।

राजा—क्यों भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?

शंखधर—अम्माँ लानी लोती हैं, तुमने उनको क्यों माला है!

राजा—लो साहब, यह एक नया अपराध मेरे सिर मढ़ा आ रहा है।

चलो, ज़रा देखूँ तो, तुम्हारी लानी अम्माँ को किसने मारा है। क्या सच-मुच रोती हैं ?

शंखधर—बली देल से लोती हैं।

राजा साहब तुरंत अंदर चले गये। मनोरमा के रोने की ख़बर सुन-कर वह व्याकुल हो उठे। अंदर जाकर देखा, तो मनोरमा सचमुच रो रही थी। कमल-पुष्प में ओस की बूँदें झलक रही थीं। राजा साहब ने आतुर होकर पूछा—क्या बात है नोरा! कैसा जी है ?

मनोरमा ने आँसू पोंछते हुए कहा—अच्छी तो हूँ।

राजा—तो आँखें क्यों लाल हैं ?

मनोरमा—आँखें तो लाल नहीं हैं। (ज़रा रुककर) अहल्या देवी बाबूजी के साथ जा रही हैं। लल्लू को भी ले जायँगी।

राजा—यह तुमसे किसने कहा ?

मनोरमा—अहल्या देवी ने।

राजा—अहल्या नहीं जा सकती।

मनोरमा—आप बाबूजी को क्यों नहीं समझाते ?

राजा—वह मेरे समझाने से न मानेंगे। किसी के समझाने से न मानेंगे।

मनोरमा—तो फिर ?

राजा—तो उन्हें जाने दो। वह बहुत दिन बाहर नहीं रहेंगे। उन्हें थोड़े ही दिनों में लौटकर आना पड़ेगा।

मनोरमा की आँखों से अश्रु-वर्षा होने लगी। उसने अवरुद्ध कंठ से कहा—वह अब यहाँ न आवेंगे। आप उन्हें नहीं जानते।

राजा—मेरा मन कहता है, वह थोड़े ही दिनों में आवेंगे। शंखधर उन्हें खींच लावेगा। अभी माया ने केवल उन पर एक अस्त्र चलाया है।

चक्रधर ने सोचा, इस तरह तो शायद मैं यहाँ से मरकर भी छुट्टी न पाऊँ। इनसे पूछूँ, उनसे पूछूँ! मुझे किसी से पूछने की ज़रूरत ही

क्या। जब अकेले ही जाना है, तो क्यों यह सब झंझट करूँ। अपने कमरे में जाकर दो-चार कपड़े और कुछ किताबें समेटकर रख दीं। कुल इतना ही सामान था, जिसे एक आदमी आसानी से हाथ में लटकाये लिये जा सकता था। उन्होंने रात को चुपके से बकुचा उठाकर चले जाने का निश्चय किया।

आज उन्हें भोजन से ज़रा भी रुचि न हुई। वह अहल्या से भी न मिलना चाहते थे। उसे सम्पत्ति प्यारी है, तो सम्पत्ति लेकर रहे। मेरे साथ वह क्यों जाने लगी। मेरा मन रखने को मीठी-मीठी बातें करती है। जी में मनाती होगी, किसी तरह यहाँ से टल जायँ। अगर मुझे पहले मालूम होता कि वह इतनी विलास-लोलुप है, तो उससे कोसों दूर रहता; लेकिन फिर दिल को समझाया, मेरा अहल्या से रूठना अन्याय है। वह अगर अपने पुत्र को छोड़कर नहीं जाना चाहती, तो कोई अनुचित बात नहीं करती। ऐसे क्षुद्र विचार मेरे मन में क्यों आ रहे हैं। मैं यदि अपना कर्त्तव्य पालन करने जा रहा हूँ, तो किसी पर एहसान नहीं कर रहा हूँ।

यात्रा की तैयारी करके और अपने मन को अच्छी तरह समझा कर चक्रधर ने सन्देह को दूर रखने के लिए अपने शयनागार में विश्राम किया। अहल्या ने कहा—दादाजी तो राज़ी न हुए।

चक्रधर—न जाऊँगा, और क्या, उनको नाराज़ भी तो नहीं करना चाहता।

अहल्या प्रसन्न होकर बोली—यही उचित भी है। सोचो, उन्हें कितना बड़ा दुःख होता। मैंने तुम्हारे साथ जाने का निश्चय कर लिया था। शंखधर को भी अपने साथ ले ही जाती। फिर बेचारे किसका मुँह देखकर रहते।

चक्रधर ने इसका कुछ जवाब न दिया। वह चुप साध गये। नींद का बहाना करने लगे। वह चाहते थे कि यह सो जाय, तो मैं चुपके से

अपना बकुचा उठाऊँ और हवा हो जाऊँ ; मगर निद्रा-विलासिनी अहल्या की आँखों से आज नींद कोसों दूर थी । वह कोई-न-कोई प्रसंग छेड़कर बातें करती जाती थी । यहाँ तक कि जब आधी रात से अधिक बीत गई, तो चक्रधर ने कहा—भाई, अब मुझे सोने दो । आज तुम्हारी नींद कहाँ भाग गई !

उन्होंने चादर ओढ़ ली और मुँह फेर लिया । गरमी के दिन थे । कमरे में पंखा चल रहा था । फिर भी गरमी मालूम होती थी । रोज़ किवाड़ खुले रहते थे । जब अहल्या को विश्वास हो गया कि चक्रधर सो गये, तो उसने दरवाजे अन्दर से बन्द कर दिये और बिजली की बत्ती ठंढी करके सोई । आज वह न-जाने क्यों इतनी सावधान हो गई थी । पगली ! जानेवाले को किसने रोका है ।

रात भीग ही चुकी थी । अहल्या को नींद आते देर न लगी । चक्रधर का प्रेम-कातर हृदय अहल्या के यों सावधान होने पर एक बार विचलित हो उठा । वह अपने आँसुओं के वेग को न रोक सके । यह सोचकर उनका कलेजा फटा जाता था कि जब प्रातः काल यह मुझे न पायेगी, तो इसकी क्या दशा होगी । इधर कुछ दिनों से अहल्या को विलास-प्रमोद में मग्न देखकर चक्रधर समझने लगे थे कि इसका प्रेम अब शिथिल हो गया । यहाँ तक कि वह शंखधर को भी गोद में उठाकर प्यार न करती थी ; पर आज उसकी व्यग्रता देखकर उनका भ्रम जाता रहा, उन्हें ज्ञात हुआ कि इसका विलासी हृदय अब भी प्रेम में रत है । जब कोई वस्तु हमारे हाथ से जाने लगती है, तभी उसके प्रति हमारे सच्चे मनोभाव प्रकट होते हैं । निःशंक दशा में सबसे प्यारी वस्तुओं की भी हमें सुधि नहीं रहती, हम उनकी ओर से उदासीन-से रहते हैं ।

चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था । सारा राज-भवन शान्ति में विलीन हो रहा था । चक्रधर ने उठकर द्वारों को टटोलना शुरू किया ; पर ऐसा दिशा-भ्रम हो गया था कि कभी सपाट दीवार हाथ में आती, कभी कोई

खिड़की, कभी कोई मेज़। याद करने की चेष्टा करते थे कि मैं किस तरफ़ मुँह करके सोया था। द्वार ठीक चारपाई के सामने था; पर बुद्धि कुछ काम न देती थी। उन्होंने एक क्षण शान्त-चित्त होकर विचार किया; पर द्वार का ज्ञान फिर भी न हुआ। यहाँ तक कि अपनी चारपाई भी न मिलती थी। आखिर उन्होंने दीवारों को टटोल-टटोल कर बिजली का बटन खोज निकाला और बत्ती जला दी। देखा, अहल्या सुख-निद्रा में मग्न है। क्या छवि थी, मानों उज्ज्वल पुष्प-राशि पर कमल-दल बिखरे पड़े हों, मानों हृदय में प्रेम-स्मृति विश्राम कर रही हो।

चक्रधर के मन में एक बार यह आवेश उठा कि अहल्या को जगा दें और उसे गले लगाकर कहें—प्रिये! मुझे प्रसन्न मन विदा करो, मैं बहुत जल्द-जल्द आया करूँगा। इस तरह चोरों की भाँति जाते हुए उन्हें असीम मर्मवेदना हो रही थी; किन्तु जिस भाँति किसी बूढ़े आदमी को फिसलकर गिरते देख हम अपनी हँसी के वेग को रोकते हैं, उसी भाँति उन्होंने मन की इस दुर्बलता को दबा दिया और आहिस्ता से किवाड़ खोला; मगर प्रकृति को गुप्त व्यापार से कुछ वैर है, किवाड़ को उन्होंने कुछ रिश्वत तो दी नहीं थी, जो वह अपनी जबान बन्द करता, खुला; पर प्रतिरोध की एक दबी हुई ध्वनि के साथ। अहल्या सोई तो थी; पर उसे खटका लगा हुआ था। यह आहट पाते ही उसकी सचिन्त निद्रा टूट गई, वह चौंककर उठ बैठी और चक्रधर को पास की चारपाई पर न पाकर घबराई हुई कमरे के बाहर निकल आई। देखा, तो चक्रधर दबे पाँव उस जीने पर चढ़ रहे थे, जो रानी मनोरमा के शयनागार को जाता था।

उसने घबराई हुई आवाज में पुकारा—कहाँ भागे जाते हो?

चक्रधर कमरे से निकले, तो उनके मन में बलवती इच्छा हुई कि शंखधर को देखते चलें। इस इच्छा को वह संवरण न कर सके। वह तेजस्वी बालक मानों उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। वह ऊपर कमरे में रानी मनोरमा के पास सोया हुआ था। इसीलिए चक्रधर

ऊपर जा रहे थे कि उसे आँख-भर देख लूँ। यह बात उनके ध्यान में न आई कि रानी को इस वक्त कैसे जगाऊँगा। शायद वह बरामदे ही में खड़े खिड़की से उसे देखना चाहते हों। इच्छा वेगवती होकर विचार-शून्य हो जाती है। सहसा अहल्या की आवाज सुनकर वह स्तम्भित-से हो गये। ऊपर न जाकर नीचे उतर आये और अत्यन्त सरल भाव से बोले—क्या तुम्हारी नींद भी खुल गई?

अहल्या—मैं सोई कब थी! मैं जानती थी कि तुम आज जाओगे। तुम्हारा चेहरा कहे देता था कि तुमने आज मुझे छलने का इरादा कर लिया है; मगर मैं कहे देती हूँ कि मैं तुम्हारा साथ न छोड़ूँगी। मैं अपने शंखधर को भी साथ ले चलूँगी। मुझे राज्य की परवा नहीं है। राज्य रहे या जाय। तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। तुम इतने निर्दयी हो यह मुझे न मालूम था। तुम तो छल करना न जानते थे, यह विद्या कब सीख ली। बोलो, मुझे छोड़कर जाते हुए तुम्हें ज़रा भी दया नहीं आती?

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा—तुम्हें मेरे साथ बहुत कष्ट होगा अहल्या। मुझे प्रसन्न चित्त जाने दो। ईश्वर ने चाहा, तो मैं जल्द ही लौटूँगा।

अहल्या—क्यों प्राणेश, मैंने तुम्हारे साथ कौन-से कष्ट नहीं झेले, और वह ऐसा कौन-सा कष्ट है, जो मैं झेल नहीं चुकी हूँ? अनाथिनी क्या पान-फूल से पूजी जाती है। मैं अनाथिनी थी, तुमने मेरा उद्धार किया। क्या वह बात मैं भूल जाऊँगी? मैं विलास की चेरी नहीं हूँ। हाँ, यह सोचती थी कि ईश्वर ने जो सुख अनायास दे दिया है, उसे क्यों न भोगूँ; लेकिन नारि के लिए पुरुष-सेवा से बढ़कर और कोई शृंगार, कोई विलास, कोई भोग नहीं है।

चक्रधर—और शंखधर?

अहल्या—उसे भी ले चलूँगी।

चक्रधर—रानीजी उसे जाने देंगी ? जानती हो, राजा साहब का क्या हाल होगा ?

अहल्या—यह सब तो तुम भी जानते हो। मुझी पर क्यों मार रखते हो।

चक्रधर—सारांश यह कि तुम मुझे न जाने दोगी !

अहल्या—हाँ, तो मुझे छोड़कर तो तुम नहीं जा सकते, और न मैं ही लल्लू को छोड़ सकती हूँ। किसी को दुःख हो, तो हुआ करे।

इन बातों की कुछ भनक मनोरमा के कानों में भी पड़ी। वह भी अभी तक न सोई थी। उसने दरबान से ताकीद कर दी थी कि रात को चक्रधर बाहर जाने लगें, तो मुझे इत्तला देना ! वह अपने मन की दो-चार बातें चक्रधर से कहना चाहती थी। यह बोल-चाल सुनकर नीचे उतर आई। अहल्या के अंतिम शब्द उसके कानों में पड़ गये। उसने देखा कि चक्रधर हतबुद्धि-से खड़े हैं, अपने कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकते, कुछ जवाब भी नहीं दे सकते। उसे भय हुआ कि इस दुविधे में पड़कर कहीं वह अपने कर्तव्य-मार्ग से हट न जायँ, मेरा चित्त दुखी न हो जाय, इस भय से वह विरक्त होकर कहीं बैठ न रहें। वह चक्रधर को आत्मोत्सर्ग की मूर्ति समझती थी। उसे निश्चय था कि चक्रधर इस राज्य की तृण बराबर भी परवा नहीं करते, उन्हें तो सेवा की धुन लगी हुई है, यहाँ रहकर वह अपने ऊपर बड़ा जब्र कर रहे हैं। वह यह भी जानती थी कि चक्रधर किसी तरह रुकने वाले नहीं, अब यह दशा उनके लिए असह्य हो गई है। तो क्या वह शंखधर के मोह में पड़कर उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होगी, अपनी पुत्र-तृष्णा को तृप्त करने के लिए उनके पैर की बेड़ी बनेगी ? नहीं, वह इतनी स्वार्थिनी नहीं है। जिस बालक से उसे नाम का नाता होने पर इतना प्रेम है, उसे वह कितना चाहते होंगे। इसका वह भली भाँति अनुमान कर सकती थी। वह शंखधर के लिए रोयेगी, तड़पेगी; लेकिन अपने पास रखकर चक्रधर को पुत्र-वियोग का दुःख न देगी। वह

उनके दीपक से अपना घर न उजाला करेगी। यही उसने स्थिर किया। राजा साहब का क्या हाल होगा। इसकी उसे याद ही न रही। आकर बोली—बाबूजी, आप मेरा ख़याल न कीजिए, शंखधर को ले जाइए। आख़िर आपका दिल वहाँ कैसे लगेगा। मुझे कौन, जैसे पहले रहती थी, वैसे ही फिर रहने लगूँगी। हाँ, इतनी दया कीजिएगा कि कभी-कभी उसे लाकर मुझे दिखा दिया कीजिएगा; मगर अभी तो दो-चार दिन रहिएगा! बेटियाँ क्या यों रातोरात विदा हुआ करती हैं। दो-चार दिन तो और शंखधर को प्यार कर लेने दीजिए।

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखें डबडबा गईं। चक्रधर ने गद्गद कण्ठ से कहा—वह भला आपको छोड़कर मेरे साथ क्यों जाने लगा। आपके बग़ैर तो वह एक दिन भी न रहेगा।

मनोरमा—यह मैं कैसे कहूँ। माता-पिता बालक के साथ जितना प्रेम कर सकते हैं, उतना दूसरा कौन कर सकता है।

अहल्या यह वाक्य सुनकर तिलमिला उठी। पति को रोकने का उसके पास यही एक बहाना था। वह न यहाँ से जाना चाहती थी, न पति को जाने देना चाहती थी। शंखधर की आड़ में वह अपने मनोभाव को छिपाये हुए थी। उसे विश्वास था कि रानी शंखधर को कभी न जाने देंगी और न चक्रधर उनसे इस विषय में कुछ कह सकेंगे; पर जब रानी ने यह शस्त्र उसके हाथ से छीन लिया, तो उसे शंका हुई कि इसमें ज़रूर कोई-न-कोई रहस्य है। उसने तीव्र स्वर से कहा—तो क्या वह सब दिखाने ही का प्रेम था! आप तो कहती थीं, यह मेरा प्राण है, यह मेरा जीवन-आधार है, क्या वह सब केवल बातें थीं! क्या हमारी आँखों में धूल डालने के लिए सारा स्वाँग रचा था? आप हम लोगों को दूध की मक्खी की भाँति निकालकर अखंड राज्य करना चाहती हैं? यह न होगा। दादाजी को आप कोई दूसरा मन्त्र न पढ़ा सकेंगी। मेरे पुत्र का अहित आप न कर सकेंगी। मैं अब यहाँ से टलनेवाली नहीं।

यह समझ लीजिएगा। अगर आपने समझ रक्खा हो कि इन सबों को भगाकर अपने किसी भाई-भतीजे को यहाँ ला बिठाऊँगी, तो उस धोखे में न रहिएगा!

यह कहते-कहते अहल्या उसी क्रोध में भरी हुई राजा साहब के शयनगृह की ओर चली। मनोरमा स्तम्भित-सी खड़ी रह गई। उसकी आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे।

चक्रधर मनोरमा को क्या मुँह दिखाते। अहल्या के इन वज्र-कठोर शब्दों ने मनोरमा को इतनी पीड़ा नहीं पहुँचाई, जितनी उनको। मनोरमा दो-एक बार और भी ऐसी ही बातें अहल्या के मुख से सुन चुकी थी और उसके स्वभाव से परिचित हो गई थी। चक्रधर को ऐसी बातें सुनने का यह पहला ही अवसर था। वही अहल्या, जिसे वह नम्रता, मृदुता, मधुरता, शालीनता की देवी समझते थे, आज पिशाचिनी के रूप में उन्हें दिखाई दी। मारे ग्लानि के उनकी ऐसी इच्छा हुई कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, फिर कभी न इसका मुँह देखूँ, न अपना मुँह दिखाऊँ। जिस रमणी के उपकारों से उनका एक-एक रोआँ आभारी था, उसके साथ यह व्यवहार! उसके उपकारों का यह उपहार! यह तो नीचता की चरमसीमा है! उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि मेरे मुँह में कालिख लगी हुई है। वह मनोरमा की ओर ताक भी न सके। उनके मन में विराग की एक तरंग-सी उठी। मन ने कहा—यही तुम्हारी भोग-लिप्सा का दंड है, तुम इसी के भूखे थे। तुम्हें जिस दिन मालूम हुआ कि अहल्या राजा की पुत्री है, उसी दिन क्यों न यहाँ से मुँह में कालिख लगाकर चले गये। इस विचार से क्यों अपनी आत्मा को धोखा देते रहे कि जब मैं जाने लगूँगा, अहल्या अवश्य मेरे साथ चलेगी? तुम समझते थे कि स्त्री की दृष्टि में पति-प्रेम ही संसार की सबसे अमूल्य वस्तु है। यह तुम्हारी भूल थी। आज उसी स्त्री ने पति-प्रेम को कितनी निर्दयता से ठुकरा दिया, तुम्हारे सारे हवाई क़िलों को विध्वंस कर दिया और तुम्हें कहीं का न रक्खा।

मनोरमा अभी सिर झुकाये खड़ी ही थी कि चक्रधर चुपके से बाहर के कमरे में आये, अपना हैंडबेग उठाया और बाहर निकले। दरबान ने पूछा—सरकार इस वक्त कहाँ जा रहे हैं?

चक्रधर ने मुसकिराकर कहा—ज़रा मैदान की हवा खाना चाहता हूँ। भीतर बड़ी गरमी है, नींद नहीं आती।

दरबान—मैं भी सरकार के साथ चलूँ?

चक्रधर—नहीं, कोई ज़रूरत नहीं।

बाहर आकर चक्रधर ने राज-भवन की ओर देखा। असंख्य खिड़कियों और दरीचों से बिजली का दिव्य प्रकाश दिखाई दे रहा था। उन्हें वह दिव्य भवन सहस्र नेत्रोंवाले पिशाच की भाँति जान पड़ा, जिसने उनका सर्वनाश कर दिया था। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है, और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुःख होगा? इसकी चिन्ता न करो। यहाँ यही बहार रहेगी, यों ही चैन की बंशी बजेगी। तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं, उनकी मैं काया-कल्प कर देता हूँ; उनकी आत्मा को महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।

अभी चक्रधर सोच ही रहे थे कि किधर जाऊँ, सहसा उन्हें राज-द्वार से दो-तीन आदमी लालटेनें लिये निकलते दिखाई दिये। समीप आने पर मालूम हुआ मनोरमा है! वह दो सिपाहियों के साथ लपकी हुई सड़क की ओर चली आ रही थी। चक्रधर समझ गये, यह मुझे ढूंढ रही है। उनके जी में एक बार प्रबल इच्छा हुई कि उसके चरणों पर गिरकर कहें—देवी, मैं तुम्हारी कृपाओं के योग्य नहीं हूँ। मैं नीच, पामर, अभागा हूँ। मुझे जाने दो, मेरे हाथों तुम्हें सदा कष्ट मिला है और मिलेगा।

मनोरमा अपने आदमियों से कह रही थी—अभी कहीं दूर न गये होंगे। तुम लोग पूर्व की ओर जाओ, मैं एक आदमी के साथ इधर जाती

हूँ। बस, इतना ही कहना कि रानीजी ने कहा है, जहाँ जाना चाहें जायँ; पर मुझसे मिलकर जायँ।

राजभवन के सामने एक मनोहर उद्यान था। चक्रधर झट एक कुञ्ज की आड़ में छिप गये। मनोरमा सामने से निकल गई। चक्रधर का कलेजा धड़क रहा था कि कहीं पकड़ न लिया जाऊँ। दोनों तरफ के रास्ते बन्द थे। बारे उन्हें ज्यादा देर तक वहाँ न रहना पड़ा। मनोरमा कुछ दूर तक जाकर लौट आई। उसने निश्चय किया कि इधर-उधर खोजना व्यर्थ है। रेलवे-स्टेशन पर जाकर उनको रोकना चाहिए। स्टेशन के सिवा और कहाँ जा सकते हैं। चक्रधर की जान में जान आई। ज्यों ही रानी इधर आई, वह कुञ्ज से निकल कर कदम बढ़ाते हुए आगे चले। वह दिन निकलने के पहले इतनी दूर निकल जाना चाहते थे कि फिर उन्हें कोई पा न सके। दिन निकलने में अब बहुत देर भी न थी। तारों की ज्योति मन्द पड़ चली थी। चक्रधर ने और तेजी से क़दम बढ़ाया।

सहसा उन्हें सड़क के किनारे एक कुएँ के पास कई आदमी बैठे दिखाई दिये। उनके बीच में एक लाश रक्खी हुई थी। कई आदमी लकड़ी के कुन्दे लिये पीछे आ रहे थे। चक्रधर पूछना चाहते थे—कौन मर गया है? धन्नासिंह की आवाज़ पहचानकर वह सड़क ही पर ठिठक गये। इसने पहचान लिया, तो मुश्किल पड़ेगी।

धन्नासिंह कह रहा था—कज़ा आ गई, तो कोई क्या कर सकता है। बाबूजी के हाथ में कोई डंडा भी तो न था। दो-चार घूँसे मारे होंगे और क्या। मगर उस दिन से फिर बेचारा उठा नहीं।

दूसरे आदमी ने कहा—ठाँव-कुठाँव की बात है। एक घूँसा पीठ पर मारो, तो कुछ न होगा, केवल 'घम' की आवाज होगी; लेकिन वही घूँसा पसली में या नाभि के पास पड़ जाय, तो गोली का काम कर सकता है। ठाँव-कुठाँव की बात है। मन्ना को कुठाँव चोट लग गई।

धन्नासिंह—बाबूजी सुनेंगे, तो उन्हें बहुत रंज होगा। उस दिन मैं

जाने उनके सिर कैसे क्रोध का भूत सवार हो गया। बड़े दयावान हैं; किसी को कड़ी निगाह से देखते तक नहीं। जेहल में हम लोग उन्हें भगतजी कहा करते थे। सुनेंगे, तो बहुत पछताएँगे।

एक बूढ़ा आदमी बोला—भैया, जेहल की दूसरी बात थी। तब दयावान रहे होंगे। तब राजा-ठाकुर तो नहीं थे। राज पाकर दयावान रहें, तो जानो।

धन्नासिंह—दादा, वह राज पाकर फूल उठनेवाले आदमी नहीं हैं। तुमने देखा, यहाँ से जाते-ही-जाते माफ़ी दिला दी।

बूढ़ा—अरे पागल, जान का बदला कहीं माफी से चुकता है। जान का बदला जान है। मन्ना की अभागिनी विधवा माफी लेकर चाटेगी, उसके अनाथ बालक माफी की गोद में खेलेंगे, या माफी को दादा कहेंगे। तुम बाबूजी को दयावान कहते हो, मैं उन्हें सौ हत्यारों का एक हत्यारा कहता हूँ। राजा हैं, इससे बचे जाते हैं, दूसरा होता, तो फाँसी पर लटकाया जाता। मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ; लेकिन उनपर इतना क्रोध आ रहा है कि मिल जायँ, तो खून चूस लूँ।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ कि मन्नासिंह की लाश कफन में लिपटी हुई उन्हें निगलने के लिए दौड़ी चली आती है! चारों ओर से दानवों की विकराल ध्वनि सुनाई देती थी—यह हत्यारा है! सौ हत्यारों का हत्यारा है! समस्त आकाश-मंडल में, देह के एक-एक अणु में, यही शब्द गूँज रहे थे—यह हत्यारा है! सौ हत्यारों का हत्यारा है!

चक्रधर वहाँ एक क्षण भी और खड़े न रह सके। उन आदमियों के सामने जाने की हिम्मत न पड़ी। मन्नासिंह की लाश सामने हड्डी की एक गदा लिये उनका रास्ता रोके खड़ी थी। नहीं, वह उनका पीछा करती थी। वह ज्यों-ज्यों पीछे खिसकते थे, लाश आगे बढ़ती थी। चक्रधर ने मन को शांत करके विचार का आह्वान किया, जिसे मन की दुर्बलता ने एक क्षण के लिए शिथिल कर दिया था। 'वाह! यह मेरी क्या द॰ .

है। मृतदेह भी कहीं चल सकती है? यह मेरी भय-विकृत कल्पना का दोष है। मेरे सामने कुछ नहीं है। अब तक तो मैं डर ही गया होता।' मन को यों दृढ़ करते ही उन्हें फिर कुछ न दिखाई दिया। वह आगे बढ़े; लेकिन उनका मार्ग अब अनिश्चित न था, उनके रास्ते में अब अन्धकार न था, वह किसी लक्ष्य-हीन पथिक की भाँति इधर-उधर भटकते न थे। उन्हें अपने कर्तव्य का मार्ग साफ़ नज़र आने लगा।

सहसा उन्होंने देखा कि पूर्व-दिशा प्रकाश से आच्छन्न होती चली आती है।

३५

पाँच साल गुजर गये ; पर चक्रधर का कुछ पता नहीं। फिर वही गरमी के दिन हैं, दिन को लू चलती है, रात को अंगारे बरसते हैं ; मगर अहल्या को न अब पंखे की जरूरत है, न खस की टट्टियों की। उस वियोगिनी को अब रोने के सिवा दूसरा काम नहीं है। विलास की किसी वस्तु से अब उसे प्रेम नहीं है। जिन वस्तुओं के प्रेम में फँसकर उसने अपने प्रियतम से हाथ धोया, वे सभी उसकी आँखों में काँटे की भाँति खटकती और हृदय में शूल की भाँति चुभती हैं। मनोरमा से अब उसका वह बरताव नहीं रहा। मनोरमा ही क्यों, लौंडियों तक से वह नम्रता के साथ बोलती और शंखधर के बिना तो अब वह एक क्षण नहीं रह सकती। पति को खोकर उसने अपने को पा लिया है। अगर वह विलासिता में पड़कर अपने को भूल न गई होती, तो पति को खोती ही क्यों। वह अपने को बार-बार धिक्कारती है कि वह चक्रधर के साथ क्यों न चली गई।

शंखधर उससे पूछता रहता है—अम्माँ, बाबूजी कब आवेंगे ? वह क्यों चले गये अम्माँजी ? आते क्यों नहीं ? तुमने उनको क्यों जाने दिया अम्माँजी ? तुमने हमको उनके साथ क्यों नहीं जाने दिया ? तुम उनके साथ क्यों नहीं गईं अम्माँ, बताओ, बेचारे अकेले न जाने कहाँ पड़े होंगे। मैं भी उनके साथ जंगलों में घूमता ! क्यों अम्माँ, उन्होंने बहुत विद्या पढ़ी है ? रानी अम्माँ कहती हैं, वह आदमी नहीं देवता हैं, क्यों अम्माँजी, क्या वह देवता हैं ? फिर तो लोग उनकी पूजा करते होंगे। अहल्या के पास इन प्रश्नों का उत्तर रोने के सिवा और कुछ नहीं है।

शंखधर कभी-कभी अकेले बैठकर रोता है। कभी-कभी अकेले बैठा सोचा करता है कि पिताजी कैसे आवेंगे।

शंखधर का जी अपने पिता की कीर्ति सुनने से कभी नहीं भरता। वह रोज़ अपनी दादी के पास जाता है और वहाँ उनकी गोद में बैठा हुआ घण्टों उनकी बातें सुना करता है। चक्रधर की पुस्तकों को वह उलट-पुलट कर देखता है और चाहता है कि मैं भी जल्दी से बड़ा हो जाऊँ और ये किताबें पढ़ने लगूँ। निर्मला दिन-भर उसकी राह देखा करती है। उसे देखते ही निहाल हो जाती है। शंखधर ही अब उसके जीवन का आधार है। अहल्या का मुँह भी वह नहीं देखना चाहती। कहती है, उसी ने मेरे लाल को घर से विरक्त कर दिया। बेचारा न-जाने कहाँ मारा-मारा फ़िरता होगा। मेरा भोला-भाला ग़रीब लड़का इस विलासिनी के पंजे में फँसकर कहीं का न रहा। अब भले रोती हैं। मुंशी वज्रधर उससे बार-बार अनुरोध करते हैं कि चलकर जगदीशपुर में रहो; पर वह यहाँ से जाने पर राज़ी नहीं होती। उससे अपना वह छोटा-सा घर नहीं छोड़ा जाता।

मुंशीजी को अब रियासत से एक हज़ार रुपये महीना वसीक़ा मिलता है। राजा साहब ने उन्हें रियासत के कामों से मुक्त कर दिया है। इसलिए मुंशीजी अब अधिकांश घर ही पर रहते हैं। शराब की मात्रा तो धन के साथ नहीं बढ़ी, बल्कि और घट गई है; लेकिन संगीत-प्रेम बहुत बढ़ गया है। सारे दिन उनके विशाल कमरे में गायनाचार्यों की बैठक रहती है। मुहल्ले में अब कोई ग़रीब नहीं रहा। मुंशीजी ने सबको कुछ-न-कुछ महीना बाँध दिया है। उनके हाथ में पैसा कभी नहीं टिका। अब तो और भी नहीं टिकता। उनकी मनोवृत्ति भक्ति की ओर नहीं है, दान को दान समझ कर वह नहीं देते, न इसलिए देते हैं कि उस जन्म में इसका कुछ फल मिलेगा। वह इसलिए देते हैं कि यह उनकी आदत है। यह भी उनका राग है, इसमें उन्हें आनन्द मिलता है। वह अपनी कीर्ति भी नहीं सुनना चाहते; इसलिए जो कुछ देते हैं, गुप्त

रूप से देते हैं। वह अब भी प्रायः खाली हाथ रहते हैं और रुपयों के लिए मनोरमा की जान खाते रहते हैं, बिगड़-बिगड़कर पत्र-पर-पत्र लिखते हैं, जाकर खोटी-खरी सुना आते हैं और कुछ-न-कुछ ले ही आते हैं। मनोरमा को भी शायद उनकी कड़वी बातें मीठी लगती हैं। वह उनकी इच्छा तो पूरी करती है; पर चार बातें सुनकर। इतने पर भी उन्हें क़र्ज़ लेना पड़ता है। उनके लिए सबसे आनन्द का समय वह होता है, जब वह शंखधर को गोद में लिये मुहल्ले-भर के बालकों को मिठाइयाँ और पैसे बाँटने लगते हैं। इससे बड़ी खुशी की वह कल्पना ही नहीं कर सकते।

एक दिन शंखधर ९ बजे ही आ पहुँचा। गुरुसेवकसिंह उसके साथ थे। यह महाशय रियासत जगदीशपुर के तसले थे। जिस अवसर पर जो काम ज़रूरी समझा जाता था, वही उनसे लिया जाता था। निर्मला उस समय स्नान करके तुलसी को जल चढ़ा रही थी। जब वह जल चढ़ाकर आई, तो शंखधर ने पूछा—दादीजी, तुम पूजा क्यों करती हो?

निर्मला ने शंखधर को गोद में लेकर कहा—बेटा, भगवान् से मनाती हूँ कि मेरी मनोकामना पूरी करें।

शंखधर—भगवान् सबके मन की बात जानते हैं?

निर्मला—हाँ बेटा, भगवान् सब कुछ जानते हैं।

शंखधर—दादीजी, तुम्हारी क्या मनोकामना है?

निर्मला—यही बेटा, कि तुम्हारे बाबू आ जायें और तुम जल्दी से बड़े हो जाओ।

शंखधर बाहर मुंशीजी के पास चला गया और उनके पास बैठकर सितार की गतें सुनता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल शंखधर ने स्नान किया; लेकिन स्नान करके वह जलपान करने न आया। गुरुसेवकसिंह के पास पढ़ने भी न गया। न जाने कहाँ चला गया। अहल्या इधर-उधर देखने लगी, कहाँ चला गया। मनोरमा के पास आकर देखा, वहाँ भी न था। अपने कमरे में

भी न था। छत पर भी नहीं। दोनों रमणियाँ घबराईं कि स्नान करके कहाँ चला गया। लौंडियों से पूछा तो उन सबों ने भी कहा, हमने तो उन्हें नहा कर आते देखा। फिर कहाँ चले गये, यह हमें नहीं मालूम। चारों ओर तलाश होने लगी। दोनों बग़ीचे की ओर दौड़ी गईं। वहाँ भी वह न दिखाई दिया। सहसा बग़ीचे के पल्ले सिरे पर, जहाँ दिन को भी सन्नाटा रहता था, उसकी झलक दिखाई दी। दोनों चुपके-चुपके वहाँ गईं और एक पेड़ की आड़ में खड़ी होकर देखने लगीं। शंखधर तुलसी के चबूतरे के सामने आसन मारे, आँखें बन्द किये ध्यान-सा लगाये बैठा था। उसके सामने कुछ फूल पड़े हुए थे। एक क्षण के बाद उसने आँखें खोलीं, कई बार चबूतरे की परिक्रमा और तुलसी की बन्दना करके धीरे से उठा। दोनों महिलाएँ आड़ से निकल कर उसके सामने खड़ी हो गईं। शंखधर उन्हें देखकर कुछ लज्जित हो गया और बिना कुछ बोले आगे बढ़ा।

मनोरमा—यहाँ क्या करते थे बेटा?

शंखधर—कुछ तो नहीं। ऐसे ही घूमता था।

मनोरमा—नहीं, कुछ तो कर रहे थे।

शंखधर—जाइए आप से क्या मतलब!

अहल्या—तुम्हें न बतावेगा। मैं तो इसकी अम्माँ हूँ, मुझे बता देगा। मेरा लाल मेरी कोई बात नहीं टालता। हाँ बेटे, बताओ क्या कर रहे थे? मेरे कान में कह दो। मैं किसी से न कहूँगी।

शंखधर ने आँखों में आँसू भरकर कहा—कुछ नहीं, मैं बाबूजी के जल्दी से लौट आने की प्रार्थना कर रहा था। भगवान् पूजा करने से सबकी मनोकामना पूरी करते हैं।

सरल बालक की यह पितृभक्ति और श्रद्धा देखकर दोनों महिलाएँ रोने लगीं। इस बेचारे को कितना दुःख है! शंखधर ने फिर पूछा—क्यों अम्माँ, तुम बाबूजी के पास कोई चिट्ठी क्यों नहीं लिखतीं?

अहल्या ने कहा—कहाँ लिखूँ बेटा, उनका पता भी तो नहीं जानती।

३६

इधर कुछ दिनों से लौंगी तीर्थ करने चली गई थी। गुरुसेवकसिंह ही के कारण उसके मन में यह धर्मोत्साह हुआ था। इस यात्रा के शुभ फल में उनको भी कुछ हिस्सा मिलेगा, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर उनके पिता को अवश्य मिलने की सम्भावना थी। जब से वह गई थी, दीवान साहब दीवाने हो गये थे। यहाँ तक कि गुरुसेवक को भी कभी-कभी यह मानना पड़ता था कि लौंगी का घर में होना पिताजी की रक्षा के लिए जरूरी है। घर में अब कोई नौकर एक सप्ताह से ज्यादा न टिकता था, कितने ही पहली ही फटकार में छोड़ भागते थे। रियासत से बेगार पकड़ कर भेजे जाते थे, तब कहीं जाकर काम चलता था। गुरुसेवक के सद्व्यवहार और मिष्ट भाषण का कोई असर न होता था। शराब की मात्रा भी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे भय होता था कि कोई भयंकर रोग न खड़ा हो जाय। भोजन वह अब बहुत ही थोड़ा करते थे। लौंगी दिन-भर में दो-ढाई सेर दूध उनके पेट में भर दिया करती थी, आधपाव के लगभग घी भी किसी-न-किसी तरह पहुँचा ही देती थी। इस कला में वह निपुण थी। पति-सेवा का वह अमर सिद्धान्त, जो चालीस की अवस्था के बाद भोजन की आयोजना ही पर विशेष आग्रह करता है सदैव उसकी आँखों के सामने रहता था। वह कहा करती थी, घोड़े और मर्द कभी बूढ़े नहीं होते, केवल उन्हें रातिब मिलना चाहिए। ठाकुर साहब लौंगी की अब सूरत भी नहीं देखनी चाहते थे, इसी आशय के पत्र उसको लिखा करते हैं। लिखते हैं, तुमने मेरी जिन्दगी चौपट कर दी। मेरा लोक और परलोक दोनों बिगाड़ दिया। शायद लौंगी को जलाने ही के लिए

ठाकुर साहब सभी काम उसकी इच्छा के विरुद्ध करते थे—खाना कम और शराब अधिक, नौकरों पर क्रोध, ९ बजे दिन तक सोना। सारांश यह कि जिन बातों को वह रोकती थी, वही आजकल की दिनचर्या बनी हुई थीं। दीवान साहब इसकी सुचना भी दे देते थे, और पत्र के अन्त में यह भी लिख देते थे—अब तुम्हारे यहाँ आने की बिलकुल जरूरत नहीं है। मेरी बहू तुम से कहीं अच्छी तरह मेरी सेवा कर रही है। उसने मासिक खर्च में कोई २००) की बचत निकाल दी है। तुम्हारे लिए वही आमदनी पूरी न पड़ती थी। हरएक पत्र में वह अपने स्वास्थ्य का विवरण अवश्य करते थे। उनकी पाचनशक्ति अब बहुत अच्छी हो गई थी, रुधिर के बढ़ जाने से जितने रोग उत्पन्न होते हैं, उनकी अब कोई सम्भावना न थी।

दीवान साहब की पाचनशक्ति अच्छी हो गई हो; पर विचारशक्ति तो ज़रूर क्षीण हो गई थी। निश्चय करने की अब उनमें सामर्थ्य ही न थी। ऐसी-ऐसी ग़लतियाँ करते थे कि राजा साहब को उनका बहुत लिहाज़ करने पर भी बार-बार एतराज करना पड़ता था। वह कार्य-दक्षता, वह तत्परता, वह विचारशीलता, जिसने उन्हें चपरासी से दीवान बनाया था, अब उनका साथ छोड़ गई थी। यह बुद्धि भला जगदीशपुर का शासन-भार क्या सँभालती। लोगों को आश्चर्य होता था कि इन्हें क्या हो गया है। गुरुसेवक को भी शायद मालूम होने लगा कि पिताजी की आड़ में कोई दूसरी ही शक्ति रियासत की संचालन करती थी।

एक दिन उन्होंने पिता से कहा—लौंगी कब तक आयेगी?

दीवान साहब ने उदासीनता से कहा—उसका दिल जाने। यहाँ आने की तो कोई ख़ास ज़रूरत नहीं मालूम होती। अच्छा है, अपने कर्मों का प्रायश्चित्त ही कर ले। यहाँ आकर क्या करेगी।

उसी दिन भाई-बहन में भी इसी विषय पर बातें हुईं। मनोरमा ने कहा—भैया, क्या तुमने लौंगी अम्माँ को भुला ही दिया। दादाजी

की दशा देख रहे हो कि नहीं। सूख कर काँटा हो गये हैं।

गुरुसेवक—भोजन तो करते ही नहीं, कोई क्या करे। बस जब देखो शराब—शराब।

मनोरमा—उन्हें लौंगी अम्माँ ही कुछ ठीक रख सकती हैं। उसी को किसी तरह बुलाओ और बहुत जल्द। दादाजी की दशा देख कर मुझे तो भय हो रहा है। राजा साहब तो कहते हैं, तुम्हारे पिताजी सठिया गये हैं।

गुरुसेवक—तो मैं क्या करूँ। बार-बार कहता हूँ बुला लीजिए; पर वह सुनते ही नहीं। उलटे उसे चिढ़ाने को और लिख देते हैं यहाँ तुम्हारे आने की जरूरत नहीं! वह एक हठिन है। भला, इस तरह क्यों आने लगी।

मनोरमा—नहीं भैया, वह लाख हठिन हो; पर दादाजी पर जान देती है। वह केवल तुम्हारे भय से नहीं आ रही है। तीर्थयात्रा में उसकी श्रद्धा कभी न थी। वहाँ रो-रो कर उसके दिन कट रहे होंगे। पिताजी जितना ही उसे आने के लिए रोकते हैं, उतना ही उसे आने की इच्छा होती है; पर तुमसे डरती है।

गुरुसेवक—नोरा, मैं सच कहता हूँ, मैं दिल से चाहता हूँ कि वह आ जाय; पर सोचता हूँ जब पिताजी मना करते हैं, तो मेरे बुलाने से क्या आने लगी। रुपये-पैसे की उसे कोई तकलीफ़ है ही नहीं।

मनोरमा—तुम समझते हो, दादाजी उसे मना करते हैं? उनकी दशा देख कर भी ऐसा कहते हो! जब से अम्माँजी का स्वर्गवास हुआ, दादाजी ने अपने को उसके हाथों बेच दिया। लौंगी ने न सँभाला होता, तो अम्माँजी के शोक में दादाजी प्राण दे देते। मैंने किसी विवाहिता स्त्री में इतनी पति-भक्ति नहीं देखी। अगर दादाजी को बचाना चाहते हो, तो जाकर लौंगी अम्माँ को अपने साथ लाओ।

गुरुसेवक—मेरा जाना तो बहुत मुश्किल है नोरा।

मनोरमा—क्यों? क्या इसमें आपका अपमान होगा?

गुरुसेवक—वह समझेगी, आखिर इन्हीं को ग़रज़ पड़ी। आकर और भी सिर चढ़ जायगी। उसका मिज़ाज और भी आसमान पर जा पहुँचेगा।

मनोरमा—भैया, ऐसी बातें मुँह से न निकालो। लौंगी देवी है, उसने तुम्हारा और मेरा पालन किया है। उस पर तुम्हारा यह भाव देख-कर मुझे दुःख होता है।

गुरुसेवक—मैं अब उससे कभी न बोलूँगा, उसकी किसी बात में भूल कर भी दख़ल न दूँगा; लेकिन उसे बुलाने न जाऊँगा।

मनोरमा—अच्छी बात है, तुम न जाओ; लेकिन मेरे जाने में तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं है?

गुरुसेवक—तुम जाओगी!

मनोरमा—क्यों, मैं क्या हूँ! क्या मैं भूल गई हूँ कि लौंगी अम्माँ ही ने मुझे गोद में लेकर पाला है? अगर वह इस घर में आकर रहती, तो मैं अपने हाथों से उसके पैर धोती और चरणामृत आँखों से लगाती। जब मैं बीमार पड़ी थी, तो वह रात-की-रात मेरे सिरहाने बैठी रहती थी! क्या मैं इन बातों को कभी भूल सकती हूँ। माता के ऋण से उऋण होना चाहे सम्भव हो, उसके ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकती, चाहे ऐसे-ऐसे दस जन्म लूँ। आजकल वह कहाँ है?

गुरुसेवक लज्जित हुए। घर जाकर उन्होंने देखा कि दीवान साहब लिहाफ़ ओढ़े पड़े हुए हैं। पूछा—आपका जी कैसा है?

दीवान साहब की लाल आँखें चढ़ी हुई थीं। बोले—कुछ नहीं जी, ज़रा सरदी लग रही थी।

गुरुसेवक—आपकी इच्छा हो तो मैं जाकर लौंगी को बुला लाऊँ!

हरिसेवक—तुम! नहीं तुम उसे बुलाने क्या जाओगे। कोई ज़रूरत नहीं। उसका जी चाहे आये या न आये। हुँह! उसे बुलाने जाओगे! ऐसी कहाँ की अमीरज़ादी है।

गुरुसेवक—यह आप कहें। हम तो उसकी गोद में खेले हुए हैं, हम ऐसा कैसे कह सकते हैं। नोरा आज मुझ पर बहुत बिगड़ रही थी। वह खुद उसे बुलाने जा रही है। उसकी ज़िद तो आप जानते ही हैं। जब धुन सवार हो जाती है, तो उसे कुछ नहीं सूझता।

हरिसेवक सजल नेत्र होकर बोले—नोरा जाने कहती है। नोरा जायगी! नहीं, मैं उसे न जाने दूँगा। लौंगी को बुलाने नोरा नहीं जा सकती। मैं उसे समझा दूँगा।

गुरुसेवक क्या जानते थे, इन शब्दों में कोई गूढ़ आशय भरा हुआ है। वहाँ से चले गये।

दूसरे दिन दीवान साहब को ज्वर हो आया। गुरुसेवक ने तापमान लगाकर देखा, तो ज्वर १०४° का था। घबराकर डाक्टर को बुलाया। मनोरमा यह खबर पाते ही दौड़ी हुई आई। उसने आते-ही-आते गुरुसेवक से कहा—मैंने आपसे कल ही कहा था जाकर लौंगी अम्माँ को बुला लाइए; लेकिन आप न गये। अब तक तो आप हरिद्वार से लौटते होते।

गुरुसेवक—मैं तो जाने को तैयार था; लेकिन जब कोई जाने भी दे। दादाजी से पूछा, तो वह मुझी को बेवकूफ बनाने लगे। मैं कैसे चला जाता?

मनोरमा—तुम्हें इनसे पूछने की क्या ज़रूरत थी? इनकी दशा देख नहीं रहे हो। अब भी मौक़ा है। मैं इनकी देख-भाल करती रहूँगी, तुम इसी गाड़ी से चले जाओ और उसे साथ लाओ। वह इनकी बीमारी की ख़बर सुनकर एक क्षण भी न रुकेगी। वह केवल तुम्हारे भय से नहीं आ रही है।

दीवान साहब मनोरमा को देखकर बोले—आओ नोरा, मुझे तो आज ज्वर आ गया। गुरुसेवक कह रहा था कि तुम लौंगी को बुलाने जा रही हो। बेटी, इसमें तुम्हारा अपमान है। उसको हज़ार दफा ग़रज़ हो आये, या न आये। भला तुम उसे बुलाने जाओगी, तो दुनिया क्या कहेगी। सोचो। कितनी बदनामी की बात है।

मनोरमा—दुनिया जो चाहे कहे, मैंने तो भैयाजी को भेज दिया। वह तो स्टेशन पहुँच गये होंगे। शायद गाड़ी पर सवार भी हो गये हों।

हरिसेवक—सच! यह तुमने क्या किया। लौंगी कभी न आयेगी।

मनोरमा—आयेगी क्यों नहीं। न आयेगी, तो मैं जाऊँगी और उसे मना लाऊँगी।

हरिसेवक—तुम उसे मनाने जाओगी? रानी मनोरमा लौंगी कहारिन को मनाने जायेगी!

मनोरमा—मनोरमा लौंगी कहारिन का दूध पीकर बड़ी न होती, तो आज रानी मनोरमा कैसे होती!

हरिसेवक का मुरझाया हुआ चेहरा खिल उठा, बुझी हुई आँखें जगमगा उठीं, प्रसन्न मुख होकर बोले—नोरा, तुम सचमुच दया की देवी हो, देखो, अगर लौंगी आये और मैं न रहूँ, तो उसकी ख़बर लेती रहना। उसने मेरी बड़ी सेवा की है। मैं कभी उसके एहसानों का बदला नहीं चुका सकता। गुरुसेवक उसे सतायेगा, उसे घर से निकालेगा; लेकिन तुम उस दुखिया की रक्षा करना। मैं चाहूँ तो अपनी सारी सम्पत्ति उसके नाम लिख सकता हूँ। यह सब जायदाद मेरी पैदा की हुई है। पिता के मैं मुझे कई हज़ार के कर्ज़ के सिवा और कुछ न मिला था। मैं अपना सब कुछ लौंगी को दे सकता हूँ; लेकिन लौंगी कुछ न लेगी। वह दुष्टा मेरी जायदाद का एक पैसा भी न छुएगी। वह अपने गहने-पाते भी काम पड़ने पर इस घर में लगा देगी। बस, वह सम्मान चाहती है। कोई उससे आदर के साथ बोले और उसे लूट ले। वह इस घर की स्वामिनी बनकर भूखों मर जायगी; लेकिन दासी बनकर सोने का कौर भी न खायगी। यही उसका स्वभाव है। गुरुसेवक ने आज तक उसका स्वभाव न जाना। नोरा, जिस दिन से वह गई है, मैं कुछ और ही हो गया हूँ। जान पड़ता है, मेरी आत्मा कहीं चली गई है। मुझे अपने ऊपर ज़रा भी भरोसा नहीं रहा। मुझ में निश्चय करने की शक्ति ही नहीं

रही। अपने कर्तव्य का ज्ञान ही नहीं रहा। तुम्हें अपने बचपन की याद आती है नोरा?

मनोरमा—बहुत पहले की बातें तो नहीं याद हैं; लेकिन लौंगी अम्माँ का मुझे गोद में खेलाना खूब याद है, अपनी बीमारी की याद भी आती है, जब लौंगी अम्माँ मुझे पंखा झला करती थीं।

हरिसेवक ने अवरुद्ध कंठ से कहा—उससे पहले की बात है नोरा, जब गुरुसेवक तीन वर्ष का था और तुम्हें तुम्हारी माता साल-भर का छोड़ कर चल बसी थी। मैं पागल हो गया था। यही जी में आता था कि आत्महत्या करलूँ। नोरा, जैसी तुम हो, वैसी ही तुम्हारी माता थी। उसका स्वभाव भी तुम्हारे-जैसा था। मैं बिल्कुल पागल हो गया था। उस दशा में इसी लौंगी ने मेरी रक्षा की। उसकी सेवा ने मुझे मुग्ध कर दिया। उसे तुम लोगों पर प्राण देते देखकर उस पर मेरा प्रेम हो गया। मैं उसके स्वरूप और यौवन पर न रीझा। तुम्हारी माता के बाद किसका स्वरूप और यौवन मुझे मोहित कर सकता था। मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया। तुम्हारी माता भी तुम लोगों का लालन-पालन इतना तन्मय होकर न कर सकती थी। गुरुसेवक की बीमारी की याद तुम्हें क्या आयेगी। न जाने इसे कौन-सा रोग हो गया था। खून के दस्त आते थे और तिल-तिल पर। छः महीने तक उसकी यही दशा रही। जितनी दवा-दारू उस समय कर सकता था, वह सब करके हार गया। झाड़-फूँक, दुआ-तावीज़ सब कुछ कर चुका। इसके बचने की कोई आशा न थी। गलकर काँटा हो गया था। रोता तो इस तरह, मानों कराह रहा है। यह लौंगी ही थी, जिसने उसे मौत के मुँह से निकाल लिया। कोई माता अपने बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती। जो उसके त्याग-मय स्नेह को देखता, दाँतों उँगली दबाता था। क्या वह लोभ के वश अपने को मिटाये देती थी? लोभ में भी कहीं त्याग होता है? और आज गुरुसेवक उसे घर से निकाल रहा है, समझता है कि लौंगी मेरे धन के

लोभ से मुझे घेरे हुए है। मूर्ख यह नहीं सोचता कि जिस समय लौंगी उसका पंजर गोद में लेकर रोया करती थी, उस समय धन कहाँ था। सच पूछो, तो यहाँ लक्ष्मी भी लौंगी के साथ ही आई; बल्कि लक्ष्मी ही लौंगी के रूप में आई। लौंगी ही ने मेरे भाग्य को रचा। जो कुछ किया उसी ने किया, मैं तो निमित्त-मात्र था। क्यों नोरा, मेरे सिरहाने कौन खड़ा है? कोई बाहरी आदमी है? कह दो यहाँ से जाय।

मनोरमा—यहाँ तो मेरे सिवा और कोई नहीं है। आपको कोई कष्ट हो रहा है। फिर डाक्टर को बुलाऊँ?

हरिसेवक—मेरा जी घबरा रहा है, रह-रहकर डूबा जाता है। कष्ट कोई नहीं। कोई पीड़ा नहीं, बस ऐसा मालूम होता है कि दीपक में तेल नहीं रहा। गुरुसेवक शाम तक पहुँच जायगा?

मनोरमा—हाँ, कुछ रात जाते-जाते पहुँच जायेंगे।

हरिसेवक—कोई तेज मोटर हो, तो मैं शाम तक पहुँच जाऊँ?

मनोरमा—इस दशा में इतना लम्बा सफ़र आप कैसे कर सकते हैं?

हरिसेवक—हाँ, यह ठीक कहती हो बेटी। मगर मेरी दवा लौंगी के पास है। उस सती का कैसा प्रताप था! जब तक वह रही, मेरे सिर में कभी दर्द भी नहीं हुआ। मेरी मूर्खता देखो कि जब उसने तीर्थयात्रा की बात कही, तो मेरे मुँह से एक बार भी न निकला—तुम मुझे किस पर छोड़ कर जाती हो। अगर मैं यह कह सकता, तो वह कभी न जाती। एक बार भी नहीं रोका। मैं उसको निष्ठुरता का दण्ड देना चाहता था। मुझे उस वक्त यह न सूझ पड़ा कि.........

यह कहते-कहते दीवान साहब फिर चौंक पड़े और द्वार की ओर आशंकित नेत्रों से देख कर बोले—यह कौन अन्दर आया नोरा? यह लोग क्यों मुझे घेरे हुए हैं? मुझे कुछ नहीं हुआ है। लेटा हुआ बातें कर रहा हूँ।

मनोरमा ने धड़कते हुए हृदय से उमड़नेवाले आँसुओं को दबा कर पूछा—क्या आपका जी फिर घबरा रहा है?

हरिसेवक—वह कुछ नहीं था नोरा । मैंने अपने जीवन में अच्छे काम कम किये । बुरे काम बहुत किये । अच्छे काम जितने किये, वे लौंगी ने किये । बुरे काम जितने किये, वे मेरे हैं । उनके दण्ड का भागी मैं हूँ । लौंगी के कहने पर चलता, तो आज मेरी आत्मा शान्त होती । एक बात तुमसे पूछूँ नोरा ? बताओगी ?

मनोरमा—खुशी से पूछिए ।

हरिसेवक—तुम अपने भाग्य से सन्तुष्ट हो ?

मनोरमा—यह आप क्यों पूछते हैं, क्या मैंने आपसे कभी शिकायत की है ?

हरिसेवक—नहीं नोरा, तुमने कभी शिकायत नहीं की और न करोगी ; लेकिन मैंने तुम्हारे साथ जो घोर अत्याचार किया है, उसकी व्यथा से आज मेरा अंतःकरण पीड़ित हो रहा है । मैंने तुम्हें अपनी तृष्णा की भेंट चढ़ा दिया, तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर दिया । ईश्वर ! तुम मुझे इसका कठिन-से-कठिन दंड देना । लौंगी ने कितना विरोध किया ; लेकिन मैंने एक न सुनी । तुम निर्धन होकर सुखी रहतीं । मुझे तृष्णा ने अन्धा बना दिया था । फिर जी डूबा जाता है । शायद उस देवी के दर्शन न होंगे । तुम उससे कह देना नोरा कि यह स्वार्थी, नीच, पापी जीव अन्त समय तक उसकी याद में तड़पता रहा………

मनोरमा ने रोकर कहा—दादाजी, आप ऐसी बातें क्यों करते हैं । लौंगी अम्माँ कल शाम तक आ जायेंगी ।

हरिसेवक हँसे, वह विलक्षण हँसी, जिसमें समस्त जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं का प्रतिवाद होता है । फिर संदिग्ध भाव से बोले—कल शाम तक ? हाँ, शायद ।

मनोरमा आँसुओं के वेग को रोके हुए थी । उसे उस चिर-परिचित स्थान में आज एक विचित्र शंका का आभास हो रहा था । ऐसा जान पड़ता था कि सूर्य-प्रकाश कुछ क्षीण हो गया है, मानों संध्या हो गई है ।

दीवान साहब के मुख की ओर ताकने की हिम्मत न पड़ती थी।

दीवान साहब छत की ओर टकटकी लगाये हुए थे, मानों उनकी दृष्टि अनन्त के उस पार पहुँच जाना चाहती हो। सहसा उन्होंने क्षीण-स्वर में पुकारा—नोरा!

मनोरमा ने उनकी ओर करुण नेत्रों से देख कर कहा—खड़ी हूँ दादाजी!

दीवान—ज़रा कलम-दावात लेकर मेरे समीप आ जाओ। कोई और तो यहाँ नहीं है? मेरा दान-पत्र लिख लो। गुरुसेवक की लौंगी से न पटेगी। मेरे पीछे उसे बहुत कष्ट होगा। मैं अपनी सब जायदाद लौंगी को देता हूँ। जायदाद के लोभ से गुरुसेवक उससे दबेगा। तुम यह लिख लो और तुम्हीं इसकी साक्षी देना। ज़रा बहू को बुला लो, मैं उसे भी समझा दूँ। यह वसीयत तुम अपने ही पास रखना। ज़रूरत पड़ने पर इससे काम लेना।

मनोरमा अन्दर जाकर रोने लगी। अब आँसुओं का वेग उसके रोके न रुका। उसकी भाभी ने पूछा—क्या है दीदी, दादाजी का जी कैसा है?

यह कहते हुए वह घबराई हुई दीवान साहब के सामने आकर खड़ी हो गई। उसकी आँखों में आँसू भर आये। कमरे में वह निस्तब्धता छाई हुई थी, जिसका आशय सहज ही समझ में आ जाता है। उसने दीवान साहब के पैरों पर सिर रख दिया और रोने लगी।

दीवान साहब ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा—बेटी! यह मेरा अंतिम समय है। यात्रा के सामान कर रहा हूँ। गुरुसेवक के आने तक क्या होगा, नहीं जानता। मेरे पीछे लौंगी बहुत दिन न रहेगी। उसका दिल न दुखाना। मेरी तुमसे यही याचना है। तुम बड़े घर की बेटी हो। जो कुछ करना, उसकी सलाह से करना। इसी में वह प्रसन्न रहेगी। ईश्वर तुम्हारा सौभाग्य अमर करें।

यह कहते-कहते दीवान साहब की आँखें बन्द हो गईं। कोई आध

घंटे के बाद उन्होंने आँखें खोलीं और उत्सुक नेत्रों से इधर-उधर देखकर बोले—अभी नहीं आई ?! अब भेंट न होगी !

मनोरमा ने रोते हुए कहा—दादाजी, मुझे भी कुछ कहते जाइए । मैं क्या करूँ ।

दीवान साहब ने आँखें बन्द किये हुए कहा—लौंगी को देखो !

थोड़ी देर में राजा साहब आ पहुँचे । अहल्या भी उनके साथ थी । मुंशी वज्रधर को भी उड़ती हुई ख़बर मिली । दौड़े आये । रियासत के सैकड़ों कर्मचारी जमा हो गये । डाक्टर भी आ पहुँचा ; किन्तु दीवान साहब ने आँखें न खोलीं ।

संध्या हो गई थी । कमरे में सन्नाटा छाया हुआ था । सब लोग सिर झुकाये बैठे थे, मानों श्मशान में भूतगण बैठे हों । सबको आश्चर्य हो रहा था कि इतनी जल्द यह क्या हो गया । अभी कल शाम तक तो मजे में रियासत का काम करते रहे । दीवान साहब अचेत पड़े हुए थे ; किन्तु आँखों से आँसू की धारें बह-बहकर गालों पर आ रही थीं । उस वेदना का कौन अनुमान कर सकता है ।

एकाएक द्वार पर एक बग्घी आकर रुकी और उसमें से एक स्त्री उतरकर घर में दाखिल हुई । शोर मच गया—आ गई, आ गई ! यह लौंगी थी ।

लौंगी आज ही हरिद्वार से चली थी । गुरुसेवक से उसकी भेंट न हुई थी । इतने आदमियों को जमा देखकर उसका हृदय दहल उठा । उसके कमरे में आते ही और लोग हट गये । केवल मनोरमा, उसकी भाभी और अहल्या रह गईं ।

लौंगी ने दीवान साहब के सिर पर हाथ रखकर भर्राई हुई आवाज़ में कहा—प्राणनाथ ! क्या मुझे छोड़कर चले जाओगे ?

दीवान साहब की आँखें खुल गईं । उन आँखों में कितनी अपार वेदना थी, कितना अपार प्रेम !

उन्होंने दोनों हाथ फैलाकर कहा—लौंगी, और पहले क्यों न आई?

लौंगी ने दोनों फैले हुए हाथों के बीच में अपना सिर रख दिया और उस अंतिम प्रेमालिंगन के आनन्द में विह्वल हो गई। इस निर्जीव, मरणोन्मुख प्राणी के आलिंगन में उसने उस आत्मबल, विश्वास और तृप्ति का अनुभव किया, जो उसके लिए अभूतपूर्व था। इस आनन्द में वह शोक भूल गई। पचीस वर्ष के दाम्पत्य जीवन में उसने कभी इतना आनंद न पाया था। निर्दय अविश्वास रह-रहकर उसे तड़पाता रहता था। उसे सदैव यह शंका बनी रहती थी कि यह डोंगी पार लगती है, या मँझधार ही में डूब जाती है। वायु का हलका-सा वेग, लहरों का हलका-सा आन्दोलन, नौका का हलका-सा कम्पन उसे भयभीत कर देता था। आज उन सारी शंकाओं और वेदनाओं का अन्त हो गया। आज उसे मालूम हुआ कि जिसके चरणों पर मैंने अपने को समर्पित किया था, वह अन्त तक मेरा रहा। यह शोकमय कल्पना भी कितनी मधुर, कितनी शान्तिदायिनी थी!

वह इसी विस्मृति की दशा में थी कि मनोरमा का रोना सुनकर चौंक पड़ी, और दीवान साहब के मुख की ओर देखा। तब उसने स्वामी के चरणों पर सिर रख दिया और फूट-फूट कर रोने लगी। एक क्षण में सारे घर में कुहराम मच गया। नौकर-चाकर सभी रोने लगे। जिन नौकरों को दीवान साहब के मुँह से नित्य घुड़कियाँ मिलती थीं, वे भी रो रहे थे। मृत्यु में तामसिक प्रवृत्तियों को शांत करने की विलक्षण शक्ति होती है। ऐसे विरले ही प्राणी संसार में होंगे, जिनके अंतःकरण मृत्यु के प्रकाश से आलोकित न हो जायँ। अगर कोई ऐसा मनुष्य है, तो उसे पशु समझो। हरिसेवक की कृपणता, कठोरता, संकीर्णता, धूर्तता, सारे दुर्गुण, जिनके कारण वह अपने जीवन में बदनाम रहे, इस विशाल प्रेम के प्रवाह में बह गये।

आधी रात बीत चुकी थी। काशी अभी तक गुरुसेवक के इंतज़ार में

पड़ी हुई थी। रोनेवाले रो-धो कर चुप हो गये थे। लौंगी शोकगृह से निकल कर छत पर गई और सड़क की ओर देखने लगी। सैर करनेवालों की सैर तो ख़त्म हो चुकी थी; मगर मुसाफ़िरों की सवारियाँ कभी-कभी बँगले के सामने से निकल जाती थीं। लौंगी सोच रही थी, गुरुसेवक अब तक लौटे क्यों नहीं ? गाड़ी तो यहाँ दो बजे आ जाती है। क्या अभी दो नहीं बजे ? आते ही होंगे। स्टेशन की ओर से आनेवाली हर-एक सवारी गाड़ी को वह उस वक्त तक ध्यान से देखती थी, जब तक वह बँगले के सामने से न निकल जाती। तब वह अधीर होकर कहती—अब भी नहीं आये !

और मनोरमा बैठी दीवान साहब के अन्तिम उपदेश का आशय समझने की चेष्टा कर रही थी। उसके कानों में ये शब्द गूँज रहे थे—लौंगी को देखो !

३७

जगदीशपुर के ठाकुर द्वारे में नित्य साधु-महात्मा आते रहते थे। शंखधर उनके पास जा बैठता और उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता। उसके पास चक्रधर की जो तसवीर थी, उससे मन-ही-मन साधुओं की सूरत का मिलान करता; पर उस सूरत का कोई साधु उसे न दिखाई देता था। किसी की बात-चीत से चक्रधर की टोह न मिलती थी।

एक दिन मनोरमा के साथ शंखधर भी लौंगी के पास गया। लौंगी बड़ी देर तक अपनी तीर्थयात्रा की चरचा करती रही। शंखधर उसकी बातें ग़ौर से सुनने के बाद बोला—क्यों दाई, तुम्हें साधु-संन्यासी बहुत मिले होंगे?

लौंगी ने कहा—हाँ बेटा, मिले क्यों नहीं। एक संन्यासी तो ऐसा मिला कि हूबहू तुम्हारे बाबूजी से सूरत मिलती थी। बदले हुए भेस में ठीक तो न पहचान सकी; लेकिन मुझे ऐसा मालूम होता था कि वही हैं।

शंखधर ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—जटा बड़ी-बड़ी थी?

लौंगी—नहीं, जटा-सटा तो न थी, न वस्त्र ही गेरुए रंग के थे, हाँ कमंडल लिये हुए थे। जितने दिन मैं जगन्नाथपुरी रही, वह एक बार रोज मेरे पास आकर पूछ जाते—क्यों माताजी, आपको किसी बात का कष्ट तो नहीं है। और यात्रियों से भी वह यही बात पूछते थे। जिस धर्मशाला में मैं टिकी थी, उसी में एक दिन एक यात्री को हैज़ा हो गया। संन्यासीजी उसे उठवाकर अस्पताल ले गये और दवा कराई। तीसरे दिन मैंने उस यात्री को फिर देखा। घर लौटता था! मालूम होता

था, संन्यासीजी अमीर हैं। दरिद्र यात्रियों को भोजन करा देते और जिनके पास किराये के रुपये न होते, उन्हें रुपये भी देते थे। वहाँ तो लोग कहते थे यह कोई बड़े राजा संन्यासी हो गये हैं। नोरा, तुमसे क्या कहूँ, बाबूजी से बिल्कुल सूरत मिलती थी। मैंने नाम पूछा, तो सेवानन्द बताया। घर पूछा, तो मुसकिराकर बोले, सेवानगर। एक दिन तो मैं मरते-मरते बची। सेवानन्द न पहुँच जायँ, तो मर ही गई थी। एक दिन मैंने उनको नेवता दिया। जब वह खाने बैठे, तो मैंने यहाँ का ज़िक्र छेड़ दिया। मैं देखना चाहती थी कि इन बातों से उनके दिल पर क्या असर होता है ; मगर उन्होंने कुछ भी न पूछा, मालूम होता था मेरी बातें उन्हें अच्छी न लग रही थीं। आख़िर मैं चुप रही। उस दिन से फिर वहाँ न दिखाई दिये। और लोगों से पूछा, तो मालूम हुआ, रामेश्वर चले गये। एक जगह जमकर नहीं रहते, इधर-उधर विचरते रहते हैं! क्यों नोरा, बाबूजी होते, तो जगदीशपुर का नाम सुनकर कुछ तो कहते?

मनोरमा ने तो कुछ उत्तर न दिया, न जाने क्या सोचने लगी थी ; पर शंखधर बोला—दाई, तुमने यहाँ तार क्यों न दे दिया? हम लोग फ़ौरन् पहुँच जाते।

लौंगी—अरे तो कोई बात भी हो बेटा, न जाने कौन था, कौन नहीं था। बिना जाने-बूझे क्या तार देती।

मनोरमा ने गम्भीर भाव से कहा—मान लो वही होते, तो क्या तुम समझते हो, वह हमारे साथ आते। कभी नहीं, आना होता, तो जाते ही क्यों?

शंखधर—किस बात पर नाराज़ होकर चले गये रानी अम्माँ, कोई-न-कोई बात तो हुई होगी? अम्माँजी से पूछता हूँ, तो रोने लगती हैं, तुमसे पूछता हूँ, तो तुम बतातीं ही नहीं।

मनोरमा—मैं किसी के मन की बात क्या जानूँ। किसी से कुछ कहा-सुना थोड़े ही।

शंखधर—मैं तो उन्हें एक बार देख पाऊँ, तो फिर कभी साथ न छोड़ूँ। क्यों दाई, आजकल वह संन्यासी कहाँ होंगे ?

मनोरमा—अब दाई यह क्या जाने ? संन्यासी कहीं एक जगह रहते हैं, जो वह बता दे ?

शंखधर—अच्छा दाई, तुम्हारे ख़याल में संन्यासीजी की उम्र क्या रही होगी ?

लौंगी—मैं तो समझती हूँ, उनकी उम्र कोई ४० वर्ष की होगी।

शंखधर ने कुछ हिसाब करके कहा—रानी अम्माँ, यही तो बाबूजी की भी उम्र होगी।

मनोरमा ने बनावटी क्रोध से कहा—हाँ-हाँ, वही संन्यासी तुम्हारे बाबूजी हैं, बस अब माना। अभी उनकी उम्र ४० वर्ष कैसे हो जायगी ?

शंखधर समझ गया कि मनोरमा को यह ज़िक्र बुरा लगता है। इस विषय में फिर मुँह से एक शब्द न निकाला; लेकिन वहाँ रहना अब उसके लिए असंभव था। रामेश्वर का हाल तो उसने भूगोल में पढ़ा था; लेकिन अब उस अल्पज्ञान से उसे संतोष न हो सकता था। वह जानना चाहता था कि रामेश्वर को कौन रेल जाती है, वहाँ लोग जाकर ठहरते कहाँ हैं ? घर के पुस्तकालय में शायद कोई ऐसा ग्रंथ मिल जाय, यह सोचकर वह बाहर आया और शोफ़र से बोला—मुझे घर पहुँचा दो।

शोफ़र—महरानीजी न चलेंगी ?

शंखधर—मुझे कुछ ज़रूरी काम है, तुम मुझे पहुँचाकर लौट आना। रानी अम्माँ से कह देना, वह चले गये।

घर आकर पुस्तकालय में जा ही रहा था कि गुरुसेवकसिंह मिल गये। आजकल यह महाशय दीवानी के पद के लिए ज़ोर लगा रहे थे, हरएक काम बड़ी मुस्तैदी से करते; पर मालूम नहीं राजा साहब क्यों उन्हें स्वीकार न करते थे। मनोरमा कह चुकी, अहल्या ने भी सिफ़ारिश की; पर राजा साहब अभी तक टालते जाते थे। शंखधर उन्हें देखते ही बोला—

गुरुजी, ज़रा कृपा करके मुझे पुस्तकालय से कोई ऐसी पुस्तक निकाल दीजिए, जिसमें तीर्थस्थानों का पूरा-पूरा हाल लिखा हो।

गुरुसेवक ने कहा—ऐसी तो कोई किताब पुस्तकालय में नहीं है।

शंखधर—अच्छा तो मेरे लिए कोई ऐसी किताब मँगवा दीजिए।

यह कहकर वह लौटा ही था कि कुछ सोचकर बाहर चला गया और एक मोटर तैयार कराके शहर चला। अभी उसका तेरहवाँ ही साल था; लेकिन चरित्र में इतनी दृढ़ता थी कि जो बात मन में ठान लेता, उसे पूरा ही करके छोड़ता। शहर जाकर उसने अँगरेज़ी पुस्तकों की कई दूकानों में तीर्थ-यात्रा-संबंधी पुस्तकें देखीं और किताबों का एक बंडल लेकर घर आया।

राजा साहब भोजन करने बैठे, तो शंखधर वहाँ न था। अहल्या ने जाकर देखा, तो वह अपने कमरे में बैठा कोई किताब देख रहा था।

अहल्या ने कहा—चलकर खाना खा लो, दादाजी बुला रहे हैं।

शंखधर—अम्माँजी, आज मुझे बिलकुल भूख नहीं है।

अहल्या—कोई नई किताब लाये हो क्या? जभी भूख नहीं है। कौन-सी किताब है?

शंखधर—नहीं अम्माँजी, मुझे भूख ही नहीं लगी।

अहल्या ने उसके सामने खुली हुई किताब उठा ली और दो-चार पंक्तियाँ पढ़कर बोली—इसमें तो तीर्थों का हाल लिखा हुआ है। जगन्नाथ, बदरीनाथ, काशी, रामेश्वर, यह किताब कहाँ से लाये?

शंखधर—आज ही तो बाज़ार से लाया हूँ? दाई कहती थी कि बाबूजी की सूरत का एक संन्यासी उन्हें जगन्नाथ में मिला था और वहाँ से रामेश्वर चला गया।

अहल्या ने शंखधर को दया-सजल नेत्रों से देखा; पर उसके मुख से कोई बात न निकली। आह! मेरे लाल! तुझमें इतनी पितृभक्ति क्यों है? तू पिता के वियोग में क्या इतना पागल हो गया है। तुझे तो पिता की सूरत भी याद नहीं। तुझे तो इतना भी याद नहीं कि कब पिता की

गोद में बैठा था, कब उनकी प्यार की बातें सुनी थीं। फिर भी मुझे उन पर इतना प्रेम है। और वह इतने निर्दयी हैं कि न-जाने कहाँ बैठे हुए हैं, सुधि ही नहीं लेते। वह मुझसे अप्रसन्न हैं; लेकिन मैंने क्या अपराध किया है। मुझसे क्यों रुष्ट हैं। नाथ! तुमने मेरे कारण अपने आँखों के तारे पुत्र को क्यों त्याग दिया? तुम्हें क्या मालूम कि जिस पुत्र की ओर से तुमने अपना हृदय पत्थर कर लिया है, वह तुम्हारे नाम की उपासना करता है, तुम्हारी मूर्ति की पूजा करता है। आह, यह वियोगाग्नि उसके कोमल हृदय को क्या जला न डालेगी! क्या इस राज्य पाने का यह दंड है? इस अभागे राज्य ने हम दोनों को अनाथ कर दिया।

अहल्या का मातृ-हृदय करुण से पुलकित हो उठा। उसने शंखधर को छाती से लगा लिया और आँसुओं के वेग को दबाती हुई बोली—बेटा, तुम्हारा उठने को जी न चाहता हो, तो यहीं लाऊँ। बैठे-बैठे कुछ थोड़ा-सा खा लो।

शंखधर—अच्छा खा लूँगा अम्माँ, किसी से खाना भेजवा दो, तुम क्यों आओगी।

अहल्या एक क्षण में छोटी-सी थाली में भोजन लेकर आई और शंखधर के सामने रखकर बैठ गई।

शंखधर को इस समय खाने की रुचि न थी, यह बात नहीं थी। अब तक उसे निश्चित-रूप से अपने पिता के विषय में कुछ न मालूम था। वह जानता था कि वह किसी दूसरी जगह आराम से होंगे। आज उसे यह मालूम हुआ कि वह संन्यासी हो गये हैं, अब वह यह राजसी भोजन कैसे करता। इसीलिए उसने अहल्या से कहा था कि भोजन किसी के हाथ भेज देना, तुम न आना। अब यह थाल देखकर वह बड़े धर्म-संकट में पड़ा। अगर नहीं खाता, तो अहल्या दुखी होती है, खाता है, तो कौर मुँह में नहीं जाता। उसे खयाल आया, मैं यहाँ चाँदी के थाल में मोहन-भोग उड़ाने बैठा हूँ और बाबूजी पर इस समय न जाने क्या गुज़र

रही होगी। बेचारे किसी पेड़ के नीचे पड़े होंगे, न जाने आज कुछ खाया भी है या नहीं। वह थाली पर बैठा; लेकिन कौर उठाते ही फूट-फूटकर रोने लगा। अहल्या उसके मन का भाव ताड़ गई और स्वयं रोने लगी। कौन किसे समझाता।

आज से अहल्या को हरदम यही संशय रहने लगा कि शंखधर पिता की खोज में कहीं भाग न जाय। वह उसे अकेले कहीं खेलने तक न जाने देती, उसका बाज़ार आना-जाना भी बन्द हो गया। उसने सबको मना कर दिया कि शंखधर के सामने उसके पिता की चरचा न करें। यह भय किसी भयंकर जन्तु की भाँति उसे नित्य घूरा करता था कि कहीं शंखधर अपने पिता के गृह-त्याग का कारण न जान ले, कहीं वह यह न जान जाय कि बाबूजी को राज-पाट से घृणा है, नहीं तो फिर इसे कौन रोकेगा?

उसे अब हरदम यही पछतावा होता रहता कि मैं शंखधर को लेकर स्वामी के साथ क्यों न चली गई। राज्य के लोभ में वह पति को पहले ही खो बैठी थी, कहीं पुत्र को भी तो न खो बैठेगी? सुख और विलास की वस्तुओं से शंखधर को दिन-दिन बढ़नेवाली उदासीनता देख-देखकर वह चिन्ता के मारे और भी घुली जाती थी।

३८

ठाकुर हरिसेवकसिंह की क्रिया-कर्म हो जाने के बाद एक दिन लौंगी ने अपना कपड़ा-लत्ता बाँधना शुरू किया। उसके पास रुपये-पैसे जो कुछ थे, सब गुरुसेवक को सौंपकर बोली—भैया, मैं अब किसी गाँव में जाकर रहूँगी, यहाँ मुझसे नहीं रहा जाता।

वास्तव में लौंगी से अब इस घर में न रहा जाता था। घर की एक-एक चीज़ उसे काटने दौड़ती थी। २५ वर्ष तक इस घर की स्वामिनी बने रहने के बाद अब वह किसी की आश्रित न बन सकती थी। सब कुछ उसी के हाथों का किया हुआ था; पर अब उसका न था। यह घर उसी ने बनवाया था। उसने घर बनवाने पर ज़ोर न दिया होता, तो ठाकुर साहब अभी तक किसी किराये के घर में पड़े होते। घर का सारा सामान उसी का ख़रीदा हुआ था; पर अब उसका कुछ न था। सब कुछ स्वामी के साथ चला गया। वैधव्य के शोक के साथ यह भाव कि मैं किसी दूसरे की रोटियों पर पड़ी हुई हूँ, उसके लिए असह्य था। हालाँकि गुरुसेवक पहले से अब कहीं ज्यादा उसका लिहाज़ करते थे, और कोई ऐसी बात न होने देते थे, जिससे उसे रंज हो। फिर भी कभी-कभी ऐसी बातें होही जाती थीं, जो उसकी पराधीनता को याद दिला देती थीं। कोई नौकर अब उससे अपनी तलब माँगने न आता था, रियासत के कर्मचारी अब उसकी खुशामद करने न आते थे। गुरुसेवक और उसकी स्त्री के व्यवहार में तो किसी तरह की त्रुटि न थी। लौंगी को उन लोगों से जैसी आशा थी, उससे कहीं अच्छा बर्ताव उसके साथ किया जाता था; लेकिन महरियाँ अब खड़ी जिसका मुँह जोहती हैं, वह कोई और ही है, नौकर

जिसका हुक्म सुनते ही दौड़कर आते हैं वह भी और ही कोई है। देहात के असामी नज़राने या लगान के रुपये अब उसके हाथ में नहीं देते, शहर की दूकानों के किरायेदार भी अब उसे किराये देने नहीं आते। गुरुसेवक ने अपने मुँह से किसी से कुछ नहीं कहा है। प्रथा और रुचि ने आप-ही-आप सारी व्यवस्था उलट-पलट दी है। पर यही वह बातें हैं जिनसे उसके आहत हृदय को ठेस लगती है, और उसकी मधुर स्मृतियों में एक क्षण के लिए ग्लानि की छाया आ पड़ती है। इसीलिए अब वह यहाँ से जाकर किसी देहात में रहना चाहती है। आख़िर जब ठाकुर साहब ने उसके नाम कुछ नहीं लिखा, उसे दूध की मक्खी की भाँति निकालकर फेंक दिया, तो वह यहाँ क्यों पड़ी दूसरों का मुँह जोहे। उसे अब एक टूटे-फूटे झोपड़े और एक टुकड़े रोटी के सिवा और कुछ नहीं चाहिए। इसके लिए वह अपने हाथों से मिहनत कर सकती है। जहाँ रहेगी, वहीं अपने गुज़र-भर को कमा लेगी। उसने जो कुछ किया यह उसी का तो फल है। वह अपनी झोपड़ी में पड़ी रहती, तो आज क्यों यह अनादर और अपमान होता। झोपड़ी छोड़कर महल के सुख भोगने का यही दंड है।

गुरुसेवक ने कहा—आख़िर सुनें तो कहाँ जाने का विचार कर रही हो?

लौंगी—जहाँ भगवान् ले जायँगे वहाँ चली जाऊँगी, कोई नैहर या दूसरी ससुराल है जिसका नाम बता दूँ।

गुरुसेवक—सोचती हो, तुम चली जाओगी तो मेरी कितनी बदनामी होगी। दुनिया यही कहेगी कि इनसे एक बेवा का पालन न हो सका। उसे घर से निकाल दिया। मेरे लिए कहीं मुँह दिखाने की जगह न रहेगी। तुम्हें इस घर में जो शिकायत हो वह मुझसे कहो, जिस बात की ज़रूरत हो मुझसे बतला दो, अगर मेरी तरफ़ से उसमें ज़रा भी कोर-कसर देखो, तो फिर तुम्हें अख्तियार है, जो चाहे करना। यों मैं कभी न जाने दूँगा।

लौंगी—क्या बाँधकर रक्खोगे?

गुरुसेवक—हाँ, बाँधकर रक्खेंगे।

अगर उम्र भर में लौंगी को गुरुसेवक की कोई बात पसन्द आई, तो उनका यही दुराग्रह-पूर्ण वाक्य था। लौंगी का हृदय पुलकित हो गया। इस वाक्य में उसे आत्मीयता भरी हुई जान पड़ी। उसने ज़रा तेज होकर कहा—बाँधकर क्यों रक्खोगे? क्या तुम्हारी बेसाही हूँ?

गुरुसेवक—हाँ बेसाही हो! मैंने नहीं बेसाहा, मेरे बाप ने तो बेसाहा है। बेसाही न होतीं, तो तुम तीस साल यहाँ रहतीं कैसे? कोई और आकर क्यों न रह गई। दादाजी चाहते, तो एक दरजन ब्याह कर सकते थे, कोड़ियों रखेलियाँ रख सकते थे। यह सब उन्होंने क्यों नहीं किया? जिस वक्त मेरी माता का स्वर्गवास हुआ, उस वक्त उनकी जवानी की उम्र थी; मगर उनका कट्टर-से-कट्टर शत्रु भी आज यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उनके आचरण ख़राब थे। यह तुम्हारी ही सेवा की जंजीर थी, जिसने उन्हें बाँध रक्खा। नहीं तो आज हम लोगों का कहीं पता न होता। मैं सत्य कहता हूँ; अगर तुमने घर के बाहर क़दम निकाला, तो चाहे दुनिया मुझे बदनाम ही करे, मैं तुम्हारे पैर तोड़कर रख दूँगा। क्या तुम अपने मन की हो कि जो चाहोगी करोगी और जहाँ चाहोगी जाओगी और कोई न बोलेगा! तुम्हारे नाम के साथ मेरी और मेरे पूज्य बाप की इज्जत बँधी हुई है।

लौंगी के जी में आया कि गुरुसेवक के चरणों पर सिर रखकर रोऊँ और छाती से लगाकर कहूँ—बेटा, मैंने तो तुझे गोद में खेलाया है, तुझे छोड़कर भला मैं कहीं जा सकती हूँ! लेकिन उसने क्रुद्ध भाव से कहा—यह तो अच्छी दिल्लगी हुई। यह मुझे बाँधकर रक्खेंगे!

गुरुसेवक तो झल्लाये हुए बाहर चले गये और लौंगी अपने कमरे में जाकर खूब रोई। गुरुसेवक किसी महरी से क्या कह सकते थे—हम तुम्हें बाँधकर रक्खेंगे? कभी नहीं; लेकिन अपनी स्त्री से वह यह बात कह सकते हैं; क्योंकि उसके साथ उनकी इज्जत बँधी हुई है। थोड़ी देर

के बाद वह उठकर एक महरी से बोली—सुनती है रे, मेरे सिर में दर्द हो रहा है। ज़रा आकर दवा दे।

आज कई महीने के बाद लौंगी ने सिर दबाने का हुक्म दिया था। इधर उसे किसी नौकर से कुछ कहते हुए संकोच होता था कि कहीं यह टाल न जाय। नौकरों के दिल में उसके प्रति वही श्रद्धा थी, जो पहले थी। लौंगी ने स्वयं उनसे कुछ काम लेना छोड़ दिया था। इस झगड़े की भनक भी नौकरों के कानों में पड़ गई थी। उन्होंने अनुमान किया था कि गुरुसेवक ने लौंगी को किसी बात पर डाटा है; इसलिए स्वभावतः उनकी सहानुभूति लौंगी के साथ हो गई थी। वे आपस में इस विषय पर मन-मानी टिप्पणियाँ कर रहे थे। महरी उसका हुक्म सुनते ही तेल लाकर उसका सिर दबाने लगी। उसे अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए यह अवसर बहुत ही उपयुक्त जान पड़ा। बोली—आज छोटे बाबू किस बात पर बिगड़ रहे थे मालकिन! कमरे के बाहर सुनाई दे रहा था। तुम यहाँ से चली गईं मालकिन, तो एक नौकर भी न रहेगा। सबों ने यही सोच लिया है कि जिस दिन मालकिन यहाँ से चलेंगी, हम सब भी भाग खड़े होंगे। अन्याय हम लोगों से नहीं देखा जाता।

लौंगी ने दीन भाव से कहा—नसीबा ही खोटा है, नहीं तो क्यों किसी की झिड़कियाँ सहनी पड़तीं।

महरी—नहीं मालकिन, नसीबे को न खोटा कहो, नसीबा तो जैसा तुम्हारा है, वैसा किसी का क्या होगा। ठाकुर साहब मरते दम तक तुम्हारा नाम रटा किये। तुम क्यों जाती हो, किसी की मजाल है कि तुमसे कुछ कह सके। यह सारी संपदा तो तुम्हारी जोड़ी हुई है। इसे कौन ले सकता है। ठाकुर साहब को तुमसे जो सुख मिला, वह क्या किसी ब्याहता से मिल सकता था?............

सहसा मनोरमा ने कमरे में प्रवेश किया और लौंगी को सिर में तेल डलवाते देखकर बोली—कैसा जी है अम्माँ, सिर में दर्द है क्या?

लौंगी—नहीं बेटा, जी तो अच्छा है, आओ बैठो।

मनोरमा ने महरी से कहा—तुम जाओ, मैं दबाये देती हूँ। दरवाजे पर खड़ी होकर कुछ सुनना नहीं, दूर चली जाना।

महरी इस समय यहाँ की बातें सुनने के लिए अपना सर्वस्व दे सकती थी, यह हुक्म सुनकर मन में मनोरमा को कोसती हुई चली गई। मनोरमा सिर दबाने बैठी, तो लौंगी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोली—नहीं बेटा, तुम रहने दो। दर्द नहीं था, यों ही बुला लिया था। नहीं, मैं न दबवाऊँगी। यह उचित नहीं है। कोई देखे तो कहे, बुढ़िया पगला गई है, रानी से सिर दबवाती है।

मनोरमा ने सिर दबाते हुए कहा—रानी जहाँ हूँ वहाँ हूँ, यहाँ तो तुम्हारी गोद की खेलाई नोरा हूँ। आज तो भैयाजी यहाँ से जाकर तुम्हारे ऊपर बहुत बिगड़ते रहे। मैं उसकी टाँग तोड़ दूँगा, गरदन काट लूँगा। कितना पूछा—कुछ बताओ तो बात क्या है; पर गुस्से में कुछ सुनें ही न। भाई हैं तो क्या; पर उनका अन्याय मुझसे भी नहीं देखा जाता। वह समझते होंगे कि इस घर का मालिक मैं हूँ, दादाजी मेरे नाम सब छोड़ गये हैं। मैं जिसे चाहूँ रक्खूँ, जिसे चाहूँ निकालूँ। मगर दादाजी उनकी नीयत को पहले ही ताड़ गये थे। मैंने अब तक तुमसे नहीं कहा अम्माँजी, कुछ तो मौका न मिला और कुछ भैया का लिहाज था; पर आज उनकी बातें सुनकर कहती हूँ कि पिताजी ने अपनी सारी जायदाद तुम्हारे नाम लिख दी है।

लौंगी पर इस सूचना का ज़रा भी असर नहीं हुआ। किसी प्रकार का उल्लास या उत्सुकता या गर्व उसके चेहरे पर न दिखाई दिया। वह उदासीन भाव से चारपाई पर पड़ी रही।

मनोरमा ने फिर कहा—मेरे पास उनकी लिखाई हुई वसीयत रक्खी हुई है और मुझी को उन्होंने उसका साक्षी बनाया है। जब यह महाशय वसीयत देखेंगे, तो आँखें खुलेंगी।

लौंगी ने गम्भीर स्वर में कहा—नोरा, तुम यह वसीयतनामा ले जाकर उन्हीं को दे दो। तुम्हारे दादाजी ने व्यर्थ ही यह वसीयत लिखाई। मैं उनकी जायदाद की भूखी नहीं थी। उनके प्रेम की भूखी थी और ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ बेटी, कि इस विषय में मेरा-जैसा भाग्य बहुत कम स्त्रियों का होगा। मैं उनका प्रेम-धन पाकर ही सन्तुष्ट हूँ। इसके सिवा अब मुझे और किसी धन की इच्छा नहीं है; अगर मैं अपने सत पर हूँ, तो मुझे रोटी-कपड़े का कष्ट कभी न होगा। गुरुसेवक को मैंने गोद में खेलाया है, उसे पाला-पोसा है। वह मेरे स्वामी का बेटा है। उसका हक़ मैं कैसे छीन सकती हूँ। उसके सामने की थाली मैं कैसे खींच सकती हूँ। यह काग़ज़ फाड़कर फेंक दो। यह काग़ज़ लिखकर उन्होंने अपने साथ और गुरुसेवक के साथ अन्याय किया है। गुरुसेवक अपने बाप का बेटा है, तो मुझे उसी आदर से रक्खेगा। वह मुझे माने या न माने, मैं उसे अपना ही समझती हूँ। तुम सिरहाने बैठी मेरा सिर दबा रही हो, क्या धन में इतना सुख कभी मिल सकता है। गुरुसेवक के मुँह से 'अम्माँ' सुनकर मुझे वह खुशी होगी, जो संसार की रानी बनकर भी नहीं हो सकती, तुम उनसे इतना ही कह देना।

यह कहते-कहते लौंगी की आँखें सजल हो गईं। मनोरमा उसकी ओर प्रेम, श्रद्धा, गर्व और आश्चर्य से ताक रही थी, मानों वह कोई देवी है।

३६
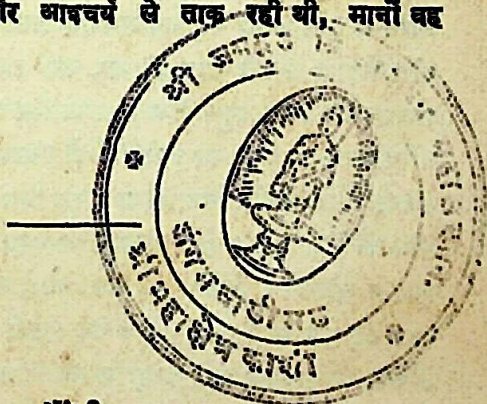
रानी वसुमती तो बहुत दिनों से स्नान, व्रत, ध्यान, कीर्तन में मग्न रहती थीं, रियासत से उन्हें कोई सरोकार न था। भक्ति ने उनकी वासनाओं को शान्त कर दिया था। बहुत सूक्ष्म आहार करतीं और वह भी केवल एक बार। वस्त्राभूषण से भी उन्हें विशेष रुचि न थी। देखने से मालूम होता था—कोई तपस्विनी हैं। रानी रामप्रिया उसी एक रस पर चली जाती थीं। इधर उन्हें संगीत से विशेष अनुराग हो गया था। सबसे अलग अपनी कविता-कुटीर में बैठी संगीत का अभ्यास करती रहती थीं। पुराने सिक्के, देश-देशान्तरों के टिकट और इसी तरह की अनोखी चीज़ों के संग्रह करने की उन्हें धुन थी। उनका कमरा एक छोटा-मोटा अजायबखाना था। उन्होंने शुरू ही से अपने को दुनिया के झमेलों से अलग रक्खा था। इधर कुछ दिनों से रानी रोहिणी का चित्त भी भक्ति की ओर झुका हुआ नजर आता था। वही, जो पहले ईर्ष्या की अग्नि में जला करती थी, अब साक्षात् क्षमा और दया की देवी बन गई थी। अहल्या से उसे बहुत प्रेम था, कभी-कभी आकर घण्टों बैठी रहती। शंखधर भी उससे बहुत हिल गया था। राजा साहब तो उसके दास थे, जो शंखधर को प्यार करे। रोहिणी ने शंखधर को गोद में खेला-खेलाकर उनका मनोमालिन्य मिटा दिया। एक दिन रोहिणी ने शंखधर को एक सोने की घड़ी इनाम दी। शंखधर को पहली बार इनाम का मज़ा मिला, फूला न समाया; लेकिन मनोरमा अभी तक रोहिणी से चौंकती रहती थी। वह कुछ साफ़-साफ़ तो न कह सकती थी; पर शंखधर का रोहिणी के पास आना-जाना उसे अच्छा न लगता था।

जिस दिन मनोरमा अपने पिता की वसीयत लेकर लौंगी के पास गई थी, उसी दिन की बात है। सन्ध्या का समय था। राजा साहब पाईंबाग में हौज़ के किनारे बैठे मछलियों को आटे की गोलियाँ खिला रहे थे। एकाएक पाँव की आहट पाकर सिर उठाया तो देखा, रोहिणी आकर खड़ी हो गई है। आज रोहिणी को देखकर राजा साहब को बड़ी करुणा आई। वह नैराश्य और वेदना की सजीव मूर्ति-सी दिखाई देती थी, मानों कह रही थी—तुमने मुझे क्यों यह दंड दे रक्खा है? मेरा क्या अपराध है? क्या ईश्वर ने मुझे सन्तान न दी, तो इसमें मेरा कोई दोष था? तुम अपने भाग्य का बदला मुझसे लेना चाहते हो? अगर मैंने कटु वचन ही कहे थे, तो उसका यह दण्ड था?

राजा साहब ने कातर स्वर में पूछा—कैसे चलीं रोहिणी, आओ, यहाँ बैठो?

रोहिणी—आपको यहाँ बैठे देखा, चली आई। मेरा आना बुरा लगा हो, तो चली जाऊँ।

राजा साहब ने व्यथित कंठ से कहा—रोहिणी, क्यों लज्जित करती हो, मैं तो स्वयं लज्जित हूँ। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है और नहीं जानता, मुझे उसका क्या प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

रोहिणी ने सूखी हँसी-हँसकर कहा—आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं। और लोग छिपे-छिपे करते हैं। राजा लोग वही काम खुले-खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी उनकी पाँव की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है; यह आपका दोष नहीं, हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसी लिए बनाया है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिए, गिला या मान करने का दंड बहुत कठोर होता है, और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है।

यह व्यंग्य न था, रोहिणी की दशा की सच्ची, निष्पक्ष आलोचना थी।

राजा साहब सिर झुकाये सुनते रहे। उनके मुँह से कोई जवाब न निकला। उसकी दशा उस शराबी की-सी थी, जिसने नशे में हत्या कर डाली हो और अब होश में आने पर लाश को देखकर पश्चात्ताप और वेदना से उसका हृदय फटा जाता हो।

रोहिणी फिर बोली—आज सोलह वर्ष हुए जब मैं रूठकर घर से बाहर निकल भागी थी। बाबू चक्रधर के आग्रह से लौट आई। वह दिन है और आज का दिन है, कभी आपने भूलकर भी पूछा कि तू मरती है या जीती? इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि आपने मुझे चले जाने दिया होता। क्या आप समझते हैं, मैं कुमार्ग की ओर जाती? यह कुलटाओं का काम है। मैं गंगा की गोद के सिवा और कहीं न जाती। एक युग तक घोर मानसिक पीड़ा सहने से तो एक क्षण का कष्ट कहीं अच्छा होता; लेकिन आशा! हाय आशा! इसका बुरा हो। यही मुझे लौटा लाई। चक्रधर का तो केवल बहाना था। यही अभागिनी आशा मुझे लौटा लाई और इसी ने मुझे फुसला-फुसलाकर एक युग कटवा दिया; लेकिन आपको कभी मुझ पर दया न आई। आपको कुछ खबर है, यह सोलह वर्ष के दिन मैंने कैसे काटे हैं? किसी को संगीत में आनन्द मिलता हो, मुझे नहीं मिलता। किसी को पूजा-भक्ति में संतोष होता हो, मुझे नहीं होता। मैं नैराश्य की उस सीमा तक नहीं पहुँची। मैं पुरुष के रहते वैधव्य की कल्पना नहीं कर सकती। मन की गति तो विचित्र है। वही पीड़ा जो बाल-विधवा सहती है और सहने में अपना गौरव समझती है, परित्यक्ता के लिए असह्य हो जाती है। मैं राजपूत की बेटी हूँ, मरना भी जानती हूँ। कितनी बार मैंने आत्मघात करने का निश्चय किया, यह आप न जानेंगे; लेकिन हर दफे यही सोचकर रुक गई कि मेरे मर जाने से तो आप और भी सुखी होंगे। अगर यह विश्वास होता कि आप मेरी लाश पर आकर आँसू की चार बूँदें गिरा देंगे, तो शायद मैं कभी की प्रस्थान कर चुकी होती। मैं इतनी उदार नहीं हूँ। मैंने

हिंसात्मक भावों को मन से निकालने की कितनी चेष्टा की है, यह भी आप न जानेंगे; लेकिन अपनी सीताओं की दुर्दशा ही ने मुझे धैर्य दिया है, नहीं तो अब तक मैं न जाने क्या कर बैठती। ईर्ष्या से उन्मत्त स्त्री जो कुछ कर सकती है, उसकी अभी आप शायद कल्पना नहीं कर सकते; अगर सीता भी अपनी आँखों से वह सब देखतीं, जो मैं आज १६ वर्ष से देख रही हूँ, तो सीता न रहतीं। सीता बनाने के लिए राम-जैसा पुरुष चाहिए।

राजा साहब ने अनुताप से कम्पित स्वर में कहा—रोहिणी, क्या सारा अपराध मेरा ही है?

रोहिणी—नहीं, आपका कोई अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरे ही कर्मों का है। वह स्त्री सचमुच पिशाचिनी है, जो अपने पुरुष का अनभल सोचे। मुझे आपका अनभल सोचते हुए १६ वर्ष हो गये। मेरी हार्दिक इच्छा यही रही कि आपका बुरा हो और मैं देखूँ; लेकिन इसलिए नहीं कि आपको दुखी देखकर मुझे आनन्द होता। नहीं, अभी मेरा इतना अधःपतन नहीं हुआ है। मैं आपका अनभल केवल इसलिए चाहती थी कि आपकी आँखें खुलें, आप खोटे और खरे को पहचानें। शायद तब आपको मेरी याद आती, शायद तब मुझे अपना खोया हुआ स्थान पाने का अवसर मिलता। तब मैं सिद्ध कर देती कि आप मुझे जितनी नीच समझ रहे हैं, उतनी नीच नहीं हूँ। मैं आपको अपनी सेवा से लज्जित करना चाहती थी; लेकिन वह अवसर भी न मिला।

राजा साहब को नारि-हृदय की तह तक पहुँचने का ऐसा अवसर कभी न मिला था। उन्हें विश्वास था कि अगर मैं मर भी जाऊँ, तो रोहिणी की आँखों में आँसू न आवेंगे। वह अपने हृदय से उसके हृदय को परखते थे। उनका हृदय रोहिणी की ओर से वज्र हो गया था। वह अगर मर जाती, तो निस्संदेह उनकी आँखों में आँसू न आते; पर आज रोहिणी की बातें सुनकर उनका पत्थर-सा हृदय नरम पड़ गया। आह! इस हिंसा

में भी कितनी कोमलता है ? मुझे परास्त भी करना चाहती है, तो सेवा के अस्त्र से। इससे तीक्ष्ण, उसके पास कोई अस्त्र नहीं !

उन्होंने गद्‌गद कंठ से कहा—क्या कहूँ रोहिणी, अगर मैं जानता कि मेरे अनभल ही से तुम्हारा उद्धार होगा, तो इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करता।

अहल्या को आते देखकर रोहिणी ने कुछ उत्तर न दिया। जरा देर वहाँ खड़ी रहकर दूसरी तरफ़ चली गई। राजा साहब के दिल पर से एक बोझ-सा उठ गया। उन्हें अपनी निष्ठुरता पर पछतावा हो रहा था। आज उन्हें मालूम हुआ कि रोहिणी का चरित्र समझने में उनसे कैसी भयंकर भूल हुई। यहाँ उनसे न रहा गया। जी यही चाहता था कि चलकर रोहिणी से अपना अपराध क्षमा कराऊँ। बात क्या थी और मैं क्या समझे बैठा था। यही बातें अगर इसने और पहले कही होतीं, तो हम दोनों में क्यों इतना मनोमालिन्य रहता। उसके मन की बात तो नहीं जानता ; पर मुझसे तो इसने एक बार भी हँसकर बात की होती, एक बार भी मेरा हाथ पकड़कर कहती, मैं तुम्हें न छोड़ूँगी, तो मैं कभी उसकी उपेक्षा न कर सकता ; लेकिन स्त्री मानिनी होती है, वह मेरी खुशामद क्यों करती। सारा अपराध मेरा है। मुझे उसके पास जाना चाहिए था।

सहसा उनके मन में प्रश्न उठा—आज रोहिणी ने क्यों मुझसे ये बातें कीं ? जो काम करने के लिए वह अपने को बीस वर्ष तक राज़ी न कर सकी, वह आज क्यों किया ? इस प्रश्न के साथ ही राजा साहब के मन में शंका होने लगी। आज उसके मुख पर कितनी दीनता थी। बातें करते-करते उसकी आँखें भर-भर आती थीं। उसका कंठस्वर भी काँप रहा था। उसके मुख पर इतनी दीनता कभी न दिखाई देती थी। उसके मुख-मंडल पर तो गर्व की आभा झलकती रहती थी। मुझे देखते ही वह अभिमान से गरदन उठाकर मुँह फेर लिया करती थी। आज यह कायापलट क्यों हो गई !

राजा साहब ज्यों-ज्यों इस विषय की मीमांसा करते थे, त्यों-त्यों उनकी शंका बढ़ती जाती थी। आधी रात से अधिक बीत गई थी। रनिवास में सन्नाटा छाया हुआ था। नौकर-चाकर भी सो गये थे; पर उनकी आँखों में नींद न थी। यह शंका उन्हें उद्विग्न कर रही थी।

आख़िर राजा साहब से लेटे न रहा गया। वह चारपाई से उठे और आहिस्ता-आहिस्ता रोहिणी के कमरे की ओर चले। उसकी ड्योढ़ी पर चौकीदारिन से भेंट हुई। उन्हें इस समय यहाँ देखकर वह अवाक् रह गई। जिस भवन में इन्होंने बीस वर्ष तक क़दम नहीं रक्खा, उधर आज कैसे भूल पड़े। उसने राजा साहब के मुख की ओर देखा, मानों पूछ रही थी—आप क्या चाहते हैं?

राजा साहब ने पूछा—छोटी रानी क्या कर रही हैं?

चौकीदारिन ने कहा—इस समय तो सरकार सो रही होंगी। महाराज का कोई संदेशा हो, तो पहुँचा दूँ।

राजा ने कहा—नहीं, मैं खुद जा रहा हूँ, तू यहीं रह।

राजा साहब ने कमरे के द्वार पर खड़े होकर भीतर की ओर झाँका। रोहिणी मसहरी के अन्दर चादर ओढ़े सो रही थी। वह अन्दर क़दम रखते हुए झिझके। भय हुआ कहीं रोहिणी उठकर कह न बैठे—आप यहाँ क्यों आये? वह इसी दुविधे में आध घंटे तक खड़े रहे। कई बार धीरे-धीरे पुकारा भी; पर रोहिणी न मिनकी। इतनी देर में उसने एक बार भी करवट न ली। यहाँ तक कि उसकी साँस भी न सुनाई दी। ऐसा मालूम हो रहा था कि वह मक्र किये पड़ी है, और देख रही है कि राजा साहब क्या करते हैं। शायद परीक्षा ले रही है कि अब भी इनका दिल साफ़ हुआ या नहीं। ग़ाफ़िल नींद में पड़े हुए प्राणी की श्वास-क्रिया इतनी निःशब्द नहीं हो सकती। ज़रूर बहाना किये पड़ी हुई है। मेरी आहट पाकर चादर ओढ़ ली होगी। मान के साथ ही इसके स्वभाव में विनोद भी तो बहुत है! पहले भी तो इस तरह की नकलें किया करती

थी। मुझे आते देखकर कहीं छिप जाती और जब मैं निराश होकर बाहर जाने लगता, तो हँसती हुई न जाने किधर से निकल आती। उसके चुहल और दिल्लगी की कितनी ही पुरानी बातें राजा साहब को याद आ गईं। उन्होंने साहस करके कमरे में क़दम रक्खा; पर अब भी किसी तरह का शब्द न सुनकर उन्हें ख़याल आया, कहीं रोहिणी ने झूठ-मूठ चादर तो नहीं तान दी है। मुझे चक्कर में डालने के लिए चारपाई पर चादर तान दी हो और आप किसी जगह छिपी हो। वह उसके धोखे में नहीं आना चाहते थे। उन्हें एक पुरानी बात याद आ गई, जब रोहिणी ने उनके साथ इसी तरह की दिल्लगी की थी, और यह कहकर उन्हें खूब आड़े हाथों लिया था कि आपकी प्रिया तो वह हैं, जिन्हें आपने जगाया है, मैं आपकी कौन होती हूँ। जाइए उन्हीं से बोलिए-हँसिए। यह विनोदिनी आज फिर वही अभिनय कर रही है। इस अवसर के लिए कोई चुभती हुई बात गढ़ रक्खी होगी—बीस बरस के बाद सूरत क्या याद रह सकती है? राजा साहब का साठवाँ साल था; लेकिन इस वक्त उन्हें इस क्रीड़ा में यौवन काल का-सा आनन्द और कुतूहल हो रहा था। वह दिखाना चाहते थे कि वह उसका कौशल ताड़ गये, वह उन्हें धोखा न दे सकेगी; लेकिन जब लगभग आध घंटे तक खड़े रहने पर भी कोई आवाज़ या आहट न मिली, तो उन्होंने चारों तरफ चौकन्नी आँखों से देखकर धीरे से चादर हटा दी। रोहिणी सोई हुई थी; लेकिन जब झुककर उसके मुख की ओर देखा, तो चौंककर पीछे हट गये। वह रोहिणी न थी, रोहिणी की शव थी। बीस वर्ष की चिन्ता, दुःख, ईर्ष्या और नैराश्य के संताप से जर्जर शरीर आत्मा के रहने योग्य कब रह सकती थी! उन निर्जीव, स्थिर, अनिमेष नेत्रों में अब भी अतृप्त आकांक्षा झलक रही थी। उनमें तिरस्कार था, धिक्कार था, व्यंग्य था, गर्व था। दोनों ज्योतिहीन आँखें परित्यक्ता के जीवन की ज्वलंत आलोचनाएँ थीं—जीवन की सारी दशाएँ सारी व्यथाएँ, उनमें सार-रूप से व्यक्त हो रही थीं। वे तीक्ष्ण बाणों के

समान राजा साहब के हृदय में चुभी जा रही थीं, मानों कह रही थीं—अब तो तुम्हारा कलेजा ठंढा हुआ। अब मीठी नींद सोओ, मुझे परवा नहीं है।

राजा साहब ने दोनों आँखें बन्द कर लीं और रोने लगे। उनकी आत्मा इस अमानुषीय निष्ठुरता पर उन्हें धिक्कार रही थी। किसी प्राणी के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान हमें उसके मरने के बाद ही आता है—हाय! हमने इसके साथ कुछ न किया। हमने इसे उम्र-भर जलाया, रुलाया, बेधा! हाय यह मेरी रानी जिस पर एक दिन मैं अपने प्राण न्योछावर करता था, इस दीन दशा में पड़ी हुई है, न कोई आगे, न पीछे। कोई एक घूँट पानी देनेवाला भी न था। कोई मरते समय परितोष देनेवाला भी न था! राजा साहब को ज्ञात हुआ कि रोहिणी आज क्यों उनके पास गई थी। वह मुझे सूचना दे रही थी; लेकिन मेरी बुद्धि पर पत्थर पड़ गया था। उस समय भी मैं कुछ न समझा। आह! अगर उस वक्त उसका आशय समझ जाता, तो यह नौबत क्यों आती? उस वक्त भी यदि मैंने एक बार शुद्ध हृदय से कहा होता—प्रिये, मेरे अपराध क्षमा करो, तो इसके प्राण बच जाते। अन्तिम समय वह मेरे पास क्षमा का संदेश ले गई थी और मैं कुछ न समझा। आशा का अन्तिम आदेश उसे मेरे पास ले गया था; पर शोक!

सहसा राजा साहब को ख़याल आया—शायद अभी प्राण बच जायँ। उन्होंने चौकीदारिनी को पुकारा और बोले—जरा जाकर दरबान से कह दे, डाक्टर साहब को बुला लावे। इनकी दशा अच्छी नहीं है। चौकीदारिनी रानी देवप्रिया के समय की स्त्री थी। रोहिणी के मुख की ओर देखकर बोली—डाक्टर को बुलाकर क्या कीजिएगा; अगर अभी कुछ कसर रह गई हो, तो वह भी पूरी कर दीजिए। अभागिनी मरजाद ढोती रह गई। उसके ऊपर क्या बीती, तुम क्या जानोगे। तुम तो बुढ़ापे में विवाह करके बुद्धि और लज्जा दोनों ही खो बैठे। उसके ऊपर जो बीती, वह

मैं! जानती हूँ। हाय! रक्त के आँसू रो-रोकर बेचारी मर गई और तुम्हें दया न आई। क्या समझते हो, इसने विष खा लिया? इस ढाँचे से प्राण को निकालने के लिए विष का क्या काम था! उसके मरने का आश्चर्य नहीं, आश्चर्य यह है कि वह इतने दिन जीती कैसे रही! खैर, जीते-जी जो अभिलाषा न पूरी की, वह मरने पर तो पूरी कर दी। इतनी ही दया अगर पहले की होती, तो इसके लिए वह अमृत हो जाती।

दम-के-दम में रनिवास में शोर मच गया और रानियाँ-बाँदियाँ सब आकर जमा हो गईं।

मगर मनोरमा न आई।

४०

रोहिणी के बाद राजा साहब जगदीशपुर न रह सके। मनोरमा का जी भी वहाँ घबराने लगा। उसी के कारण मनोरमा को वहाँ रहना पड़ा था। जब वही न रही, तो किस पर रीस करती? उसे अब दुःख होता था कि मैं नाहक यहाँ आई। रोहिणी के कटु-वाक्य सह लेती, तो आज उस बेचारी की जान पर क्यों बनती। मनोरमा इस ग्लानि को मन से न निकाल सकती थी कि मैं ही रोहिणी की अकाल मृत्यु का हेतु हुई। राजा साहब की निगाह भी अब उसकी ओर से फिरी हुई मालूम होती थी। अब खजानची उतनी तत्परता से उसकी फरमाइशें नहीं पूरी करता। राजा साहब भी अब उसके पास बहुत कम आते हैं। यहाँ तक कि गुरु-सेवकसिंह को भी जवाब दे दिया गया है, और उन्हें रनिवास में आने की मनाही कर दी गई है। रोहिणी ने प्राण देकर मनोरमा पर विजय पाई है। अब वसुमती और रामप्रिया पर राजा साहब की कुछ विशेष कृपा हो गई है। दूसरे-तीसरे जगदीशपुर चले जाते हैं और कभी-कभी दिन का भोजन भी वहीं करते हैं। वह अब अपने पापों का प्रायश्चित्त कर रहे हैं। रियासत में अब अंधेर भी ज्यादा होने लगा है। मनोरमा की खोली हुई शालाएँ बन्द होती जा रही हैं। मनोरमा सब देखती और समझती है; पर मुँह नहीं खोल सकती। उसके सौभाग्य-सूर्य का पतन हो रहा है। वही राजा साहब, जो उससे बिना कहे सैर करने भी न जाते थे, अब हफ्तों उसकी तरफ झाँकते तक नहीं। नौकर-चाकरों पर भी अब उसका प्रभाव नहीं रहा। वे उसकी बातों की परवा नहीं करते। इन गँवारों को हवा का रुख पहचानते देर नहीं लगती। रोहिणी का आत्म-बलिदान निष्फल नहीं हुआ।

शंखधर को अब एक नई चिन्ता हो गई है। राजा साहब के रूठने से छोटी नानीजी मर गईं। क्या पिताजी के रूठने से अम्माँजी का भी यही हाल होगा! अम्माँजी भी तो दिन-दिन घुलती जाती हैं, जब देखो तब रोया करती हैं। उसका नाम स्कूल में लिखा दिया गया है। स्कूल से छुट्टी पाकर वह सीधे लौंगी के पास जाता है और उससे तीर्थयात्रा की बातें पूछता है। यात्री लोग कहाँ ठहरते हैं, क्या खाते हैं, जहाँ रेलें नहीं हैं, वहाँ लोग कैसे जाते हैं, चोर तो नहीं मिलते? लौंगी उसके मनोभावों को ताड़ती है; लेकिन इच्छा न होते हुए भी उसे सारी बातें बतानी पड़ती हैं। वह झुँझलाती है, घुड़क बैठती है; लेकिन जब वह किशोर आग्रह कर के उसकी गोद में बैठ जाता है, तो उसे दया आ जाती है। छुट्टियों के दिन शंखधर पितृगृह के दर्शन करने अवश्य जाता है। वह घर उसके लिए तीर्थ है, वह भक्त की श्रद्धा और उपासक के प्रेम से उस घर में क़दम रखता है और जब तक वहाँ रहता है, उस पर भक्ति-गर्व का नशा-सा छाया रहता है। निर्मला की आँखें उसे देखने से तृप्त ही नहीं होतीं। उसके घर में आते ही प्रकाश-सा फैल जाता है। वस्तुओं की शोभा बढ़ जाती है। दादा और दादी दोनों उसकी बालोत्साह से भरी बातें सुन कर मुग्ध हो जाते हैं, उनके हृदय पुलकित हो उठते हैं, ऐसा जान पड़ता है चक्रधर स्वयं बालरूप धारण कर के उनका मन हरने आ गया है।

एक दिन निर्मला ने कहा—बेटा, तुम यहीं आके क्यों नहीं रहते? तुम चले जाते हो, तो यह घर काटने दौड़ता है।

शंखधर ने कुछ सोचकर गंभीर भाव से कहा—अम्माँजी तो आतीं ही नहीं। वह क्यों कभी यहाँ नहीं आतीं दादीजी?

निर्मला—क्या जाने बेटा, मैं उनके मन की बात क्या जानूँ। तुम कभी कहते नहीं। आज कहना, देखो क्या कहती हैं!

शंखधर—नहीं दादीजी, वह रोने लगेंगी। जब थोड़े दिनों में मैं गद्दी पर बैठूँगा, तो यही मेरा राज-भवन होगा। तभी अम्माँजी आवेंगी।

निर्मला—जल्दी से बैठो बेटा, हम भी देख लें।

शंखधर—मैं बाबूजी के नाम से एक स्कूल खोलूँगा। देख लेना। उसमें किसी लड़के से फीस न ली जायगी।

वज्रधर—और हमारे लिए क्या करोगे बेटा?

शंखधर—आपके लिए अच्छे-अच्छे सितारिये बुलवाऊँगा। आप उनका गाना सुना कीजिएगा। आपको गाना किसने सिखाया दादाजी?

वज्रधर—मैंने तो एक साधु से यह विद्या सीखी बेटा। बरसों उनकी खिदमत की, तब कहीं जाके वह प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे ऐसा आशीर्वाद दिया कि थोड़े ही दिनों में मैं गाने-बजाने में पक्का हो गया। तुम भी सीख लो बेटा, मैं बड़े शौक से सिखाऊँगा। राजाओं-महाराजाओं के लिए तो यह विद्या है ही बेटा, वहीं तो गुणियों का गुण परख कर उनका आदर कर सकते हैं। जिसे यह विद्या आ गई, बस समझ लो कि उसे किसी बात की कमी न रहेगी। वह जहाँ रहेगा, लोग उसे सिर-आँखों पर बिठायेंगे। मैंने तो एक बार इसी विद्या की बदौलत बदरीनाथजी की यात्रा की थी। पैदल चलता था। जिस गाँव में शाम हो जाती, किसी भले आदमी के द्वार पर चला जाता और दो-चार चीज़ें सुना देता। बस, मेरे लिए सभी बातों का प्रबंध हो जाता था।

शंखधर ने विस्मित होकर कहा—सच! तब तो मैं जरूर सीखूँगा।

वज्रधर—ज़रूर सीख लो बेटा, लाओ मैं आज ही से आरम्भ कर दूँ।

शंखधर को संगीत से स्वाभाविक प्रेम था। ठाकुरद्वारे में जब गाना होता, वह बड़े चाव से सुनता। खुद भी एकान्त में बैठा गुनगुनाया करता था। ताल-स्वर का ज्ञान उसे सुनने ही से हो गया था। एक बार भी कोई राग सुन लेता, तो उसे याद हो जाता। योगियों के कितने ही गीत उसे याद थे। खँजरी बजाकर वह सूर, कबीर, मीरा आदि संतों के पद गाया करता था। इस वक्त जो उसने कबीर का एक पद गाया, तो मुंशीजी उसके संगीत-ज्ञान और स्वर-लालित्य पर मुग्ध हो

गये। बोले—बेटा, तुम तो बिना सिखाये ही ऐसा अच्छा गा लेते हो। तुम्हें तो मैं थोड़े ही दिनों में ऐसा बना दूँगा कि अच्छे-अच्छे उस्ताद कानों पर हाथ धरेंगे। आखिर मेरे ही पोते तो हो। बस, तुम मेरे नाम पर एक संगीतालय खोल देना।

शंखधर—जी हाँ, उसमें यही विद्या सिखाई जायगी।

निर्मला—और अपनी बुढ़िया दादीजी के लिए क्या करोगे बेटा?

शंखधर—तुम्हारे लिए एक डोली रख दूँगा, जिसे दो कहार ढोयेंगे। उसी पर बैठकर तुम नित्य गंगा-स्नान करने जाना।

निर्मला—मैं डोली पर न बैठूँगी। लोग हँसेंगे कि नहीं कि राजा साहब की दादी बैठी जा रही हैं!

शंखधर—वाह, ऐसे आराम की सवारी और कौन होगी!

इस तरह दोनों प्राणियों का मनोरंजन करके जब वह चलने लगा, तो निर्मला द्वार तक उसके पीछे-पीछे आई। द्वार पर खड़ी होकर वह मोटर को दूर तक जाते हुए देख सकती थी।

सहसा शंखधर ड्योढ़ी में खड़ा हो गया और बोला—दादीजी, आपसे कुछ माँगना चाहता हूँ।

निर्मला ने विस्मित होकर सजल नेत्रों से उसे देखा और गद्‌गद होकर बोली—क्या माँगते हो बेटा?

शंखधर—मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरी मनोकामना पूरी हो!

निर्मला ने पोते को कंठ से लगाकर कहा—भैया, मेरा तो रोआँ-रोआँ तुम्हें आशीर्वाद दिया करता है। ईश्वर तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूरी करें।

शंखधर ने उसके चरणों पर सिर झुकाया और मोटर पर जा बैठा। निर्मला चौखट पर खड़ी मोटरकार को निहारती रही। मोड़ पर आते ही मोटर तो आँखों से ओझल हो गई; लेकिन निर्मला उस समय तक वहाँ से न हटी, जब तक कि उसकी ध्वनि क्षीण होते-होते आकाश में विलीन न हो गई। अंतिम ध्वनि इस तरह कान में आई, मानों अनन्त की सीमा

पर बैठे किसी प्राणी के अन्तिम शब्द हों। जब यह आधार भी न रह गया, तो निर्मला रोती हुई अन्दर चली गई।

शंखधर घर पहुँचा, तो अहल्या ने पूछा—आज इतनी देर कहाँ लगाई बेटा! मैं कब से तुम्हारी राह देख रही हूँ।

शंखधर—अभी तो ऐसी बहुत देर नहीं हुई अम्माँ। ज़रा दादीजी के पास चला गया था। उन्होंने तुम्हें आज एक संदेशा कहला भेजा है।

अहल्या—क्या संदेशा है, सुनूँ। कुछ तुम्हारे बाबूजी की ख़बर तो नहीं मिली है?

शंखधर—नहीं। बाबूजी की ख़बर नहीं मिली। तुम कभी-कभी वहाँ क्यों नहीं चली जातीं?

अहल्या—क्या इस विषय में कुछ कहती थीं?

शंखधर—कहती तो नहीं थीं; पर उनकी इच्छा ऐसी मालूम होती है। क्या इसमें कोई हरज है?

अहल्या ने ऊपरी मन से यह तो कह दिया—हरज तो कुछ नहीं, हरज क्या है, घर तो मेरा वही है। यहाँ तो मेहमान हूँ; लेकिन भाव से साफ़ मालूम होता था कि वह वहाँ जाना उचित नहीं समझती। शायद वह कह सकती तो कहती—वहाँ से तो एक बार निकाल दी गई, अब कौन मुँह लेकर जाऊँ, क्या अब मैं कोई दूसरी हो गई हूँ। बालक से यह बात कहनी मुनासिब न थी।

अहल्या तश्तरी में मिठाइयाँ और मेवे लाई और एक लौंडी से पानी लाने को कहकर बेटे से बोली—वहाँ तो कुछ जलपान न किया होगा। खा लो। आज तुम इतने उदास क्यों हो?

शंखधर ने तश्तरी की ओर बिना देखे ही कहा—इस वक्त तो खाने का जी नहीं चाहता अम्माँ।

एक क्षण के बाद उसने कहा—क्यों अम्माँजी, बाबूजी को हम लोगों की याद भी कभी आती होगी?

अहल्या ने सजल नेत्र होकर कहा—क्या जाने बेटा, याद आती, तो काले कोसों बैठे रहते !

शंखधर—क्या वह बड़े निष्ठुर हैं अम्माँ ?

अहल्या रो रही थी, कुछ न बोल सकी ।

शंखधर—मुझे देखें, तो पहचान जायँ कि नहीं अम्माँजी ?

अहल्या फिर भी कुछ न बोली । उसका कंठ-स्वर अश्रुप्रवाह में डूबा जा रहा था ।

शंखधर ने फिर कहा—मुझे तो मालूम होता है, अम्माँजी, कि वह बहुत ही निर्दयी हैं, इसी से उन्हें हम लोगों का दुःख नहीं जान पड़ता। अगर वह भी इसी तरह रोते, तो ज़रूर चले आते । मुझे एक दफा मिल जाते, तो मैं उन्हें क़ायल कर देता । आप न जाने कहाँ बैठे हैं, किसी का क्या हाल हो रहा है, इसकी सुधि ही नहीं । मेरा तो कभी-कभी ऐसा चित्त होता है कि देखूँ, तो प्रणाम तक न करूँ, कह दूँ—आप मेरे होते कौन हैं, आप ही ने तो हम लोगों को त्याग दिया है ।

अब अहल्या चुप न रह सकी, काँपते हुए स्वर में बोली—बेटा, उन्होंने हमें त्याग नहीं दिया है । वहाँ उनकी जो दशा हो रही होगी, उसे मैं जानती हूँ । हम लोगों की याद एक क्षण के लिए भी उनके चित्त से न उतरती होगी । खाने-पीने का ध्यान भी न रहता होगा । हाय ! यह सब मेरा दोष है बेटा, उनका कोई दोष नहीं ।

शंखधर ने कुछ लज्जित होकर कहा—अच्छा अम्माँजी, मुझे देखें, तो वह पहचान जायँ कि नहीं ?

अहल्या—तुझे, मैं तो जानती हूँ न पहचान सकें । तब तू बिलकुल ज़रा-सा बचा था । आज उनको गये दसवाँ साल है । न-जाने कैसे होंगे । मैं तो तुम्हें देख-देखकर जीती हूँ, वह किसको देख कर दिल को ढारस देते होंगे । भगवान् करें, जहाँ रहें कुशल से रहें । बदा होगा, तो कभी भेंट हो ही जायगी !

शंखधर अपने ही धुन में मस्त था, उसने यह बातें सुनीं ही नहीं। बोला—लेकिन अम्माँजी, मैं तो उन्हें देख कर फौरन् पहचान जाऊँ। वह चाहे किसी वेष में हों, मैं पहचान लूँगा।

अहल्या—नहीं, बेटा, तुम भी उन्हें न पहचान सकोगे। तुमने उनकी तसवीरें ही तो देखी हैं। ये तसवीरें बारह साल पहले की हैं। फिर उन्होंने केश बढ़ा लिये होंगे।

शंखधर ने कुछ जवाब न दिया। बग़ीचे में जाकर दीवारों को देखता रहा। फिर अपने कमरे में आया और चुपचाप बैठ कर कुछ सोचने लगा। उसका मन भक्ति और उल्लास से भरा हुआ था। क्या मैं ऐसा बहुत छोटा हूँ। मेरा तेरहवाँ साल है। छोटा नहीं हूँ। इसी उम्र में कितने ही आदमियों ने बड़े-बड़े काम कर डाले हैं। मुझे करना ही क्या है। दिन-भर गलियों में घूमना और संध्या-समय कहीं पड़ रहना। यहाँ लोगों की क्या दशा होगी, इसकी उसे चिन्ता न थी। राजा साहब पागल हो जायँगे, मनोरमा रोते-रोते अन्धी हो जायगी, अहल्या शायद प्राण देने पर उतारू हो जाय, इसकी उसे इस वक्त बिलकुल फिक्र न थी। वह यहाँ से भाग निकलने के लिए विकल हो रहा था।

एकाएक उसे ख़याल आया, ऐसा न हो, ये लोग मेरी तलाश में निकलें, थाने में हुलिया लिखायें, ख़ुद भी परेशान हों ; मुझे भी परेशान करें ; इसलिए उन्हें इतना बतला देना चाहिए कि मैं कहाँ और किस काम के लिए जा रहा हूँ। अगर किसी ने मुझे ज़बरदस्ती लाना चाहा, तो अच्छा न होगा। हमारी खुशी है, जब चाहेंगे आयँगे, हमारा राज्य तो कोई नहीं उठा ले जायगा। उसने एक काग़ज पर यह पत्र लिखा और अपने बिस्तरे पर रख दिया—

'सबको प्रणाम, मेरा कहा सुना माफ़ कीजिएगा। मैं आज अपनी खुशी से पिताजी को खोजने जाता हूँ। आप लोग मेरे लिए ज़रा भी चिन्ता न कीजिएगा, न मुझे खोजने के लिए आइएगा ; क्योंकि मैं किसी

हालत में बिना पिताजी का पता लगाये हुए न आऊँगा । जब तक एक बार उनके दर्शन न कर लूँ और पूछ न लूँ कि मुझे किस तरह ज़िन्दगी बसर करनी चाहिए, तब तक मेरा जीना व्यर्थ है। मैं पिताजी को अपने साथ लाने की चेष्टा करूँगा । या तो उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर लौटूँगा या इसी उद्योग में प्राण दे दूँगा । अगर मेरे भाग्य में राज्य करना लिखा है, तो राज्य करूँगा, भीख माँगना लिखा है, तो भीख माँगूँगा ; लेकिन पिताजी के चरणों की रज माथे पर लगाये, उनकी कुछ सेवा किये बिना मैं घर न लौटूँगा । मैं फिर कहता हूँ कि मुझे वापस लाने की कोई चेष्टा न करे, नहीं तो मैं वहीं प्राण दे दूँगा । मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है कि मेरे पिताजी तो देश-विदेश मारे-मारे फिरें और मैं चैन करूँ । यह दशा अब मुझसे नहीं सही जाती । कोई यह न समझे कि मैं छोटा हूँ, भूल-भटक जाऊँगा । मैंने ये सारी बात अच्छी तरह सोच ली हैं। रुपये-पैसे की भी मुझे ज़रूरत नहीं । अम्माँजी, मेरी आप से यही प्रार्थना है कि आप दादाजी की सेवा कीजिएगा और उन्हें समझाइएगा कि मेरे लिए चिंता न करें । रानी अम्माँ को प्रणाम, बाबाजी को प्रणाम।'

आधी रात बीत चुकी थी। शंखधर एक कुर्ता पहने, कमरे से निकला। बगल के कमरे में राजा साहब आराम कर रहे थे । वह पिछवाड़े की तरफ़ बाग़ में गया और एक अमरूद के पेड़ पर चढ़ कर बाहर की तरफ़ कूद पड़ा । अब उसके सिर पर तारिका-मण्डित नीला आकाश था, सामने विस्तृत मैदान और छाती में उल्लास, शंका और आशा से धड़कता हुआ हृदय । वह बड़ी तेज़ी से क़दम बढ़ाता हुआ चला, कुछ नहीं मालूम किधर जा रहा है, तक़दीर कहाँ लिये जाती है ।

ऐसी ही अँधेरी रात थी, जब चक्रधर ने इस घर से गुप्त रूप से प्रस्थान किया था । आज भी वही अँधेरी रात है, और भागनेवाला चक्रधर का आत्मज है । कौन जानता है, चक्रधर पर क्या बीती ? शंखधर पर क्या बीतेगी, इसे भी कौन जान सकता है ? इस घर में उसे कौन-सा सुख

नहीं था ? उसके मुँह से कोई बात निकलने की देर थी, पूरी होने में देर न थी। क्या ऐसी भी कोई वस्तु है, जो इस ऐश्वर्य, भोग-विलास और राज-पाट से प्यारी है ?

अभागिनी अहल्या ! तू पड़ी सो रही है ! एक बार तूने अपना प्यारा पति खोया और अभी तक तेरी आँखों के आँसू नहीं थमे। आज फिर तू अपना प्यारा पुत्र, अपना प्राणाधार, अपना दुखिया का धन, खोये देती है ! जिस सम्पत्ति के निमित्त तूने अपने पति की उपेक्षा की थी, वह सम्पत्ति क्या आज तुझे अजीर्ण नहीं हो रही है ?

४१

पाँच वर्ष व्यतीत हो गये! पर न शंखधर का कहीं पता चला, न चक्रधर का। राजा विशालसिंह ने दया और धर्म को तिलांजलि दे दी है और खूब दिल खोलकर अत्याचार कर रहे हैं। दया और धर्म से जो कुछ होता है, उसका अनुभव करके अब वह यह अनुभव करना चाहते हैं कि अधर्म और अविचार से क्या होता है। रियासत में धर्मार्थ जितने काम होते थे, सब बन्द कर दिये गये हैं। मन्दिरों में दिया नहीं जलता, साधु-संत द्वार से खड़े-खड़े निकाल दिये जाते हैं और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जा रहे हैं। उनकी फ़रियाद कोई नहीं सुनता। राजा साहब को किसी पर दया नहीं आती। अब क्या रह गया है, जिसके लिए वह धर्म का दामन पकड़ें! वह किशोर अब कहाँ है, जिसके दर्शन-मात्र से हृदय में प्रकाश का उदय हो जाता था। वह जीवन और मृत्यु की सभी आशाओं का आधार कहाँ चला गया? कुछ पता नहीं। यदि विधाता ने उनके ऊपर यह निर्दय आघात किया है, तो वह भी उसी के बताये हुए मार्ग पर चलेंगे। इतने प्राणियों में केवल एक मनोरमा है, जिसने अभी तक धैर्य का आश्रय नहीं छोड़ा; लेकिन उसकी अब कोई नहीं सुनता। राजा साहब अब उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहते। वह उसी को सारी विपत्ति का मूल-कारण समझते हैं। वही मनोरमा जो उनकी हृदयेश्वरी थी, जिसके इशारों पर रियासत चलती थी, अब भवन में भिखारिनी की भाँति रहती है, कोई उसकी बात नहीं पूछता। वह इस भीषण अन्धकार में अब भी दीपक की भाँति जल रही है; पर उसका प्रकाश केवल अपने ही तक रह जाता है, अंधकार में प्रसरित नहीं होता।

आह ! अबोध बालक ! अब तूने देखा कि जिस अभीष्ट के लिए तूने जीवन की सभी आकांक्षाओं का परित्याग कर दिया, वह कितना असाध्य है । इस विशाल प्रदेश में जहाँ तीस करोड़ प्राणी बसते हैं, तू एक प्राणी को कैसे खोज पायेगा ? कितना अबोध साहस था, बालोचित सरल उत्साह की कितनी अलौकिक लीला !

संध्या हो गई है । सूर्य देव पहाड़ियों की आड़ में छिप गये हैं, इस लिए संध्या से पहले ही अँधेरा हो चला है । रमणियाँ जल भरने के लिए कुएँ पर आ गई हैं । इसी समय एक युवक हाथ में एक खँजरी लिये आकर कुएँ की 'जगत' पर बैठ गया । यही शंखधर है । उसके वर्ण, रूप और वेष में इतना परिवर्तन हो गया है कि शायद अहल्या भी उसे देखकर चौंक पड़ती । यह वह तेजस्वी किशोर नहीं, उसकी छाया-मात्र है । उसका मांस गल गया है, केवल अस्थि-पंजर-मात्र रह गया है, मानों किसी भयंकर रोग में ग्रस्त रहने के बाद उठा हो । मानसिक ताप, वेदना और विषाद की उसके मुख पर ऐसी गहरी रेखा है कि मालूम होता है, उसके प्राण अब निकलने के लिए अधीर हो रहे हैं । उसकी निस्तेज आँखों में आकांक्षा और प्रतीक्षा की झलक की जगह अब घोर नैराश्य प्रतिबिम्बित हो रहा है—वह नैराश्य जिसका परितोष नहीं । वह सजीव प्राणी नहीं, किसी अनाथ का रोदन या किसी वेदना की प्रतिध्वनि-मात्र है । पाँच वर्ष के कठोर जीवन-संग्राम ने उसे इतना हताश कर दिया है कि कदाचित् इस समय अपने उपास्य देव को सामने देखकर भी उसे अपनी आँखों पर विश्वास न आयेगा ।

एक रमणी ने उसकी ओर देखकर पूछा—कहाँ से आते हो परदेसी, बीमार मालूम होते हो ?

शंखधर ने आकाश की ओर अनिमेष नेत्रों से देखते हुए कहा—बीमार तो नहीं हूँ माता, दूर से आते-आते थक गया हूँ ।

यह कहकर उसने अपनी खँजरी उठा ली और उसे बजाकर यह पद गाने लगा—

बहुत दिनों तक मौन-मंत्र
मन-मन्दिर में जपने के बाद।
पाऊँगी जब उन्हें प्रतीक्षा—
के तप में तपने के बाद।
ले तब उन्हें अंक में नयनों—
के जल से नहलाऊँगी।
सुमन चढ़ाकर प्रेम-पुजारिन—
मैं उनकी कहलाऊगी।
ले अनुराग आरती उनकी—
तभी उतारूँगी सप्रेम।
स्नेह-सुधा नैवेद्य रूप में—
सम्मुख रक्खूँगी कर प्रेम।
ले लूँगी वरदान भक्ति-वेदी—
पर बलि हो जाने पर।
साध तभी मन की साधूँगी—
प्राणनाथ के आने पर।

इस क्षीणकाय युवक के कंठ में इतना स्वर-लालित्य, इतना विकल अनुराग था कि रमणियाँ चित्रवत खड़ी रह गईं। कोई कुएँ में कलसा डाले हुए उसे खींचना भूल गई, कोई कलसे में रस्सी का फन्दा लगाते हुए उसे कुएँ में डालना भूल गई और कोई चूल्हे पर कलसा रक्खे आगे बढ़ना भूल गई—सभी मन्त्र-मुग्ध-सी हो गईं। उनकी हृदय-वीणा से भी वही अनुरक्त-ध्वनि निकलने लगी।

एक युवती ने पूछा—बाबाजी, अब तो बहुत देर हो गई है, यहीं ठहर जाओ न। आगे तो बहुत दूर तक कोई गाँव नहीं है।

शंखधर—आपकी इच्छा है माता, तो यहीं ठहर जाऊँगा। भला माताजी, यहाँ कोई महात्मा तो नहीं रहते?

युवती—नहीं, यहाँ तो कोई साधु-संत नहीं हैं। हाँ, देवालय है।

दूसरी रमणी ने कहा—अभी कई दिन हुए एक महात्मा आकर टिके थे; पर वह साधुओं के भेस में न थे। वह यहाँ एक महीने-भर रहे। तुम एक दिन पहले यहाँ आ जाते, तो उनके दर्शन हो जाते।

एक वृद्धा बोली—साधु-संत तो बहुत देखे; पर ऐसा उपकारी जीव नहीं देखा। तुम्हारा घर कहाँ है बेटा?

शंखधर—कहाँ बताऊँ माता, यों ही घूमता-फिरता हूँ।

वृद्धा—अभी तुम्हारे माता-पिता हैं न बेटा?

शंखधर—कुछ मालूम नहीं माता। पिताजी तो बहुत दिन हुए कहीं चले गये। मैं तब दो-तीन वर्ष का था। माताजी का हाल नहीं मालूम।

वृद्धा—तुम्हारे पिता क्यों चले गये? तुम्हारी माता से कोई झगड़ा हुआ था?

शंखधर—नहीं माताजी, झगड़ा तो नहीं हुआ। गृहस्थी के माया-मोह में नहीं पड़ना चाहते थे।

वृद्धा—तो तुम्हें घर छोड़े कितने दिन हुए?

शंखधर—पाँच साल हो गये माता। पिताजी को खोजने निकल पड़ा था; पर अब तक कहीं पता नहीं चला।

एक युवती ने अपनी सहेली के कन्धे से मुँह छिपाकर कहा—इनका ब्याह तो हो गया होगा?

सहेली ने उसे कुछ उत्तर न दिया। वह शंखधर की मुख की ओर ध्यान से देख रही थी। सहसा उसने वृद्धा से कहा—अम्माँ इनकी सूरत

महात्माजी से मिलती है कि नहीं, कुछ तुम्हें दिखाई देता है ?

वृद्धा—हाँ रे, कुछ-कुछ मालूम तो होता है । (शंखधर से) क्यों बेटा, तुम्हारे पिताजी की क्या अवस्था होगी ?

शंखधर—४० के लगभग होगी और क्या ।

वृद्धा—आँखें खूब बड़ी-बड़ी हैं ?

शंखधर—हाँ माताजी, उतनी बड़ी आँखें, तो मैंने किसी की देखी ही नहीं ।

वृद्धा—लम्बे-लम्बे गोरे आदमी हैं ?

शंखधर का हृदय धकधक करने लगा। बोला—हाँ माताजी, उनका रंग बहुत गोरा है ।

वृद्धा—अच्छा, दाहनी ओर माथे पर किसी चोट का दाग है ?

शंखधर—हो सकता है माताजी, मैंने तो केवल उनका चित्र देखा है। मुझे तो वह दो वर्ष का छोड़कर घर से निकल गये थे ।

वृद्धा—बेटा, जिन महात्मा की मैंने तुमसे चरचा की उनकी सूरत तुमसे बहुत मिलती है ।

शंखधर—माता, कुछ बता सकती हो, वह यहाँ से किधर गये ?

वृद्धा—यह तो कुछ नहीं कह सकती ; पर वह उत्तर ही की ओर गये हैं । तुमसे क्या कहूँ बेटा, मुझे तो उन्होंने प्राणदान दिया है, नहीं तो अब तक मेरा न-जाने क्या हाल होता । नदी में स्नान करने गई थी । पैर फिसल गया । महात्माजी तट पर बैठे ध्यान कर रहे थे । डुबकियाँ खाते देखा, तो चट पानी में तैर गये और मुझे निकाल लाये । वह न निकालते, तो प्राण जाने में कोई सन्देह न था । महीने-भर यहाँ रहे । इस बीच में कई जानें बचाईं । कई रोगियों को तो मौत के मुँह से निकाल लिया ।

शंखधर ने काँपते हुए हृदय से पूछा—उनका नाम क्या था माताजी ?

वृद्धा—नाम तो उनका था भगवानदास; पर यह उनका असली नाम नहीं मालूम होता था; असली नाम कुछ और ही था।

एक युवती से कहा—यहाँ उनकी एक तसवीर भी तो रक्खी हुई है।

वृद्धा—हाँ बेटा, इसकी तो हमें याद ही न रही थी। इस गाँव का एक आदमी बम्बई में तसवीर बनाने का काम करता है। वह यहाँ उन दिनों आया हुआ था। महात्माजी तो 'नहीं-नहीं' करते ही रहे; पर उसने झपसे अपनी डिबिया खोलकर उनकी तसवीर उतार ही ली। न जाने उस डिबिया में क्या जादू है कि जिसके सामने खोल दो, उसकी तसवीर उसके भीतर खिच जाती है।

शंखधर का हृदय शत गुण वेग से धड़क रहा था। बोले—ज़रा वह तसवीर मुझे दिखा दीजिए, आपकी बड़ी कृपा होगी।

युवती लपकी हुई घर गई और एक क्षण में तसवीर लिये हुए लौटी। आह! शंखधर की इस समय विचित्र ही दशा थी। उसकी हिम्मत न पड़ती थी कि तसवीर देखे। कहीं यह चक्रधर की तसवीर न हो! अगर उन्हीं की तसवीर हुई, तो शंखधर क्या करेगा? वह अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा? उसे मूर्च्छा तो न आ जायगी। अगर यह वास्तव में चक्रधर ही का चित्र है, तो शंखधर के सामने एक नई समस्या खड़ी हो जायगी। उसे अब क्या करना होगा? अब तक वह एक निश्चित मार्ग पर चलता आया था; लेकिन अब उसे एक ऐसे मार्ग पर चलना पड़ेगा, जिससे वह बिलकुल परिचित न था। क्या वह चक्रधर के पास जायगा? जाकर क्या कहेगा? उसे देखकर वह प्रसन्न होंगे या सामने से दुत्कार देंगे। उसे वह पहचान भी सकेंगे। कहीं पहचान लिया और उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए कहीं और चले गये तो?

सहसा वृद्धा ने कहा—देखो बेटा! यह तसवीर है।

शंखधर ने दोनों हाथों से हृदय को सँभाले हुए तसवीर पर एक भय-कम्पित दृष्टि डाली और पहचान गया। हाँ, यह चक्रधर ही की तस-

वीर थी। उसकी देह शिथिल पड़ गई, हृदय का धड़कना शान्त हो गया, आशा, भय, चिन्ता और अस्थिरता से व्यग्र होकर वह हत्बुद्धि-सा खड़ा रह गया, मानों किसी पुरानी बात को याद कर रहा हो।

वृद्धा ने उत्सुकता से पूछा—बेटा, कुछ पहचान रहे हो ?

शंखधर ने कुछ उत्तर न दिया।

वृद्धा ने फिर पूछा—चुप कैसे हो भैया, तुमने अपने पिता की जो सूरत देखी है, उससे यह तसवीर कुछ मिलती है ?

शंखधर ने अब की भी कुछ उत्तर न दिया, मानों उसने कुछ सुना ही नहीं।

सहसा उसने निद्रा से जागे हुए मनुष्य की भाँति पूछा—वह इधर उत्तर ही की ओर गये हैं न ? आगे कोई गाँव पड़ेगा ?

वृद्धा—हाँ बेटा, पाँच कोस पर गाँव है। भला से उसका नाम है, हाँ साईंगंज, साईंगंज; लेकिन आज तो तुम यहीं रहोगे ?

शंखधर ने केवल इतना कहा—नहीं माता, अब आज्ञा दीजिए। और खँजरी उठाकर चल खड़ा हुआ। युवतियाँ ठगी-सी खड़ी रह गईं। जब तक वह निगाहों से छिप न गया, सब-की-सब उसकी ओर टकटकी लगाये ताकती रहीं; लेकिन शंखधर ने एक बार भी पीछे फिर कर न देखा।

सामने गगन-चुम्बी पर्वत अन्धकार के विशाल-काय राक्षस की भाँति खड़ा था। शंखधर बड़ी तीव्रगति से पतली पगडण्डी पर चला जा रहा था। उसने अपने आपको उसी पगडंडी पर छोड़ दिया है। वह कहाँ ले जायगी, वह नहीं जानता। हम भी इस जीवनरूपी पतली, मिटी-मिटी पगडण्डी पर क्या उसी भाँति तीव्रगति से दौड़े नहीं चले जा रहे हैं ? क्या हमारे सामने उनसे भी ऊँचे अंधकार के पर्वत नहीं खड़े हैं ?

९२

रात्रि के उस अगम्य अन्धकार में शंखधर भागा चला जा रहा था ! उसके पैर पत्थर के टुकड़ों से चलनी हो गये थे। सारी देह थककर चूर हो गई थी, भूख के मारे आँखों के सामने अँधेरा छाया जाता था, प्यास के मारे कंठ में काँटे पड़ गये थे, पैर कहीं रखता था, पड़ते कहीं थे ; पर वह गिरता-पड़ता भागा चला जाता था। अगर वह प्रातःकाल तक साईंगंज पहुँचा, तो संभव है चक्रधर कहीं और चले जायँ और फिर उस अनाथ की पाँच साल की मिहनत और दौड़-धूप पर पानी न फिर जाय। सूर्य निकलने के पहले उसे वहाँ पहुँच जाना था, चाहे इसमें प्राण ही क्यों न चले जायँ।

हिंस्र पशुओं का भयंकर गरजन सुनाई देता था, अँधेरे में खड्ड और खाईं का पता न चलता था ; पर उसे अपने प्राणों की चिन्ता न थी। उसे केवल एक धुन थी, मुझे सूर्योदय से पहले साईंगंज पहुँच जाना चाहिए। आह ! लाड़-प्यार में पले हुए बालक ! तुझे मालूम नहीं, तू कहाँ जा रहा है ! साईंगंज की राह भूल गया। इस मार्ग से तू और जहाँ चाहे पहुँच जाये, साईंगंज नहीं पहुँच सकता।

गगन-मण्डल पर उषा का लोहित प्रकाश छा गया। तारागण किसी थके हुए पथिक की भाँति अपनी उज्ज्वल आँखें बन्द करके विश्राम करने लगे। पक्षीगण वृक्षों पर चहकने लगे ; पर साईंगंज का कहीं पता न था।

सहसा एक बहुत दूर की पहाड़ी पर कुछ छोटे-छोटे मकान बालिकाओं के घरौंदे की तरह दिखाई दिये। दो-चार आदमी भी गुड़ियों के

सदृश चलते-फिरते नजर आये। वह साईंगंज आ गया! शंखधर का कलेजा धकधक करने लगा। उसके जीर्ण शरीर में अद्भुत स्फूर्ति का संचार हो गया, पैरों में न-जाने कहाँ से दुगुना बल आ गया। वह और वेग से चला। वह सामने मुसाफिर की मंजिल है! वह उसके जीवन का लक्ष्य दिखाई दे रहा है! वह उसके जीवन-यज्ञ की पूर्णाहुति है! आह! भ्रान्त बालक! वह साईंगंज नहीं है।

पहाड़ी की चढ़ाई कठिन थी। शंखधर को ऊपर चढ़ने का रास्ता न मालूम था, न कोई आदमी दिखाई देता था, जिससे रास्ता पूछ सके। वह कमर बाँधकर चढ़ने लगा।

गाँव के एक आदमी ने ऊपर से आवाज़ दी—इधर से कहाँ आते हो भाई, रास्ता तो पच्छिम ओर से है! कहीं पैर फिसल जाय, तो २०० हाथ नीचे जाओ।

लेकिन शंखधर को इन बातों के सुनने की फ़ुरसत कहाँ थी। वह इतनी तेजी से ऊपर चढ़ रहा था कि उस आदमी को आश्चर्य हो गया। दम-के-दम में वह ऊपर पहुँच गया।

किसान ने शंखधर को सिर से पाँव तक कुतूहल से देखकर कहा—देखने में तो एक हड्डी के आदमी हो; पर हो बड़े हिम्मती। इधर से आने की आज तक किसी की हिम्मत नहीं पड़ी थी। कहाँ घर है?

शंखधर ने दम लेकर कहा—बाबा भगवानदास अभी यहाँ हैं न?

किसान—कौन बाबा भगवानदास, यहाँ तो कभी नहीं आये? तुम कहाँ से आते हो?

शंखधर—बाबा भगवानदास को नहीं जानते? वह इसी गाँव में तो आये हैं। साईंगंज यही है न?

किसान—साईंगंज! अरर! साईंगञ्ज तो तुम पूरब छोड़ आये। इस गाँव का नाम बेंदो है।

शंखधर ने हताश होकर कहा—तो साईंगंज यहाँ से कितनी दूर है?

किसान—साईंगञ्ज पड़ेगा यहाँ से कोई पाँच कोस ; मगर रास्ता बीहड़ है।

शंखधर कलेजा थामकर बैठ गया। पाँच कोस की मञ्जिल, उस पर रास्ता बीहड़! उसने आकाश की ओर एक बार नैराश्य में डूबी हुई आँखों से देखा और सिर झुकाकर सोचने लगा—यह अवसर फिर हाथ न आयेगा! अगर आराध्य देव के दर्शन आज न किये, तो फिर कभी न कर सकूँगा। सारा जीवन दौड़ते ही बीत जायगा। भोजन करने का समय नहीं, विश्राम करने का समय भी नहीं। बैठने का समय फिर आवेगा। आज या तो इस तपस्या का अन्त होगा, या जीवन का! वह उठ खड़ा हुआ।

किसान ने कहा—क्या चल दिये भाई, चिलम-विलम तो पी लो।

लेकिन शंखधर इसके पहले ही चल चुका था। वह कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, चुपचाप किसी अन्ध शक्ति की भाँति चला जा रहा है। वसन्त की शीतल, सुगन्ध से लदी हुई समीर पुत्र-वत्सल माता की भाँति वृक्षों को हिंडोले में झुला रही है, नवजात पल्लव उसकी गोद में मुस-किराते और प्रसन्न हो-होकर ठुमकते हैं, चिड़ियाँ उन्हें गा-गाकर लोरियाँ सुना रही हैं, सूर्य की स्वर्णमयी किरणें उनका चुम्बन कर रही हैं। सारी प्रकृति वात्सल्य के रङ्ग में डूबी हुई है, केवल एक ही प्राणी अभागा है, जिस पर इस प्रकृति-वात्सल्य का ज़रा भी असर नहीं! वह शंखधर है।

शंखधर सोच रहा है, अब की फिर कहीं रास्ता भूला, तो सर्वनाश हो जायगा। तब वह समझ जायगा—मेरा जीवन रोने ही के लिए बनाया गया है। रोदन—अनंत रोदन ही उसका काम है। अच्छा, कहीं पिताजी मिल गये तो? उनके सम्मुख वह जा भी सकेगा या नहीं? वह उसे देखकर क्रुद्ध तो न होंगे? जिसे दिल से भुला देने के लिए उन्होंने यह तपस्या-व्रत किया है, उसे सामने देखकर क्या वह प्रसन्न होंगे?

अच्छा, वह उनसे क्या कहेगा? अवश्य ही वह उनसे घर चलने का

अनुरोध करेगा। क्या माताजी की दारुण दशा पर उन्हें दया न आयेगी? क्या जब वह सुनेंगे कि रानी अम्माँ गलकर काँटा हो गई हैं, नानाजी रो रहे हैं, दादीजी रात-दिन रोया करती हैं, तो क्या उनका हृदय द्रवित न हो जायगा। वह हृदय, जो पर-दुःख से पीड़ित होता है, क्या अपने घरवालों के दुःख से न दुखी होगा? जब वह नयनों में अश्रु-जल भरे उनके चरणों पर गिरकर कहेगा—अब घर चलिए, तो उन्हें उस पर दया न आयेगी? अम्माँजी कहती हैं, वह मुझे बहुत प्यार करते थे। क्या अपने प्यारे पुत्र की यह दयनीय दशा देखकर उनका हृदय मोम न हो जायगा? होगा क्यों नहीं। वह जायँगे कैसे नहीं? वह उन्हें खींचकर ले जायगा। अगर वह उसके साथ न आयँगे, तो वह भी लौटकर घर न आयेगा, उन्हीं के साथ रहेगा, उनकी सेवा में रहकर अपना जीवन सफल करेगा।

इन्हीं कल्पनाओं में डूबा हुआ शंखधर धावा मारे चला जा रहा था। रास्ते में जो मिलता, उससे वह पूछता, साईंगंज कितनी दूर है। जवाब मिलता—बस आगे साईंगंज ही है; लेकिन जब आगेवाली बस्ती में पहुँचकर पूछता—क्या यही साईंगंज है, तो फिर यही जवाब मिलता—बस आगे साईंगंज है। आख़िर दोपहर होते-होते उसे दूर से एक मन्दिर का कलश दिखाई दिया। एक चरवाहे से उसने पूछा—यह कौन गाँव है? उसने कहा—साईंगंज! साईंगंज आ गया! वह गांव, जहाँ उसको क़िस-मत का फैसला होने वाला था, जहाँ इस बात का निश्चय होगा कि वह राजा बनकर राज्य करेगा या रंक बनकर भीख माँगेगा।

लेकिन ज्यों-ज्यों गाँव निकट आता था, शंखधर के पाँव सुस्त पड़ते जाते थे। उसे यह शंका होने लगी कि वह यहाँ से चले न गये हों। अब उनसे भेंट न होगी। वह इस शंका को कितना ही दिल से निकालना चाहता था; पर वह अपना आसन न छोड़ती थी।

अच्छा, अगर उनसे यहाँ भेंट न हुई, तो क्या वह और आगे जा

सकेगा। नहीं, अब उससे एक पग भी न चला जायगा ; अगर भेंट होगी, तो यहीं होगी, नहीं तो फिर कौन जाने क्या होगा। अच्छा, अगर भेंट हुई और उन्होंने उसे पहचान लिया तो ? पहचान कर वह उसकी ओर से मुँह फेर लें तो ? तब वह क्या करेगा ? उस दशा में क्या वह उनके पैरों पड़ सकेगा ? उनके सामने रो सकेगा, अपनी विपत्ति-कथा कह सकेगा ? कभी नहीं। उसका आत्म-सम्मान उसकी ज़बान पर मुहर लगा देगा। वह फिर एक शब्द भी मुँह से न निकाल सकेगा, आँसू की एक बूँद भी उसके आँखों से न निकलेगी। वह ज़बरदस्ती उनसे आत्मीयता न जतायेगा, 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' न बनेगा। तो क्या वह इतने निर्दय, इतने निष्ठुर हो जायँगे ? नहीं, वह ऐसे नहीं हो सकते। हाँ, यह हो सकता है कि उन्होंने कर्तव्य का जो आदर्श अपने सामने रक्खा है और जिस निःस्वार्थ कर्म के लिए राज-पाट को त्याग दिया है, वह उनके मनोभावों को ज़बान पर न आने दे, अपने प्रिय पुत्र को हृदय से लगाने के लिए विकल होने पर भी वह छाती पर पत्थर की सिल रखकर उसकी ओर से मुँह फेर लें। तो क्या इस दशा में उसका उनके पास जाना, उन्हें इतनी कठिन परीक्षा में डालना, उन्हें आदर्श से हटाने की चेष्टा करना उचित है ? कुछ भी हो, इतनी दूर आकर अब उनके दर्शन किये बिना वह न लौटेगा। उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उसे पहचान न सकें, वह अपने मुँह से एक शब्द भी ऐसा न निकालेगा जिससे उन्हें उसका परिचय मिल सके। वह उसी भाँति दूर से उनके दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझेगा, जैसे उनके और भक्त करते हैं।

साईंगंज दिखाई देने लगा। स्त्री-पुरुष खेतों में अनाज काटते नजर आने लगे। अब वह गाँव के डाँड़ पर पहुँच गया। कई आदमी उसके सामने से होकर निकल भी गये ; पर उसने किसी से कुछ नहीं पूछा। अगर किसी ने कह दिया—बाबाजी हैं, तो वह क्या करेगा ? अगर मालूम हुआ—नहीं हैं, तो फिर वह क्या करेगा ? इसी असमंजस में पड़ा हुआ

वह मन्दिर के सामने चबूतरे पर बैठ गया। सहसा मन्दिर में से एक आदमी को निकलते देखकर वह चौंक पड़ा, अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर एक क्षण देखा, फिर उठा कि उस पुरुष के चरणों पर गिर पड़े; पर पैर थरथरा गये, मालूम हुआ कोई नदी उसकी ओर बही चली आती है—वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

वह पुरुष कौन था? वही, जिसकी मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई थी, जिसका वह उपासक था!

४३

अभागिनी अहल्या के लिए संसार सूना हो गया। पति को पहले ही खो चुकी थी। जीवन का एकमात्र आधार पुत्र रह गया था। उसे भी खो बैठी। अब वह किसका मुँह देखकर जियेगी! वह राज्य उसके लिए किसी ऋषि का अभिशाप हो गया। पति और पुत्र को पाकर अब वह टूटे-फूटे झोपड़े में कितने सुख से रहेगी! तृष्णा का उसे बहुत दण्ड मिल चुका। भगवन् इस अनाथिनी पर अब दया करो!

अहल्या को अब वह राज-भवन फाड़े खाता था। वह अब उसे छोड़-कर कहीं चली जाना चाहती थी। कोई सड़ा-गला झोपड़ा, किसी वृक्ष की छाँह, किसी पर्वत की गुफा, किसी नदी का तट उसके लिए इस भवन से सहस्रों गुना अच्छा था। वे दिन कितने अच्छे थे, जब वह अपने स्वामी के साथ पुत्र को हृदय से लगाये एक छोटे से मकान में रहती थी। वे दिन फिर न आवेंगे। वह मनहूस घड़ी थी, जब उसने इस भवन में क़दम रक्खा। वह क्या जानती थी, कि इसके लिए उसे अपने पति, और पुत्र से हाथ धोना पड़ेगा। आह! जब उसका पति जाने लगा, वह उसके साथ ही क्यों न चली गई? रह-रहकर उसको अपनी भोग-लिप्सा पर क्रोध आता था, जिसने उसका सर्वनाश कर दिया। क्या उस पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है?

क्या इस जीवन में स्वामी के दर्शन न होंगे? अपने प्रिय पुत्र की मोहिनी मूर्ति फिर वह न देख सकेगी? कोई ऐसी युक्ति नहीं है?

राज-भवन अब भूतों का डेरा हो गया है। उसका अब कोई स्वामी नहीं रहा। राजा साहब अब महीनों नहीं आते। वह अधिकतर इलाके ही

में घूमते रहते हैं। उनके अत्याचार की कथाएँ सुन-सुनकर लोगों के रोएँ खड़े हो जाते हैं। सारी रियासत में हाहाकार मचा हुआ है। कहीं किसी गाँव में आग लगाई जाती है, किसी गाँव के कुएँ भ्रष्ट किये जाते हैं। राजा साहब को किसी पर दया नहीं आती। उनके सारे सद्भाव शंख-धर के साथ चले गये। विधाता ने अकारण ही उन पर इतना कठोर आघात किया है। वह उस आघात का बदला दूसरों से ले रहे हैं। जब उनके ऊपर किसी को दया नहीं आती, तो वह किसी पर क्यों दया करें? अगर ईश्वर ने उनके घर में आग लगाई है, तो वह भी दूसरों के घर में आग लगायेंगे, ईश्वर ने उन्हें रुलाया है, तो वह भी दूसरों को रुलायेंगे। लोगों को ईश्वर की याद आती है, तो उनकी धर्म-बुद्धि जागृत हो जाती है; लेकिन किन लोगों की? जिनके सर्वनाश में कुछ कसर रह गई हो, जिनके पास रक्षा करने के योग्य कोई वस्तु रह गई हो; लेकिन जिसका सर्वनाश हो चुका, उसे किस बात का डर!

अब राजा साहब के पास जाने का किसी को साहस नहीं होता। मनोरमा को देखकर तो वह जामे से बाहर हो जाते हैं। अहल्या भी उनसे कुछ कहते हुए थरथर काँपती है। अपने प्यारों को खोजने के लिए वह तरह-तरह के मंसूबे बाँधा करती है; लेकिन कहे किससे! उसे ऐसा विदित होता है कि ईश्वर ने उसकी भोग-लिप्सा का यह दंड दिया है। यदि वह पति के घर जाकर इसका प्रायश्चित्त करे, तो कदाचित् ईश्वर उसका अपराध क्षमा कर दे! उसका डूबता हुआ हृदय इस तिनके के सहारे को जोरों से पकड़े हुए है; लेकिन हाय रे मानव-हृदय! इस घोर विपत्ति में भी मान का भूत सिर से नहीं उतरता। जाना तो चाहती है; लेकिन उसके साथ यह शर्त है कि कोई बुलावे। अगर राजा साहब मुन्शी जी से इस विषय में कुछ संकेत कर दें, तो उसके लिए अवश्य बुलावा आ जाय; पर राजा साहब से तो भेंट ही नहीं होती, और भेंट भी होती है, तो कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने मन की बात मनोरमा से कह देती, तो बहुत आसानी से काम निकल जाता; लेकिन अहल्या का मन मनोरमा से न पहले कभी मिला था, न अब मिलता था। उससे यह बात कैसे कहती! जो मनोरमा अब गाने-बजाने और सैर-सपाटे में मग्न रहती है, उससे वह अपनी व्यथा कैसे कह सकेगी! वह कहे भी, तो मनोरमा क्यों उसके साथ सहानुभूति करने लगी। वह दिन-के-दिन और रात-की-रात पड़ी रोया करती है, मनोरमा कभी भूल-कर भी उसकी बात नहीं पूछती, अपने राग-रंग में मस्त रहती है। वह भला अहल्या की पीर क्या जानेगी।

तो क्या मनोरमा सचमुच राग-रङ्ग में मस्त रहती है? हाँ, देखने में तो यही मालूम होता है; लेकिन उसके हृदय पर क्या बीत रही है,यह कौन जान सकता है! वह आशा और नैराश्य, शांति और अशांति, गंभीरता और उच्छृङ्खलता, अनुराग और विराग की एक विचित्र समस्या बन गई है। अगर वह सचमुच हँसती और गाती है, तो उसके मुख की वह कांति कहाँ है, जो चंद्र को लजाती थी, वह चपलता कहाँ है, जो हिरन को हराती थी। उसके मुख और उसके नेत्रों को ज़रा सूक्ष्म दृष्टि से देखो,तो मालूम होगा कि उसकी हँसी उसका आर्तनाद है और उसका राग-प्रेम मर्मान्तक व्यथा का चिह्न। वह शोक की उस चरम सीमा को पहुँच गई है, जब चिन्ता और वासना दोनों ही का अंत, लज्जा और आत्म-सम्मान का लोप हो जाता है, जब शोक राग का रूप धारण कर लेता है। मनोरमा ने कच्ची बुद्धि में यौवन-जैसा अमूल्य रत्न देकर जो सोने की गुड़िया खरीदी थी, वह अब किसी पक्षी की भाँति उसके हाथों से उड़ गई थी। उसने सोचा था, जीवन का वास्तविक सुख धन और ऐश्वर्य में है; किन्तु अब बहुत दिनों से उसे ज्ञात हो रहा था कि जीवन का वास्तविक सुख कुछ और ही है और वह उससे आजीवन वंचित रही। सारा जीवन गुड़िया खेलने ही में कट गया और अंत में वह गुड़िया भी हाथ से निकल गई। यह

भाग्य-व्यंग्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने की वस्तु हैं, उससे कहीं ज्यादा हँसते हैं, जितना परम आनन्द में हँस सकते हैं। प्रकाश जब हमारी सहन-शक्ति से अधिक हो जाता है, तो अन्धकार बन जाता है; क्योंकि हमारी आँखें ही बन्द हो जाती हैं।

एक दिन अहल्या का चित्त इतना उद्विग्न हुआ कि वह संकोच और झिझक छोड़कर मनोरमा के पास आ बैठी। मनोरमा के सामने प्रार्थी के रूप में आते हुए उसे जितनी मानसिक वेदना हुई, उसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि अपने कमरे से यहाँ तक आने में उसे कम-से-कम दो घंटे लगे। कितनी ही बार द्वार तक आ-आकर लौट गई। जिसकी सदैव अवहेलना की, उसके सामने अब अपनी ग़रज़ लेकर जाने में उसे लज्जा आती थी; लेकिन जब भगवान् ने ही उसका गर्व तोड़ दिया, तो अब झूठी ऐंठ से क्या हो सकता था। मनोरमा ने उसे देखकर कहा—क्या रो रही थीं अहल्या! यों कब तक रोती रहोगी?

अहल्या ने दीन भाव से कहा—जब तक भगवान् रुलावें।

कहने को तो अहल्या ने यह कहा; पर इस प्रश्न से उसका गर्व जाग उठा और वह पछताई कि यहाँ नाहक आई। उसका मुख तेज से आरक्त हो गया।

मनोरमा ने उपेक्षा-भाव से कहा—तब तो और हँसना चाहिए। जिसमें दया नहीं, उसके सामने रोकर अपना दीदा क्यों खोती हो। भगवान् अपने घर का भगवान् होगा। कोई उसके रुलाने से क्यों रोये? मन में एक बार निश्चय कर लो कि अब न रोऊँगी, फिर देखूँ कैसे रोना आता है!

अहल्या से अब ज़ब्त न हो सका। बोली—तुम तो जले पर नमक छिड़कती हो रानीजी! तुम्हारा-जैसा हृदय कहाँ से लाऊँ। और फिर रोता है वही, जिस पर पड़ती है। जिस पर पड़ी ही नहीं, वह क्यों रोयेगा?

मनोरमा हँसी—वह हँसी, जो या तो मूर्ख ही हँस सकता है, या

ज्ञानी ही। बोली—अगर भगवान् किसी को रुला कर ही प्रसन्न होता है, तब तो वह विचित्र ही जीव है। अगर कोई माता या पिता अपनी संतान को रोते देख कर प्रसन्न हो, तो तुम उसे क्या कहोगी—बोलो? तुम्हारा जी चाहेगा कि ऐसे प्राणी का मुँह न देखूँ। क्या ईश्वर हम से और तुमसे भी गया बीता है? आओ बैठ कर गावें। इससे ईश्वर प्रसन्न होगा। वह जो कुछ करता है, सबके भले ही के लिए करता है। इस लिए जब वह देखता है कि उसे लोग अपना शत्रु समझते हैं, तो उसे दुःख होता है। तुम अपने पुत्र को इसीलिए तो ताड़ना देती हो कि वह अच्छे रास्ते पर चले। अगर तुम्हारा पुत्र इस बात पर तुमसे रूठ जाय और तुम्हें अपना शत्रु समझने लगे, तो तुम्हें कितना दुःख होगा। आओ, तुम्हें एक भैरवी सुनाऊँ, देखो मैं कैसा अच्छा गाती हूँ।

अहल्या ने गाना सुनने के प्रस्ताव को अनसुना कर के कहा—माता-पिता सन्तान को इसी लिए तो ताड़ना देते हैं कि वह बुरी आदतें छोड़ दे, अपने बुरे कामों पर लज्जित हो और उनका प्रायश्चित्त करे? हमें भी जब ईश्वर ताड़ना देता है, तो उसकी भी यही इच्छा होती है। विपत्ति ताड़ना ही तो है। मैं भी प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ और आपसे उसके लिए सहायता माँगने आई हूँ। मुझे अनुभव हो रहा है कि यह सारी विडम्बना मेरे विलास-प्रेम का फल है और मैं इसका प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ। मेरा मन कहता है कि यहाँ से निकल कर मैं अपना मनोरथ पा जाऊँगी। यह सारा दंड मेरी विलासांधता का है। आप जाकर अम्माँजी से कह दीजिए, मुझे बुला लें। इस घर में आकर मैं अपना सुख खो बैठी और इस घर से निकल कर ही उसे पाऊँगी।

मनोरमा को ऐसा मालूम हुआ, मानों उसकी आँखें खुल गईं, क्या वह भी इस घर से निकल कर सच्चे आनन्द का अनुभव करेगी? क्या उसे भी ऐश्वर्य-प्रेम ही का दंड भोगना पड़ रहा है? क्या यह सारी अंतर्वेदना इसी विलास-प्रेम के कारण है?

उसने कहा—अच्छा अहल्या, मैं आज ही जाती हूँ।

इसके चौथे दिन मुन्शी वज्रधर ने राजा साहब के पास रुख़सती का सन्देशा भेजा। राजा साहब इलाक़े पर थे। सन्देशा पाते ही जगदीशपुर आये। अहल्या का कलेजा धकधक करने लगा कि राजा साहब कहीं आ न जायँ। इधर-उधर छिपती-फिरती थी कि उनका सामना न हो जाय। उसे मालूम हो गया था कि राजा साहब ने रुखसती मंजूर कर ली है; पर अब न-जाने क्यों जाने के लिए वह बहुत उत्सुक न थी। यहाँ से जाना तो चाहती थी; पर जाते दुःख होता था। यहाँ आये उसे चौदह साल हो गये। वह इसी घर को अपना घर समझने लगी थी। ससुराल उसके लिए विरानी जगह थी। कहीं निर्मला ने कोई लगती हुई बात कह दी, तो वह क्या करेगी। जिस घर से मान कर के निकली थी, वहीं अब विवश होकर जाना पड़ रहा था। इन बातों को सोचते-सोचते आख़िर उसका दिल इतना घबराया कि वह राजा साहब के पास जाकर बोली—आप मुझे क्यों विदा करते हैं, मैं नहीं जाना चाहती।

राजा साहब ने हँसकर कहा—कोई लड़की ऐसी भी है, जो खुशी से ससुराल जाती हो? और कौन पिता ऐसा है, जो लड़की को खुशी से विदा करता हो। मैं कब चाहता हूँ कि तुम जाओ; लेकिन मुंशी वज्रधर की आज्ञा है, और वह मुझे शिरोधार्य करनी पड़ेगी। वह लड़के के बाप हैं, मैं लड़की का बाप हूँ, मेरी और उनकी क्या बराबरी। और बेटी, मेरे दिल में भी अरमान है, उसके पूरा करने का और कौन अवसर आयेगा। शंख-धर होता, तो उसके विवाह में वह अरमान पूरा होता। अब वह तुम्हारे गौने में पूरा होगा।

अहल्या इसका क्या जवाब देती?

दूसरे दिन से राजा साहब ने विदाई की तैयारियाँ करनी शुरू कीं। सारे इलाके के सोनार पकड़ बुलाये गये और गहने बनने लगे। इलाक़े ही के दरजी कपड़े सीने लगे। हलवाइयों के कड़ाह चढ़ गये और पक-

वान बनने लगे। घर की सफाई और रँगाई होने लगी। राजाओं, रईसों और अफसरों को निमन्त्रण भेजे जाने लगे। सारे शहर की वेश्याओं को बयाने दे दिये गये। बिजली की रोशनी का इंतजाम होने लगा। ऐसा मालूम होता था, मानों किसी बड़ी बरात के स्वागत और सत्कार की तैयारी हो रही है। अहल्या यह सामान देख-देखकर दिल में झुँझलाती और शरमाती थी। सोचती—कहाँ से कहाँ मैंने यह विपत्ति मोल ली। अब इस बुढ़ापे में मेरा गौना होगा! मैं मरने की राह देख रही हूँ, यहाँ गौने की तैयारी हो रही है। कौन जाने यह अंतिम विदाई ही हो। राजा साहब ऐसे व्यस्त थे कि किसी से बात करने की भी उन्हें फुरसत न थी। कहीं सोनारों के पास बैठे अच्छी नक्काशी करने की ताकीद कर रहे हैं। कहीं दरजियों के पास बैठे हुए महीन सिलाई पर जोर दे रहे हैं। कहीं जौहरियों के पास बैठे जवाहरात परख रहे हैं। उनके अरमानों का वारा-पार ही न था। मन की मिठाई घी-शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती।

४४

शंखधर को होश आया, तो उसने अपने को मंदिर के बरामदे में चक्रधर की गोद में पड़ा हुआ पाया। चक्रधर चिन्तित नेत्रों से उसके मुँह की ओर ताक रहे थे। गाँव के कई आदमी आस-पास खड़े पंखा झल रहे थे। आह, आज कितने दिनों के बाद शंखधर को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है! वह पिता की गोद में लेटा हुआ है! आकाश के निवासियो, तुम पुष्प की वर्षा क्यों नहीं करते?

शंखधर ने फिर आँखें बन्द कर लीं। उसकी चिर-संतप्त आत्मा एक अलौकिक शीतलता, एक अपूर्व तृप्ति, एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव कर रही थी। इस अपार सुख को वह इतनी जल्द न छोड़ना चाहता था! उसे अपनी वियोगिनी माता की याद आई। वह उस दिन का स्वप्न देखने लगा, जब वह अपनी माता को भी इस परम आनन्द का अनुभव करायेगा, उसका जीवन सफल करेगा।

चक्रधर ने स्नेह-मधुर स्वर में पूछा—क्यों बेटा, अब कैसी तबीयत है?

कितने स्नेह-मधुर शब्द थे! किसी के कानों ने कभी इतने कोमल शब्द सुने हैं? भगवान् इन्द्र भी आकर उससे बोलते, तो क्या वह इतना गौरवान्वित हो सकता था!

'क्यों बेटा, कैसी तबीयत है'—वह इसका क्या जवाब दे? अगर कहता है—अब अच्छा हूँ, तो इस सुख से वंचित होना पड़ेगा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। देना भी चाहता, तो उसके मुँह से शब्द न निकलते उसका जी चाहा, इन चरणों पर सिर रखकर खूब रोये। इससे बढ़कर और किसी सुख की वह कल्पना न कर सकता था।

संसार की कोई वस्तु कभी इतनी सुन्दर थी ? वायु और प्रकाश, वृक्ष और वन, पृथ्वी और पर्वत कभी इतने प्यारे न लगे थे। उनकी छटा ही कुछ और हो गई थी। उनमें कितना वात्सल्य था, कितनी आत्मीयता !

चक्रधर ने फिर पूछा—क्यों बेटा, कैसी तबीयत है ?

शंखधर ने कातर स्वर में कहा—अब तो अच्छा हूँ। आप ही का नाम बाबा भगवानदास है ?

चक्रधर—हाँ, मुझी को भगवानदास कहते हैं।

शंखधर—मैं आप ही के दर्शनों के लिए आया हूँ ? बहुत दूर से आया हूँ। मैंने बेंदों में आपकी खबर पाई थी। वहाँ मालूम हुआ कि आप साईंगंज चले गये। वहाँ से साईंगञ्ज चला, सारी रात चलता रहा ; पर साईंगंज न मिला। एक दूसरे गाँव में जा पहुँचा, वह जो पर्वत के ऊपर बसा हुआ है। वहाँ मालूम हुआ कि मैं रास्ता भूल गया था। उसी वक्त इधर चला।

चक्रधर—रात को कहीं ठहरे नहीं ?

शंखधर—यही भय था कि शायद आप कहीं और आगे न बढ़ जायँ।

चक्रधर—कुछ भोजन भी न किया होगा ?

शंखधर—भोजन की तो ऐसी इच्छा न थी। आपके दर्शन हुए, मैं कृतार्थ हो गया। अब मेरे सारे संकट कट जायँगे। मैं आपका यश सुनकर आया हूँ। आप ही मेरा उद्धार कर सकते हैं।

चक्रधर—बेटा, संकट काटनेवाला ईश्वर है, मैं तो उसका क्षुद्र सेवक हूँ ; लेकिन पहले कुछ भोजन कर लो और आराम से सो रहो। मुझे कई रोगियों को देखने जाना है। मैं शाम को लौटूँगा, तो तुमसे बातें होंगी। क्या कहूँ, मेरे कारण तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़ा।

शंखधर ने मन में कहा—इस परम आनन्द के लिए मैं क्या नहीं सह सकता था। अगर मुझे मालूम हो जाता कि अग्निकुंड में जाने से

आपके दर्शन होंगे, तो क्या मैं एक क्षण भी विलम्ब करता ? कदापि नहीं। प्रकट में उसने कहा—मुझे तो वह स्वर्ग यात्रा-सी मालूम होती थी। भूख, प्यास, थकन कुछ भी नहीं थी।

चक्रधर का चित्त अस्थिर हो गया। उस युवक के रूप और वाणी में न जाने कौन-सी बात थी, जो उनके चित्त को चंचल किये देती थी। उसका वृत्तान्त सुनने की उनके मन में प्रबल इच्छा हो रही थी—रोगियों को देखने न जाना चाहते थे, मन बहाना खोजने लगा। रोगियों को दवा तो दे ही आया हूँ, उनकी चेष्टा भी कुछ ऐसी चिन्ताजनक नहीं, जाना व्यर्थ है। ज़रा पूछना चाहिए वह युवक कौन है, क्यों मुझसे मिलने के लिए इतना उत्सुक है ! कितना सुशील बालक है, इसकी वाणी में कितनी विनय है, और स्वरूप तो देवकुमारों का-सा है। किसी उच्च कुल का युवक है।

लेकिन फिर उन्होंने सोचा—मेरे न जाने से रोगियों को कितनी निराशा होगी। कौन जाने उनकी दशा बिगड़ गई हो। जाना ही चाहिए तब तक यह बालक भी तो आराम कर लेगा। बेचारा सारी रात चलता रहा। मैं जानता तो वेदों ही में टिक गया होता।

एक आदमी पानी लाया। शंखधर ने मुँह-हाथ धोया और चाहता था कि ख़ाली पेट पानी पी ले; लेकिन चक्रधर ने मना किया—हाँ-हाँ, यह क्या ? अभी पानी न पियो। रात-भर कुछ खाया नहीं और पानी पीने लगे। आओ कुछ भोजन कर लो।

शंखधर—बड़ी प्यास लगी है।

चक्रधर—पानी कहीं भागा तो नहीं जाता। कुछ खाकर पीना, और वह भी इतना नहीं कि पेट में पानी डोलने लगे।

शंखधर—दो ही घूँट पी लूँ। नहीं रहा जाता।

चक्रधर ने आकर उसके हाथ से लोटा छीन लिया और कठोर स्वर में कहा—अभी तुम एक बूँद भी पानी नहीं पी सकते। क्या जान देने पर आये हो ?

शंखधर को इस भर्त्सना में जो आनन्द मिल रहा था, वह कभी माता की प्रेम-भरी बातों में भी न मिला था। पाँच वर्ष हुए जब से वह अपने मन की करता आया है। वह जो पाता है खाता है, जब चाहता है पानी पीता है, जहाँ जगह पाता है पड़ रहता है। किसी को इसकी कुछ परवा नहीं होती। लोटा हाथ से न छीन गया होता, तो वह बिना दो-चार घुड़कियाँ खाये न मानता।

मंदिर के पीछे छोटा-सा बाग और कूआँ था। वहीं एक वृक्ष के नीचे चक्रधर की रसोई बनी थी। चक्रधर अपना भोजन आप पकाते थे, बरतन भी आपही धोते थे, पानी भी खुद खींचते थे। शंखधर उनके साथ भोजन करने गया, तो देखा रसोई में पूरी, मिठाई, दूध, दही, घी सब कुछ है। उसकी राल टपकने लगी। इन पदार्थों का स्वाद चखे हुए उसे एक युग बीत गया; मगर उसे कितना आश्चर्य हुआ, जब उसने देखा कि ये सारे पदार्थ उसी के लिए मँगवाये गये हैं। चक्रधर ने उसके लिए खाना एक पत्तल में रख दिया और आप कुछ मोटी रोटियाँ और भाजी लेकर बैठे, जो खुद उन्होंने बनाई थीं।

शंखधर ने कहा—आप तो सब मुझी को दिये देते हैं, अपने लिए कुछ रक्खा ही नहीं।

चक्रधर—मेरे लिए तो यह रोटियाँ हैं। मेरा भोजन यही है।

शंखधर—तो फिर मुझे भी रोटियाँ ही दीजिए।

चक्रधर—मैं तो बेटा, रोटियों के सिवा और कुछ नहीं खाता। मेरी पाचनशक्ति अच्छी नहीं है। दिन में एक बार खा लिया करता हूँ।

शंखधर—मेरा भोजन तो थोड़ा-सा सत्तू या चबेना है। मैंने तो बरसों से इन चीजों की सूरत नहीं देखी; अगर आप न खायँगे, तो मैं भी न खाऊँगा।

आखिर शंखधर के आग्रह से चक्रधर को अपना नियम तोड़ना पड़ा। सोलह वर्षों का पाला हुआ नियम, जिसे बड़े-बड़े रईसों और राजाओं का

भक्ति-मय आग्रह न तोड़ सका था, आज इस अपरिचित बालक ने तोड़ दिया। उन्होंने झुँझलाकर कहा—भाई, तुम बड़े जिद्दी मालूम होते हो। अच्छा लो, मैं भी खाता हूँ, अब तो खाओगे, या अब भी नहीं ?

उन्होंने सब चीजों में से जरा-जरा सा निकाल कर अपनी पत्तल में रख लिया और बाकी चीजें शंखधर के आगे रख दीं। शंखधर ने अब भी भोजन में हाथ नहीं लगाया।

चक्रधर ने पूछा—अब क्यों बैठे हो, खाते क्यों नहीं, तुम्हारे मन की बात तो हो गई। या अब भी कुछ बाकी है ?

शंखधर—आपने तो केवल उलाहना छुड़ाया है। लाइए मैं परस दूँ।

चक्रधर—अगर तुम इस तरह जिद्द करोगे, तो मैं तुम्हारी दवा न करूँगा। तुम्हें अपने साथ रक्खूँगा भी नहीं।

शंखधर—मुझे क्या, न दवा कीजिएगा यहीं पड़ा-पड़ा मर जाऊँगा। कौन कोई रोनेवाला बैठा हुआ है।

यह कहते-कहते शंखधर की आँखें सजल हो गईं। चक्रधर ने विकल होकर कहा—अच्छा लाओ, तुम्हीं अपने हाथ से दे दो। अपशब्द क्यों मुँह से निकालते हो। लाओ कितना देते हो। अब से मैं तुम्हें अलग भोजन मँगवा दिया करूँगा।

शंखधर ने सभी चीजों में से आधी से अधिक उनके सामने रख दी और आप एक पंखा लेकर उन्हें झलने लगा। चक्रधर ने वात्सल्यपूर्ण कठोरता से कहा—मालूम होता है, आज तुम मुझे बीमार करोगे। भला, इतनी चीजें मैं खा सकूँगा।

शंखधर—इसीलिए तो मैंने थोड़ी-थोड़ी दी हैं।

चक्रधर—यह थोड़ी-थोड़ी हैं। तो क्या तुम सब-की-सब मेरे ही पेट में ठूँस देना चाहते हो। अब भी बैठोगे या नहीं ? मुझे पंखे की ज़रूरत नहीं।

शंखधर—आप खायँ, मैं पीछे से खा लूँगा।

चक्रधर—भाई तुम विचित्र जीव हो। तीन दिन के भूखे हो और मुझसे कहते हो आप खाइए, मैं फिर खा लूँगा। मैंने कह दिया, मुझे पंखे की ज़रूरत नहीं।

शंखधर—मैं तो आपका जूठन खाऊँगा।

उसकी आँखें फिर सजल हो गईं। चक्रधर ने तिरस्कार-भाव से कहा—क्यों भाई, मेरा जूठन क्यों खाओगे? अब तो सब बातें तुम्हारे ही मन की हो रही हैं।

शंखधर—मेरी बहुत दिनों से यही आकांक्षा थी। जब से आपकी कीर्ति सुनी, तभी से यह अवसर खोज रहा था।

चक्रधर—तुम न आप खाओगे, न मुझे खाने दोगे।

शंखधर—मैं तो आपका जूठन ही खाऊँगा।

चक्रधर को फिर हार माननी पड़ी। वह एकान्तवासी, संयमी, व्रत-धारी योगी आज इस अपरिचित दीन बालक के दुराग्रहों को किसी भाँति न टाल सकता था।

शंखधर को आज खड़े होकर पंखा झलने में जो आनंद, जो आत्मोल्लास, जो गर्व हो रहा था, उसका कौन अनुमान कर सकता है। इस आनंद के सामने वह त्रिलोक के राज्य पर लात मार सकता था। आज उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि अपने पूज्य पिता की कुछ सेवा कर सके। कठिन तपस्या के बाद आज उसे यह सेवा-वरदान मिला है। उससे बढ़कर सुखी और कौन हो सकता है। आज उसे अपना जीवन सार्थक मालूम हो रहा है—वह जीवन, जिसका अब तक कोई उद्देश्य न था। आनंद के आँसू उसकी आँखों से बहने लगे।

चक्रधर जब भोजन करके उठ गये, तो उसने उसी पत्तल में अपनी पत्तल की चीजें डाल लीं और भोजन करने बैठा। ओह! इस भोजन में कितना स्वाद था! क्या सुधा में भी इतना स्वाद हो सकता है? उसने आज

से कई साल पहले उत्तम-से-उत्तम पदार्थ खाये थे ; लेकिन उनमें यह अलौकिक स्वाद कहाँ था ?

चक्रधर हाथ-मुँह धोकर गद्‌गद् कंठ से बोले—तुमने आज मेरे दो नियम भंग कर दिये। बिना जाने-बूझे किसी को मेहमान बना लेने का यही फल होता है। अब मैं आज कहीं न जाऊँगा। तुम भोजन कर लो और मुझसे जो कुछ कहना हो कहो। मैं ऐसे जिद्दी लड़के को अपने साथ और न रक्खूँगा। तुम्हारा घर कहाँ है ? यहाँ से कितनी दूर है ?

शंखधर—मेरे तो कोई घर ही नहीं।

चक्रधर—माता-पिता होंगे। ह किस गाँव में रहते हैं

शंखधर—यह मुझे कुछ नहीं मालूम। पिताजी तो मेरे बचपन ही में घर से चले गये और माताजी का पाँच साल से मुझे कोई समाचार नहीं मिला।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ, मानों पृथ्वी नीचे खिसकी जा रही है, मानों वह जल में बहे जा रहे हैं। पिता बचपन ही में घर से चले गये और माताजी का पाँच साल से कुछ समाचार नही मिला ! भगवान्, क्या यह वही नन्हा-सा बालक है ! वही, जिसे अपने हृदय से निकालने की चेष्टा करते हुए आज १६ वर्षों से अधिक हो गये !

उन्होंने हृदय को सँभालते हुए पूछा—तुम पाँच साल तक कहाँ रहे बेटा, जो घर नहीं गये ?

शंखधर—पिताजी को खोजने नकला था और जब तक वह न मिलेंगे, लौटकर घर न जाऊँगा।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ, मानों पृथ्वी डगमगा रही है, मानों समस्त ब्रह्माण्ड एक प्रलयकारी भूचाल से आन्दोलित हो रहा है। वह सायवान के एक स्तम्भ के सहारे बैठ गये और एक ऐसे स्वर में बोले, जो आशा और भय के वेगों को दबाने के कारण क्षीण हो गया था। यह प्रश्न न था ; बल्कि एक जानी हुई बात का समर्थन-मात्र था—तुम्हारा

नाम क्या है बेटा ? इस प्रश्न का उत्तर क्या वही होगा, जिसकी संभावना चक्रधर को विकल और पराभूत कर रही थी ? संसार में क्या ऐसा एक ही बालक है, जिसे उसका बाप बचपन में छोड़कर चला गया हो ? क्या ऐसा एक ही किशोर है, जो अपने बाप को खोजने निकला हो ? यदि इस का उत्तर वही हुआ, जिसका उन्हें भय था, तो वह क्या करेंगे ? उनके सामने एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई। वह धड़कते हुए हृदय से उत्तर की ओर कान लगाये थे, जैसे कोई अपराधी अपना कर्मदण्ड सुनने के लिए न्यायाधीश की ओर कान लगाये खड़ा हो।

शंखधर ने जवाब दिया—मेरा नाम तो शंखधरसिंह है।

चक्रधर—और तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?

शंखधर—उन्हें मुंशी चक्रधरसिंह कहते हैं।

चक्रधर—घर कहाँ है ?

शंखधर—जगदीशपुर !

सर्वनाश ! चक्रधर को ऐसा ज्ञात हुआ कि उनकी देह से प्राण निकल गये हैं, मानों उनके चारों ओर शून्य है। 'शंखधर !' बस यही एक शब्द उस प्रशस्त शून्य में किसी पक्षी की भाँति चक्कर लगा रहा था। 'शंखधर !' यही एक स्मृति थी, जो उस प्राण-शून्य दशा में चेतना को संस्कारों में बाँधे हुए थी।

४५

राजा विशालसिंह ने जिस हौसले से अहल्या का गौना किया, वह राजाओं-रईसों में भी बहुत कम देखने में आता है। तहसीलदार साहब के घर में इतनी चीजों के रखने की जगह भी न थी। बरतन, कपड़े, शीशे के सामान, लकड़ी की अलभ्य वस्तुएँ, मेवे, मिठाइयाँ, गायें, भैंसें—इनका हफ्तों तक ताँता लगा रहा। दो हाथी और पाँच घोड़े भी मिले, जिनके बाँधने के लिए घर में जगह न थी। पाँच लौंडियाँ अहल्या के साथ आईं। यद्यपि तहसीलदार साहब ने नया मकान बनवाया था ; पर यह क्या जानते थे कि एक दिन यहाँ रियासत जगदीशपुर की आधी सम्पत्ति आ पहुँचेगी। घर का कोना-कोना सामानों से भरा हुआ था। कई पड़ोसियों के मकान भी अँट उठे। उस पर लाखों रुपये नकद मिले वह अलग। तहसीलदार साहब लाने को तो सब कुछ लाये ; पर अब उन्हें देख-देख रोते और कुढ़ते थे। कोई भोगनेवाला नहीं ! अगर यही सम्पत्ति आज के पच्चीस साल पहले मिली होती, तो उनका जीवन सफल हो जाता। जिन्दगी का कुछ मजा उठा लेते, अब बुढ़ापे में इनको लेकर क्या करें। चीजों को बेचना अपमान की बात थी ; हाँ, यार-दोस्तों को जो कुछ भेंट कर सकते थे, किया। अनाज की कई गाड़ियाँ मिली थीं, वह सब उन्होंने लुटा दीं। कई महीने सदाव्रत-सा चलता रहा। नौकरों को हुक्म दे दिया कि किसी आदमी को कोई चीज मँगनी देने से इंकार मत करो। सहालग के दिनों में रोज ही हाथी, घोड़े, पालकियाँ, फर्श आदि सामान मँगनी जाते। सारे शहर में तहसीलदार साहब की कीर्ति छा गई। बड़े-बड़े रईस उनसे मुलाकात करने आने लगे। नसीब जगे, तो इस तरह

जगे। रोटियाँ भी न मयस्सर होती थीं, आज द्वार पर हाथी झूमता है। सारे शहर में यही चरचा थी।

मगर मुन्शीजी के दिल पर जो कुछ बीत रही थी, वह कौन जान सकता है। दिन में बीसों ही बार चक्रधर पर बिगड़ते—नालायक! आप आप गया, अपने साथ लड़के को भी ले गया। न जाने कहाँ मारा-मारा फिरता होगा, देश का उपकार करने चला है! सच कहा है—घर की रोयें, बन की सोयें। घर के आदमी मरें, परवा नही, दूसरों के लिए जान देने को तैयार। अब बताओ, इन हाथी, घोड़े, मोटरों, और गाड़ियों को लेकर क्या करूँ। अकेले किस-किस पर बैठूँ। बहू है, उसे रोने से फुरसत नहीं। बच्चा की माँ हैं, उनसे अब मारे शोक के उठा ही नही जाता, कौन बैठे। यह सामान तो मेरे जी का जंजाल हो गया। पहले बेचारे शाम-सवेरे कुछ गा-बजा लेते थे, कुछ सरूर भी जमा लिया करते थे, अब इन चीज़ों की देख-भाल ही में भोर हो जाता। क्षण-भर भी आराम से बैठने की मुहलत न मिलती। निर्मला किसी चीज की ओर आँख उठाकर भी न देखती, मुन्शीजी ही को सबकी निगरानी करनी पड़ती थी।

अहल्या यहाँ आकर और भी पछताने लगी। वह रनिवास के विलासमय जीवन से विरक्त होकर यहाँ प्रायश्चित्त करने के इरादे से आई थी; पर वह विपत्ति उसके साथ यहाँ भी आई। वहाँ उसे घर-गृहस्थी से कोई मतलब न था, यहाँ वह विपत्ति भी सिर पड़ी। जिन वस्तुओं से उसे वहाँ जरा भी मोह न था, उन्हीं के खो जाने की ख़बर हो जाने पर उसे दुःख होता था। वह माया को जीतना चाहती थी, माया ने उसी को परास्त कर दिया। सम्पत्ति से गला छुड़ाना चाहती थी; पर सम्पत्ति उससे और भी चिमट गई थी। वहाँ वह कुछ देर शांति से बैठ सकती थी, कुछ देर हँस-बोलकर जी बहला लेती थी। किसी के ताने-मेहने न सुनने पड़ते थे, यहाँ निर्मला बाणों से छेदती और घाव पर नमक छिड़कती रहती थी। बहू के कारण वह अपने पुत्र से वंचित हुई। बहू ही के कारण

पोता भी हाथ से गया। ऐसी बहू को वह पान-फूल से पूज न सकती थी। उसकी सम्पत्ति लेकर वह क्या करे? चाटे? पुत्र और पौत्र के बदले में इस अतुल धन का क्या मूल्य था! भोजन वह अब भी अपने हाथों ही पकाती थी। अहल्या के साथ जो महराजिनें आई थीं, उनका पकाया हुआ भोजन वह ग्रहण न कर सकती थी। अहल्या से भी वह छूत मानती थी। इन दिनों मंगला भी आई हुई थी। उसका जी चाहता था कि यहाँ की सारी चीज़ें समेट ले जाऊँ। अहल्या अपनी चीजों को तीन-तेरह न होने देना चाहती थी। इससे ननद-भावज में कभी-कभी खटपट हो जाती थी।

बरतनों में कई बड़े-बड़े कंडाल भी थे। एक कंडाल इतना बड़ा था कि उसमें ढाई सौ कलसे पानी आ जाता था। मंगला ने एक दिन यह कंडाल अपने घर भेजवा दिया। कई दिन के बाद अहल्या को यह ख़बर मिली, तो उसने जाकर सास से पूछा—अम्माँजी, वह बड़ा कंडाल कहाँ है, दिखाई नहीं देता? निर्मला ने कहा—बाबा, मैं नहीं जानती कैसा कंडाक था। घर में है, तो कहाँ जा सकता है।

अहल्या—जब घर में हो न?

निर्मला—घर में से कहाँ ग़ायब हो जायगा?

अहल्या—घर की चीज़ घर के आदमियों के सिवा और कौन छू सकता है?

निर्मला—तो क्या इस घर में सब चोर ही बसते हैं?

अहल्या—यह तो मैं नहीं कहती; लेकिन चीज का पता तो लगाना चाहिए।

निर्मला—तुम चीजें लादकर ले जाओगी, तुम्हीं पता लगाती फिरो। यहाँ चीजों को लेकर क्या करना है। इन चीज़ों को देखकर मेरी तो आँखें फूटती हैं। इन्हीं के लिए तो तुमने मेरे बच्चे को बनवास दे दिया। इन्हीं के पीछे अपने बेटे से हाथ धो बैठीं। तुम्हें ये चीज़ें प्यारी होंगी, मुझे नहीं प्यारी हैं।

बात कड़वी थी; पर यथार्थ थी। अगर धन-मद ने अहल्या की बुद्धि पर परदा न डाल दिया होता, तो आज उसे क्यों यह दिन देखना पड़ता। दरिद्र रहकर भी सुखी होती। मोह ने उसका सर्वनाश कर दिया। फिर भी वह मोह को गले लगाये हुए है। नैहर में उसकी कोई चीज अपनी न थी, सब कुछ अपना होते हुए भी उसका कुछ न था। जो कुछ अधिकार था, वह पुत्र के नाते। जब पुत्र की कोई आशा न रही, तो अधिकार भी न रहा; पर यहाँ की सब चीजें उसी की थीं। उन पर उसका नाम खुदा हुआ था। अधिकार में स्वयं एक आनंद है, जो उपयोगिता की परवा नहीं करता। उन वस्तुओं को देख-देखकर उसे गर्व होता था।

लेकिन आज निर्मला के कठोर शब्दों ने उसमें ग्लानि और विवेक का संचार कर दिया। उसने निश्चय किया, अब इन चीजों के लिए कभी न बोलूँगी। अगर अम्माँजी को किसी चीज़ का मोह नहीं, तो मैं ही क्यों मरूँ? कोई आग लगा दे, मेरी बला से।

जब घर में कोई किसी चीज़ की चौकसी करनेवाला न रहा, तो चारों ओर लूट मच गई। कुछ मालूम न होता कि घर में कौन लुटेरा आ बैठा है; पर चीज़ें एक-एक करके निकलती जाती थीं। अहल्या देखकर अनदेखी और सुनकर अनसुनी कर जाती थी; पर अपनी चीज़ों को तहस-नहस होते देखकर उसे दुःख होता था। उसका विराग मोह का दूसरा रूप था, वास्तविक रूप से भी भयंकर और दाहक।

इस तरह कई महीने गुज़र गये और अहल्या का आशा-दीपक दिन-दिन मन्द होता गया। वह कितना ही चाहती थी कि मोह-बन्धन से अपने को छुड़ा ले; पर मन पर कोई वश न चलता था। उसके मन में बैठा हुआ कोई नित्य कहा करता था—जब तक मोह में पड़ी रहोगी, पति-पुत्र के दर्शन न होंगे; पर इसका विश्वास कौन दिला सकता था कि मोह टूटते ही उसके मनोरथ पूरे हो जायँगे। तब क्या वह भिखारिणी होकर जीवन

व्यतीत करेगी ? सम्पत्ति के हाथ से निकल जाने पर फिर उसके लिए कौन आश्रय रह जायगा ? क्या वह फिर पिता के घर जा सकती थी ? कदापि नहीं। पिता ने इतनी धूम-धाम से उसे विदा किया, इसका अर्थ ही यह था कि अब तुम इस घर से सदा के लिए जा रही हो।

अहल्या बार-बार व्रत करती कि अब अपने सारे काम अपने हाथ से करूँगी, अब सदा एक ही जून भोजन किया करूँगी, मोटे-से-मोटा अन्न खाकर जीवन व्यतीत करूँगी; लेकिन उसमें किसी व्रत पर स्थिर रहने की शक्ति न रह गई थी। जब उसके स्नान कर चुकने पर लौंडी उसकी साड़ी छाँटने चलती, तो वह उसे मना न कर सकती। जो काम आज १६ वर्षों से करती आ रही थी, उसके विरुद्ध आचरण करना उसे अब अस्वाभाविक जान पड़ता था। मोटा अनाज खाने का निश्चय रहते हुए भी वह स्वादिष्ट भोजन को सामने से हटा न सकती थी। विला-सिता ने उसकी क्रियाशक्ति को निर्बल कर दिया था।

यहाँ रहकर वह अपने उद्धार के लिए कुछ न कर सकेगी, यह बात शनैः शनैः अनुभव से सिद्ध हो गई।

लेकिन अब कहाँ जाय ? जब तक मन की वृत्ति न बदल जाय, तीर्थ-यात्रा उसे पाखंड-सा जान पड़ती थी। किसी दूसरी जगह अकेले रहने के लिए कोई बहाना न था; पर यह निश्चय था कि अब वह यहाँ न रहेगी। यहाँ तो वह बन्धनों में और भी जकड़ गई थी।

अब उसे वागीश्वरी की याद आई। सुख के दिन वही थे, जो उसके साथ कटे। असली मैका न होने पर भी जीवन का जो कुछ सुख वहाँ मिला, वह फिर न नसीब हुआ। अब उसे याद आता था कि मैं वहाँ से दुःख झेलने ही के लिए आई थी। वह स्नेह-सुख स्वप्न हो गया। सास मिली वह इस तरह की, ननद मिली वह इस ढंग की, माँ थी ही नहीं, केवल बाप को पाया; मगर उसके बदले में क्या-क्या देना पड़ा। जिस दिन मालूम हुआ था कि वह राजा की बेटी है, वह फूली न समाई

थी, उसके पाँव जमीन पर न पड़ते थे; पर आह! क्या मालूम था कि उस क्षणिक आनन्द के लिए उसे सारी उम्र रोना पड़ेगा!

अब अहल्या को रात-दिन यही धुन रहने लगी कि किस तरह वागीश्वरी के पास चलूँ, मानों वहाँ उसके सारे दुःख दूर हो जायँगे। इधर कई महीनों से वागीश्वरी का पत्र न आया था; पर मालूम हुआ था कि वह आगरे ही में हैं। अहल्या ने कई बार बुलाया था; पर वागीश्वरी ने लिखा था, मैं बड़े आराम से हूँ, मुझे अब यहीं पड़ी रहने दो। अब अहल्या का मन वागीश्वरी के पास जाने के लिए अधीर हो उठा। वागीश्वरी भी उसी की भाँति दुखिनी है। सारी आशाओं, सारी माया-मोह से मुक्त हो चुकी है। वही उसके साथ सच्ची सहानुभूति कर सकती है, वही अपने मातृ-स्नेह से उसका क्लेश हर सकती है।

आख़िर एक दिन अहल्या ने सास से यह चरचा कर ही दी। निर्मला ने कुछ भी आपत्ति नहीं की। शायद वह खुश हुई कि किसी तरह यह यहाँ से टले। मंगला तो उसके जाने का प्रस्ताव सुनकर हर्षित हो उठी। जब वह चली जायगी, तो घर में मंगला का राज हो जायगा। जो चीज़ चाहेगी उठा ले जायगी, कोई हाथ पकड़नेवाला, टोकनेवाला न रहेगा। दो महीने भी अहल्या वहाँ रह गई, तो मंगला अपना घर भर लेगी। ज्यादा नहीं तो आधी सम्पदा तो अपने घर पहुँचा देगी!

अहल्या जब यात्रा की तैयारियाँ करने लगी, तो मंगला ने कहा—भाभी, तुम चली जाओगी, तो यहाँ बिलकुल अच्छा न लगेगा। वहाँ कब तक रहोगी?

अहल्या—अभी क्या कहूँ बहन, यह तो वहाँ जानेपर मालूम होगा।

मंगला—इतने दिनों के बाद जा रही हो, दो-तीन महीने तो रहना ही पड़ेगा। तुम चली जा रही हो, तो मैं भी चली जाऊँगी। अब तो रानी साहब से भी भेंट नहीं होती, अकेले कैसे रहा जायगा। तुम्हीं दोन

जनों से मिलने तो आई थी। रानी साहब ने तो भुला ही दिया, तुम भी छोड़े चली जाती हो।

यह कहकर मंगला रोने लगी।

दूसरे दिन अहल्या वहाँ से चली। अपने साथ कोई साज़-सामान न लिया। साथ की लौंडियाँ चलने को तैयार थीं; पर उसने किसी को साथ न लिया। केवल एक बुड्ढे कहार को पहुँचाने के लिए ले लिया। और उसे भी आगरे पहुँचने के दूसरे ही दिन बिदा कर दिया।

आज २० साल के बाद अहल्या ने इस घर में फिर प्रवेश किया; पर आह! इस घर की दशा ही कुछ और थी। सारा घर गिर पड़ा था। न आँगन का पता था, न बैठक का। चारों ओर मलबे का ढेर जमा हो रहा था। उस पर मदार और धतूर के पौधे उगे हुए थे। एक छोटी-सी कोठरी बच रही थी। वागीश्वरी उसी में रहती थी। उसकी सूरत भी उस घर के समान ही बदल गई थी। न मुँह में दाँत, न आँखों में ज्योति, सिर के बाल सन हो गये थे, कमर झुककर कमान हो गई थी। दोनों गले मिल-कर खूब रोईं। जब आँसुओं का वेग कुछ कम हुआ, तो वागीश्वरी ने कहा—बेटी, तुम अपने साथ कुछ सामान नहीं लाईं—क्या दूसरी ही गाड़ी से लौट जाने का विचार है? इतने दिनों के बाद आई भी, तो इस तरह! बुढ़िया को बिलकुल भूल ही गईं। खँडहर में तुम्हारा जी क्यों लगेगा?

अहल्या—अम्माँ, महल में रहते-रहते जी ऊब गया, अब कुछ दिन इस खंडहर में ही रहूँगी और तुम्हारी सेवा करूँगी। जब से तुम्हारे घर से गई, तब से एक दिन भी सुख नहीं पाया। तुम समझती होगी कि मैं वहाँ बड़े आनन्द से रहती हूँगी; लेकिन अम्माँ, मैंने वहाँ दुःख-ही-दुःख पाया, आनन्द के दिन तो इसी घर में बीते थे।

वागीश्वरी—लड़के का अभी कुछ पता न चला?

अहल्या—किसी का पता नहीं चला अम्माँ। मैं राज्य-सुख पर लट्टू

हो गई थी। उसी का दंड भोग रही हूँ। राज्य सुख भोगकर तो जो कुछ मिलता है, वह देख चुकी। अब उसे छोड़कर देखूँगी क्या जाता है ; मगर तुम्हें तो बड़ा कष्ट हो रहा है अम्माँ ?

वागीश्वरी—कैसा कष्ट बेटी ! जब तक स्वामी जीता रहा, उसकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उसकी सेवा ही में था। अब वह नहीं है, तो उसके मर्याद की सेवा कर रही हूँ। आज भी उनके कितने ही भक्त मेरी मदद करने को तैयार हैं ; लेकिन क्यों किसी की मदद लूँ। तुम्हारे दादाजी सदैव दूसरों की सेवा करते रहे। इसी में अपनी उम्र काट दी। तो फिर मैं किस मुँह से सहायता के लिए हाथ फैलाऊँ।

यह कहते-कहते वृद्धा का मुख-मंडल गर्व से चमक उठा। उसकी आँखों में एक विचित्र स्फूर्ति झलकने लगी ! अहल्या का सिर लज्जा से झुक गया। माता, तुझे धन्य है। तू वास्तव में सती है, तू अपने ऊपर जितना गर्व करे, वह थोड़ा है।

वागीश्वरी ने फिर कहा—ख्वाजा महमूद ने बहुत चाहा कि मैं कुछ महीना ले लिया करूँ। मेरे मैके वाले कई बार मुझे बुलाने आये। यह भी कहा कि महीने में कुछ ले लिया करो। भैया बड़े भारी वकील हैं ; लेकिन मैंने किसी का एहसान नहीं लिया। पति की कमाई को छोड़कर और किसी की कमाई पर स्त्री का अधिकार नहीं होता। चाहे कोई मुँह से न कहे ; पर मन में जरूर समझेगा कि मैं इन पर एहसान कर रहा हूँ। जब तक आँखें थीं, सिलाई करती रही। जब से आँखें गईं, दलाई करती हूँ। कभी-कभी उन पर जी झुँझलाता है। जो कुछ कमाया उड़ा दिया। तुम तो देखती ही थीं। ऐसा कौन-सा दिन जाता था कि द्वार पर चार मेहमान न आ जाते हों ; लेकिन फिर दिल को समझाती हूँ कि उन्होंने किसी बुरे काम में तो धन नहीं उड़ाया ? जो कुछ किया, दूसरों के उपकार ही के लिए किया। यहाँ तक कि अपने प्राण भी दे दिये। फिर मैं क्यों पछताऊँ और

क्यों रोऊँ। यश सेंत में थोड़े ही मिलता है; मगर मैं तो अपनी बातों में लग गई। चलो, हाथ-मुँह धो डालो, कुछ खा-पी लो, तो फिर बातें करूँ।

लेकिन अहल्या हाथ-मुँह धोने न उठी। वागीश्वरी की आदर्श पति-भक्ति देखकर उसकी आत्मा उसका तिरस्कार कर रही थी। अभागिनी! इसे पति-भक्ति कहते हैं! सारे कष्ट झेलकर स्वामी के मर्याद का पालन कर रही है। नैहर वाले बुलाते हैं और नहीं जाती, हालाँकि इस दशा में मैके चली जाती, तो कोई बुरा न कहता। सारे कष्ट झेलती है, और खुशी से झेलती है। एक तू है कि मैके की सम्पत्ति देखकर फूल उठी, अंधी हो गई। राजकुमारी और पीछे चलकर राजमाता बनने की धुन में तुझे पति की परवा ही न रही, तूने सम्पत्ति के सामने पति को कुछ न समझा, उसकी अवहेलना की। वह तुझे अपने साथ ले जाना चाहते थे, तू न गई, राज्य-सुख तुझसे न छोड़ा गया! रो, अपने कर्मों को।

वागीश्वरी ने फिर कहा—अभी तक तू बैठी ही है, हाँ लौंडी पानी नहीं लाई न, कैसे उठेगी। ले, मैं पानी लाये देती हूँ, हाथ-मुँह धो डाल। तब तक मैं तेरे लिए गरम रोटियाँ सेंकती हूँ। देखूँ तुझे अब भी भाती हैं कि नहीं। तू मेरी रोटियों का बहुत बखान करके खाती थी।

अहल्या ये स्नेह में सने शब्द सुनकर पुलकित हो उठी। इस 'तू' में जो सुख था, वह 'आप' और 'सरकार' में कहाँ। बचपन के दिन आँखों में फिर गये। एक क्षण के लिए उसे अपने सारे दुःख विस्मृत हो गये। बोली—अभी तो भूख-प्यास नहीं है अम्माँजी, बैठिए कुछ बातें कीजिए। मैं आपसे अपने दुःख की कथा कहने के लिए व्याकुल हो रही हूँ। बताइए, मेरा उद्धार कैसे होगा?

वागीश्वरी ने गंभीर भाव से कहा—पति-प्रेम से वंचित होकर स्त्री के उद्धार का कौन उपाय है बेटी! पति ही स्त्री का सर्वस्व है। जिसने अपना सर्वस्व खो दिया, उसे सुख कैसे मिलेगा। जिसको लेकर तूने पति का त्याग किया, उसको त्याग कर ही पति को पावेगी। तू इतनी कर्तव्य-

भ्रष्ट कैसे हो गई, यह मेरी समझ में नहीं आया। यहाँ तो तू धन पर इतनी जान न देती थी। ईश्वर ने तेरी परीक्षा की और तू उसमें चूक गई। जब तक धन और राज्य का मोह न छोड़ेगी, तुझे उस त्यागी पुरुष के दर्शन न होंगे।

अहल्या—अम्माँजी, सत्य कहती हूँ, मैं केवल शंखधर के हित का विचार करके उनके साथ न गई।

वागीश्वरी—उस विचार में क्या तेरी भोग-लालसा न छिपी थी? खूब ध्यान करके सोच। तू इससे इंकार नहीं कर सकती!

अहल्या ने लज्जित होकर कहा—हो सकता है अम्माँजी, मैं इंकार नहीं कर सकती।

वागीश्वरी—सम्पत्ति यहाँ भी तेरा पीछा करेगी, देख लेना।

अहल्या—अब तो उससे जी भर गया अम्माँजी!

वागीश्वरी—अभी तो वह फिर तेरा पीछा करेगी। जो उससे भागता है, उसके पीछे वह दौड़ती है। मुझे शंका होती है कि कहीं तू फिर लोभ में न पड़ जाय। एक बार चूकी, तो १४ वर्ष रोना पड़ा, अब की चूकी, तो बाक़ी उम्र रोते गुज़र जायगी।

४६

शंखधर को अपने पिता के पास रहते एक महीना हो गया। न वह जाने का नाम लेता है, न चक्रधर जाने को कहते हैं। शंखधर इतना प्रसन्न-चित्त रहता है, मानों अब उसके लिए संसार में कोई दुःख, कोई बाधा नहीं हैं। इतने ही दिनों में उसका रंग-रूप कुछ और हो गया है। मुख पर यौवन का तेज झलकने लगा है और जीर्ण शरीर भर आया है। मालूम होता है, कोई अखंड ब्रह्मचर्यधारी ऋषिकुमार है।

चक्रधर को अब अपने हाथों कोई काम नहीं करना पड़ता। वह जब एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं, तो उनका सामान शंखधर उठा लेता है; उन्हें अपना भोजन तैयार मिलता है, बरतन मँजे हुए साफ़-सुथरे। शंखधर कभी उन्हें अपनी धोती भी नहीं छाँटने देता। दोनों प्राणियों के जीवन का वह समय सबसे आनन्दमय होता है, जब एक प्रश्न करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। शंखधर को बाबाजी की बातों से अगर तृप्ति नहीं होती, तो अल्प-भाषी बाबाजी को भी बातें करने से तृप्ति नहीं होती। वह अपने जीवन के सारे अनुभव, दर्शन, विज्ञान, धर्म, इतिहास की सारी बातें घोलकर पिला देना चाहते हैं। उन्हें इसकी परवा नहीं होती कि शंखधर उन बातों को ग्रहण भी कर रहा है या नहीं, शिक्षा देने में वह इतने तल्लीन हो जाते हैं। जड़ी-बूटियों का जितना ज्ञान उन्होंने बड़े-बड़े महात्माओं से बरसों में प्राप्त किया था, वह सब शंखधर को सिखा दिया। वह उसे कोई नई बात बताने का अवसर खोजा करते हैं, उसकी एक-एक बात पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि पड़ती रहती है। दूसरों से उसकी सज्जनता और सहनशीलता का बखान सुनकर उन्हें कितना गर्व होता

है ! वह मारे आनंद के गद्गद हो जाते हैं, उनकी आँखें सजल हो जाती हैं। सब जगह यह बात खुल गई है कि यह युवक उनका पुत्र है। दोनों की सूरत इतनी मिलती है कि चक्रधर के इन्कार करने पर भी किसी को विश्वास नहीं आता। जो बात सब जानते हैं उसे वे स्वयं नहीं जानते, और न जानना चाहते हैं

एक दिन वह एक गाँव में पहुँचे, तो वहाँ दंगल हो रहा था। शंखधर भी अखाड़े के पास जाकर खड़ा हो गया। एक पट्ठे ने शंखधर को ललकारा। वह शंखधर का ड्योढ़ा था ; पर शंखधर ने कुश्ती मंजूर कर ली। चक्रधर बहुत कहते रहे, यह लड़का लड़ना क्या जाने, कभी लड़ा हो तो जाने, भला यह क्या लड़ेगा ; लेकिन शंखधर लँगोट कस कर अखाड़े में उतर ही तो पड़ा। उस समय चक्रधर को सूरत देखने योग्य थी। चेहरे पर एक रंग जाता था, एक रंग आता था। अपनी व्यग्रता को छिपाने के लिए अखाड़े से दूर जा बैठे थे, मानों वह इस बात से बिलकुल उदासीन हैं। भला लड़कों के खेल से बाबाजी का सम्बन्ध ? लेकिन किसी-न-किसी बहाने अखाड़े की ओर आ ही जाते थे। जब उस पट्ठे ने पहली ही पकड़ में शंखधर को धर दबाया, तो बाबाजी आवेश में आकर स्वयं झुक गये, शंखधर ज़ोर मारकर नीचे से निकल आया, तो बाबाजी भी सीधे हो गये और जब शंखधर ने कुश्ती मार ली, तब तो चक्रधर उछल पड़े और दौड़कर शंखकर को गले लगा लिया। मारे गर्व के उनकी आँखें उन्मत्त-सी हो गईं। उस दिन अपने नियम के विरुद्ध उन्होंने रात को बड़ी देर तक गाना सुना।

शंखधर को कभी-कभी प्रबल इच्छा होती कि पिताजी के चरणों पर गिर पड़ूँ और साफ-साफ कह दूँ। वह मन में कल्पना किया करता कि अगर ऐसा करूँ, तो वह क्या कहेंगे ? कदाचित् उसी दिन मुझे सोता छोड़कर किसी ओर की राह लेंगे। इस भय से बात उसके मुँह तक आके रुक जाती थी ; मगर उसी के मन में यह इच्छा नहीं थी। चक्रधर

भी कभी-कभी पुत्र-प्रेम से विकल हो जाते और चाहते कि उसे गले लगा-कर कहूँ—बेटा, तुम मेरी ही आँखों के तारे हो, तुम मेरे ही जिगर के टुकड़े हो, तुम्हारी याद दिल से कभी न उतरती थी, सब कुछ भूल गया; पर तुम न भूले। वह शंखधर के मुख से उसकी माता की विरह-व्यथा, दादी के शोक और दादा के क्रोध की कथाएँ सुनते कभी न थकते थे। रानीजी उससे कितना प्रेम करती थीं, यह चरचा सुनकर चक्रधर बहुत दुखी हो जाते थे। जिन बाबाजी को रूखे-सूखे भोजन से तुष्टि होती थी, यहाँ तक कि भक्तों के बहुत आग्रह करने पर भी खोए और मक्खन को हाथ से न छूते थे, वही बाबाजी अब इन पदार्थों को पाकर प्रसन्न हो जाते थे। वह स्वयं अब भी वही रूखा-सूखा भोजन ही करते थे; पर शंखधर को खिलाने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह क्या कभी आप खाने में मिल सकता था!

इस तरह एक महीना गुजर गया और अब शंखधर को यह फिक्र हुई कि इन्हें किस बहाने से घर ले चलूँ। अहा, कैसे आनन्द का समय होगा, जब मैं इनके साथ घर पहुँचूँगा!

लेकिन बहुत सोचने पर भी उसे कोई ऐसा बहाना न मिला। तब उसने निश्चय किया कि माताजी को पत्र लिखकर यहीं क्यों न बुला लूँ। माताजी पत्र पाते ही सिर के बल दौड़ी आवेंगी। सभी आयेंगे। तब देखूँ यह किस तरह निकलते हैं। वह पछताया कि मैंने व्यर्थ ही इतनी देर लगाई। अब तक तो अम्माँजी यहाँ पहुँच गई होतीं। उसी रात को उसने अपनी माता के नाम पत्र डाल दिया। वहाँ का पता-ठिकाना, रेल का स्टेशन सभी बातें स्पष्ट करके लिख दीं। अन्त में यह लिखा—आप आने में विलम्ब करेंगी, तो पछतायेंगी। यह आशा छोड़ दीजिए कि मैं जगदीशपुर-राज्य का स्वामी बनूँगा। पिताजी के चरणों की सेवा छोड़ कर मैं राज्य-सुख नहीं भोग सकता। यह निश्चय है। इन्हें यहाँ से ले जाना असम्भव है। इन्हें यदि मालूम हो जाय कि मैं इन्हें पह-

चानता हूँ, तो आज ही अंतर्द्धान हो जायँ। मैंने इनको अपना परिचय दे दिया है, आप लोगों की बातें भी सुनाया करता हूँ; पर मुझे इनके मुख पर ज़रा भी आवेश का चिह्न नहीं दिखाई देता, भावों पर इन्होंने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया है। आप जल्द-से-जल्द आवें।

वह सारी रात इस कल्पना में मग्न रहा कि अम्माँजी आ जायँगी, तो पिताजी को झुककर प्रणाम करूँगा और पूछूँगा—अब भागकर कहाँ जाइ-एगा। फिर हम दोनों इनका गला न छोड़ेंगे।

मगर मन की सोची हुई बात कभी पूरी हुई है?

४७

एक महीना पूरा गुजर गया और न अहल्या ही आई, न कोई दूसरा ही। शंखधर दिन-भर उसकी बाट जोहता रहता। रेल का स्टेशन वहाँ से पाँच मील पर था। रास्ता भी साफ था। फिर भी कोई नहीं आया। चक्रधर जब कहीं चले जाते, तो वह चुपके से स्टेशन की राह लेता और निराश लौट आता। आखिर एक महीना के बाद तीसरे दिन उसे एक पत्र मिला; जिसे पढ़कर उसके शोक की सीमा न रही। अहल्या ने लिखा था—मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुमने इतनी कठिन तपस्या करके जिस देवता के दर्शन पाये, उसके दर्शन करने की परम अभिलाषा होने पर भी मैं हिल नहीं सकती। एक महीने से बीमार हूँ, जीने की आशा नहीं। अगर तुम आ जाओ, तो तुम्हें देख लूँ, नहीं यह अभिलाषा भी साथ जायगी! मैं कई महीने हुए आगरे में पड़ी हुई हूँ। जी घबराया करता है। अगर किसी तरह स्वामीजी को ला सको, तो अन्त समय उनके चरणों के दर्शन भी कर लूँ। मैं जानती हूँ, वह न आयेंगे। व्यर्थ ही उनसे आग्रह न करना; मगर तुम आने में एक क्षण का भी विलम्ब न करना।

शंखधर डाकखाने के सामने खड़ा देर तक रोता रहा। माताजी बीमार हैं। पुत्र और स्वामी के वियोग से ही उनकी यह दशा हुई है। क्या वह माता को इस दशा में छोड़कर एक क्षण भी यहाँ विलम्ब कर सकता है? उसने पाँच साल तक अपना कोई समाचार न लिखकर माता के साथ जो अन्याय किया था, उसकी व्यथा से वह अधीर हो उठा।

उसका मुख उतरा हुआ देखकर चक्रधर ने पूछा—क्यों बेटा, आज उदास मालूम होते हो?

शंखधर—माताजी का पत्र आया है, वह बहुत बीमार हैं। मैं पिताजी को खोजने निकला था। वह तो न मिले, माताजी भी चली जा रही हैं। पिताजी इस समय मिल जाते, तो मैं उनसे अवश्य कहता......

चक्रधर—क्या कहते, कहो न ?

शंखधर—कह देता कि...कि...आप ही माताजी के प्राण ले रहे हैं। आपका विराग और तप किस काम का, जब अपने घर के प्राणी की रक्षा नहीं कर सकते। आपके पास बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर आया था ; पर आपने भी अनाथ पर दया न की। आपको परमात्मा ने योग-बल दिया है, आप चाहते, तो पिताजी की टोह लगा लेते।

चक्रधर ने गंभीर स्वर में कहा—बेटा, मैं योगी नहीं हूँ ; पर तुम्हारे पिताजी की टोह लगा चुका हूँ, उनसे मिल भी चुका हूँ। तुम नहीं जानते ; पर वह गुप्त रीति से तुम्हें देख भी चुके हैं। आह ! उन्हें तुमसे जितना प्रेम है, उसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते। तुम्हारी माता को वह नित्य याद किया करते हैं ; लेकिन उन्होंने अपने जीवन का जो मार्ग निश्चित कर लिया है, उसे छोड़ नहीं सकते। और न स्वयं किसी के साथ जबरदस्ती कर सकते हैं। तुम्हारी माताजी अपनी ही इच्छा से वहाँ रह गई थीं। वह तो उन्हें अपने साथ लाने को तैयार थे।

शंखधर—आजकल तो माताजी आगरे में हैं। वागीश्वरी देवी से मिलने आई थीं, वहीं बीमार पड़ गईं ; लेकिन आपने पिताजी से भेंट की और मुझसे इस विषय में कुछ न कहा। इससे तो यह प्रकट होता है कि आपको भी मुझ पर दया नहीं आती।

चक्रधर ने कुछ जवाब न दिया। ज़मीन की ओर ताकते रहे। वह अत्यन्त कठिन परीक्षा में पड़े हुए थे। बहुत दिनों के बाद, अनायास ही उन्हें पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। वे सारी भावनाएँ, सारी अभिलाषाएँ, जिन्हें वह दिल से निकाल चुके थे, जाग उठी थीं और इस समय वियोग के भय से आर्तनाद कर रही थीं। वह मोह-

बन्धन, जिसे उन्होंने बड़ी मुश्किलों से ढीला कर पाया था, अब उन्हें शतगुण वेग से अपनी ओर खींच रहा था। मानों उसका हाथ उनके अस्थि-पंजर को चीरता हुआ उनके अन्तस्तल तक पहुँच गया है।

सहसा शंखधर ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—तो मैं निराश हो जाऊँ?

चक्रधर ने हृदय से निकलते हुए उच्छ्वास को दबाते हुए कहा—नहीं बेटा, सम्भव है कभी वह स्वयं पुत्र-प्रेम से विकल होकर तुम्हारे पास दौड़े जायँ। इसका निश्चय तुम्हारे आचरण करेंगे। अगर तुम अपने जीवन में ऊँचे आदर्श का पालन कर सके, तो तुम उन्हें अवश्य खींच लोगे। यदि तुम्हारे आचरण भ्रष्ट हो गये, तो कदाचित् इस शोक में वह अपने प्राण त्याग दें।

शंखधर—आपके दर्शन मुझे फिर कब होंगे? आपका पता कैसे मिलेगा। यद्यपि मुझे पिताजी के दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; लेकिन पिता के पुत्र-प्रेम की मेरे मन में जो कल्पना थी, जिसकी तृष्णा मुझे पाँच साल तक वन-वन घुमाती रही, वह आपकी दया से पूरी हो गई। मैंने आपको पिता-तुल्य ही समझा है और जीवन-पर्यन्त समझता रहूँगा। यह स्नेह, यह वात्सल्य, यह अपार करुणा मुझे कभी न भूलेगी। इन चरण-कमलों की भक्ति मेरे मन में सदैव बनी रहेगी। आपके दर्शनों के लिए मेरी आत्मा सदैव विकल रहेगी और माताजी के स्वस्थ होते ही मैं फिर आपकी सेवा में आ जाऊँगा।

चक्रधर ने आर्द्र कंठ से कहा—नहीं बेटा, तुम यह कष्ट न करना। मैं स्वयं कभी-कभी तुम्हारे पास आया करूँगा। मैंने भी तुमको पुत्र-तुल्य ही समझा है और सदैव समझता रहूँगा। मेरा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ रहेगा।

सन्ध्या-समय शंखधर अपने पिता से विदा होकर चला। चक्रधर को ऐसा मालूम हो रहा था, मानों उनका हृदय वक्षस्थल को तोड़कर शंख-धर के साथ चला जा रहा है। जब वह आँखों से ओझल हो गया, तो

उन्होंने एक लंबी साँस ली और बालकों की भाँति बिलख-बिलख रोने लगे। ऐसा मालूम हुआ, मानों चारों ओर शून्य है। चला गया! वह तेजस्वी कुमार चला गया, जिसको देखकर छाती गज़-भर की हो जाती थी, और जिसके जाने से अब जीवन निरर्थक, व्यर्थ जान पड़ता था।

उन्हें ऐसी भावना हुई कि फिर उस प्रतिभा-सम्पन्न युवक के दर्शन न होंगे!

१८

अहल्या के आने की ख़बर पाकर मुहल्ले की सैकड़ों औरतें टूट पड़ीं। शहर के कई बड़े घरों की स्त्रियाँ भी आ पहुँचीं। शाम तक ताँता लगा रहा। कुछ लोग डेपुटेशन बनाकर संस्थाओं के लिए चंदे माँगने आ पहुँचे। अहल्या को इन लोगों से जान बचानी मुश्किल हो गई। किस-किससे अपनी विपत्ति कहे? अपनी ग़रज़ के बावले अपनी कहने में मस्त रहते हैं, वह किसी की सुनते ही कब हैं। इस वक्त अहल्या को फटे हालों यहाँ आने पर बड़ी लज्जा आई। वह जानती कि यहाँ यह हरबोंग मच जायगा, तो साथ दस-बीस हज़ार के नोट लेती आती। उसे अब इस टूटे-फूटे मकान में ठहरते भी लज्जा आती थी। जब से देश ने जाना कि वह राजकुमारी है, तब से वह कहीं बाहर न गई थी। कभी काशी रहना हुआ, कभी जगदीशपुर। दूसरे शहर में आने का उसे यह पहला ही अवसर था। अब उसे मालूम हुआ कि धन केवल भोग की वस्तु नहीं है, उससे यश और कीर्ति भी मिलती है। भोग से तो उसे घृणा हो गई थी; लेकिन यश का स्वाद उसे पहली ही बार मिला। शाम तक उसने १५-२० हजार के चंदे लिख दिये और मुंशी वज्रधर को रुपये भेजने के लिए पत्र भी लिख दिया। ख़त पहुँचने की देर थी। रुपये आ गये। फिर तो उसके द्वार पर भिक्षुकों का जमघट रहने लगा। लँगड़ों-अंधों से लेकर जोड़ी और मोटर पर बैठनेवाले भिक्षुक भिक्षा-दान माँगने आने लगे। कहीं से किसी अनाथालय के निरीक्षण करने का निमंत्रण आता, कहीं से टी-पार्टी में सम्मिलत होने का। कुमारी-सभा, बालिका-विद्यालय, महिला-क्लब आदि संस्थाओं ने उसे मान-पत्र दिये, और उनको उसने ऐसे सुन्दर उत्तर दिये

कि उसकी योग्यता और विचारशीलता का सिक्का बैठ गया। 'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास।' वाली कहावत हुई। तपस्या करने आई थी, यहाँ सभ्य-समाज की क्रीड़ाओं में मग्न हो गई। अपने अभीष्ट का ध्यान ही न रहा।

ख्वाजा महमूद को भी ख़बर मिली। बेचारे आँखों से माजूर थे। मुश्किल से चल-फिर सकते थे। उन्हें आशा थी कि रानीजी मुझे ज़रूर सरफ़राज़ फ़रमायेंगी; लेकिन जब एक हफ़्ता गुज़र गया और अहल्या ने उन्हें सरफ़राज़ न किया, तो एक दिन तामजान पर बैठकर स्वयं आये और लाठी टेकते हुए द्वार पर खड़े हो गये। उनकी ख़बर पाते ही अहल्या निकल आई और बड़ी नम्रता से बोली—ख्वाजा साहब, मिज़ाज तो अच्छे हैं? मैं तो खुद ही हाज़िर होने वाली थी, आपने नाहक़ तकलीफ़ की।

ख्वाजा—खुदा का शुक्र है। ज़िन्दा हूँ। हुजूर तो खैरियत से रहीं?

अहल्या—आपकी दुआ है; मगर आप मुझसे यों क्यों बातें कर रहे हैं, गोया मैं कुछ और हो गई हूँ। मैं आपकी पाली हुई वही लड़की हूँ, जो आज से १५ साल पहले थी, और आपको उसी निगाह से देखती हूँ।

ख्वाजा साहब अहल्या की नम्रता और शील पर मुग्ध हो गये। वल्लाह! क्या इंकसार है, कितनी ख़ाकसारी है, इसी को शराफ़त कहते हैं कि इंसान अपने को भूल न जाय। बोले—बेटी, तुम्हें खुदा ने यह दरजा अता किया; मगर तुम्हारा मिज़ाज वही है, वरना किसे अपने दिन याद रहते हैं। सरवत पाते ही लोगों की निगाहें बदल जाती हैं, किसी को पहचानते तक नहीं, ज़मीन पर पाँव नहीं रखते। क़सम खुदा की, मैंने जिस वक्त तुम्हें नाली में रोते पाया, उसी वक्त समझ गया था कि यह किसी बड़े घर का चिराग है। मैं यशोदानन्दन मरहूम से भी बराबर यह बात कहता रहा। इतनी हिम्मत, इतनी दिलेरी, अपनी असमत के लिए जान पर खेल जाने का यह जोश, राजकुमारियों ही में हो सकता है। खुदा आपको हमेशा खुश रक्खे। आपको देखकर आखें मसरूर हो गईं। आपकी अम्माँजान तो

अच्छी तरह हैं ? क्या करूँ, पड़ोस में रहता हूँ ; मगर बरसों आने की नौबत नहीं आती। उनकी-सी पाकीज़ा-सिफ़त खातून दुनिया में कम होगी।

अहल्या—आप उन्हें समझाते नहीं, क्यों इतने कष्ट झेलती हैं ?

ख्वाजा—अरे बेटा, एक बार नहीं, हज़ार बार समझा चुका ; मगर जब वह खुदा की बंदी माने भी। कितना कहा कि मेरे पास जो कुछ है, वह तुम्हारा है ! यशोदानन्दन मरहूम से मेरा बिरादराना रिश्ता था। सच पूछो, तो मैं उन्हीं का बनाया हुआ हूँ। मेरी जायदाद में तुम्हारा भी हिस्सा है ; लेकिन मेरी बातों का मुतलक़ लिहाज़ न किया। यह तव-कुल खुदा की देन है। आपको तो इस मकान में तकलीफ़ होती होगी। मेरा बँगला खाली है ; अगर कोई हरज न समझो, तो उसी में क़याम करो।

वास्तव में अहल्या को उस घर में बड़ी तकलीफ होती थी। रातों को नींद ही न आती। आदमी अपनी आदतों को एकाएक नहीं बदल सकता। १५ साल से वह उस महल में रहने की आदी हो रही थी, जिसका सानी बनारस में न था। इस तंग, गंदे, टूटे-फूटे, अँधेरे मकान में, जहाँ रात-भर मच्छरों की शहनाई बजती रहती थी, उसे कब आराम मिल सकता। उसे चारों तरफ़ से बदबू आती हुई मालूम होती थी। साँस लेना मुश्किल था ; पर ख्वाजा साहब के निमंत्रण को वह स्वीकार न कर सकी, वागीश्वरी से अलग वह यहाँ न रह सकती थी। बोली—नहीं ख्वाजा साहब, यहाँ मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। आदमी को अपने दिन न भूलने चाहिए। इसी घर में १६ साल रही हूँ। जिन्दगी में जो कुछ सुख देखा, इसी घर में देखा। पुराने साथी का साथ कैसे छोड़ दूँ !

ख्वाजा—बाबू चक्रधर का अब तक कुछ पता न चला ?

अहल्या—इस लिहाज़ से तो मैं बड़ी बदनसीब हूँ ख्वाजा साहब। उनको गये १५ साल गुज़र गये। पाँच साल से लड़का भी गायब है। उन्हीं की तलाश में निकला हुआ है। लोग समझते होंगे कि इसकी-सी

सुखी औरत दुनिया में न होगी। और मैं अपनी किसमत को रोती हूँ। इरादा था कि चलकर कुछ दिनों अम्माँजी के साथ अकेली पड़ी रहूँगी; पर अमीरी की बला यहाँ भी सिर से न टली। कहिए, अब यहाँ तो आपस में दंगा-फ़िसाद नहीं होता?

ख्वाजा—जी नहीं, अभी तक तो खुदा का फ़ज़्ल है; लेकिन यह देखता हूँ कि आपस में वह पहले की-सी मुहब्बत नहीं है। दोनों क़ौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज़्ज़त और सरवत दोनों के लड़ते रहने पर ही क़ायम है। बस वह एक-न-एक शिगोफ़ा छोड़ा करते हैं। मेरा तो यह क़ौल है कि हिन्दू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो। सारी खूबियाँ किसी एक ही क़ौम के हिस्से में नहीं आईं। न मुसलमान सब देव हैं, न हिन्दू सब देवता; इसी तरह न सभी हिन्दू काफ़िर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी क़ौम से जितनी ही नफ़रत करता है, समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है। मुझे आप से कमाल हमदर्दी है; मगर चलने-फिरने से माजूर हूँ; वरना बाबू साहब जहाँ होते, वहाँ से खींच लाता।

ख्वाजा साहब जाने लगे, तो अहल्या ने इसलामी यतीमख़ाने के लिए पाँच हज़ार रुपये दान दिये। इस दान से मुसलमानों के दिलों पर भी उसका सिक्का बैठ गया। चक्रधर की याद फिर ताज़ा हो गई। मुसलमान महिलाओं ने भी उसकी दावत की।

अहल्या को अब रोज़ ही किसी-न-किसी जलसे में जाना पड़ता, और वह बड़े शौक़ से जाती। दो ही सप्ताह में उसकी कायापलट-सी हो गई। यश-लालसा ने धन की उपेक्षा का भाव उसके दिल से निकाल दिया। वास्तव में वह इस समारोह में अपनी मुसीबतें भूल गई। अच्छे-अच्छे व्याख्यान तैयार करने में वह इतनी तत्पर रहने लगी, मानों उसे नशा हो गया है। वास्तव में यह नशा ही था। यश-लालसा से बढ़कर दूसरा नशा नहीं।

वागीश्वरी पुराने विचारों की स्त्री थी। उसे अहल्या का यों घूम-घूम कर व्याख्यान देना और रुपये लुटाना अच्छा न लगता था। एक दिन उसने कह ही डाला—क्यों री अहल्या, तू अपनी सारी सम्पत्ति लुटाकर रहेगी ?

अहल्या ने गर्व से कहा—और धन है ही किस लिए अम्माँजी! धन में यही बुराई है कि इससे विलासिता बढ़ती है; लेकिन इसमें परोपकार करने की सामर्थ्य भी है।

वागीश्वरी ने परोपकार के नाम से चिढ़कर कहा—तू जो कर रही है, यह परोपकार नहीं, यश-लालसा है। अपने पुरुष और पुत्र का उपकार तो तू कर न सकी, संसार का उपकार करने चली है!

अहल्या—तुम तो अम्माँजी आपे से बाहर हो जाती हो।

वागीश्वरी—अगर तू धन के पीछे अंधी न हो जाती, तो तुझे यह दंड न भोगना पड़ता। तेरा चित्त कुछ-कुछ ठिकाने पर आ रहा था, तब तक तुझे यह नई सनक सवार हो गई। परोपकार तो जब समझती, जब तू वहीं बैठे-बैठे गुप्त रूप से चन्दे भेज देती। मुझे शंका हो रही है कि इस वाह-वाह से तेरा सिर न फिर जाय। धन का भूत तेरे पीछे बुरी तरह पड़ा हुआ है और अभी तेरा कुछ और अनिष्ट करेगा।

अहल्या ने नाक सिकोड़कर कहा—जो कुछ करना था कर चुका, अब क्या करेगा, ज़िन्दगी ही कितनी रह गई है, जिसके लिए रोऊँ।

दूसरे दिन प्रातःकाल डाकिया शंखधर का पत्र लेकर पहुँचा, जो जगदीशपुर और काशी से घूमता हुआ आया था। अहल्या पत्र पढ़ते ही उछल पड़ी और दौड़ी हुई वागीश्वरी के पास जाकर बोली—अम्माँ, देखो लल्लू का पत्र आ गया। दोनों जने एक ही जगह हैं। मुझे बुलाया है।

वागीश्वरी—ईश्वर को धन्यवाद दो बेटी। कहाँ हैं ?

अहल्या—दक्षिण की ओर! हैं अम्माँजी। पता-ठिकाना सब लिखा हुआ है।

वागीश्वरी—तो बस, अब तू चली ही जा। चल मैं भी तेरे साथ चलूँगी।

अहल्या—आज पूरे पाँच साल के बाद ख़बर मिली है अम्माँजी। मुझे आगरे आना फल गया। यह तुम्हारे आशीर्वाद का फल है अम्माँजी।

वागीश्वरी—मैं तो उस लड़के के जीवट को बखानती हूँ कि बाप का पता लगाकर ही छोड़ा।

अहल्या—इस आनन्द में आज उत्सव मनाना चाहिए अम्माँजी।

वागीश्वरी—उत्सव पीछे मनाना, पहले वहाँ चलने की तैयारी करो। कहीं और चले गये, तो हाथ मलकर रह जाओगी।

लेकिन सारा दिन गुजर गया और अहल्या ने यात्रा की कोई तैयारी न की। वह अब यात्रा के लिए उत्सुक न मालूम होती थी। आनन्द का पहला आवेश समाप्त होते ही वह इस दुविधे में पड़ गई थी कि वहाँ जाऊँ या न जाऊँ। वहाँ जाना केवल दस-पाँच दिन या महीने-दो-महीने के लिए जाना न था; वरन् राजपाट से हाथ धो लेना और शंखधर के भविष्य को बलिदान करना था। वह जानती थी कि पितृ-भक्त शंखधर पिता को छोड़कर किसी भाँति न आवेगा और मैं भी प्रेम के बन्धन में फँस जाऊँगी। उसने यही निश्चय किया कि शंखधर को किसी हीले से बुला लेना चाहिए। उसका मन कहता था कि शंखधर आ गया, तो स्वामी के दर्शन भी उसे अवश्य होंगे। शंखधर ने पत्र में लिखा था कि पिताजी को मुझसे अपार स्नेह है। क्या यह पुत्र-प्रेम उन्हें खींच न लावेगा। वह चाहे संन्यासी ही के रूप में आवें; पर आवेंगे ज़रूर और जब अब की वह उनके चरणों को पकड़ लेगी, तो फिर वह नहीं छुड़ा सकेंगे। शंखधर के राज-सिंहासन पर बैठ जाने के बाद यदि स्वामीजी की इच्छा हुई, तो वह उनके साथ चली जायगी और शेष जीवन उनके चरणों की सेवा में काटेगी। इस वक्त वहाँ जाकर वह अपनी प्रेमाकांक्षाओं की वेदी पर अपने पुत्र के जीवन को बलिदान न करेगी। जैसे इतने दिनों पति-वियोग में

जली है, उसी तरह कुछ दिन और जलेगी। उसने मन में यह निश्चय करके शंखधर के पत्र का उत्तर दे दिया। लिखा—मैं बहुत बीमार हूँ, बचने की कोई आशा नहीं, बस एक बार तुम्हें देखने की अभिलाषा है। तुम आ जाओ, तो शायद जी उठूँ; लेकिन न आये तो समझ लो, अम्माँ मर गई। अहल्या को विश्वास था कि यह पत्र पढ़कर शंखधर दौड़ा चला आवेगा और स्वामी भी यदि उसके साथ न आवेंगे, तो उसे आने से रोकेंगे नहीं।

अभागिनी अहल्या! तू फिर धन-लिप्सा के जाल में फँस गई। क्या इच्छाएँ भी राक्षसों की भाँति अपने ही रक्त से उत्पन्न होती हैं? वे कितनी अजेय हैं! जब ऐसा ज्ञात होने लगा कि वे निर्जीव हो गई हैं, तो सहसा वे फिर जी उठीं और शक्ति और संख्या में पहले से शतगुण होकर! १५ वर्ष की दारुण वेदना एक क्षण में विस्मृत हो गई। धन्य रे तेरी माया!

सन्ध्या-समय वागीश्वरी ने पूछा—क्या जाने का इरादा नहीं है?

अहल्या ने शरमाते हुए कहा—अभी तो अम्माँजी मैंने लल्लू को बुलाया है। अगर वह न आवेगा, तो चली जाऊँगी।

वागीश्वरी—लल्लू के साथ क्या चक्रधर भी आ जायँगे? तू ऐसा अवसर पाकर छोड़ देती है। न जाने तुझ पर क्या आनेवाली है!

अहल्या अपने सारे दुःख भूलकर शंखधर के राज्याभिषेक की कल्पना में विभोर हो गई।

४६

गाड़ी अन्धकार को चीरती हुई चली जाती थी। सहसा शंखधर 'हर्ष-पुर' का नाम सुनकर चौंक पड़ा। वह भूल गया, मैं कहाँ जा रहा हूँ, किस काम से जा रहा हूँ, और मेरे रुक जाने से कितना बड़ा अनर्थ हो जायगा? किसी अज्ञात शक्ति ने उसे गाड़ी खोलकर उतर आने पर मजबूर कर दिया। उसने स्टेशन को ग़ौर से देखा। उसे जान पड़ा, मानों उसने इसे पहले भी देखा है। वह एक क्षण तक आत्म-विस्मृति की दशा में खड़ा रहा। फिर टहलता हुआ स्टेशन के बाहर चला गया।

टिकट-बाबू ने पूछा—आपका टिकट तो आगरे का है?

शंखधर ने लापरवाई से कहा—कोई हरज नहीं।

वह स्टेशन के बाहर निकला, तो उस समय अंधकार में भी वह स्थान परिचित मालूम हुआ। ऐसा जान पड़ा, मानों वह बहुत दिनों यहाँ रहा है। वह सड़क पर हो लिया और आबादी की ओर चला। ज्यों-ज्यों बस्ती निकट आती थी, उसके पाँव तेज़ होते जाते थे। उसे एक विचित्र उत्साह हो रहा था, जिसका आशय वह स्वयं कुछ न समझ सकता था। एकाएक उसे सामने एक विशाल भवन दिखाई दिया। भवन के सामने एक छोटा-सा बाग़ था। वह बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था। उस दिव्य प्रकाश में भवन की शुभ्र छटा देखकर शंखधर उछल पड़ा। उसे ज्ञात हुआ, यही उसका पुराना घर है, यहीं उसका बालपन बीता है। भवन के भीतर का एक-एक कमरा उसकी आँखों में फिर गया। ऐसी इच्छा हुई कि उड़कर अन्दर चला जाऊँ। बाग़ के द्वार पर एक चौकीदार संगीन चढ़ाये खड़ा था। शंखधर को अंदर क़दम रखते देखकर बोला—तुम कौन हो?

शंखधर ने डाँटकर कहा—चुप रहो, हम रानीजी के पास जा रहे हैं।

यह रानी कौन थी, वह क्यों उसके पास जा रहा था, और उसका रानी से कब परिचय हुआ था, यह सब शंखधर को कुछ न याद आता था। दरबान को उसने जो जवाब दिया था, वह भी अनायास ही उसके मुँह से निकल गया था। जैसे नशे में आदमी का अपनी चेतना पर कोई अधिकार नहीं रहता, उसकी वाणी, उसके अंग, उसकी कर्मेन्द्रियाँ उसके काबू के बाहर हो जाती हैं, वही दशा शंखधर की हो रही थी। चौकीदार उसका उत्तर सुनकर रास्ते से हट गया और शंखधर ने बाग में प्रवेश किया। बाग का एक-एक पौधा, एक-एक क्यारी, एक-एक कुञ्ज, एक-एक मूर्ति, हौज, संगमरमर का चबूतरा उसे जाना-पहचाना-सा मालूम हो रहा था। वह निःशंक भाव से राज-भवन में जा पहुँचा।

एक सेविका ने पूछा—तुम कौन हो?

शंखधर ने कहा—साधु हूँ। जाकर महारानी को सूचना दे दे।

सेविका—महारानीजी तो इस समय पूजा पर हैं। उनके पास जाने का हुक्म नहीं है।

शंखधर—क्या बहुत देर तक पूजा करती हैं?

सेविका—हाँ, कोई तीन बजे रात को पूजा पर से उठेंगी। उसी वक्त नाम-मात्र को पारण करेंगी और घण्टे-भर आराम करके स्नान करने चली जायँगी। फिर तीन बजे रात तक एक क्षण के लिए भी आराम न करेंगी। यही उनका जीवन है।

शंखधर—बड़ी तपस्या कर रही हैं!

सेविका—अब और कैसी तपस्या होगी महाराज। न कोई शौक है, न श्रृंगार है, न किसी से हँसना, न बोलना। आदमियों की सूरत से कोसों भागती हैं। रात-दिन जप-तप के सिवा और कोई काम ही नहीं। जब से महाराज का स्वर्गवास हुआ, तभी से तपस्विनी बन गईं। आप कहाँ से आये हैं और उनसे क्या काम है?

शंखधर—साधु-संतों को किसी से क्या काम ? महारानी के साधु-सेवा की चरचा सुनकर चला आया।

सेविका—आपकी आवाज़ तो मालूम होता है, कहीं सुनी है ; लेकिन आपको देखा नहीं।

यह कहते-कहते सहसा वह काँप उठी। शंखधर की तेजमयी मूर्ति में उसे उस आकृति का प्रतिबिम्ब, अमानुषीय प्रकाश से दीप्त दिखाई दिया, जिसे उसने २० वर्ष पूर्व देखा था। वह सादृश्य प्रति क्षण प्रत्यक्ष होता जाता था, यहाँ तक कि वह भयभीत होकर वहाँ से भागी और रानी कमला के कमरे में जाकर सहमी हुई खड़ी हो गई।

रानी कमलावती ने आग्नेय नेत्रों से देखकर पूछा—तू यहाँ क्या करने आई ? इस समय यहाँ तेरा क्या काम है ?

सेविका—महारानीजी, क्षमा कीजिए। प्राण-दान मिले तो कहूँ ! आँगन में एक तेजस्वी पुरुष खड़ा आपको पूछ रहा है। मैं क्या कहूँ महारानीजी, उसका कंठ-स्वर और आकृति हमारे महाराज से इतनी मिलती है कि मालूम होता है वही खड़े हैं। न जाने कैसी दैवी लीला है। अगर मैंने कभी किसी का अहित चेता हो, तो मैं सौ जन्म नरक भोगूँ।

रानी कमला पूजा पर से उठ खड़ी हुई और गंभीर भाव से बोली—डर मत, डर मत, उन्होंने तुमसे क्या कहा ?

सेविका—सरकार, मेरा तो कलेजा काँप रहा है। उन्होंने सरकार का नाम लेकर कहा कि उन्हें मेरे आने की सूचना दे दे।

रानी—उनकी क्या अवस्था है ?

सेविका—सरकार, अभी तो मसें भींग रही हैं।

रानी कमला देर तक विचार में मग्न खड़ी रही। क्या ऐसा हो सकता है ? क्या इस जीवन में अपने प्राणाधार के दर्शन फिर हो सकते हैं ? बीस ही वर्ष तो उन्हें शरीर त्याग किये भी हुए। क्या ऐसा कभी हो सकता है ?

उसकी पूर्व-स्मृतियाँ जागृत हो गईं। एक पर्वत की गुफा में महेन्द्र के साथ रहना याद आया। उस समय भी वह ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। उनके कितने ही अलौकिक कृत्य याद आये, जिनका मर्म वह अब तक न समझ सकी थी। फिर वायुयान पर उनके साथ बैठकर उड़ने की याद आई। आह! वह गीत याद आया, जो उस समय उसने गाया था। उस समय प्राणनाथ कितने प्रेम-विह्वल हो रहे थे। उनकी प्रेम-प्रदीप्त छवि उसके सामने आ गई। हाय! उन नेत्रों में कितनी तृष्णा थी, कितनी अतृप्त लालसा! उस अपार सुख-मय अशान्ति, उस मधुर व्यथा-पूर्ण उल्लास को याद करके वह पुलकित हो उठी। आह! वह भीषण अन्त! उसे ऐसा जान पड़ा, वह खड़ी न रह सकेगी।

सेविका ने कातर स्वर में पूछा—सरकार, मुझे क्या आज्ञा है?

रानी ने चौंककर कहा—चल, देखूँ तो कौन है।

वह हृदय को सँभालती हुई आँगन में आई। वहाँ बिजली के उज्ज्वल प्रकाश में उसे शंखधर की दिव्य मूर्ति ब्रह्मचर्य के तेज से चमकती हुई खड़ी दिखाई दी, मानों उसका सौभाग्य-सूर्य उदित हो गया हो। क्या अब भी कोई सन्देह हो सकता था? लेकिन संस्कारों को मिटाना भी तो आसान नहीं। संसार में कितना कपट है, क्या इसका उसे काफ़ी अनुभव न था? यद्यपि उसका हृदय उन चरणों से दौड़कर लिपट जाने के लिए अधीर हो रहा था, फिर भी मन को रोककर उसने दूर ही से पूछा—महाराज, आप कौन हैं, और मुझे क्यों याद किया है?

शंखधर ने रानी के समीप जाकर कहा—क्या मुझे इतनी जल्द भूल गईं कमला? क्या इस रूपान्तर ही से तुम्हें यह भ्रम हो रहा है? मैं वह हूँ, जिसने न जाने कितने दिन हुए तुम्हारे हृदय में प्रेम के रूप में जन्म लिया था, और तुम्हारे प्रियतम के रूप में तुम्हारे सत, व्रत, और सेवा से अमर होकर आज तक उसी अपार आनन्द की खोज में भटकता फिरता हूँ। क्या कुछ और परिचय दूँ? वह पर्वत की गुफा तुम्हें याद

है ? वह वायुयान पर बैठकर आकाश में भ्रमण करना याद है ? आह ! तुम्हारे उस स्वर्गीय संगीत की ध्वनि अभी तक कानों में गूँज रही है । प्रिये, कह नहीं सकता, कितनी बार तुम्हारे हृदय-मन्दिर के द्वार पर भिक्षुक बनकर आया ; लेकिन दो बार आना याद है । मैंने उसे खोलकर अन्दर जाना चाहा ; पर दोनों ही बार असफल रहा । वही अतृप्त आकांक्षा मुझे फिर खींच लाई है, और.........

रानी कमला ने उन्हें अपना वाक्य न पूरा करने दिया । वह दौड़कर उनके चरणों पर गिर पड़ी और उन्हें अपने आँसुओं से पखारने लगी । यह सौभाग्य किसको प्राप्त हुआ है ? जिस पवित्र मूर्ति की वह बीस वर्ष से उपासना कर रही थी, वही उसके सम्मुख खड़ी थी । वह अपना सर्वस्व त्याग देगी, इस ऐश्वर्य को तिलांजलि दे देगी और अपने प्रियतम के साथ पर्वतों में रहेगी । वह सब कुछ झेलकर अपने स्वामी के चरणों से लगी रहेगी । इसके सिवा अब उसे कोई आकांक्षा, कोई इच्छा, नहीं है ।

लेकिन एक ही क्षण में उसे अपनी शारीरिक अवस्था की याद आ गई । उसके उन्मत्त हृदय को ठोकर-सी लगी । यौवन-काल के रूप-लावण्य के लिए उसका मन लालायित हो उठा ; वे काले-काले लम्बे केश, वह पुष्प के समान विकसित कपोल, मद-भरी, मतवाली आँखें, वह कोमलता, वह माधुर्य अब कहाँ ? क्या इस दशा में वह अपने स्वामी की प्राणेश्वरी बन सकेगी !

सहसा शंखधर बोले—कमला, कभी तुम्हें मेरी याद आती थी ?

रानी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—स्वामी, आज २० वर्ष से तुम्हारी उपासना कर रही हूँ । आह ! आप उस समय आये हैं, जब मेरे पास प्रेम नहीं, केवल श्रद्धा और भक्ति है । आइए, मेरे हृदय-मन्दिर में विराजिए ।

शंखधर—ऐसा क्यों कहती हो कमला ?

कमला ने सजल नेत्रों से शंखधर की ओर देखा, पर मुँह से कुछ न

बोली। शंखधर ने उसके मन का भाव ताड़कर कहा—प्रिये, मेरी दृष्टि में तुम वही हो, जो आज के बीस वर्ष पहले थीं। नहीं, तुम्हारा आत्म-स्वरूप उससे कहीं सुन्दर, कहीं मनोहर हो गया है; लेकिन तुम्हें संतुष्ट करने के लिए मैं तुम्हारी कायाकल्प कर दूँगा। विज्ञान में इतनी विभूति है कि वह काल के चिह्नों को मिटा दे।

कमला ने कातर स्वर में कहा—प्राणनाथ, क्या यह संभव है?

शंखधर—हाँ प्रिये, प्रकृति जो कुछ कर सकती है, वह सब विज्ञान के लिए सम्भव है। यह ब्रह्मांड एक विराट् प्रयोगशाला के सिवा और क्या है?

कमला के मनोल्लास का अनुमान कौन कर सकता है? आज बीस वर्ष के बाद उसके ओठों पर मधुर हास्य क्रीड़ा करता हुआ दिखाई दिया। दान, व्रत और तप के प्रभाव का उसे आज अनुभव हुआ। इसके साथ ही उसे अपने सौभाग्य पर गर्व हो उठा। यह मेरी तपस्या का फल है! मैं अपनी तपस्या से प्राणनाथ को देवलोक से खींच लाई हूँ! दूसरा कौन इतना तप कर सकता है! कौन इन्द्रिय-सुखों को त्याग सकता है!

यह भाव मन में आया ही था कि कमला चौंक पड़ी। हाय! यह क्या हुआ? उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखों की ज्योति क्षीण हो गई है। शंखधर का तेजमय स्वरूप उसे मिटा मिटा-सा दिखाई दिया। और सभी वस्तुएँ साफ नज़र आती थीं। केवल शंखधर दूर—दूर होते जा रहे थे।

कमला ने घबड़ाकर कहा—प्राणनाथ क्या आप मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं? हाय! इतनी जल्द? शंखधर ने गंभीर स्वर में कहा—नहीं, प्रिये, प्रेम का बन्धन इतना निर्बल नहीं होता।

कमला—तो आप मुझे जाते हुए क्यों दीखते हैं?

शंखधर—इसका कारण अपने मन में देखो।

प्रातःकाल शंखधर ने कहा—प्रिये, मेरी प्रयोगशाला की क्या दशा है?

कमला—चलिए, आपको दिखाऊँ।

शंखधर—उस कठिन परीक्षा के लिए तैयार हो?

कमला—आपके रहते मुझे क्या भय है।

लेकिन प्रयोगशाला में पहुँचकर सहसा कमला का दिल बैठ गया। जिस सुख की लालसा उसे माया के अन्धकार में लिये जाती है, क्या वह सुख स्थायी होगा? पहले ही की भाँति क्या फिर दुर्भाग्य की एक कुटिल क्रीड़ा उसे इस सुख से वंचित न कर देगी? उसे ऐसा आभास हुआ कि अनन्त काल से वह सुख-लालसा के इसी चक्र में पड़ी हुई यातनाएँ झेल रही है। हाय रे ईश्वर! तू ने ऐसा देव-तुल्य पुरुष देकर भी मेरी सुख-लालसा को तृप्त न होने दिया।

इतने में शंखधर ने कहा—प्रिये, तुम इस शिला पर लेट जाओ और आँखें बन्द कर लो।

कमला ने शिला पर बैठकर कातर स्वर में पूछा—प्राणनाथ, तब मुझे ये बातें याद रहेंगी?

शंखधर ने मुसकिराकर कहा—सब याद रहेंगी प्रिये, इससे निश्चिन्त रहो।

कमला—मुझे यह राज-पाट त्याग करना पड़ेगा?

शंखधर ने देखा अभी तक कमला मोह में पड़ी हुई है। अनन्त सुख की आशा भी उसके मोह-बन्धन को नहीं तोड़ सकी। दुखी होकर बोले—हाँ कमला, तुम इससे कहीं बड़े राज्य की स्वामिनी बन जाओगी। राज्य सुख में बाधक नहीं होता, यदि विलास की ओर न ले जाय।

पर कमला ने ये शब्द न सुने। शिला में प्रवाहित विद्युत-शक्ति ने उसे अचेत कर दिया था। केवल उसकी आँखें खुली हुई थीं। उनमें अब भी तृष्णा चमक रही थी।

५०

राजा विशालसिंह की हिंसा-वृत्ति किसी प्रकार शांत न होती थी। ज्यों-ज्यों अपनी दशा पर उन्हें दुःख होता था, उनके अत्याचार और भी बढ़ते थे। उनके हृदय में अब सहानुभूति, प्रेम और धैर्य के लिए ज़रा भी स्थान न था। उनकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ हिंसा! हिंसा! पुकार रही थीं। जब उन पर चारों ओर से दैवी आघात हो रहे थे, उनकी दशा पर दैव को लेश-मात्र भी दया न आती थी, तो वह क्यों किसी पर दया करें? अगर उनका वश चलता, तो इन्द्रलोक को विध्वंस कर देते। देवताओं पर ऐसा आक्रमण करते कि वृत्तासुर की याद भूल जाती। स्वर्ग का रास्ता बन्द पाकर वह अपनी रियासत को ही खून के आँसू रुलाना चाहते थे। इधर कुछ दिनों से उन्होंने प्रतिकार का एक और ही शस्त्र खोज निकाला था। उन्हें निस्सन्तान रखकर, मिली हुई संतान उनकी गोद से छीनकर, दैव ने उनके साथ सबसे बड़ा अन्याय किया था। दैव के शस्त्रालय में उनका दमन करने के लिए यही सबसे कठोर शस्त्र था। इसे राजा साहब उनके हाथों से छीन लेना चाहते थे। उन्होंने सातवाँ विवाह करने का निश्चय कर लिया था। राजाओं के लिए कन्याओं की क्या कमी। ब्राह्मणों ने राशि, वर्ण और विधि मिला दी थी। बड़े-बड़े पण्डित इस काम के लिए बुलाये गये थे। उन्होंने व्यवस्था दे दी थी कि यह विवाह कभी निष्फल नहीं जा सकता; अतएव कई महीनों से इस सातवें विवाह की तैयारियाँ बड़े जोरों से हो रही थीं। कई राजवैद्य रात-दिन बैठे भाँति-भाँति के रस बनाते रहते थे। पौष्टिक औषधियाँ चारों ओर से मँगाई जा रही थीं। राजा साहब यह विवाह इतनी धूमधाम से करना चाहते थे कि देवताओं के कलेजे पर साँप लोटने लगें।

रानी मनोरमा ने इधर बहुत दिनों से घर या रियासत के किसी मामले में बोलना छोड़ दिया था। वह बोलती भी तो सुनता कौन। कहाँ तो यह हाल था कि राजा साहब को उसके बगैर एक क्षण चैन न आता था, उसे पाकर मानों वह सब कुछ पा गये थे। रियासत का सियाह-सुफ़ेद सब कुछ उसी के हाथों में था, यहाँ तक कि उसके प्रेम-प्रवाह में राजा साहब की संतान-लालसा भी विलीन हो गई थी। वही मनोरमा अब दूध की मक्खी बनी हुई थी। राजा साहब को उसकी सूरत से घृणा हो गई थी। मनोरमा के लिए अब वह घर नरक-तुल्य था। चुपचाप सारी विपत्ति सहती थी। उसे बड़ी इच्छा होती कि एक बार राजा साहब के पास जाकर पूछूँ, मुझसे क्या अपराध हुआ है; पर राजा साहब उसे इसका अवसर ही न देते थे। उनके मन में एक धारणा बैठ गई थी और किसी तरह न हटती थी। उन्हें विश्वास था कि मनोरमा ही ने रोहिणी को विष देकर मार डाला, इसका कोई प्रमाण हो या न हो; पर यह बात उनके मन में बैठ गई थी। इस हत्यारिनी से वह कैसे बोलते?

मनोरमा को आये दिन कोई-न-कोई अपमान सहना पड़ता था। उसका गर्व चूर करने के लिए रोज़ कोई-न-कोई षड्यंत्र रचा जाता; पर वह उद्दण्ड प्रकृतिवाली मनोरमा अब धैर्य और शांति का अथाह सागर है, जिसमें वायु के हलके-हलके झोंकों से कोई आंदोलन नहीं होता। वह मुसकिराकर सब कुछ शिरोधार्य करती जाती है। यह विकट मुसक्यान उसका साथ कभी नहीं छोड़ती। इस मुसक्यान में कितनी वेदना, विडम्बनाओं की कितनी अवहेलना छिपी हुई है, इसे कौन जानता है। वह मुसक्यान नहीं, 'वह भी देखा, यह भी देखा' वाली कहावत का यथार्थ रूप है। नई रानी साहब के लिए सुन्दर भवन बनवाया जा रहा था। उसकी सजावट के लिए एक बड़े आईने की ज़रूरत थी। शायद बाज़ार में उतना बड़ा आईना न मिल सका। हुक्म हुआ—छोटी रानी के दीवानखाने का बड़ा आईना उतार लाओ। मनोरमा ने

यह हुक्म सुना और मुसकिरा दी। फिर कालीन की जरूरत पड़ी। फिर वही हुक्म हुआ—छोटी रानी के दीवानखाने से लाओ। मनोरमा ने मुसकिराकर सारी कालीनें दे दीं। इसके कुछ दिनों बाद हुक्म हुआ—छोटी रानी की मोटर नये भवन में लाई जाय। मनोरमा इस मोटर को बहुत पसन्द करती थी, उसे खुद चलाती थी। यह हुक्म सुना, तो मुसकिरा दिया। मोटर चली गई।

मनोरमा के पास पहले बहुत-सी सेविकाएँ थीं। इधर घटते-घटते उनकी संख्या तीन तक पहुँच गई थी। एक दिन हुक्म हुआ—तीन सेविकाओं में से दो नये महल में नियुक्त की जायँ। उसके एक सप्ताह बाद वह एक भी बुला ली गई। मनोरमा के यहाँ अब कोई सेविका न रही! इस हुक्म का भी मनोरमा ने मुसकिराकर स्वागत किया।

मगर अभी सबसे कठोर आघात बाक़ी था। नई रानी के लिए तो नया महल बन ही रहा था। उनकी माताजी के लिए एक दूसरे मकान की ज़रूरत पड़ी। माताजी को अपनी पुत्री का वियोग असह्य था। राजा साहब ने नये महल में उनका निवास उचित न समझा। माता के रहने से नई रानी की स्वाधीनता में विघ्न पड़ेगा; इसलिए हुक्म हुआ कि छोटी रानी का महल ख़ाली करा लिया जाय। रानी ने यह हुक्म सुना और मुसकिरा दी। महल खाली करा दिया गया। जिस हिस्से में पहले महरियाँ रहती थीं, उसी को उसने अपना निवास बना लिया। द्वार पर टाट के परदे लगवा दिये। यहाँ भी वह उतनी ही प्रसन्न थी, जितनी अपने महल में।

एक दिन गुरुसेवक मनोरमा से मिलने आये। राजासाहब की अप्रसन्नता का पहला वार उन्हीं पर हुआ था। वह दरबार से अलग कर दिये गये थे। वह अपनी ज़मींदारी की देखभाल करते थे। अधिकार छीन जाने पर वह अधिकार के शत्रु हो गये थे। अब फिर वह किसानों का संगठन करने लगे थे, बेगार के विरुद्ध अब फिर उनकी आवाज़ उठने

लगी थी। मनोरमा पर ये सब अत्याचार देख-देखकर उनकी क्रोधाग्नि भड़कती रहती थी। जिस दिन उन्होंने सुना कि मनोरमा अपने महल से निकाल दी गई है, उनके क्रोध का वारापार न रहा। उनकी सारी वृत्तियाँ इस अपमान का बदला लेने के लिए तिलमिला उठीं।

मनोरमा ने उनका तमतमाया हुआ चेहरा देखा, तो काँप उठी।

गुरुसेवक ने आते-ही-आते पूछा—तुमने अपना महल क्यों छोड़ दिया ?

मनोरमा—कोई किसी से ज़बरदस्ती मान करा सकता है? मुझे वहाँ कौन-सा ऐसा बड़ा सुख था, जो उस महल को छोड़ने का दुःख होता। मैं यहाँ भी खुश हूँ।

गुरुसेवक—मैं देख रहा हूँ। बुड्ढा दिन-दिन सठियाता जाता है। विवाह के पीछे अन्धा हो गया है।

मनोरमा—भैया, आप मेरे सामने ऐसे शब्द मुँह से न निकालें। आपके पैरों पड़ती हूँ।

गुरुसेवक—तुम शब्दों को कहती हो, मैं इनकी मरम्मत करने की फ़िक्र में हूँ। ज़रा विवाह का मज़ा तो चख लें।

मनोरमा ने त्योरियाँ बदलकर कहा—भैया, मैं फिर कहती हूँ, आप मेरे सामने ऐसी बातें न करें। मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। वह इस समय अपने होश में नहीं हैं। वही क्या, कोई आदमी शोक के ऐसे निर्दय आघात सहकर अपने होश में नहीं रह सकता। मैं या आप, उनके मन के भावों का अनुमान नहीं कर सकते। जिस प्राणी ने चालीस वर्ष तक एक अभिलाषा को हृदय में पाला हो, उसी एक अभिलाषा के लिए उचित-अनुचित, सब कुछ किया हो, और चालीस वर्ष के बाद जब उस अभिलाषा के पूरे होने के सब सामान हो गये हों, एकाएक उसके गले पर छुरी चल जाय, तो सोचिए, उस प्राणी की क्या दशा होगी। राजा साहब ने सिर पटककर प्राण नहीं दे दिये, यही क्या कम है। कम-से-

कम मैं तो इतना धैर्य न रख सकती। मुझे इस बात का दुःख है कि उनके साथ मुझे जितनी सहानुभूति होनी चाहिए, मैं नहीं कर रही हूँ।

गुरुसेवक ने गंभीर भाव से कहा—अच्छा, प्रजा पर इतना जुल्म क्यों हो रहा है? यह भी बेहोशी है?

मनोरमा—बेहोशी नहीं और क्या है। जो आदमी ६५ वर्ष की उम्र में सन्तान के लिए विवाह करे, वह बेहोश ही है, चाहे उसमें बेहोशी का कोई लक्षण न दिखाई दे।

गुरुसेवक लज्जित और निराश होकर यहाँ से चलने लगे, तो मनोरमा खड़ी हो गई और आँखों में आँसू भरकर बोली—भैया, अगर कोई शंका की बात हो, तो मुझे बतला दो।

गुरुसेवक ने आँखें नीची करके कहा—शंका की कोई बात नहीं। शंका की कौन बात हो सकती है भला।

मनोरमा—तुम मेरी ओर ताक नहीं रहे हो, इससे मुझे शक होता है। देखो भैया, अगर राजा साहब पर ज़रा भी आँच आई, तो बुरा होगा। जो बात हो, साफ़-साफ़ कह दो।

गुरुसेवक—मुझसे राजा साहब से मतलब ही क्या है। अगर तुम खुश हो, तो मुझे उनसे कौन-सी दुशमनी है। रही प्रजा। वह जाने और राजा साहब जानें। मुझसे कोई सरोकार नहीं; मगर बुरा न मानो, तो एक बात पूछूँ। वह तो तुम्हें ठोकरें मारते हैं और तुम उनके पाँव सुह-लाती हो। क्या समझती हो, तुम्हारी इस भक्ति से राजा साहब फिर तुमसे खुश हो जायँगे?

मनोरमा ने भाई को तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—अगर ऐसा समझती हूँ, तो क्या कोई बुराई करती हूँ? उनकी खुशी की परवा नहीं, तो फिर किसकी खुशी की परवा करूँगी। जो स्त्री अपने पति से दिल में कीना रक्खे, उसे विष खाकर प्राण दे देना चाहिए। हमारा धर्म कीना रखना नहीं, क्षमा करना है। मेरा विवाह हुए

बीस वर्ष से अधिक हुए। बहुत दिनों तक मुझ पर उनकी कृपा-दृष्टि रही। अब वह मुझसे तने हुए हैं। शायद मेरी सूरत से भी उन्हें घृणा हो; लेकिन आज तक उन्होंने मुझे एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। संसार में ऐसे कितने पुरुष हैं, जो अपनी ज़बान को इतना सँभाल सकते हों। मेरी यह दशा जो हो रही है, मान के कारण हो रही है। अगर मैं मान को त्यागकर उनके पास जाऊँ, तो मुझे विश्वास है कि इस समय भी वह मुझसे हँसकर बोलेंगे और जो कुछ कहूँगी, उसे स्वीकार करेंगे। क्या इन बातों को मैं कभी भूल सकती हूँ? मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अगर कोई शंका की बात हो, तो मुझे बतला दो।

गुरुसेवक ने बग़लें झाँकते हुए कहा—मैं तो कह चुका, मुझसे इन बातों से कोई मतलब नहीं?

यह कहते हुए गुरुसेवक ने आगे क़दम बढ़ाया। मगर मनोरमा ने उनका हाथ पकड़ लिया और अपनी ओर खींचती हुई बोली—तुम्हारे मुख का भाव कहे देता है कि तुम्हारे मन में कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिसे तुम मुझसे छिपा रहे हो। जब तक मुझे न बताओगे, मैं तुम्हें जाने न दूँगी।

गुरुसेवक—नोरा! तुम नाहक़ ज़िद करती हो।

मनोरमा—अच्छी बात है, न बताइए। जाइए, अब न पूछूँगी। मगर, आज से समझ लीजिएगा कि नोरा मर गई।

गुरुसेवक ने हारकर कहा—अगर मैं कोई बात अनुमान से बता ही दूँ, तो तुम क्या कर लोगी?

मनोरमा—अगर रोक सकूँगी, तो रोकूँगी।

गुरुसेवक—उसको तुम नहीं रोक सकतीं मनोरमा! और न मैं रोक सकता हूँ।

मनोरमा—कुछ उत्तेजित होकर बोली—कुछ मुँह से कहिए भी तो।

गुरुसेवक—प्रजा राजा साहब की अनीति से तंग आ गई है।

मनोरमा—यह तो मैं बहुत पहले से जानती हूँ। भारत भी तो अंगरेज़ों की अनीति से तंग आ गया है। फिर इससे क्या ?

गुरुसेवक—मैं विश्वासघात नहीं कर सकता।

मनोरमा—भैया, बता दीजिए, नहीं पछताइएगा।

गुरुसेवक—मैं इतना नीच नहीं हूँ। बस, इतना ही बता देता हूँ कि राजा साहब से कह देना, विवाह के दिन सावधान रहें।

गुरुसेवक लपककर बाहर चले गये। मनोरमा स्तंभित-सी खड़ी रह गई, मानों हाथों के तोते उड़ गये हों। इस वाक्य का आशय उसकी समझ में न आया, हाँ, इतना समझ गई कि बरात के दिन कुछ-न-कुछ उपद्रव होनेवाला है।

कल ही विवाह का दिन था। सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं। संध्या हो गई थी। प्रातःकाल बरात यहाँ से चलेगी। ज्यादा सोचने-विचारने का समय नहीं था। इसी वक्त राजा साहब को सचेत कर देना चाहिए। कल फिर अवसर हाथ से निकल जायगा। उसने राजा साहब के पास जाने का निश्चय किया; मगर पुछवाये किससे कि राजा साहब हैं या नहीं ? इस वक्त तो वह रोज सैर करने जाते हैं। आज शायद सैर करने न गये हों; मगर तैयारियों में लगे होंगे।

मनोरमा उसी वक्त राजा साहब के दीवानख़ाने की ओर चली। इस संकट में वह मान कैसे करती। मान करने का यह समय नहीं है। चार वर्ष के बाद आज उसने पति के शयनागार में प्रवेश किया। जगह वही थी; पर कितनी बदली हुई। पौधों के गमले सूखे पड़े थे, चिड़ियों के पिंजरे ख़ाली। द्वार पर चिक पड़ी हुई थी। राजा साहब कहीं बाहर जाने के लिए कपड़े पहने तैयार थे। मेज़ पर बैठे जल्दी-जल्दी कोई पत्र लिख रहे थे। मनोरमा को देखते ही कुरसी से चौंक कर उठ बैठे और बाहर की ओर चले, मानों कोई भयंकर जन्तु सामने आ गया हो।

मनोरमा ने सामने खड़े होकर कहा—मैं आपसे एक बहुत ज़रूरी बात कहने आई हूँ। एक क्षण के लिए ठहर जाइए।

राजा साहब कुछ झिझक कर खड़े हो गये। जिस अत्याचारी के आतंक से सारी रियासत त्राहि-त्राहि कर रही थी, जिसके भय से लोगों के रक्त सूख जाते थे, जिसके सम्मुख जाने का सहसा किसी को साहस नहीं होता था, वह अस्थि का पंजर-मात्र था। जिसे देखकर दया आती थी। वह भवन जो किसी समय आसमान से बातें करता था, इस समय पृथ्वी पर मस्तक रगड़ रहा था! यह निराशा की सजीव मूर्ति थी, दलित अभिलाषाओं की जीती-जागती तसवीर, पराजय की करुण-प्रतिमा, मर्दित अभिमान का आर्तनाद।

और यह मोह का उपासक विवाह करने जा रहा था। जिसके मनो-रथों पर पड़ी हुई तुषार, सिर, मूँछ, और भौंहों को सम्पूर्ण रूप से ग्रस चुकी थी, जिनकी ठंढी साँसों से दाँत तक गल गये थे, वही अपनी झुकी हुई कमर और काँपती हुई टाँगों से प्रणय-मंदिर की ओर दौड़ा जा रहा था। वाह रे मोह की कुटिल क्रीड़ा!

मनोरमा ने आग्रह-पूर्ण स्वर में कहा—ज़रा बैठ जाइए, मैं आपका बहुत समय न लूँगी।

राजा—बैठूँगा नहीं, मुझे फ़ुरसत नहीं है। जो बात कहनी है, वह कह दो; मगर मुझे ज्ञान का उपदेश मत देना।

मनोरमा—ज्ञान का उपदेश मैं भला आपको क्या दूँगी। केवल इतना ही कहती हूँ कि कल बरात में बहुत सावधान रहिएगा।

राजा—क्यों?

मनोरमा—उपद्रव हो जाने का भय है।

राजा—बस, इतना ही कहना है, या कुछ और?

मनोरमा—बस इतना ही।

राजा—तो तुम जाओ, मैं उपद्रवों की परवा नहीं करता। लुटेरों का

भय उन्हें होता है, जिसके पास सोने की गठरी हो। मेरे पास क्या है, जिसके लिए डरूँ।

एकाएक उनकी मुखाकृति कठोर हो गई। आँखों में अस्वाभाविक प्रकाश दिखाई दिया। उद्दण्डता से बोले—मुझे किसी का भय नहीं है। अगर किसी ने चूँ भी किया, तो रियासत में आग लगा दूँगा। खून की नदी बहा दूँगा। विशालसिंह रियासत का मालिक है, उसका गुलाम नहीं। कौन है, जो मेरे सामने खड़ा हो सके। मेरी एक तेज़ निगाह शत्रुओं का पित्ता पानी कर देने के लिए काफी है।

मनोरमा का हृदय करुणा से व्याकुल हो उठा। इन शब्दों में कितनी मानसिक वेदना भरी हुई थी, ये होश की बातें नहीं, बेहोशी की बड़ थीं। आग्रह करके बोली—फिर भी सावधान रहने में तो कोई बुराई नहीं है। मैं आपके साथ रहूँगी।

राजा ने मनोरमा की ओर सशङ्क नेत्रों से देखकर कहा—नहीं, नहीं, तुम मेरे साथ नहीं रह सकतीं, किसी तरह नहीं। मैं तुमको खूब जानता हूँ।

यह कहते हुए राजा साहब बाहर चले गये। मनोरमा खड़ी सोचती रह गई, इन बातों का क्या आशय है? इन शब्दों में जो शंका और दुश्चिन्ता छिपी हुई थी, यदि इसकी गन्ध भी उसे मिल जाती, तो शायद उसका हृदय फट जाता, वह वहीं खड़ी-खड़ी चिल्लाकर रो पड़ती। उसने समझा, शायद राजा साहब को उसे अपने साथ रखने में वही संकोचमय आपत्ति है, जो प्रत्येक पुरुष को स्त्रियों से सहायता लेने में होती है। इस वक्त वह लौट गई; लेकिन यह खटका उसे बराबर लगा हुआ था।

रात अधिक बीत गई थी। बाहर बरात की तैयारियाँ हो रही थीं। ऐसा शानदार जलूस निकालने की आयोजना की जा रही थी, जैसा इस नगर में कभी न निकला हो। गोरी फ़ौज थी, काली फ़ौज थी, रियासत

की फ़ौज थी। फ़ौजी-बैंड था, कोतल घोड़े, सजे हुए हाथी, फूलों से सँवारी हुई सवारी-गाड़ियाँ, सुन्दर पालकियाँ—इतनी जमा की गई थीं कि शाम से बड़ी रात तक उनका ताँता ही न टूटे। बैंड से लेकर दफले और नृसिंहे तक सभी प्रकार के बाजे थे। सैकड़ों ही विमान सजाये गये थे और फुलवारियों की तो गिनती ही नहीं थी। सारी रात द्वार पर चहल-पहल रही और सारी रात राजा साहब सजावट का प्रबन्ध करने में व्यस्त रहे। मनोरमा कई बार उनके दीवानखाने में आई और उन्हें वहाँ न देख-कर लौट गई। उसके जी में बार-बार आता था कि बाहर ही चलकर राजा साहब से अनुनय-विनय करूँ; लेकिन भय यही था कि कहीं वह सबके सामने बक-झक न करने लगें, उसे कुछ कह न बैठें। जो अपने होश में नहीं, उसे किसकी लज्जा और किसका संकोच। आखिर जब इस तरह जी न माना, तो वह द्वार पर जाकर खड़ी हो गई कि शायद राजा साहब उसे देखकर उसकी तरफ़ आयें; लेकिन उसे देखकर भी राजा साहब उसकी ओर न आये; बल्कि और दूर निकल गये।।

सारे शहर में इस जलूस और इस विवाह का उपहास हो रहा था, नौकर-चाकर तक आपस में हँसी उड़ाते थे, राजा साहब की चुटकियाँ लेते थे; पर अपनी धुन में मस्त राजा साहब को कुछ न सूझता था, कुछ न सुनाई देता था। सारी रात बीत गई और मनोरमा को कुछ कहने का अवसर न मिला। तब वह अपनी कोठरी में लौट आई और ऐसा फूट-फूटकर रोई, मानों उसका कलेजा बाहर निकल पड़ेगा। उसे आज के २० वर्ष पहले की बात याद आई, जब उसने राजा साहब से विवाह के पहले कहा था—मुझे आपसे प्रेम नहीं है, और न हो सकता है, उसने अपने मनोभावों के साथ कितना अन्याय किया था। आज वह बड़ी खुशी से राजा साहब की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देगी। इसे वह अपना धन्य भाग्य सम-झेगी। यह उस अखंड प्रेम का प्रसाद है, जिसका उसने १५ वर्ष आनन्द

उठाया और जिसकी एक-एक बात उसके हृदय पर अंकित हो गई थी। उन अंकित चिह्नों को कौन उसके हृदय से मिटा सकता है। निष्ठुरता में इतनी शक्ति नहीं, तिरस्कार में इतनी शक्ति नहीं, अपमान में इतनी शक्ति नहीं, यहाँ तक कि मृत्यु में भी इतनी शक्ति नहीं। प्रेम अमर है, अमिट है।

दूसरे दिन बरात निकलने से पहले मनोरमा फिर राजा साहब के पास जाने को तैयार हुई; लेकिन कमरे से निकली ही थी कि दो हथियार-बंद सिपाहियों ने उसे रोका।

रानी ने डाँटकर कहा—हट जाओ, नमकहरामो! मैंने ही तुम्हें नौकर रक्खा और तुम मुझी से गुस्ताख़ी करते हो।

एक सिपाही बोला—हजूर के हुक्म के ताबेदार हैं, क्या करें महाराजा साहब का हुक्म है कि हजूर इस भवन से बाहर न निकलने पावें। हमारा क्या अपराध है सरकार!

मनोरमा—तुम्हें किसने यह आज्ञा दी?

सिपाही—खुद महाराजा साहब ने।

मनोरमा—मैं केवल एक मिनट के लिए राजा साहब से मिलना चाहती हूँ।

सिपाही—बड़ी कड़ी ताकीद है सरकार, हमारी जान न बचेगी।

मनोरमा ऐंठ कर रह गई। एक दिन सारी रियासत उसके इशारे पर चलती थी। आज पहरे के सिपाही तक उसकी बात नहीं सुनते। तब और अब में कितना अंतर है!

मनोरमा ने वहीं खड़े-खड़े पूछा—बरात निकलने में कितनी देर है?

सिपाही—अब कुछ देर नहीं है। सब तैयारी हो चुकी है।

मनोरमा—राजा साहब की सवारी के साथ पहरे का कोई विशेष प्रबन्ध किया गया है?

सिपाही—हाँ हजूर। महाराज के साथ एक सौ गोरे रहेंगे। महाराज की सवारी उन्हीं के बीच में रहेगी।

मनोरमा संतुष्ट हो गई। उसकी इच्छा पूरी हो गई। राजा साहब सावधान हो गये, किसी बात का खटका नहीं। वह अपने कमरे में लौट गई।

चार बजते-बजते बरात निकली। जलूस की लंबाई दो मील से कम न थी। भाँति-भाँति के बाजे बज रहे थे, रुपये लुटाये जा रहे थे। पग-पग पर फूलों की वर्षा की जा रही थी। सारा शहर तमाशा देखने को फटा पड़ता था।

इसी समय अहल्या और शंखधर ने नगर में प्रवेश किया और राजभवन की ओर चले; किन्तु थोड़ी ही दूर गये थे कि बरात के जलूस ने रास्ता रोक दिया। जब यह मालूम हुआ कि महाराज विशालसिंह की बरात है, तो शंखधर ने मोटर रोक दी और उस पर खड़े होकर अपना रूमाल हिलाते हुए जोर से बोले—सब आदमी रुक जायँ, कोई एक कदम भी न बढ़े! फौरन् महाराजा साहब को सूचना दो कि कुँवर शंखधरसिंह आ रहे हैं।

दम-के-दम में सारी बरात रुक गई। 'कुँवर साहब आ गये!' यह खबर वायु के एक झोंके की भाँति इस सिरे से उस सिरे तक दौड़ गई। जो जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया। फिर उनके दर्शन के लिए लोग दौड़-दौड़कर जमा होने लगे। सारा जलूस तितर-बितर हो गया। विशालसिंह ने यह भगदड़ देखी, तो समझे, कुछ उपद्रव हो गया। गोरों को तैयार हो जाने का हुक्म दे दिया। कुछ अँधेरा हो चला था। किसी ने राजा साहब से साफ तो न कहा कि कुँवर साहब आ गये, बस जिसने सुना झण्डी-झण्डे, बल्लम-भाले फेंक-फाँककर भागा। राजा साहब का घबरा जाना स्वाभाविक ही था। उपद्रव की शंका पहले ही से थी। तुरत ख़याल हुआ कि उपद्रव हो गया। गोरों को बन्दूकें सँभालने का हुक्म दिया।

उसी क्षण शंखधर ने सामने आकर राजा साहब को प्रणाम किया।

शंखधर को देखते ही राजा साहब घोड़े से कूद पड़े और उसे छाती से लगा लिया। आज इस शुभ मुहूर्त में, वह अभिलाषा पूरी हो गई, जिसके

नाम को रो चुके थे। बार-बार कुँवर को छाती से लगाते थे; पर तृप्ति न होती थी। आँखों से आँसू की झड़ी लगी हुई थी। जब जरा चित्त शान्त हुआ, तो बोले—तुम आ गये बेटा, मुझ पर बड़ी दया की। चक्रधर को लाये हो न ?

शंखधर ने कहा—वह तो नहीं आये।

राजा—आवेंगे, मेरा मन कहता है। मैं तो निराश हो गया था बेटा ! तुम्हारी माता भी चली गई, तुम पहले ही चले गये, फिर मैं किसका मुँह देख-देखकर जीता। जीवन का कुछ तो आधार चाहिए। अहल्या तभी से न जाने कहाँ घूम रही है।

शंखधर—वह तो मेरे साथ हैं।

राजा—अच्छा वह भी आ, गई। वाह मेरे ईश्वर ! सारी खुशियाँ एक ही दिन के लिए जमा कर रक्खी थीं। चलो, ज़रा उसे देखकर आँखें ठण्डी करूँ।

बरात रुक गई। राजा साहब और शंखधर अहल्या के पास आये। पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था। कामनाओं के वे वृक्ष, जो मुद्दत हुई निराशा-तुषार की भेंट हो चुके थे, आज लहलहाते, हरी-हरी पत्तियों से लदे हुए, सामने खड़े थे। आँसुओं का वेग शान्त हुआ, तो राजा साहब बोले—तुम्हें यह बरात देखकर हँसी आई होगी। सभी हँस रहे हैं; लेकिन बेटा, यह बरात नहीं है; कैसी बरात और कैसा दूल्हा ! यह विक्षिप्त हृदय का उद्गार है, और कुछ नहीं। मन कहता था—जब ईश्वर को मेरी सुधि नहीं, वह मुझ पर ज़रा भी दया नहीं करते, अकारण ही मुझे सताते हैं, तो मैं क्यों उनसे डरूँ। जब स्वामी को सेवक की फिक्र नहीं, तो सेवक को स्वामी की फिक्र क्यों होने लगी। मैंने उतना अन्याय किया, जितना मुझसे हो सका। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य के विचार दिल से निकाल डाले। आखिर मेरी विजय हुई कि नहीं ?

अहल्या—लल्लू अपने लिए रानी भी लेता आया है !

राजा—सच कहना ! यह तो खूब हुई । क्या वह भी साथ है ?

मोटर के पिछले भाग में बहूजी बैठी थीं। अहल्या ने पुकारकर कहा—बहू, पिताजी के चरणों के दर्शन कर लो ।

बहूजी आईं । राजा साहब देखकर चकित हो गये । ऐसा अनुपम सौंदर्य उन्होंने किसी चित्र में भी न देखा था। बहू को गले लगाकर आशीर्वाद दिया और अहल्या से मुसकिराकर बोले—शंखधर तो बड़ा भाग्यवान् मालूम होता है । यह देव-कन्या कहाँ से उड़ा लाया ?

अहल्या—दक्षिण के एक राजा की कुमारी है । ऐसा शील-स्वभाव है कि देखकर भूख-प्यास बंद हो जाती है। आपने सच ही कहा—देव-कन्या है ।

राजा—तो यह मेरी बरात का जलूस नहीं, शंखधर के विवाह का उत्सव है !

५१

कमला को जगदीशपुर में आकर ऐसा मालूम हुआ कि वह एक युग के बाद अपने घर आई है। वहाँ की सभी चीज़ें, सभी प्राणी, उसके जाने-पहचाने थे; पर अब उनमें कितना अंतर हो गया था। उसका विशाल नाच-घर बिलकुल बेमरम्मत पड़ा हुआ था। मोर उड़ गये थे, हिरन भाग गये थे, और फ़ौवारे सूखे पड़े हुए थे। लताएँ और गमले कब के मिट चुके थे। केवल लम्बे-लम्बे स्तंभ खड़े थे; पर कमला को नाच-घर के विध्वंस होने का ज़रा भी दुःख न हुआ। उसकी यह दशा देखकर उसे एक प्रकार का संतोष हुआ, मानों उसके घृणित विलास की चिता हो। अगर वह नाच-घर आज वैसा ही हरा-भरा होता, जैसा उसके समय में था, तो क्या वह उसके अन्दर क़दम रख सकती? कदाचित् वह वहीं गिर पड़ती। अब भी उसे ऐसा जान पड़ा कि यह उसके उसी जीवन का चिन्ह है। कितनी ही पुरानी बातें उसकी आँखों में फिर गईं, कितनी ही स्मृतियाँ जागृत हो गईं। भय और ग्लानि से उसके रोएँ खड़े हो गये। आह! यही वह स्थान है, जहाँ उस हतभागिनी ने स्वयं अपने पति को न पहचानकर उनके लिए अपने कलुषित प्रेम का जाल बिछाया था। आह! काश वह पिछली बातें भूल जातीं! उस विलासमय जीवन की याद उसके हृदय-पट से मिट जाती! उन बातों को याद रखते हुए क्या वह इस जीवन का आनन्द उठा सकती थी? मृत्यु का भयंकर हाथ न जाने कहाँ से निकल कर उसे डराने लगा। ईश्वरीय दंड के भय से वह काँप उठी। दीनता के साथ मन में ईश्वर से प्रार्थना की—भगवान्, पापिनी मैं हूँ, मेरे पापों के लिए महेन्द्र को दण्ड मत देना, मैं सहस्र जीवन तक प्रायश्चित्त करूँगी, मुझे वैधव्य की आग में न जलाना!

नाच-घर से निकल कर देवप्रिया ने रानी मनोरमा के कमरे में प्रवेश किया। वह अनुपम छवि अब मलिन पड़ गई थी। जिस केश-राशि को हाथ में लेकर एक दिन वह चकित हो गई थी, उसका अब रूपान्तर हो गया था। जिन आँखों में मद-माधुर्य का प्रवाह था, वह अब सूखी पड़ी थीं। उत्कंठित नैराश्य की करुण प्रतिमा थी, जिसे देखकर हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। कौन कह सकता था, वह सरला विशालसिंह के गले पड़ेगी!

मनोरमा बोली—नाच-घर देखने गई थीं? आजकल तो बेमरम्मत पड़ा हुआ है। उसकी शोभा तो रानी देवप्रिया के साथ गई।

देवप्रिया ने धीरे से कहा—वहाँ आग क्यों न लग गई। यही आश्चर्य है!

मनोरमा—क्या कुछ सुन चुकी हो?

देवप्रिया—हाँ, जितना जानती हूँ, उतना ही बहुत है। और ज्यादा नहीं जानना चाहती।

यहाँ से वह रानी रामप्रिया के पास गई। उसे देखकर देवप्रिया की आँखें सजल हो गईं। बड़ी मुश्किल से आँसुओं को रोक सकी। आह! जिस बालिका को उसने एक दिन गोद खेलाया था, वह इस समय यौवन की स्मृति-मात्र रह गई थी।

देवप्रिया ने वीणा की ओर देखकर कहा—आपको संगीत से बहुत प्रेम है?

रामप्रिया अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर ताक रही थी। शायद देवप्रिया की बात उसके कानों तक पहुँची ही नहीं।

देवप्रिया ने फिर कहा—मैं भी आपसे कुछ सीखूँगी।

रामप्रिया अभी तक उसकी मुख-छवि निहारने में मग्न थी। अब की भी कुछ न सुन सकी।

देवप्रिया फिर बोली—आपको मेरे साथ बहुत परिश्रम न करना पड़ेगा। थोड़ा-बहुत जानती हूँ।

यह कहकर उसने वीणा उठा ली और यह गीत गाने लगी—

प्रभु के दर्शन कैसे पाऊँ ?
बनकर-सरस-सुमन की लतिका, पद-कमलों से लग जाऊँ ;
या तेरे मन-मन्दिर की हरि, प्रेम-पुजारिन बन जाऊँ।
प्रभु के दर्शन कैसे पाऊँ ?

आह ! यही गीत था, जो रामप्रिया ने कितनी ही बार देवप्रिया को गाते सुना था, वही स्वर था, वही माधुर्य था, वही लोच था, वही हृदय में चुभनेवाली तान थी। रामप्रिया ने भयातुर नेत्रों से देवप्रिया की ओर देखा और मूर्च्छित हो गई। देवप्रिया को भी अपनी आँखों के सामने एक परदा-सा गिरता हुआ मालूम हुआ। उसकी आँखें आप-ही-आप झपकने लगीं। एक क्षण और, और सारा रहस्य खुल जायगा ! कदाचित् कायाकल्प का आवरण हट जाय और फिर न जाने क्या हो ! वह रामप्रिया को उसी दशा में छोड़कर इस तरह अपने भवन की ओर चली, मानों कोई उसे दौड़ा रहा हो।

मनोरमा को ज्यों ही एक लौंडी से रामप्रिया के मूर्च्छित हो जाने की खबर मिली, वह तुरन्त रामप्रिया के पास आई और घंटों की दौड़-धूप के बाद कहीं रामप्रिया ने आँखें खोलीं। मनोरमा को खड़ी देखकर वह फिर सहम उठी और सशंक दृष्टि से चारों ओर देखकर उठ बैठी।

मनोरमा ने कहा—आपको एकाएक यह क्या हो गया ? अभी तो बहूजी यहाँ बैठी गा रही थीं ?

रामप्रिया ने मनोरमा के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—कुछ कहते नहीं बनता बहन। मालूम नहीं, आँखों को धोखा हो रहा है या क्या बात है। बहू की सूरत बिलकुल देवप्रिया बहन से मिलती है। रत्ती-भर भी फर्क नहीं है।

मनोरमा कुछ-कुछ मिलती तो है, मगर इससे क्या। एक ही सूरत के दो आदमी क्या नहीं होते !

रामप्रिया—नहीं मनोरमा, बिल्कुल वही सूरत है। रंग-ढंग बोल-चाल सब वही है। गीत भी इसने वही गाया, जो देवप्रिया बहन गाया करती थीं। बिल्कुल यही स्वर था, यही आवाज। अरे बहन, तुमसे क्या कहूँ, आँखों में वही मुसकिराहट है, तिल और मसों में भी फर्क नहीं। तुमने देवप्रिया को जवानी में नहीं देखा। मेरी आँखों में तो आज भी उनकी वह मोहिनी छवि फिर रही है। ऐसा मालूम होता है कि बहन स्वयं कहीं से आ गई हैं। क्या रहस्य है कह नहीं सकती; पर यह बहन देवप्रिया हैं, इसमें रत्ती-भर सन्देह नहीं।

मनोरमा—राजा साहब ने भी तो रानी देवप्रिया को जवानी में देखा होगा?

रामप्रिया—हाँ, देखा है, और देख लेना वह भी यही बात कहेंगे। सूरत का मिलना और बात है, वही हो जाना और बात है। चाहे कोई माने या न माने, मैं तो यही कहूँगी कि देवप्रिया फिर अवतार लेकर आई हैं।

मनोरमा—हाँ, यह बात हो सकती है।

रामप्रिया—सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इसने गीत भी वही गाया, जो देवप्रिया बहन को बहुत पसन्द था। ज्योतिषियों से इस विषय में राय लेनी चाहिए। देवप्रिया को जो कुछ भोग-विलास करना था कर चुकी। अब वह यहाँ क्या करने आई है?

मनोरमा—आप तो ऐसी बातें कर रही हैं, मानों वह अपनी खुशी से आई है।

रामप्रिया—यह तो होता ही है, और तुम क्या समझती हो? आत्मा को वही जन्म मिलता है, जिसकी उसे प्रबल इच्छा होती है। मैंने कई पुस्तकों में पढ़ा है, आत्माएँ एक जन्म का अधूरा काम पूरा करने के लिए फिर उसी घर में जन्म लेती हैं। इसकी कितनी ही मिसालें मिलती हैं।

मनोरमा—लेकिन रानी देवप्रिया तो राज-पाट स्वयं छोड़कर तीर्थ-यात्रा करने गई थीं।

रामप्रिया—क्या हुआ बहन, उनकी भोग-तृष्णा शांत न हुई थी। अगर वही तृष्णा उन्हें फिर लाई है, तो कुशल नहीं है।

मनोरमा—आपकी बातें सुनकर तो मुझे भी शंका होने लगी।

इसी समय अहल्या सामने से निकल गई। मारे गर्व और आनंद के उसके पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। पति की याद भी इस आनंद-प्रवाह में विलीन हो गई थी, जैसे संगीत की ध्वनि आकाश में विलीन हो जाती है।

५२

मुंशी वज्रधर ने यह शुभ समाचार सुना, तो फौरन् घोड़े पर सवार हुए और राज-भवन आ पहुँचे। शंखधर उनके आने का समाचार पाकर नंगे पाँव दौड़े और उनके चरणों को स्पर्श किया। मुंशीजी ने पोते को छाती से लगा लिया और गद्गद कण्ठ से बोले—यह शुभ दिन देखना बदा था बेटा, इसी से अब तक जीता हूँ। यह अभिलाषा पूरी हो गई। बस इतनी लालसा और है कि तुम्हारा राज-तिलक देख लूँ! तुम्हारी दादी बैठी तुम्हारी राह देख रही हैं। क्या उन्हें भूल गये?

शंखधर ने लजाते हुए कहा—जी नहीं, शाम को जाने का इरादा था। उन्हीं के आशीर्वाद से तो मुझे पिताजी के दर्शन हुए। उन्हें कैसे भूल सकता हूँ।

मुंशी—तुम लल्लू को अपने साथ घसीट न लाये?

शंखधर—वह अपने जीवन में जो पवित्र कार्य कर रहे हैं, उसे छोड़-कर कभी न आते। मैंने अपने को ज़ाहिर नहीं किया, नहीं तो शायद वह मुझसे मिलना भी स्वीकार न करते।

इसके बाद शंखधर ने अपनी यात्रा का, अपनी कठिनाइयों का, और पिता से मिलने का सारा वृत्तान्त कहा।

यों बातें करते हुए मुंशीजी राजा साहब के पास जा पहुँचे। राजा साहब ने बड़े आदर से उनका अभिवादन किया और बोले—आप तो इधर का रास्ता ही भूल गये।

मुंशी—महाराज, अब आपका और मेरा सम्बन्ध और प्रकार का है। ज्यादा आऊँ-जाऊँ तो आपही कहेंगे, यह अब क्या करने आते हैं,

शायद कुछ लेने की नीयत से आते होंगे। कभी जिन्दगी में धनी नहीं रहा; पर मर्यादा की सदैव रक्षा की है।

राजा—आखिर आप दिन-भर बैठे वहाँ क्या करते हैं, दिल भी नहीं घबराता? (मुसकिराकर) समधिनजी में भी तो अब आकर्षण नहीं रहा।

मुंशी—वाह, आप उस आकर्षण का मजा क्या जानेंगे। मेरा तो अनुभव है कि स्त्री-पुरुष का प्रेम-सूत्र दिन-दिन दृढ़ होता जाता है। अब तो राजकुमार का तिलक हो जाना चाहिए। आप भी कुछ दिन शान्ति का आनन्द उठा लें।

राजा—विचार तो मेरा भी यही है; लेकिन मुंशीजी, न जाने क्या बात है कि जब से शंखधर आया है, न जाने क्यों मुझे शंका हो रही है कि इस मंगल में कोई-न-कोई विघ्न अवश्य पड़ेगा। दिल को बहुत समझाता हूँ; लेकिन न जाने क्यों यह शंका अन्दर से निकलने का नाम नहीं लेती।

मुंशी—आप ईश्वर का नाम लेकर तिलक कीजिए। जब टूटी हुई आशाएँ पूरी हो गईं, तो अब सब कुशल ही होगी। आज मेरे यहाँ कुछ आनन्दोत्सव होगा। आजकल शहर में अच्छे-अच्छे कलावन्त आये हुए हैं। सभी आयेंगे। आपने कृपा की, तो मेरे सौभाग्य की बात होगी।

राजा—नहीं मुंशीजी, मुझे तो क्षमा कीजिए। मेरा चित्त शान्त नहीं है। आपसे सत्य कहता हूँ मुंशीजी, आज अगर मेरा प्राणान्त हो जाय, तो मुझसे बढ़कर सुखी प्राणी संसार में न होगा। अगर प्राण दे देने की कोई सहल तरकीब मुझे मालूम होती, तो जरूर दे देता। शोक की पराकाष्ठा देख ली। आनन्द की पराकाष्ठा भी देख ली। अब और कुछ देखने की अकांक्षा नहीं है। डरता हूँ कहीं पलड़ा फिर न दूसरी ओर झुक जाय।

मुंशीजी देर तक बैठे राजा साहब को तस्कीन देते रहे; फिर सब महिलाओं को अपने यहाँ आने का निमंत्रण देकर और शंखधर को गले

लगाकर वह घोड़े पर सवार हो गये। इस निर्द्वन्द्व जीव ने चिन्ताओं को कभी अपने पास नहीं फटकने दिया। धन की इच्छा थी, ऐश्वर्य की इच्छा थी; पर उन पर जान न देते थे, संचय करना तो उन्होंने सीखा ही न था। थोड़ा मिला तब भी अभाव रहा, बहुत मिला तब भी अभाव रहा। अभाव से जीवन पर्यन्त उनका गला न छूटा। एक समय था, जब स्वादिष्ठ भोजनों को तरसते थे। अब दिल खोलकर दान देने को तरसते थे। क्या पाऊँ और क्या दे दूँ, बस फिक्र थी तो इतनी ही। कमर झुक गई थी, आँखों से सूझता भी कम था; लेकिन मजलिस नित्य जमती थी, हँसी-दिल्लगी करने में कभी न चूकते थे। दिल में किसी से कीना नहीं रक्खा, और न कभी कसी की बुराई चेती।

× × × ×

दूसरे दिन सन्ध्या-समय मुंशीजी के घर बड़ी धूम-धाम से उत्सव मनाया गया। निर्मला पोते को छाती से लगाकर खूब रोई। उसका जी चाहता था, यह मेरे ही घर रहता। कितना आनन्द होता! शंखधर से बातें करने से उसकी तृप्ति ही न होती थी। अहल्या ही के कारण उसका पुत्र हाथ से गया। पोता भी उसी के कारण हाथ से जा रहा है। इस लिए अब भी उसका मन अहल्या से न मिलता था। निर्मला को अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर सभी प्रकार के कष्ट सहना मंजूर था। वह अब इस अंतिम समय किसी को आँखों की ओट न करना चाहती थी। न जाने कब दम निकल जाय, कब आँखें बन्द हो जायँ। बेचारी किसी को देख भी न सके।

बाहर गाना हो रहा था। मुंशीजी शहर के रईसों की दावत का इन्तज़ाम कर रहे थे। अहल्या लालटेन ले-लेकर घर-भर की चीज़ों को देख रही थी और अपनी चीज़ों के तहस-नहस होने पर मन-ही-मन झुँझला रही थी। उधर निर्मला चारपाई पर लेटी शंखधर की बातें सुनने में तन्मय हो रही थी। कमला उसके पाँव दबा रही थी, और शंखधर उसे

पंखा झल रहा था। क्या स्वर्ग में इससे बढ़कर कोई सुख होगा। इस सुख से उसे अहल्या वंचित कर रही थी। उसने आकर उसका घर मटियामेट कर दिया!

प्रातःकाल जब शंखधर बिदा होने लगे, तो निर्मला ने कहा—बेटा अब बहुत दिन न चलूँगी। जब तक जीती हूँ, एक बार रोज़ आया करना।

मुन्शीजी ने कहा—आख़िर सैर करने तो रोज़ ही निकलोगे। घूमते हुए इधर भी आ जाया करो। यह मत समझो कि यहाँ आने से तुम्हारा समय नष्ट होगा। बड़े-बूढ़ों के आशीर्वाद निष्फल नहीं जाते। मेरे पास राज-पाट नहीं; पर ऐसा धन है, जो राज-पाट से कहीं बढ़कर है। बड़ी सेवा, बड़ी तपस्या करके मैंने उसे एकत्र किया है। वह मुझसे ले लो। अगर साल-भर भी बिला नागा अभ्यास करो, तो बहुत कुछ सीख सकते हो। इसी विद्या की बदौलत तुमने ५ वर्ष देश-विदेश की यात्रा की। कुछ दिन और अभ्यास कर लो, तो पारस हो जाओ।

निर्मला ने मुंशीजी का तिरस्कार करते हुए कहा—भला रहने दो अपनी विद्या, आये वहाँ से बड़े विद्वान् बनके! उसे तुम्हारी विद्या नहीं चाहिए। चाहे तो सारे देश के उस्तादों को बुलाकर गाना सुने। उसे कमी काहे की है।

मुन्शी—तुम तो हो मूर्ख। तुमसे कोई क्या कहे। इस विद्या से देवता प्रसन्न हो जाते हैं, ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं, तुम्हें कुछ ख़बर भी है। बड़े भाग्यवान् होते हैं, उन्हें यह विद्या आती है।

निर्मला—अभी तो बड़े भाग्यवान् हो।

मुन्शी—तो और क्या भाग्यहीन हूँ? जिसके ऐसा देव-रूप पोता हो, ऐसी देव-कन्या-सी बहू हो, मकान हो, जायदाद हो, चार को खिला-कर खाता हो, क्या वह अभागा है? जिसकी इज़्ज़त-आबरू से निभ जाय, जिसका लोग यश गावें, वही भाग्यवान् है। धन गाड़ लेने ही से कोई भाग्यवान् नहीं हो जाता।

आज राजा साहब के यहाँ भी उत्सव था ; इसलिए शंखधर इच्छा रहते हुए भी न ठहर सके।

स्त्रियाँ निर्मला के चरणों को अंचल से स्पर्श करके विदा हो गईं, तो शंखधर खड़े हुए। निर्मला ने रोते हुए कहा—कल मैं तुम्हारी बाट देखती रहूँगी।

शंखधर ने कहा—अवश्य आऊँगा।

जब वह मोटर पर बैठ गये, तो निर्मला द्वार पर खड़ी होकर उन्हें देखती रही। शंखधर के साथ ही उसका हृदय भी चला जा रहा था। युवकों के प्रेम में उद्विग्नता होती है, वृद्धों का प्रेम हृदयविदारक होता है। युवक जिससे प्रेम करता है, उससे प्रेम की आशा भी रखता है। अगर उसे प्रेम के बदले प्रेम न मिले, तो वह प्रेम को हृदय से निकाल-कर फेंक देगा। वृद्ध जनों को भी क्या यही आशा होती है? वे प्रेम करते हैं और जानते हैं कि इसके बदले में उन्हें कुछ न मिलेगा। या मिलेगी, तो दया। शंखधर की आँखों में आँसू न थे, हृदय में तड़प न थी, वह यों प्रसन्न चित्त चले जा रहे थे, मानों सैर करके लौटे जा रहे हों।

मगर निर्मला का दिल फटा जाता था और मुन्शी वज्रधर की आँखों के सामने अन्धेरा छा रहा था।

५३

कई दिन गुजर गये। राजा साहब हरिभजन और देवोपासन में व्यस्त थे। इधर ५-६ वर्ष से उन्होंने किसी मंदिर की तरफ झाँका भी न था, धर्म-चरचा का बहिष्कार-सा कर रक्खा था। रियासत में धर्म का खाता ही तोड़ दिया गया था। जो कुछ धार्मिक जीवन था, वह वसुमती के दम से। मगर अब एकाएक देवताओं में राजा साहब की फिर श्रद्धा हो आई थी। धर्मखाता फिर खोला गया और जो वृत्तियाँ बंद कर दी गई थीं, वह फिर से बाँधी गईं। राजा साहब ने फिर चोला बदला। वह धर्म या देवता, किसी के साथ निस्स्वार्थ प्रेम नहीं रखते थे। जब सन्तान की ओर से निराशा हो गई, तो उनका धर्मानुराग भी शिथिल हो गया। जब अहल्या और शंखधर ने उनके जीवन-क्षेत्र में पदार्पण किया, तब फिर धर्म और दान-व्रत की ओर उनकी रुचि हुई। जब शंखधर चला गया और ऐसा मालूम हुआ कि अब उसके लौटने की आशा नहीं है, तो राजा साहब ने धर्म की अवहेलना ही नहीं की, देवताओं के साथ ज़ोर-शोर के साथ प्रतिरोध करने लगे। धर्म-संगत बातों को चुन-चुनकर बन्द किया। अधर्म की बातें चुन-चुनकर ग्रहण कीं। शंखधर के लौटते ही उनका धर्मानुराग फिर जागृत हो गया। संपत्ति मिलने ही पर तो रक्षकों की आवश्यकता होती है।

इन दिनों राजा साहब बहुधा एकान्त में बैठे किसी चिन्ता में मग्न रहते थे। बाहर कम निकलते। भोजन से भी उन्हें कुछ अरुचि हो गई थी। वह मानसिक अंधकार, जो नैराश्य की दशा में उन्हें घेरे हुए था, अब एकाएक आशा के प्रकाश से छिन्न-भिन्न हो गया था। धर्मानुराग के

साथ उनका कर्तव्य-ज्ञान भी जाग पड़ा था। जैसे जीवनलीला के अन्तिम काल में हमें मुक्ति की चिंता सवार होती है, बड़े-बड़े भोगी भी रामायण और भागवत का पाठ करने लगते हैं, उसी भाँति राजा साहब को अब बहुधा अपनी अपकीर्ति पर पश्चात्ताप होता था।

आधी रात से अधिक बीत चुकी थी। रनिवास में सोता पड़ा हुआ था। अहल्या के बहुत समझाने पर भी मनोरमा अपने पुराने भवन में न आई। वह उसी छोटी कोठरी में पड़ी हुई थी। सहसा राजा साहब ने प्रवेश किया। मनोरमा विस्मित होकर उठ खड़ी हुई।

राजा साहब ने कोठरी को ऊपर-नीचे देखकर करुण स्वर में कहा—नोरा, मैं आज तुमसे अपना अपराध क्षमा कराने आया हूँ। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, उसे क्षमा कर दो। मुझे इतने दिनों तक क्या हो गया था, कह नहीं सकता। ऐसा मालूम होता है कि रोहिणी की मृत्यु के पश्चात् जो दुर्घटनाएँ हुईं, उन्होंने मेरे चित्त को अस्थिर कर दिया। मुझे ऐसा मालूम होता था कि शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ। मन में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठा करती थीं। किसी पर विश्वास न होता था। अब भी मुझे किसी अनिष्ट की शंका हो रही है; लेकिन वह दशा नहीं। तुम मेरी रक्षा के लिए जो कुछ कहती और करती थीं, उसमें मुझे कपट की गन्ध आती थी। अब की ही तुमने मुझे सावधान रहने के लिए कहा था; लेकिन मैं उसका आशय कुछ और ही समझ बैठा और तुम्हारे ऊपर पहरा बिठा दिया। अपने होश में रहनेवाला आदमी कभी ऐसी बातें न करेगा।

मनोरमा ने सजल नेत्र होकर कहा—उन बातों की याद न कीजिए। आपको भी दुःख होता है और मुझे भी दुःख होता है। मेरा ईश्वर जानता है कि एक क्षण के लिए भी मेरे हृदय में आपके प्रति दुर्भावना नहीं उत्पन्न हुई।

राजा—जानता हूँ नोरा, जानता हूँ। तुम्हें इस कोठरी में पड़े देखकर इस समय मेरा हृदय फटा जाता है। हा! अब मुझे मालूम हो

रहा है कि दुर्दिन में मन के कोमल भावों का सर्वनाश हो जाता है और उनकी जगह कठोर, पाशविक भाव जागृत हो जाते हैं। सच तो यह है नोरा, कि मेरा जीवन ही निष्फल हो गया। प्रभुता पाकर मुझे जो कुछ करना चाहिए था, सो कुछ न किया, जो कुछ करने के मंसूबे दिल में थे, एक भी न पूरे हुए। जो कुछ किया, उलटा ही किया। मैं रानी देवप्रिया के राज्य-प्रबन्ध पर हँसा करता था; पर मैंने प्रजा पर जितना अन्याय किया, उतना देवप्रिया ने कभी नहीं किया था। मैं क़र्ज़ को काला साँप समझता था; पर आज रियासत क़र्ज़ के बोझ से लदी हुई है। प्रजा रानी देवप्रिया का नाम आज भी आदर के साथ लेती है। मेरा नाम सुनकर लोग कानों पर हाथ रख लेते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ मुझे यह रियासत न मिली होती, तो मेरा जीवन कहीं अच्छा होता।

मनोरमा—मुझे भी अकसर यही विचार हुआ करता है।

राजा—अब जीवनलीला समाप्त करते समय अपने जीवन पर निगाह डालता हूँ, तो मालूम होता है, मेरा जन्म ही व्यर्थ हुआ। मुझसे किसी का उपकार न हुआ। मैं गृहस्थी के उस सुख से भी वंचित रहा, जो छोटे-से-छोटे मनुष्यों के लिए भी सुलभ है। मैंने कुल मिलाकर छः विवाह किये और सातवाँ करने जा रहा था। क्या किसी स्त्री को मुझसे सुख पहुँचा? यहाँ तक कि तुम-जैसी देवी को भी मैं सुखी न रख सका। नोरा, इसमें रत्ती-भर भी बनावट नहीं है कि मेरे जीवन में अगर कोई मधुर स्मृति है, तो वह तुम हो, और तुम्हारे साथ मैंने यह व्यवहार किया! कह नहीं सकता, मेरी आँखों पर क्यों परदा पड़ा हुआ था। शंखधर अपने साथ मेरे हृदय की सारी कोमलताओं को लेता गया था। उसे पाकर आज मैं फिर अपने को पा गया। सच कहता हूँ, उसके आते ही मैं अपने को पा गया; लेकिन नोरा, मेरा हृदय अन्दर-ही-अन्दर काँप रहा है। मैं इस शङ्का को किसी तरह दिल से बाहर नहीं निकाल सकता कि कोई अनिष्ट होनेवाला है। उस समय मेरी क्या

दशा होगी। उसकी कल्पना करके मैं घबरा जाता हूँ, मुझे रोमांच हो जाता है, और जी चाहता है, प्राणों का अन्त कर दूँ। ऐसा मालूम होता है, मैं सोने की गठरी लिये भयानक वन में अकेला चला जा रहा हूँ। न जाने कब डाकुओं का निर्दय हाथ मेरी गठरी पर पड़ जाय। बस, यह धड़कन मेरे रोम-रोम में समाई हुई है।

मनोरमा—जब ईश्वर ने गई हुई आशाओं को जिलाया है, तो अब सब कुशल ही होगी। अगर अनिष्ट होना होता, तो यह बात ही न होती। मैं तो यही समझती हूँ।

राजा—क्या करूँ नोरा, मुझे इस विचार से शान्ति नहीं होती। मुझे भय होता है कि यह किसी अमंगल का पूर्वाभास है।

यह कहते-कहते राजा साहब मनोरमा के और समीप चले आये और उसके कान के पास मुँह ले जाकर बोले—यह शंका बिलकुल अकारण ही नहीं है नोरा! रानी देवप्रिया के पति मेरे बड़े भाई होते थे। उनकी सूरत शंखधर से बिलकुल मिलती है। जवानी में मैंने उनको देखा था। हूबहू यही सूरत थी। तिल-बराबर भी फ़र्क़ नहीं। भाई साहब का एक चित्र मेरे अलबम में है। तुम यही कहोगी कि यह शंखधर ही का चित्र है। इतनी समानता तो जुड़वाँ भाइयों में भी नहीं होती। कोई पुराना नौकर नहीं है, नहीं तो मैं इसकी साक्षी दिला देता। पहले शंखधर की सूरत भाई साहब से उतनी ही मिलती थी, जितनी मेरी। अब तो ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं भाई साहब ही आ गये हैं।

मनोरमा—तो इसमें शङ्का की क्या बात है? उसी वृक्ष का फल शंखधर भी तो है।

राजा—आह! नोरा, तुम यह बात नहीं समझ रही हो। तुम्हें कैसे समझा दूँ। इसमें भयङ्कर रहस्य है नोरा! मैंने अब की शंखधर को देखा, तो चौंक पड़ा। सच कहता हूँ, उसी वक्त मेरे रोएँ खड़े हो गये।

मनोरमा—आश्चर्य तो मुझे भी हो रहा है। रानी रामप्रिया आई

थीं। वह कहती थीं, बहू की सूरत रानी देवप्रिया से बिल्कुल मिलती है। वह भी बहू को देखकर विस्मित रह गईं थीं।

राजा ने घबराकर कहा—रामप्रिया ने मुझसे यह बात नहीं कही नोरा! अब कुशल नहीं है। मैं तुमसे कहता हूँ नोरा, मेरी बात को यथार्थ समझो। अब कुशल नहीं है। कोई भारी दुर्घटना होने वाली है। हा! विधाता, इससे तो अच्छा था कि मैं निस्सन्तान ही रहता!

राजासाहब ने विकल होकर दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और चिन्ता में डूब गये। एक क्षण के बाद मानों मन-ही-मन यह निश्चय करके कि अमुक दशा में उन्हें क्या करना होगा, अत्यन्त स्नेह-करुण शब्दों में मनोरमा से बोले—क्यों नोरा, एक बात तुमसे पूछूँ, बुरा तो न मानोगी। मेरे मन में कभी-कभी यह प्रश्न हुआ करता है कि तुमने मुझसे क्यों विवाह किया? उस वक्त भी मेरी अवस्था ढल चुकी थी। धन का इच्छुक मैंने तुम्हें कभी नहीं पाया। जिन वस्तुओं पर अन्य स्त्रियाँ प्राण देती हैं, उनकी ओर मैंने तुम्हारी रुचि कभी नहीं देखी। क्या यह केवल ईश्वरीय प्रेरणा थी, जिसके द्वारा मेरे पूर्व पुण्य का उपहार दिया गया हो?

मनोरमा ने मुसकिराकर कहा—दण्ड कहिए।

राजा—नहीं नोरा, मैंने जीवन में जो कुछ सुख और स्वाद पाया, वह तुम्हारे स्नेह और माधुर्य में पाया। यह भाग्य की निर्दय क्रीड़ा है कि जिसे मैं अपना सुख-सर्वस्व समझता था, उसी पर सबसे अधिक अन्याय किया; किन्तु अब मुझे अपने अन्याय पर दुःख के बदले एक प्रकार का सन्तोष हो रहा है। वह परीक्षा थी, जिसने तुम्हारे सतीत्व को और उज्ज्वल कर दिया, जिसने तुम्हारे हृदय की उस अपार कोमलता का परिचय दे दिया, जो कठोर होना नहीं जानती, जो कञ्चन की भाँति तपने पर और भी विशुद्ध और उज्ज्वल हो जाती है। इस परीक्षा के बिना तुम्हारे यह गुण छिपे रह जाते। मैंने तुम्हारे साथ जो-जो नीचताएँ कीं,

वे किसी दूसरी स्त्री में शत्रुता के भाव उत्पन्न कर देतीं। वह मानसिक वेदना, वह अपमान, वह दुर्जनता दूसरा कौन सहता और सहकर हृदय में मैल न आने देता ? इसका बदला मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ।

मनोरमा—स्त्री क्या बदले ही के लिए पुरुष की सेवा करती है ?

राजा—इस विषय को और न बढ़ाओ मनोरमा, नहीं कदाचित् तुम्हें मेरे मुँह से अपनी अन्य बहनों के विषय में अप्रिय सत्य सुनना पड़ जाय। मेरे उस प्रश्न का उत्तर दो, जो अभी मैंने तुमसे किया था। वह कौन-सी बात थी, जिसने तुम्हें मुझसे विवाह करने की प्रेरणा की ?

मनोरमा—बता दूँ ! आप हँसिएगा तो नहीं ? मैं रानी बनना चाहती थी। मैंने बाबूजी से आपकी बड़ी तारीफ़ सुनी थी। यह भी एक कारण था, और सबसे बड़ा कारण था आपकी सहृदयता और आपकी विश्वासमय सेवा।

राजा—रानी किस लिए बनना चाहती थीं नोरा ?

मनोरमा—आप राजा जिस लिए बनना चाहते थे, उसी लिए मैं भी रानी बनना चाहती थी। कीर्ति, दान, यश, सेवा, मैं इन्हीं को अधिकार के सुख समझती हूँ। प्रभुता और विलास के लिए नहीं।

राजा—इसका आशय यही है न कि कीर्ति तुम्हारे जीवन की सबसे बड़ी अकांक्षा थी या कुछ और ? कीर्ति के लिए तुमने यौवन के अन्य सुखों का त्याग कर दिया। मैं यह पहले ही से जानता था नोरा और इसी लिए स्वभाव से कृपण होने पर भी मैंने कभी तुम्हारे उपकार के कामों में बाधा नहीं डाली। मेरे लिए सेवा और उपकार गौण बातें थीं। अधिकार, ऐश्वर्य, शासन, इन्हीं को मैं प्रधान समझता था। तुम्हारा आदर्श कुछ और है, मेरा कुछ और। जब कीर्ति के लिए तुमने जीवन के और सभी सुखों पर लात मार दी, तो मैं चाहता हूँ कि कोई ऐसी व्यवस्था कर दूँ, जिसमें तुम्हें आगे चलकर किसी बाधा का सामना न करना पड़े। कौन जानता है क्या होनेवाला है नोरा ! पर मैं यह आशा कदापि नहीं करता कि शंखधर तुम्हें प्रसन्न रखने की उतनी चेष्टा करेगा,

जितनी उसे करनी चाहिए। मैं उसकी बुराई नहीं कर रहा हूँ। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है; इसलिए मैं यह चाहता हूँ कि रियासत का एक भाग तुम्हारे नाम लिख दूँ। मेरी बात सुन लो मनोरमा, मैंने दुनिया देखी है और दुनिया का व्यवहार जानता हूँ। इसमें न मेरी कोई हानि है, न तुम्हारी, न शंखधर की। तुम्हें इसका अख्तियार होगा कि यदि इच्छा हो, तो अपना हिस्सा शंखधर को दे दो; लेकिन एक हिस्सा पर तुम्हारा नाम होना जरूरी है। मैं कोई आपत्ति न मानूँगा।

मनोरमा—मेरी कीर्ति अब इसी में है कि आपकी सेवा करती रहूँ।

राजा—नोरा, तुम अब भी मेरी बातें नहीं समझीं। मेरे मन में कैसी-कैसी शंकाएँ हैं, यह मैं तुमसे कहूँ, तो तुम्हारे ऊपर जुल्म होगा। मुझे लक्षण बुरे दिखाई दे रहे हैं।

मनोरमा ने अब की दृढ़ता से कहा—आपकी शंकाएँ निर्मूल हैं; लेकिन यदि ईश्वर कुछ बुरा ही करनेवाले हों, तो भी मैं शंखधर की प्रतियोगिनी बनना न स्वीकार करूँगी, जिसे मैंने पुत्र की भाँति पाला है। चक्रधर का पुत्र इतना कृतघ्न नहीं हो सकता।

राजा ने जाँघ पर हाथ पटककर कहा—नोरा, तुम अब भी नहीं समझीं। खैर कल से तुम नये भवन में रहोगी। यह मेरी आज्ञा है।

यह कहते हुए वह उठ खड़े हुए। बिजली के निर्मल प्रकाश में मनोरमा उन्हें खड़ी देखती रही। गर्व से उसका हृदय फूला न समाता था। इस बात का गर्व नहीं था कि अब फिर रियासत में उसकी तूती बोलेगी, फिर वह मनमाना धन लुटायेगी। गर्व इस बात का था कि मेरे स्वामी मेरा इतना आदर करते हैं। आज विशालसिंह ने मनोरमा के हृदय पर अंतिम विजय पाई। आज मनोरमा को अपने स्वामी की सहृदयता ने जीत लिया। प्रेम सहृदयता ही का रसमय रूप है। प्रेम के अभाव में सहृदयता ही दम्पति के सुख का मूल हो जाती है।

५८

राजा साहब को अब किसी तरह शान्ति न मिलती थी। कोई-न-कोई भयंकर विपत्ति आनेवाली है, इस शंका को वह दिल से न निकाल सकते थे। दो-चार प्राणियों को ज़ोर-ज़ोर से बातें करते सुनकर वह घबरा जाते थे कि कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई। शंखधर कहीं जाता, तो जब तक वह कुशल से लौट न आये, वह व्याकुल रहते थे। उनका जी चाहता था, यह मेरी आँखों के सामने से दूर न हो। उसके मुख की ओर देखकर उनकी आँखें आप-ही-आप सजल हो जाती थीं! वह रात को उठकर ठाकुरद्वारे में चले जाते और घण्टों ईश्वर की वन्दना किया करते। जो शंका उनके मन में थी, उसे प्रकट करने का उन्हें साहस न होता था। वह उसे स्वयं व्यक्त न कर सकते थे। वह अपने मरे हुए भाई की स्मृति को मिटा देना चाहते थे; पर वह सूरत आँखों से न टलती थी। कोई ऐसी क्रिया, ऐसी आयोजना, ऐसी विधि न थी, जो इस सिर पर मँडरानेवाले संकट का मोचन करने के लिए न की जा रही हो; पर राजा साहब को शान्ति न मिलती थी।

संध्या हो गई थी। राजा साहब ने मोटर मँगवाई और मुंशी वज्रधर के मकान पर जा पहुँचे। मुंशीजी की संगीत-मंडली जमा हो गई थी। संगीत ही उनका दान, व्रत, ध्यान और तप था। उनकी सारी चिंताएँ, सारी बाधाएँ, संगीत-स्वरों में विलीन हो जातीं थीं। मुंशीजी राजा साहब को देखते ही खड़े होकर बोले—आइए, महाराज! आज ग्वालियर के एक आचार्य का गाना सुनाऊँ। आपने बहुत गाने सुने होंगे; पर इनका गाना कुछ और ही चीज है।

राजा साहब मन में मुंशीजी की बेफ़िक्री पर झुँझलाये। ऐसी प्राणी भी संसार में हैं, जिन्हें अपने विलास के आगे किसी वस्तु की परवा नहीं। शंखधर से मेरा और इनका एक-सा सम्बन्ध है; पर यह अपने संगीत में मस्त हैं और मैं शंकाओं से व्यग्र हो रहा हूँ। सच है—'सबसे अच्छे मूढ़, जिन्हें न व्यापत जगत-गति।' बोले—इसीलिए तो आया ही हूँ; पर ज़रा देर के लिए आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।

दोनों आदमी अलग एक कमरे में जा बैठे। राजा साहब सोचने लगे, किस तरह बात शुरू करूँ। मुंशीजी ने उनको असमंजस में देखकर कहा—मेरे लायक़ जो काम हो फ़रमाइए। आप बहुत चिंतित मालूम होते हैं। बात क्या है?

राजा—मुझे आपके जीवन पर डाह होता है। आप मुझे भी क्यों नहीं निर्द्वन्द्व रहना सिखा देते?

मुंशी—यह तो कोई कठिन बात नहीं। इतना ही समझ लीजिए कि ईश्वर ने संसार की सृष्टि की है और वही इसे चलाता है। जो कुछ उसकी इच्छा होगी वही होगा। फिर हम उसकी चिंता का भार क्यों लें।

राजा—यह तो बहुत दिनों से जानता हूँ; पर इससे चित्त को शांति नहीं होती। अब मुझे मालूम हो रहा है कि संसार में मन लगाना ही सारे दुःख का मूल है। जगदीशपुर-राज्य को भोगना ही मेरे जीवन का लक्ष्य था। मैंने अपने जीवन में जो कुछ किया, इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए। अपने जीवन पर कभी एक क्षण के लिए भी विचार नहीं किया। जीवन का सदुपयोग कैसे होगा, इस पर कभी ध्यान नहीं दिया। जब राज्य न था, तब कुछ दिनों के लिए सेवा के भाव मन में जागृत हुए थे। वह भी बाबू चक्रधर के सत्संग से। राज्य मिलते ही मेरी कायापलट हो गई। फिर कभी आत्म-चिंतन की नौबत न आई। शंखधर को पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे जीवन में ज्योति-सी आ गई। मैं सब कुछ पा गया; पर अब की जब से शंखधर लौटा है, मुझे उसके विषय

में भयंकर शंका हो रही है। आपने मेरे भाई साहब को देखा था ?

मुंशी—जी नहीं, उन दिनों तो मैं बाहर नौकर था। अजी तब इल्म की क़द्र थी। मिडिल पास करते ही सरकारी नौकरी मिल गई। स्कूल में कोई लड़का मेरी टक्कर का न था। अध्यापकों को भी मेरी बुद्धि पर आश्चर्य होता था। बड़े पण्डितजी कहा करते थे, यह लड़का एक दिन बड़े ओहदे पर पहुँचेगा। उनकी भविष्य-वाणी उस दिन पूरी हुई, जब मैं तह-सीलदारी पर पहुँचा।

राजा—भाई साहब की सूरत आज तक मेरी आँखों में फिर रही है। यह देखिए, उनकी तसवीर है।

राजा साहब ने एक फोटो निकालकर मुंशीजी को दिखाया। मुंशीजी उसे देखते ही बोले—यह तो शंखधर की तसवीर है।

राजा—नहीं साहब, यह मेरे बड़े भाई साहब का फोटो है। शंखधर ने तो अभी तक तसवीर ही नहीं खिंचवाई। न-जाने तसवीर खिंचाने से उसे क्यों चिढ़ है।

मुंशी—मैं इसे कैसे मान लूँ। यह तसवीर साफ़ शंखधर की है।

राजा—तो मालूम हो गया कि मेरी आँखें धोखा नहीं खा रही थीं।

मुंशी—क्या सचमुच यह आपके भाई साहब का फोटो है ?

राजा—जी हाँ, यक़ीन मानिए।

मुंशी—तब तो बड़ी विचित्र बात है।

राजा—अब आपसे क्या अर्ज़ करूँ। मुझे बड़ी शंका हो रही है, रात को नींद नहीं आती। दिन को बैठे-बैठे चौंक पड़ता हूँ। दो प्राणियों की सूरतें कभी इतनी नहीं मिलतीं। भाई साहब ने ही फिर मेरे घर में जन्म लिया है, इसमें मुझे बिलकुल शंका नहीं रही। ईश्वर ही जाने क्यों उन्होंने कृपा की है। अगर शंखधर का बाल भी बाँका हुआ, तो मेरे प्राण न बचेंगे।

मुंशी—ईश्वर चाहेंगे, तो सब कुशल होगी। घबराने की कोई बात नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है।

राजा—अगर ईश्वर चाहते कि कुशल हो, तो यह समस्या ही क्यों आगे आती। उन्हें कुछ-न-कुछ अनिष्ट करना है। मेरी शंका निर्मूल नहीं है मुंशीजी, बहू की सूरत भी रानी देवप्रिया से मिल रही है। रामप्रिया तो बहूजी को देखकर मूर्च्छित हो गई थी। वह कहती है, देवप्रिया ही ने अवतार लिया है। भाई और भावज का फिर इस घर में अवतार लेना क्या अकारण ही है? भगवन्, अगर तुम्हें फिर वही लीला दिखानी हो, तो मुझे संसार से उठा लो।

मुंशीजी ने अब की कुछ चिंतित होकर कहा—यह तो वास्तव में बड़ी विचित्र बात है।

राजा—विचित्र नहीं है मुंशीजी, इस रियासत का सर्वनाश होनेवाला है। रानी देवप्रिया ने अगर जन्म लिया है, तो वह कभी सधवा नहीं रह सकती। उसे न जाने कितने दिनों तक अपने पूर्व-कर्मों का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। दैव ने मुझे दण्ड देने के लिए, मेरे पूर्व-कर्मों के फल-स्वरूप यह विधान किया है; पर आप देख लीजिएगा, मैं अपने को उसके हाथों की कठपुतली न बनाऊँगा; अगर मैंने बुरे कर्म किये हैं, मुझे जो दण्ड चाहो दो, मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा। मुझे अन्धा कर दो, भिक्षुक बना दो, मेरा एक-एक अंग गल-गलकर गिरे, मैं दाने-दाने को मुहताज हो जाऊँ। यह सारे दण्ड मुझे मंजूर हैं; लेकिन शंखधर का सिर भी दुखे यह मैं नहीं सह सकता। इसके पहले मैं अपनी जान दे दूँगा। विधाता के हाथ की कठपुतली न बनूँगा।

मुंशी—आपने किसी पण्डित से इस विषय में पूछ-ताछ नहीं की?

राजा—जी नहीं, किसी से नहीं। जो बात प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, उसे किसी से क्या पूछूँ। कोई अनुष्ठान, कोई प्रायश्चित्त इस संकट को नहीं टाल सकता। उसके रूप की कल्पना करके मेरी आँखों में अँधेरा छा जाता है। पण्डित लोग अपने स्वार्थ के लिए तरह-तरह के अनुष्ठान बता देंगे; लेकिन अनुष्ठानों से विधि का विधान नहीं पलटा जा सकता। मैं अपने

को इस धोखे में नहीं डाल सकता। मुंशीजी, अनुष्ठानों का मूल्य मैं खूब जानता हूँ। माया बड़ी कठोर-हृदय होती है मुंशीजी! मैंने जीवन-पर्यन्त उसकी उपासना की। कर्म-अकर्म का एक क्षण भी विचार नहीं किया। उसका मुझे यह उपहार मिल रहाहै! लेकिन मैं उसे दिखा दूँगा कि वह मुझे अपने विनोद का खिलौना नहीं बना सकती। मैं उसे कुचल दूँगा, जैसे कोई ज़हरीले साँप को कुचल डालता है। अपना सर्वनाश अपनी आँखों देखने ही में दुःख है। मैं उस पिशाचिनी को यह अवसर न दूँगा कि वह मुझे रुलाकर आप हँसे। मैं संसार के सबसे सुखी प्राणियों में हूँ। इसी दशा में संसार से विदा हो जाऊँगा। मेरे बाद मेरा निर्माण किया हुआ भवन रहेगा या गिर पड़ेगा, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। अपनी आँखों से अपना सर्वनाश न देखूँगा। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस स्थिति में भी आप कैसे संगीत का आनन्द उठा सकते हैं।

मुंशीजी ने गम्भीर भाव से कहा—मैं अपनी ज़िन्दगी में कभी नहीं रोया। ईश्वर ने जिस दशा में रक्खा, उसमें प्रसन्न रहा। फ़ाक़े भी किये हैं और आज ईश्वर की दया से पेट-भर भोजन भी करता हूँ; पर रहा एक ही रस। न साथ कुछ लाया हूँ, न ले जाऊँगा। व्यर्थ क्यों रोऊँ?

राजा—आप ईश्वर को दयालु समझते हैं? ईश्वर दयालु नहीं है।

मुंशी—मैं तो ऐसा नहीं समझता।

राजा—नहीं, वह पल्ले सिरे का कपटी, निर्दयी जीव है, जिसे अपने ही रचे हुए प्राणियों को सताने में आनन्द मिलता है, जो अपने ही बालकों के बनाये हुए घरौंदे रौंदता फिरता है। आप उसे दयालु कहें, संसार उसे दयालु कहे, मैं नहीं कह सकता। अगर मेरे पास शक्ति होती, तो मैं उसका यह सारा विधान उलट-पलट देता। उसमें संसार के रचने की शक्ति है, उसे चलाने की नहीं।

राजा साहब उठ खड़े हुए और चलते-चलते गम्भीर भाव से बोले—

जो बात पूछने आया था, वह तो भूल ही गया। आपने साधु-सन्तों की बहुत सेवा की है। मरने के बाद जीव को किसी बात का दुःख तो नहीं होता?

मुंशी—सुना तो यही है कि होता है और उससे अधिक होता है, जितना जीवन में।

राजा—झूठी बात है, बिलकुल झूठी। विश्वास नहीं आता। उस लोक के दुख-सुख और ही प्रकार के होंगे। मैं तो समझता हूँ, किसी बात की याद ही न रहती होगी। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ये सब विद्वानों के गोरख-धन्धे हैं। मैं उनमें न पड़ूँगा। अपने को ईश्वर की दया और भय के धोखे में न डालूँगा। मेरे बाद जो कुछ होना है वह तो होगा ही, आपसे इतना ही कहना है कि अहल्या को ढारस दीजिएगा। मनोरमा की ओर से मैं निश्चिन्त हूँ। वह सभी दशाओं में सँभल सकती है। अहल्या उस वज्राघात को न सह सकेगी।

मुंशीजी ने भयभीत होकर राजा साहब का हाथ पकड़ लिया और सजल नेत्र होकर बोले—आप इतने निराश क्यों होते हैं। ईश्वर पर भरोसा कीजिए। सब कुशल होगी।

राजा—क्या करूँ, मेरा हृदय आपका-सा नहीं है। शंखधर का मुँह देखकर मेरा खून ठण्डा हो जाता है। मेरा नाती नहीं, शत्रु है। इससे कहीं अच्छा था निस्सन्तान रहता। मुंशीजी, आज मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि निर्धन होकर मैं इससे कहीं सुखी रहता।

राजा साहब द्वार की ओर चले। मुंशीजी भी उनके साथ मोटर तक आये। शंका के मारे मुँह से शब्द न निकलता था। दीन भाव से राजा साहब की ओर देख रहे थे, मानों प्राणदान माँग रहे हों।

राजा ने मोटर पर बैठकर कहा—अब तक़लीफ़ न कीजिए, जो बात कही है, उसका ध्यान रखिएगा।

मुंशीजी मूर्तिवत् खड़े रहे। मोटर चली गई।

५५

शंखधर राजकुमार होकर भी तपस्वी है। विलास की किसी वस्तु से उसे प्रेम नहीं। दूसरों से वह बहुत प्रसन्न होकर बातें करता है। अहल्या और मनोरमा के पास वह घण्टों बैठा गप-शप किया करता है, दादा और दादी के समीप जाकर तो उसकी हँसी की पिटारी-सी खुल जाती है; लेकिन सैर-शिकार से कोसों भागता है। एकान्त में बैठा हुआ वह नित्य गहरे विचारों में मग्न रहता है। उसके जी में बार-बार आता है कि पिताजी के पास चला जाऊँ; पर घरवालों के दुःख का विचार करके जाने की हिम्मत नहीं पड़ती। जब उसके पिता ने सेवा-व्रत ले रक्खा है, तो वह किस हृदय से राज्य-सुख भोगे? नरम-नरम तकिये उसके हृदय में काँटे के समान चुभते हैं, स्वादिष्ठ भोजन उसे ज़हर की तरह लगता है।

पर सबसे विचित्र बात यह है कि वह कमला से भागता रहता है। युवती देवप्रिया अब वह रानी कमला नहीं है, जो हर्षपुर में तप और व्रत में मग्न रहती थी। वे सभी कामनाएँ जो रमणी के हृदय में लहरें मारा करती हैं, उदित हो गई हैं। वह नित्य नये रूप बदलकर शंखधर के पास आती है; पर ठीक उसी समय शंखधर को या तो कोई जरूरी काम बाहर ले जाता है, या वह कोई धार्मिक प्रश्न उठा देता है। रात को भी शंखधर कुछ-न-कुछ पढ़ता-लिखता रहता है। कभी-कभी सारी रात पढ़ने ही में कट जाती है। देवप्रिया उसकी राह देखती-देखती सो जाती है। विपत्ति तो यह है कि देवप्रिया को पूर्व-जीवन की सभी बातें याद हैं, वायुयान का दृश्य भी याद है; पर वह सोचती है, एक बार ऐसा हुआ, तो क्या बार-बार होगा। उसने अपना वैधव्य कितने

संयम से व्यतीत किया था। क्या पूर्व-कर्मों का प्रायश्चित्त इतने पर भी पूरा नहीं हुआ।

प्रकृति माधुर्य में डूबी हुई है। आधी रात का समय है। चारों तरफ़ चाँदनी छिटकी हुई है। वृक्षों के नीचे कैसा सुन्दर जाल बिछा हुआ है! क्या पक्षि-हृदय को फँसाने के लिए? नदियों पर कैसा सुन्दर जाल है! क्या मीन-हृदय को तड़पाने के लिए? ये जाल किसने फैला रक्खे हैं?

देवप्रिया ने आज अपने आभूषण उतार दिये हैं, केश खोल दिये हैं और वियोगिनी के रूप में पति से प्रेम की भिक्षा माँगने जा रही है। आईने के सामने जाकर खड़ी हो गई। आईना चमक उठा। देवप्रिया विजय-गर्व से मुसकिराई। कमरे के बाहर निकली।

सहसा उसके अन्तःकरण में कहीं से आवाज आई—सर्वनाश! देवप्रिया के पाँव रुक गये। देह शिथिल पड़ गई। उसने भीत-दृष्टि से इधर-उधर देखा। फिर आगे बढ़ी।

उसी समय वायु बड़े वेग से चली। कमरे में कोई चीज खट! खट! करती हुई नीचे गिर पड़ी। देवप्रिया ने कमरे में जाकर देखा। शंखधर का तैल-चित्र संगमरमर की भूमि पर गिरकर चूर-चूर हो गया था। देवप्रिया के अन्तःकरण में फिर वही आवाज आई—सर्वनाश! उसके रोएँ खड़े हो गये। पुष्प के समान कोमल शरीर मुरझा गया। वह एक क्षण तक खड़ी रही। फिर आगे बढ़ी।

शंखधर दीवान खाने में बैठे हुए सोच रहे थे—मेरे बार-बार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरे जीवन की अभिलाषाएँ कभी पूरी न होंगी? संसार के और सब प्राणियों के लिए यदि भोग-विलास वर्जित नहीं है, तो मेरे ही लिए क्यों है? क्या परीक्षा की आग में जलते ही रहना मेरे जीवन का ध्येय है।

देवप्रिया द्वार पर आकर खड़ी हो गई।

शंखधर ने उसका अलंकार-विहीन रूप देखा, तो उन्मत्त हो गये। अलङ्कारों का त्याग करके वह मोहिनी हो गई थी।

देवप्रिया ने द्वार पर खड़े-खड़े कहा—अन्दर आऊँ?

शंखधर के अन्तःकरण में कहीं से आवाज़ आई—सर्वनाश! मुँह से कोई शब्द न निकला।

देवप्रिया ने फिर कहा—अन्दर आऊँ?

शंखधर ने कातर स्वर में कहा—नेकी और पूछ-पूछ!

देवप्रिया—नहीं प्रियतम, तुम्हारे पास आते डर लगता है।

शंखधर ने एक पग आगे बढ़कर देवप्रिया का हाथ पकड़ा और अन्दर खींच लिया। उसी वक्त वायु का वेग प्रचण्ड हो गया। बिजली का दीपक बुझ गया। कमरे में अन्धकार छा गया।

देवप्रिया ने सहमी हुई आवाज़ में कहा—मुझे छोड़ दो!

उसका हृदय धकधक! कर रहा था।

सितार पर चोट पड़ते ही जैसे उसके तार गूँज उठते हैं, वैसे ही शंखधर का स्नायु-मण्डल थरथरा उठा। रमणी को कर-पाश में लपेट लेने की प्रबल इच्छा हुई। मन को सँभालकर कहा—घर आई हुई लक्ष्मी को कौन छोड़ता है।

देवप्रिया—बिना बुलाया मेहमान बिना कहे जा भी तो सकता है।

शंखधर की विचित्र दशा थी। भीतर भय था, बाहर इच्छा; मन पीछे हटता था, पैर आगे बढ़ते थे। उसने बिजली का बटन दबाकर कहा—लक्ष्मी बिना बुलाये नहीं आती प्रिये! कभी नहीं। उपासक का हृदय अव्यक्त रूप से नित्य उसकी कामना करता रहता है। वह मुँह से कुछ न कहे; पर उसके रोम-रोम से आह्वान के शब्द निकलते रहते हैं।

देवप्रिया की चिर-क्षुधित प्रेमाकांक्षा आतुर हो उठी। अनन्त वियोग से तड़पता हुआ हृदय आलिंगन के लिए चीत्कार करने लगा। उसने अपना

सिर शंखधर के वक्षःस्थल पर रख दिया और दोनों बाहें उसके गले में डाल दीं। कितना कोमल, कितना मधुर, कितना अनुरक्त स्पर्श था ! शंखधर प्रेमोल्लास से विभोर हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि पृथ्वी नीचे काँप रही है और आकाश ऊपर उड़ा जाता है। फिर ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई वज्र बड़े वेग से उसके सिर पर गिरा।

वह मूर्च्छित हो गया।

देवप्रिया के अन्तःकरण में फिर आवाज आई—सर्वनाश ! सर्वनाश ! सर्वनाश !

उसने भयभीत होकर शंखधर के मुख की ओर देखा। दीपक बुझ रहा था। घबराकर बोली—प्रियतम, तुम्हें क्या हो गया ? हाय ! तुम कैसे हुए जाते हो ? हाय ! मैं जानती कि मुझ पापिनी के कारण तुम्हारी यह दशा होगी, तो अनन्त काल तक वियोगाग्नि में जलती रहती ; पर तुम्हारे निकट न आती। प्यारे, आँखें खोलो, तुम्हारी कमला रो रही है।

शंखधर ने आँखें खोल दीं। उनमें अकथनीय शोक था, असहनीय वेदना थी, अपार तृष्णा थी।

अत्यन्त क्षीण स्वर में बोला—प्रिये ! फिर मिलेंगे। यह लीला उस दिन समाप्त होगी, जब प्रेम में वासना न रहेगी !

चाँदनी अब भी छिटकी हुई थी। वृक्षों के नीचे अब भी चाँदनी का जाल बिछा हुआ था। जल-क्षेत्र में अब भी चाँदनी नाच रही थी। वायु-संगीत अब भी प्रवाहित हो रहा था ; पर देवप्रिया के लिए चारों ओर अन्धकार और शून्य हो गया था।

सहसा राजा विशालसिंह द्वार पर आकर खड़े हो गये।

देवप्रिया ने विलाप करके कहा—हाय ! नाथ, तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गये ? क्या इसी लिए, इसी क्षणिक मिलाप के लिए, मुझे हर्षपुर से लाये थे !

राजा साहब ने यह करुण-विलाप सुना और उनके पैरों-तले से

ज़मीन निकल गई ! उन्होंने विधि को परास्त करने का संकल्प किया था। विधि ने उन्हें परास्त कर दिया। वह विधि के हाथों का खिलौना न बनना चाहते थे। विधि ने दिखा दिया, तुम मेरे हाथ के खिलौने हो। वह अपनी आँखों से जो कुछ न देखना चाहते थे, वह देखना पड़ा और इतनी जल्द ! आज ही वह मुंशी वज्रधर के पास से लौटे थे। आज ही उनके मुँह से वे अहङ्कार-पूर्ण शब्द निकले थे। आह ! कौन जानता था कि विधि इतनी जल्द यह सर्वनाश कर देगी ! इससे पहले कि वह अपने जीवन का अन्त कर दें, विधि ने उनकी आशाओं का अन्त कर दिया।

राजा साहब ने कमरे में जाकर शंखधर के मुख की ओर देखा। उनके जीवन का आधार निर्जीव पड़ा हुआ था। यही दृश्य आज से पचास वर्ष पहले उन्होंने देखा था। यही शंखधर था ! हाँ, यही शंखधर था ! यही कमला थी ! हाँ, यही कमला थी ! वह स्वयं बदल गये थे। उस समय दिल में मंसूबे थे, बड़े-बड़े इरादे थे। आज नैराश्य और शोक के सिवा कुछ न था।

उनके मुख से विलाप का एक शब्द न निकला। आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी। खड़े-खड़े भूमि पर गिर पड़े और दम निकल गया।

५६

शंखधर के चले आने के बाद चक्रधर को संसार शून्य जान पड़ने लगा। सेवा का वह पहला उत्साह लुप्त हो गया। उसी सुन्दर युवक की सूरत आँखों में नाचती रहती। उसी की बातें कानों में गूँजा करतीं। भोजन करने बैठते, तो उसकी जगह ख़ाली देखकर उनके मुँह में कौर न धँसता। हरदम कुछ खोये-खोये-से रहते। बार-बार यही जी चाहता कि उसके पास चला जाऊँ। बार-बार चलने का इरादा करते; पर रुक जाते। साईंगंज से जाने का अब उनका जी नहीं चाहता। इतने दिनों वह एक जगह कभी नहीं रहे। शंखधर जिस कम्बल पर सोता था, उसे वह रोज़ झाड़-पोंछकर तह करते हैं। शंखधर अपनी खँजरी यहीं छोड़ गया है। चक्रधर के लिए संसार में इससे बहुमूल्य कोई वस्तु नहीं है। शंखधर की पुरानी धोती और फटे हुए कुरते को वह सिरहाने रखकर सोते हैं। रमणी अपने सुहाग के जोड़े की भी इतनी देख-रेख न करती होगी।

सन्ध्या हो गई है। चक्रधर मन्दिर के दालान में बैठे हुए चलने की तैयारी कर रहे हैं। अब यहाँ नहीं रहा जा सकता। उस देवकुमार को देखने के लिए आज वह बहुत विकल हो रहे हैं।

गाँव के चौधरी ने आकर कहा—महाराज, आप व्यर्थ गठरी बाँध रहे हैं। हम लोगों का प्रेम आपको फिर आधे रास्ते से खींच लावेगा। आप हमारी विनती न सुनें; पर प्रेम की रस्सी को कैसे तोड़ डालिएगा?

चक्रधर—नहीं भाई, अब जाने दो। बहुत दिन हो गये।

चौधरी का लड़का नीचे रक्खी हुई खँजरी उठाकर बजाने लगा। चक्रधर ने उसके हाथ से खँजरी छीन ली और बोले—खँजरी हमें दे दो बेटा, टूट जायगी।

लड़के ने रोकर कहा—हम खँजरी लेंगे।

चौधरी ने चक्रधर की ओर देखकर कहा—बाबाजी के चरण छुओ, तो दिला दूँ।

चक्रधर बोले—नहीं भाई, खँजरी न दूँगा। यह खँजरी उसी युवक की है, जो कई दिनों मेरे पास रहा था। दूसरे की चीज़ कैसे दे दूँ?

गाँव के बहुत-से आदमी जमा हो गये। चक्रधर बिदा हुए। कई आदमी मील-भर तक उनके साथ आये।

लेकिन प्रातःकाल लोग मन्दिर पर पूजा करने आये, तो देखा, बाबा भगवानदास चबूतरे पर झाड़ू लगा रहे हैं।

एक आदमी बोला—हम कहते थे, महाराज न जाइए। आपने न माना। आख़िर हमारी भक्ति खींच लाई न? अब इसी गाँव में आपको कुटी बनानी पड़ेगी।

चक्रधर ने सकुचाते हुए कहा—अभी यहाँ कुछ दिन और अन्न-जल है भाई, सचमुच इस गाँव की मुहब्बत नहीं छोड़ती।

चक्रधर ने मन में निश्चय किया, अब शंखधर को देखने का इरादा कभी न करूँगा। वह अपने घर पहुँच गया। सम्भव है, उसका तिलक भी हो गया हो। मेरी याद भी उसे न आती होगी। मैं व्यर्थ ही उसके लिए इतना चिंतित हूँ। पुत्र सभी के होते हैं; पर उसके पीछे कोई अन्धा नहीं हो जाता, कि और सब काम छोड़कर बस उसी के नाम को रोता रहे।

फिर सोचा—एक बार देख आने में हरज ही क्या है। कोई मुझे बाँध तो रक्खेगा नहीं। जब उस वक्त कोई न रोक सका, तो आज कौन रोकेगा। ज़रा देखूँ, किस ढंग से राज करता है। मेरे उपदेशों का कुछ फल हुआ, या पड़ गया उसी चक्कर में। धुन का पक्का तो ज़रूर है। कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली तो शायद न बने; मगर कुछ कहा नहीं जा सकता। मानवीय चरित्र इतना जटिल है, कि बुरे-से-बुरा आदमी देवता हो जाता है, और अच्छे-से-अच्छा आदमी पशु। मुझे देखकर झेंपेगा तो क्या! मैं

यों उसके सम्मुख जाऊँ ही क्यों। दूर ही से देखकर चला आऊँगा। रंग-ढंग तो दो-चार आदमियों से बातें करते ही मालूम हो जायगा।

यही सोचते-सोचते चक्रधर सो गये। रात को उन्हें एक भयंकर स्वप्न दिखाई दिया। क्या देखते हैं कि शंखधर नदी के किनारे उनके साथ बैठा हुआ है। सहसा दूर से एक नाव आती हुई दिखाई दी। उसमें से मन्नासिंह उतर पड़ा। उसने हँसकर कहा—बाबूजी, यही राजकुमार हैं न? मैं बहुत दिनों से इन्हें खोज रहा हूँ। राजा साहब इन्हें बुला रहे हैं। शंखधर उठकर मन्नासिंह के साथ चला। दोनों नाव पर बैठे, मन्नासिंह डाँड़ चलाने लगा। चक्रधर किनारे ही खड़े रह गये। नाव थोड़ी ही दूर जाकर चक्कर खाने लगी। शंखधर ने दोनों हाथ उठाकर उन्हें बुलाया। वह दौड़े; पर इतने में नाव डूब गई। एक ही क्षण में फिर नाव ऊपर आ गई। मन्नासिंह पूर्ववत् डाँड़ चला रहा था; पर शंखधर का पता न था।

चक्रधर ज़ोर से एक चीख़ मारकर जाग पड़े। उनका हृदय धक्‌धक् कर रहा था। उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े—ईश्वर! यह स्वप्न है, या होनेवाली बात! अब उनसे वहाँ न रहा गया। उसी वक्त उठ बैठे, बकचा लिया और चल खड़े हुए।

चाँदनी छिटकी हुई थी। चारों ओर सन्नाटा था। पर्वत-श्रेणियाँ अभिलाषाओं की समाधियों-सी मालूम होती थीं। वृक्षों के समूह श्मशान से उठने वाले धुएँ की तरह नज़र आते थे। चक्रधर क़दम बढ़ाते हुए पथरीली पगडंडियों पर चले जाते थे।

चक्रधर की इस समय वह मानसिक दशा हो गई थी, जब अपने ही को अपनी ख़बर नहीं रहती। वह सारी रात पथरीले पथ पर चलते रहे। प्रातःकाल रेलवे-स्टेशन मिला। गाड़ी आई। उस पर जा बैठे। गाड़ी में कौन लोग बैठे थे, उन्हें देख-देखकर लोग उनसे क्या प्रश्न करते थे, उसका वह क्या उत्तर देते थे, रास्ते में कौन-कौन से स्टेशन मिले, कब दोपहर हुई, कब सन्ध्या हुई, इन बातों का उन्हें ज़रा भी ज्ञान न हुआ।

पर वह कर वही रहे थे, जो उन्हें करना चाहिए था। किसी की बात का ऊट-पटांग जवाब न देते थे, जिन गाड़ियों पर न बैठना चाहिए था, उन पर न बैठते थे, जिन स्टेशनों पर न उतरना चाहिए था, वहाँ न उतरते थे। अभ्यास बहुधा चेतना का स्थान ले लिया करता है।

तीसरे दिन प्रातःकाल गाड़ी काशी जा पहुँची। ज्योंही गाड़ी गंगा के पुल पर पहुँची, चक्रधर की चेतना जाग उठी। सँभल बैठे। गंगा के बायें किनारे पर हरियाली छाई हुई थी। दूसरी ओर काशी का विशाल नगर, ऊँची अट्टालिकाओं और गगनचुम्बी मन्दिर-कलसों से सुशोभित, सूर्य के स्निग्ध प्रकाश से चमकता हुआ खड़ा था। मध्य में गंगा मन्द-गति से अनन्त की ओर दौड़ी चली जा रह थी, मानों अभिमान से अटल नगर और उच्छृंखलता से झूमती हुई हरियाली से कह रही हो—अनन्त जीवन अनन्त प्रवाह में है। आज बहुत दिनों के बाद यह चिर-परिचित दृश्य देखकर चक्रधर का हृदय उछल पड़ा। भक्ति का उद्गार मन में उठा। एक क्षण के लिए वह अपनी सारी चिन्ताएँ भूल गये, गंगास्नान की प्रबल इच्छा हुई। इसे वह किसी तरह न रोक सके।

स्टेशन पर कई पुराने मित्रों से उनकी भेंट हो गई। उनकी सूरतें कितनी बदल गई थीं। वे चक्रधर को देखकर चौंके, कुशल पूछी और जल्दी से चले गये। चक्रधर ने मन में कहा—कितने रूखे लोग हैं, किसी को बातें करने की भी फ़ुरसत नहीं।

वह एक ताँगे पर बैठकर स्नान करने चले। थोड़ी ही दूर गये थे कि गुरुसेवकसिंह मोटर पर सामने से आते दिखाई दिये। चक्रधर ने ताँगे-वाले को रोक दिया। गुरुसेवक ने भी मोटर रोकी, और पूछा—क्या अभी चले आ रहे हैं?

चक्रधर—जी हाँ, चला ही आता हूँ।

गुरुसेवक ने मोटर आगे बढ़ा दी। चक्रधर को इनसे इतनी रुखाई की आशा न थी। चित्त खिन्न हो उठा।

दशाश्वमेधघाट पहुँचकर ताँगे से उतरे। इसी घाट पर वह पहले भी स्नान किया करते थे। सभी पण्डे उन्हें जानते थे; पर आज किसी ने भी प्रसन्नचित्त से उनका स्वागत नहीं किया। ऐसा जान पड़ता था कि उन लोगों को उनसे बातें करते जब्र हो रहा है। किसी ने न पूछा, कहाँ-कहाँ घूमे? क्या करते रहे?

स्नान करके चक्रधर फिर ताँगे पर आ बैठे और राजभवन की ओर चले। ज्यों-ज्यों भवन निकट आता था, उनका आशंकित हृदय अस्थिर होता जाता था।

ताँगा सिंह-द्वार पर पहुँचा। वह राज्य-पताका, जो मस्तक ऊँचा किये लहराती रहती थी, झुकी हुई थी। चक्रधर का दिल बैठ गया। इतने जोर से धड़कन होने लगी, मानों हथौड़े की चोट पड़ रही हो।

ताँगा देखते ही एक बूढ़ा दरबान आकर खड़ा हो गया, चक्रधर को ध्यान से देखा और भीतर की ओर दौड़ा। एक क्षण में अन्दर हाहाकार मच गया। चक्रधर को मालूम हुआ कि वह किसी भयंकर जन्तु के उदर में पड़े तड़फड़ा रहे हैं।

किससे पूछें, क्या विपत्ति आई है? कोई निकट नहीं आता। सब दूर सिर झुकाये खड़े हैं। वह कौन लाठी टेकता चला आता है? अरे! यह तो मुंशी वज्रधर हैं! चक्रधर ताँगे से उतरे और दौड़कर पिता के चरणों पर गिर पड़े।

मुंशीजी ने तिरस्कार के भाव से कहा—दो-चार दिन पहले न आते बना कि लड़के का मुँह देख लेते। अब आये हो, जब सर्वनाश हो गया। क्या, बैठे यही मना रहे थे!

चक्रधर रोये नहीं, गम्भीर, सुदृढ़ भाव से बोले—ईश्वर की इच्छा। मुझे किसी ने एक पत्र तक न लिखा। बीमारी क्या थी?

मुन्शी—अजी, सिर तक नहीं दुखा। बीमार होना किसे कहते हैं। बस होनहार! तक़दीर! रात को भोजन करके बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे

थे। बहू से बातें करते हुए स्वर्ग की राह ली। किसी हकीम-वैद्य की अक्ल नहीं काम करती कि क्या हो गया था। जो सुनता है, दाँतों अँगुली दबाकर रह जाता है। बेचारे राजासाहब भी इसी शोक में चल बसे। तुमने उसे भुला दिया था; पर उसे तुम्हारे नाम की रट लगी हुई थी, बेचारे के दिल में कैसे-कैसे अरमान थे! हम और तुम क्या रोयेंगे, रोती है प्रजा। इतने ही दिनों में सारी रियासत उस पर जान देने लगी थी। इस दुनिया में क्या कोई रहे। जी भर गया। अब तो जब तक जीना है, तब तक रोना है। ईश्वर बड़ा निर्दयी है।

चक्रधर ने लम्बी साँस खींचकर कहा—मेरे कर्मों का फल है। ईश्वर को दोष न दीजिए।

मुन्शी—तुमने ऐसे कर्म किये होंगे। मैंने नहीं किये। मुझे क्यों इतनी बड़ी चोट लगाई। मैं भी अब तक ईश्वर को दयालु समझता था; लेकिन अब वह श्रद्धा नहीं रही। गुणानुवाद करते सारी उम्र बीत गई। उसका यह फल! उस पर कहते हो, ईश्वर को दोष न दीजिए। अपने कल्याण ही के लिए तो ईश्वर का भजन किया जाता है, या किसी की जीभ खुजलाती है? कसम ले लो, जो आज से कभी एक पद भी गाऊँ। तोड़ आया सितार, सारंगी, सरोद, पखावज, सब पटककर तोड़ डाले। ऐसे निर्दयी की महिमा कौन गाये और क्यों गाये। मरदे आदमी, तुम्हारी आँखों से आँसू भी नहीं निकलते। खड़े ताक रहे हो। मैं कहता हूँ। रो लो, नहीं तो कलेजे में नासूर पड़ जायगा। बड़े-बड़े त्यागी देखे हैं; लेकिन जो पेट भरकर रोया नहीं, उसे फिर हँसते नहीं देखा। आओ, अन्दर चलो। बहू ने दीवार से सिर पटक दिया, पट्टी बाँधे पड़ी हुई है। तुम्हें देखकर उसे धीरज हो जायगा। मैं डरता हूँ, कि वहाँ जाकर कहीं तुम भी रो न पड़ो, नहीं तो उसके प्राण ही निकल जायँगे।

यह कहकर मुंशीजी ने उनका हाथ पकड़ लिया और अंतःपुर में ले

गये। अहल्या को उनके आने की ख़बर मिल गई थी। उठना चाहती थी; पर उठने की शक्ति न थी।

चक्रधर ने सामने आकर कहा—अहल्या!

अहल्या ने फिर चेष्टा की। बरसों की चिन्ता, कई दिनों के शोक और उपवास और बहुत-सा रक्त निकल जाने के कारण शरीर जीर्ण हो गया था। करवट घूमकर दोनों हाथ पति के चरणों की ओर बढ़ाये; पर चरणों को स्पर्श न कर सकी, हाथ फैले रह गये, और एक क्षण में भूमि पर लटक गये। चक्रधर ने घबड़ाकर उसके मुख की ओर देखा। निराशा मुरझाकर रह गई थी। नेत्रों में करुण याचना भरी हुई थी।

चक्रधर ने रुँधे हुए स्वर में कहा—अहल्या, मैं आ गया, अब कहीं न जाऊँगा? ईश्वर से कहता हूँ, कहीं न जाऊँगा। हाय! ईश्वर क्या तू मुझे यही दिखाने के लिए यहाँ लाया था?

अहल्या ने एक बार तृषित, दीन, तिरस्कारमय नेत्रों से पति की ओर देखा। आँखें सदैव के लिए बन्द हो गईं।

उसी वक्त मनोरमा आकर द्वार पर खड़ी हो गई। चक्रधर ने आँसुओं को रोकते हुए कहा—रानीजी, ज़रा आकर इन्हें चारपाई से उतरवा दीजिए।

मनोरमा ने अन्दर आकर अहल्या का मुख देखा और रोकर बोली—आपके दर्शन बदे थे, नहीं प्राण तो कबके निकल चुके थे। हाय! दुखिया का कोई अरमान पूरा न हुआ।

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखों से आँसू की झड़ी लग गई।

उपसंहार

कई साल बीत गये हैं। मुंशी वज्रधर नहीं रहे। घोड़े की सवारी का उन्हें बड़ा शौक था। नर घोड़े ही पर सवार होते थे। बग्गी, मोटर, पालकी, सभी को वह ज़नानी सवारी कहते थे। एक दिन जगदीशपुर से बहुत रात गये लौट रहे थे। रास्ते में एक नाला पड़ता था। नाले में उतरने के लिए रास्ता भी बना हुआ था; लेकिन मुंशीजी नाले में उतरकर पार करना अपमान की बात समझते थे। घोड़े को कुदा दिया। घोड़े ने जस्त मारी, उस पार निकल भी गया; पर उसके पाँव एक गढ्ढे में पड़ गये। गिर पड़ा, मुंशीजी भी गिरे और फिर न उठे। हँस-खेलकर जीवन काट दिया, निर्मला भी पति-वियोग सहने के लिये बहुत दिन जीवित न रही, उसकी अंतिम अभिलाषा कि चक्रधर फिर विवाह कर लें, पूरी न हो सकी।

देवप्रिया फिर जगदीशपुर पर राज्य कर रही है। हाँ, उसका नाम बदल गया है। विलासिनी देवप्रिया अब तपस्विनी देवप्रिया है। उसका भविष्य अब अंधकारमय नहीं है। प्रभात की आशामयी किरणें उसके जीवन-मार्ग को आलोकित कर रही हैं।

रानी मनोरमा नये भवन में रहती है। उसने कितनी ही चिड़ियाँ पाल रक्खी हैं। उन्हीं की देख-रेख में अब वह अपने दिन काटती है। पक्षियों के कल-रव में वह अपनी मनोव्यथा को विलीन कर देना चाहती है। उसके शयनागार में सोने के चौखट में जड़ा हुआ एक चित्र दीवार से लटका हुआ है, जिसमें दीवान हरिसेवक के मुख से निकले हुए ये शब्द अंकित किये हुए हैं—

लौंगी को देखो !

आज से कई साल पहले जब राजा साहब जीवित थे, मनोरमा को उसके पिता ने यही अंतिम उपदेश दिया था। उसी दिन से यह उपदेश उसका जीवन-मंत्र बना हुआ है।

चक्रधर बहुत दिन घर पर न रहे। माता-पिता के बाद वह घर, घर ही न रहा। फिर दक्षिण की ओर सिधारे; लेकिन अब वह केवल सेवा-कार्य ही नहीं करते। उन्हें पक्षियों से बहुत प्रेम हो गया है। विचित्र पक्षियों की उन्हें नित्य खोज रहती है। भक्तजन उनका यह पक्षी-प्रेम देखकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार के पक्षी लाते रहते हैं। इन पक्षियों के अलग-अलग नाम हैं। अलग-अलग उनके भोजन की व्यवस्था है। उन्हें पढ़ाने, घुमाने, चुगाने का समय नियत है।

साँझ हो गई थी। मनोरमा बाग में टहल रही थी। सहसा हौज़ के पास एक बहुत ही सुन्दर पिंजरा दिखाई दिया। उसमें एक पहाड़ी मैना बैठी हुई थी। रानीजी को आश्चर्य हुआ। यहाँ पिंजरा कहाँ से आया? उसके पास कई पहाड़ी चिड़ियाँ थीं, जिन्हें उसने सैकड़ों रुपये खर्च करके ख़रीदा था; पर ऐसी सुन्दर, एक भी न थी। रंग पीला था, सिर पर लाल दाग था, चोंच इतनी प्यारी कि चूम लेने का जी चाहता था। मनोरमा समीप गई, तो मैना बोली—नोरा! हमें भूल गईं? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ।

मनोरमा के आश्चर्य का वारापार न रहा। उसे कुछ भय-सा लगा। इसे मेरा नाम किसने पढ़ाया? किसकी चिड़िया है? यहाँ कैसे आई? इसका स्वामी अवश्य कोई होगा? आता होगा। देखूँ कौन है?

मनोरमा बड़ी देर तक खड़ी उस आदमी का इंतज़ार करती रही। जब अब भी कोई न आया, तो उसने माली को बुलाकर पूछा—यह पिंजरा बाग़ में कौन लाया? माली ने कहा—पहचानता तो नहीं हजूर; पर हैं कोई भले आदमी। मुझसे देर तक रियासत की बातें पूछते रहे। पिंजरा रखकर गये कि और चिड़ियाँ लेता आऊँ; पर लौटकर न आये।

रानी—आज फिर आवेंगे ?

माली—हाँ हजूर, कह तो गये हैं।

रानी—आयें, तो मुझे ख़बर देना।

माली—बहुत अच्छा सरकार !

रानी—सूरत कैसी है, कुछ बता सकता है ?

माली—बड़ी-बड़ी आँखें हैं हजूर। लम्बे आदमी हैं। एक-एक बाल पक रहा है।

रानी ने उत्सुकता से कहा—आयें तो मुझे जरूर बुला लेना।

रानी पिंजरा लिये हुए चली आई। रात-भर वही मैना उसके ध्यान में बसी रही। उसकी बातें कानों में गूँजती रहीं।

कौन कह सकता है यह संकेत पाकर उसका मन कहाँ-कहाँ विचर रहा था। सारी रात वह मधुर स्मृतियों का सुखद स्वप्न देखने में मग्न रही। प्रातःकाल उसके मन में आया, चलकर देखूँ वह आदमी आया है या नहीं। वह भवन से निकली; पर फिर लौट गई।

थोड़ी ही देर में फिर वही इच्छा हुई। वह आदमी कौन है, क्या यह बात उससे छिपी हुई थी ? वह बाग़ के फाटक तक आई; पर वहीं से लौट गई। उसका हृदय हवा के पर लगाकर उस मनुष्य के पास पहुँच जाना चाहता था; पर आह ! कैसे जाय।

चार बजे वह ऊपर के कमरे में जा बैठी और उस आदमी की राह देखने लगी। वहाँ से माली का मकान साफ़ दिखाई देता था। बैठे-बैठे बड़ी देर हो गई। अन्धेरा होने लगा। रानी ने एक गहरी साँस ली। शायद अब न आवेंगे।

सहसा उसने देखा, एक आदमी दो पिंजरे दोनों हाथों में लटकाये बाग़ में आया। मनोरमा का हृदय बाँसों उछलने लगा। सहस्र घोड़ों की शक्तिवाला इंजिन उसे उस आदमी की ओर खींचता हुआ जान पड़ा। वह बैठी न रह सकी। दोनों हाथों से हृदय को थामे, साँस बन्द किये,

मनोवेग से आंदोलित वह खड़ी रही। उसने सोचा, माली अभी मुझे बुलाने आता होगा; पर माली न आया और वह आदमी वहीं पिंजरा रखकर चला गया। मनोरमा अब वहाँ न रह सकी। हाय! वह चले जा रहे हैं! तब वहीं जमीन पर लेटकर वह फफक-फफककर रोने लगी।

सहसा माली ने आकर कहा—सरकार, वह आदमी दो पिंजरे रख गया है और कह गया है फिर कभी और चिड़ियाँ लेकर आऊँगा।

मनोरमा ने कठोर स्वर में पूछा—तूने मुझसे उस वक्त क्यों नहीं कहा?

माली पिंजरे को उसके सामने ज़मीन पर रखता हुआ बोला—सरकार, मैं उसी वक्त आ रहा था; पर उसी आदमी ने मना किया। कहने लगा, अभी सरकार को क्यों बुलाओगे, मैं फिर कभी और चिड़ियाँ लाकर उनसे आप ही मिलूँगा।

रानी कुछ न बोली। पिंजरे में बंद दोनों चिड़ियों को सजल नेत्रों से देखने लगी।